श्रीः

हिन्दू विश्वविद्यालय श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड ग्रन्थमाला

वैदिक विश्वदर्शन

(भाग २)

लेखक

पण्डित हरिशंकर जोशी, एम्० ए०

[जुलाई १९६८] [मूल्य ९)

श्रीः

हिन्दू विश्वविद्यालय श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड ग्रन्थमाला
Hindu Vishvavidyalay Shrimati Saradar
Kunwar Bai Fund Sanskrit Series

Vol II

वैदिक विश्वदर्शन

लेखक
पण्डित हरिशंकर जोशी, एम्० ए०

वैक्रमाब्द २०२५] [प्रथम संकरण

श्रीमती सरदार कुँवर बाई फण्ड
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

मूल्य ६)

मुद्रक—
रवीन्द्र कुमार बेरी
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,
वाराणसी–५

दो शब्द

यह ग्रन्थ 'वैदिक विश्वदर्शन' का द्वितीय भाग है। इसमें इसके प्रथम भाग के अवशिष्ट विषयों का–वैदिक देवताओं का–सर्वाङ्गीण विवेचन दिया हुआ मिलेगा। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की मूल जननी हमारे वेद हैं जिनमें भारतीय सभी विद्याओं के मूल स्रोतों और गम्भीर दर्शनों की विशद व्याख्यायें उपलब्ध हैं। परन्तु जब से इन वेदों की व्याख्याओं को यास्क, शौनक, सायण, महीधर, उव्वट प्रभृति भारतीयों से लेकर आजकल के पौर्वात्य पाश्चात्य विद्वानों ने अपने अपने लौकिक सामाजिक और व्यावहारिक व्यवस्थाओं के अनुसार ढालने का क्रम चलाया है तब से इनका उत्तरोत्तर स्पष्टीकरण ही इन वेदों में अन्धकार की परतों की तरह पड़कर इनका प्रकाश सामने लाने के स्थान में अन्धकार ही अन्धकार सामने रखते चला आ रहा है। जहाँ वेदों में गम्भीर दर्शनों और रहस्यों की खानें होने से भारतीयों को वेद शब्द सुनते ही उनमें एक अलौकिक भाव भण्डार होने की सम्भावना साथ साथ उद्दीप्त होती है वहां इनकी उक्त व्याख्याओं को देखने से नितान्त निराशा ही हाथ लगती है और प्रतीत होता है कि इन वेदों में कुछ विशेष महत्व के विषय हैं ही नहीं। ऐसा नहीं है। इन वेदों में आभ्यन्तर जगत् का विषय बाह्यजगत् के विषयों की वर्णना को आधार बनाकर ऐसा ढाला गया है कि जो इन वेदों की सर्व प्राचीन व्याख्यायें या ब्राह्मण नामक ग्रन्थों के कर्मकाण्ड का वास्तविक रहस्य नहीं जानता उसकी समझ में ये वेद वैसे ही नहीं आते हैं, जैसे पूर्वोक्त सभी व्याख्याताओं को नहीं आये। उपनिषद् इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग है। ये तीनों भाग या संहितायें, ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषद् सब मिलकर 'वेद' एक नाम से पुकारे जाते हैं। उपनिषत् इन वेदों के अन्तिम भाग होने से ही 'वेदान्त' नाम से भी पुकारे जाते हैं। इन तीनों भागों में ब्राह्मण भाग ही मुख्य वेद या श्रुतियाँ हैं जिनके आधार पर ही संहिताओं की रचनायें और उपनिषदों की उद्भावनाओं का अङ्कन हुआ। सभी मानते हैं कि उपनिषदों में गम्भीर दर्शन हैं, ये दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थों के सार हैं, इन ब्राह्मणों में मन्त्रों की व्याख्यायें हैं। अतः ब्राह्मणों में जो दर्शन है वह मंत्र भाग का ही दर्शन है। यह ठीक है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का पुस्तक बद्ध लेखन मंत्र भाग से पश्चात् हुआ, पर मूल भारतीय संस्कृति श्रुतिरूप में इन्हीं ब्राह्मणों के अनुरूप श्रुति परम्परा से प्राप्त होती चली आ रही थी। जब मंत्र भाग का अर्थ जटिल लगने या प्रतीत होने लगा तो इन ब्राह्मणों को मंत्रों सहित व्याख्या रूप में बाद में प्रस्तुत किया गया। आजतक जितने भी व्याख्याकार हुए हैं उन सबने इस परम आवश्यक परिस्थिति को दृष्टिपथ में न रखकर इन तीनों भागों को एक दूसरे से नितान्त भिन्न और स्वतन्त्र समझ और मानकर केवल इनकी हत्या कर दी, एक आत्मा के तीन स्वतन्त्र टुकड़े कर दिए। तब इनको इनका वह वास्तविक अर्थ कैसे लगता जो इनमें माला की तरह एक दूसरे से नथकर पिरोया गया

है। उधर औपनिषदिक दर्शन को भी आजकल कम दुर्दशा का भोग नहीं झेलना पड़ रहा है। लोगों ने इनके वेदान्त नाम को ही इनसे छीनकर अपनी कल्पना के शास्त्र को वेदान्त नाम देकर लोगों को गलतफहमी में भी डाल दिया है। इतना ही नहीं इनके एक ही वाक्य का विभिन्न आचार्यों ने अपना अपना अलग अर्थ लगा कर कई सम्प्रदायों का रोग भी बो दिया है।

अतः वेदों का अध्ययन ब्राह्मण ग्रन्थों के गम्भीर रहस्यों को जानकर किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में इसी पद्धति को अपना कर वैदिक देवताओं की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। देवताओं के बारे में पौर्वात्य पाश्चात्य दोनों प्रकार के व्याख्याताओं को बड़ा भारी भ्रम है। वे इनको प्राकृतेय या काल्पनिक या कहीं किसी कोने में, चाहे अमरावती क्यों न हो, छिपे समझते हैं। क्योंकि इनको हमारे पुराणों में दी गई कहानियों में ऐतिहासिकता और ठोसरूपता प्रतीत नहीं होती। ये इन्हें बुढियों की सी काल्पनिक कथायें समझते हैं। ऐसा नहीं है। प्रत्येक देवता एक ठोस सर्व व्यापक तत्त्व या आत्मा या कोश है। उनके कथानक शक्तियां इतनी अपार हैं कि हम आप जैसे लोगों को वे असम्भव प्रतीत होती हैं। पर उनकी जितनी अलौकिक शक्ति यहां या जहां तहां वेदों या पुराणों में बताई गई हैं उनसे भी वे हजारों गुने अधिक शक्ति शाली हैं। उनकी शक्तियां आभ्यन्तरीय ईश्वरीय हैं, व्यापक हैं, ठोस हैं, एक से एक बढ़कर हैं। कम से कम हमारे वेदों और पुराणों की कथाओं में सर्वांश में सत्य ही सत्य भरा है। ये देवता, दर्शन के योग और सृष्टि के विभिन्न पहलुओं की शक्तियों के ठोस पिण्ड या व्यापक ठोस पिण्ठ हैं। प्रत्येक अपनी अपनी विभिन्न कोशीय शक्ति से सर्वत्र व्यापक है। शेष विवरण प्रत्येक देवता के व्याख्यान में देखें।

योग में इन देवताओं की विभिन्न शक्तियों का उद्घाटन जिस प्रकार करते थे उसका अभिनय बाह्य यज्ञों के द्वारा किया जाता रहा। इसका रहस्य इस ग्रन्थ के तृतीय भाग में सविस्तर दिया जा रहा है। शीघ्र प्रकाशित होगा। इसी के अभाव के कारण वेदों का उचित अर्थ अब तक अज्ञात रहा।

बी १/१२८–१८ डुमराव बाग
अस्सी, वाराणसी–५
२१–८–६८

लेखक —
हरिशंकर जोशी

सूचीपत्र

अध्याय ४१

अध्याय ४२

अध्याय ४३

अध्याय ४४

अध्याय ४५

अध्याय ४६

———

अध्याय ३३

'पिता' नाम ब्रह्म का या द्यौ का है। यह वेदों में सर्वत्र दिया है—

"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः ॥

विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि

१—पिता यन्त" (ऋ. वे. ६-५१-५) तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः" (ऋ. वे. १-८९-४) 'मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥' (ऋ. वे. १-९०-७) में और 'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे (मित्र) माता पृथिवी महीयम्।

उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥"

(ऋ. वे. १-१६४-३३)

इस मन्त्र से 'द्यौः' नामक पिता तत्त्व की व्याख्या बिलकुल सन्देहहीन हो जाती है। अथर्व ने अन्तरिक्ष को भी पिता कहा है 'यदन्तरित्तं तन्मे पिताऽभूत्।" दर्शन के अखिल तत्त्व दो भागों में 'चमू' या दो कटाहों में विभाजित हैं। जिसका ऊपरी भाग वाला चमू या कटाह 'द्यौः' है और नीचे के भाग का चमू या कटाह पृथिवी है। इनको एक नाम से पुकारने में 'द्यावापृथिवी' कहते हैं। इनमें से द्यौ या पूर्वार्द्ध या द्यावा पिता है और पृथिवी या उत्तरार्द्ध माता या दुहिता है। इन दोनों के मध्यवर्ती भाग को योनि कहते हैं जिसके द्वारा पृथिवी या माता के आसुरी रूप दुहिता को भौतिक बीज का गर्भप्रदान किया गया। इस कथन की पुष्टि में एक दूसरी ऋचा दी जाती है—

"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।

अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम् ॥"

(ऋ. वे. १-१९१-६)

यह ऋचा 'कम्' या आपोदेवता से कहती है। आपोदेवता चतुर्थ सप्तक के हैं जहां 'सोम' उत्पन्न होता है। इनके पिता-माता द्यावा-पृथिवी हैं और सोम भ्राता है तथा 'दितिः' उत्तरार्द्ध का भौतिक तत्त्व बहन है। द्यौ अव्यक्त या अदृष्टा है, पृथिवी व्यक्त, दृष्टा या विश्वदृष्टा है, जो इला रूप में विद्यमान हो जाती है। दिति नामक बहन ही गर्भवती होती है। यहां प्रथम ऋचा का भाव स्पष्ट हो गया। पृथिवी माता, दैवी भौतिकात्मा है, दिति उसका आसुरी भौतिक शरीर है, उसी में गर्भ उत्पन्न हुआ। सारी सृष्टि आसुरी या दितिमयी या दैत्यरूपिणी है।

अध्याय ३४

पितु नाम अन्न ब्रह्म का ही है। उसकी स्तुति इस प्रकार की गई है:—

"पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥"

१—पितु (ऋ. वे. १-१८७-१) उस पितु या अन्न ब्रह्म की स्तुति करते हैं जो महो रूप या चतुर्थ सप्तकी धर्म का है या भौतिकात्मा धारण किये हुए शक्तिमान् है, जिस त्रिपादमृत के विशिष्ट ओज या शक्ति से वृत्र को बोटी-बोटी में दलित कर दिया गया। वह एक सहस्रमुख बन गया।

"तव त्ये पितो रसा रजांस्यनु विष्ठिताः। दिवि वाताइव श्रिताः॥'

(१-१८७-४)

हे पितो! तेरे त्यत् रूप के रजस् में या भौतिकात्मा में तेरी रसमय आत्मायें (त्रिपादमृत) सुरक्षित हैं; वे उस शरीर में प्राण रूप में रहती हैं। "यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे। वातापे पीव इद्भव(१-१८७-९)। "हे पितो! तब तुम्हारा स्वरूप सोम रूप में प्रगट होता है जिसमें पूर्वार्द्ध के गवाशिर या गोधूलीय सोमरस या 'पृश्निः गौः' का रसमय त्रिपादमृत और यवाशिर या उत्तरार्द्धीय भौतिक आत्मा का रसमय शरीर या यवीयसोमरस दोनों सम्मिश्रित रूप से रहते हैं। हम उसकी आराधना करते हैं। उसको नित्य धारण करने की शक्ति देने का वरदान मांगते हैं। वह शरीर प्राण रूप ही है, वातापि है। अतः हे वातापि पितो! इस शरीर को पीवर या स्थूलतम बनाते रहो।" शेष ऋ. वे. सूक्त १-७ में देखें। यह सूक्त ओषधि देवता का है। यहां पर सोम नामक ओषधि को अन्न या पितु नाम से पुकार कर स्तुति की गई है। सोम ही ओषधिरूप अन्न देवता है। इसीलिए कहा है—

त्वे पितो महानां देवानां मनो हितम्।
अकारि चारु केतुना तवाहिमवसावधीत्॥"

(१-१८७-६)

कि हे सोम पितुः महः नामक चतुर्थ सप्तक के सब देवताओं का 'मनः' या काम ब्रह्म तुममें ही निहित है। जिस काम ब्रह्म सूर्य ने तुम्हें केतुरूप या भौतिक पटल आवरण रूप में उत्पन्न किया, तब तुमने वृत्र का वध किया (वृत्र भौतिक आसुरी शक्ति इत्यादि)। इस विषय में 'द्यावा पृथिवी' शीर्षक देखें)।

———

अध्याय ३९

आपो देवता के बारे में 'आपोब्रह्म' नामक शीर्षक में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुकाहै। आपो देवता वैदिकों की परमोत्कृष्ट उद्भावना है। यह दार्शनिक विवेचन के लिए एक रहस्यमय शब्द है। इसे लोग समझने में बड़ी असावधानी से काम लेते हैं, समझते हैं कि अप् माने हमारे पीने वाला जल है। यह भयंकर भूल है। अप् तत्त्व वैदिक दर्शन का अनमोल हीरा रूप तत्त्व है। यह पञ्चपर्वा विद्या तथा सप्तकीय या गायत्री ब्रह्मवाद की सरणि का पारिभाषिक शब्द है। पञ्चपर्वा विद्या या सप्तकीय विद्या में यह पञ्चसागरों या सप्तसागरों के पाँच या सात गुच्छों के ५० तत्त्वों का सूचक है। गायत्री ब्रह्मवाद में यह केवल चतुर्थ सप्तक के भौतिकाणु रूप तत्त्व को जलरूप या आपोरूप या रसरूप में वर्णित करता है; जिस सप्तक में वृत्रवध से 'अपतद्ववार' अप् की धार बहने लगी। कहा गया है कि यह भौतिकाणु रूप जल सागर या आपोदेवता है। इस सप्तक से सोम या विष्णु की भी उत्पत्ति होती है। अतः विष्णु को क्षीरसागरवासी इसी आपोदेवता के भौतिकाणु सागरमय या भौतिकाणु सागरशायी होने के कारण कहा जाता है। शेष भी वृत्र ही है। वह आसुरी भौतिकाणु का सर्पाकार स्वरूप है। विष्णु उसमें दैवी भौतिकात्मा रूप में शयन या निवास करता है। वेदों में 'मातरः'(मातायें) शब्द जहां-जहां भी आता है वहां यह इन्हीं आपो देवताओं का संकेत करता है। 'आपो अस्मान्मातरः' (ऋ. वे. १०-१७-१०), 'द्वितीयमा सप्त मातृषु" (ऋ.वे. १-१४१-२), "अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः" ऋ. वे. ८-९६-१, सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः। देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥ (ऋ. वे. १० ६४-९), जहां-जहां मातायें बच्चों के लिए 'वासः वयन्तीति' आता है, वहां भी इन्हीं आपो देवताओं से सम्बन्ध है। अप्सरायें भी और कुछ नहीं हैं। वे इन्हीं अप् स्वरूप तत्त्वों के विकास हैं 'अप्सु सरन्तीति' अप्सरसः, अप्सराः वा' व्युत्पत्ति ही 'अप्सराः' शब्द की दी गई है (दाश राज्ञ युद्ध देखें)। भौतिकाणुओं की वैद्युतीयनर्तनशील गतिविधियों को ही देवताओं की नाचनेवाली अप्सरायें कहा गया है। इन्हीं जलों या आपो देवताओं को चतुर्थ सप्तक में—माता या अप्सरा कहने के स्थान में 'शं' नाम से भी पुकारा जाता है। अतः 'शं नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः।' यह इसी भौतिकाणु स्वरूप आपोदेवी की प्रार्थना है। जिसमें यह शं शब्द शमीलता के सोमवाचकता में संक्षेप में प्रयुक्त हुआ है, जिस प्रकार सोम या चन्द्र को प्रजापति कहा गया है, उसी प्रकार 'शम्' को भी प्रजापति नाम से पुकारा गया है (आपोब्रह्म देखें)। अतः इस आपोब्रह्म को साधारण ब्रह्म न समझ कर साक्षात् आदि तत्त्व और मध्य के तत्त्व के लिए प्रयुक्त समझना चाहिए।

१—आपोदेवी

"आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥१॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य
भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥२॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥३॥ शं नो देवीरभिष्टय आपो
भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः ॥"

(ऋ. वे. १०-९ १,२,३,४)

हे जलरूप देवियों! या विद्युत्तरंगमय तत्त्वों! आप सुखमय मधुमय हैं, उन्हें हम शब्दब्रह्म स्वरूप के दर्शनार्थ धारण करना चाहते हैं, जिनसे हमें जीवनदान (ऊर्ज) मिलता रहे। ऊर्ज नाम प्राण वायुओं या जीवात्मा का है। आपमें जो सर्वोत्तम कल्याणकारी रसमयता है, उसका हमें भागी बनाये रखो। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मातायें बच्चों को दूध देने के लिए उत्सुक रहती हैं। आप का जो अभीष्ट लक्ष्य है, जिसके लिए आप यत्नशील या सृष्टि क्रम में विकसित हो रही हैं। उसके अन्त तक हम भी पहुँच जावें। हमें भी वह भौतिक शरीर प्राप्त होने दो। आप के ये कल्याणकारी मंगलमय शब्द और ब्रह्मता का रस हमारी अभीष्ट सिद्धि के लिए पातव्य, प्राप्तव्य या पीतव्य बनें, और वे हमारी सदा-सदा कल्याण ही कल्याण करें।' इसी प्रकार का भाव रखने वाला ऋ. वे. ७-४९ सूक्त भी इस सम्बन्ध में बहुत मुख्य है—

"समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात्पुनाना यन्त्यनिविशमानाः।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥१॥
या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥२॥
यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवी० ॥३॥
यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवी०० ॥४॥

यहां पर कहा है कि आपो देवताओं को इन्द्र ने उत्पन्न किया, इनके मध्य (२५वें) में वरुण है, इनमें वैश्वानराग्नि प्रविष्ट है।

ये आपोदेवता जल के वाचक नहीं वरन् वज्र या विद्युद् या अग्नि के वाचक हैं। इसका प्रमाण प्रथम सूक्त के अन्तिम मंत्र में इनके लिए 'पयस्वान् अग्ने!' नाम का सम्बोधन है:

"आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि।
पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा॥"

(१०-९-९)

यही बात श. प. ब्रा. १-१-१-१७,१८ और १-२-३-२० में 'वज्रो वै आपः' कहकर समर्थित की गई है। इन्हीं अग्निरूप आपोदेवताओं से सोम, अग्नि, भेषज

(ओषधि), ज्योति, सूर्य और शम्भु उत्पन्न होने की बात भी प्रथम सूक्त के मंत्र ६,७ और दूसरे के ४थे मंत्र में इस प्रकार दी हुई है। 'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥६॥ आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥७॥" इतना ही नहीं, इन आपो देवताओं को समस्त आर्य जाति का परमेश्वर (ईशान) नाम से पुकारा है और प्रार्थना की है कि तुमसे हम सोम या भौतिकात्मा की याचना करते हैं, जैसे

"ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।
(गायों या आदित्यों की सृष्टि करने वाली क्षयन्ती)। आपो याचामि भेषजम् ॥"
(ऋ. वे. १०-९-५)

और दूसरे सूक्त (७-४९-४) में तो इन आपोदेवियों को 'धावका' नाम से ही सम्बोधित किया गया है। इस सम्बन्ध में ऋ. वे. का ७-४७ वां सूक्त भी देखने योग्य है।

इन आपो देवताओं के 'पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार पञ्चसागर हैं। और सप्तकों या षडष्टकों के अनुसार सात या छः सागर हैं। पञ्चपर्वाविद्या देखें। सप्तसागर सात वर्णों के हैं। पञ्चसागर पञ्चामृतों के हैं। इन सागरों या समुद्रों के बारे में वैदिक और औपनिषदिक प्रमाण 'पञ्चपर्वाविद्या' तथा 'आपोब्रह्म' में दिये जा चुके हैं, वहीं देखें। सात नदियों के बारे में लिखा है 'अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धून्' (ऋ. १०-६७-१२)। समुद्र के बारे में इसी में लिखा है "इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य।' (ऋ. वे. १०-६७-१२)। 'अर्बुद' (अरब संख्या वाला) 'तवेमे सप्त सिन्धवः' (ऋ. वे. ९-६६-६)। "जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये (ऋ.वे ९-१०२-४)। सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित।" (ऋ.वे. १०-१०४-८)। "या सप्तबुध्नमर्णवं जिह्मबारमपोर्णुत इन्द्रः।" (ऋ. वे. ८-४०-५)।

———

अध्याय ३६

नदी देवता

नदी देवता भी 'पञ्चपर्वाविद्या' का एक प्रधान अंग है। उसी शीर्षक में इसका वर्णन किया जा चुका है। इन नदियों के नाम तो वेही हैं जो इस भारत भूमि में पाई जाती हैं। पर जब इन नदियों को विष्णुपदी, आदित्यतनया, पौष्ण, वृत्रघ्नी (सरस्वती) आदि नामों से पुकारा या वर्णित किया जाता है, तब ये नदियाँ भूलोक की कदापि नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे ऐसी नहीं हैं जैसे ये नाम हैं। ये नाम अक्षरशः सार्थक हैं और ये वैदिक दर्शन के तत्त्वों के समूहों का संकेत करते हैं। इन नदियों के वर्णन को सर्वप्रथम त्रिःसप्तवाद या गुहावाद रूप में कई स्थलों पर तथा नदी सूक्त १०-७५ (ऋ. वे.) में इस प्रकार चित्रित किया गया है' जैसे—ऋ. वे. १०-७५-१-

१—वेदों में वर्णित नदियों का रहस्य क्या है ?

"प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।
प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा॥"

यहां पर नदियों को सप्त सप्तकों और त्रिःसप्त (२४ तत्त्वों) दोनों में वर्णित किया गया है। त्रिःसप्त के पश्चात् इनको 'विवस्वान्' के सदन या स्थान का वासी कहा गया है। विवस्वान् २८वां तत्त्व है और ऋ. वे. १०-६४-८ में इसी बात को पुनः दुहराया गया है—

"त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन्पर्वताँ अग्निमूतये।
कृशानुमस्तॄन्तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे॥"

इन नदियों के मार्ग को, प्रशस्त करने वाले देवता को, वरुण-'वृणोतीति वरुणः' या व्याप्तिधर्मा तत्त्व कहते हैं। ये देवता और विश्वेदेवता दोनों हैं। देवताओं में यह त्रिःसप्तपद का वासी है। विश्वेदेवता में २४ वाँ उत्तरार्द्ध है। (मित्रावरुणौ-या दक्षक्रतू) ये भूमि या सप्तकों में स्थित 'सानु' या तत्त्वपर्वों में होकर बहते हैं, जैसे—

"प्र तेऽरदद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजाँ अभ्यद्रवस्त्वम्।
भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि॥"!
(ऋ. वे. १०-७५-२)

"सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः' (ऋ. वे. ८-६-१२) नदियों के बारे में अन्य त्रिःसप्तवादी मन्त्र ये हैं "स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।' (ऋ. वे. १-७२-८), '(सप्त) वव्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः॥" (ऋ.वे. ३-१-६), "अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि॥' (ऋ. वे. १०-४९-९), "अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धून्" (ऋ. वे.

१०-६७-१२), "वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः। मृज्यन्ति त्वा नद्याः सप्त यह्वी ॥' (ऋ. वे. ९-४२-४) इत्यादि अनेकों हैं। दार्शनिक नदियाँ या वैदिक तत्त्वों के रहस्य के लिए स्वीकृत नदियाँ केवल सात ही हैं। पर वेदों में १४ नदियों के नाम दिये गये हैं। शेष सात नाम उन मुख्य सात सप्तकीय नदियों के अंग-प्रत्यंग रूप में स्वीकृत हैं।

२—उन सब नदियों के नाम ये हैं

"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।" 'तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे।' (ऋ. वे. १०-७५-५,६) 'सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः। देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत।' (ऋ. वे. १०-६४-९)। 'प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते हासमाने। गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते॥" (ऋ. वे. ३-३३-१)। यमुना का नाम 'ऋग्' भी है और सरस्वती का सिन्धु नाम भी है। सिन्धु नाम साधारणतः नदियों का भी है और सिन्धु नदी का भी है। उक्त मंत्रों में निम्नलिखित नदियों के नाम आये हैं (१) गंगा (२) यमुना (३) सरस्वती (४) शुतुद्रि, शतद्रू या सतलज) (५) परुष्णी (इरावती) (६) असिक्नी (काली नदी) (७) मरुद्वृधा (चेनाव की सहायक) (८) वितस्ता (झेलम) (९) आर्जीकीया (चेनाव-चन्द्रभागा) (१०) सुषोमा या सिन्धुनदी (११) तृष्टामा, (१२) श्वेती (१३) कुभा (१४) गोमती (१५) क्रुमु (१६) सरयु। ये सब की सब पश्चिमोत्तर भारत की नदियां हैं। केवल सरयु और गोमती कुमाऊँ प्रदेश (उत्तरप्रदेश) की नदियां हैं। इन नदियों में से 'गंगा' का नाम ऋ. वे. ६-४५-३१ में 'उरुः कक्ष्यो न गाङ्ग्यः' मंत्र में भी आता है, तथा श, प. ब्रा. १३-५-४-११ में इसका तथा यमुना का उल्लेख करते हुए भी लिखा है "एतद्विष्णोः क्रान्तम्। तेन हैतेन भरतो दौष्यन्तिरीजे तेनेष्ट्वेमां व्यष्टिं व्यानशे, येयम्भरतानान्तदेतद्गाथयाभिगीतम्-अष्टासप्ततिम्भरतो दौष्यन्तिर्यमुनामनु। गंगायां वृत्रघ्ने ऽबध्नात्पञ्चपञ्चाशतं हयानिति॥" इसी प्रकार तै. आ. २-१० और तै. ब्रा. ३-१८३ में भी गंगा का नाम मिलता है। वृत्रवध गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम पर २६वें तत्त्व में होता है। सरस्वती को ६-६१ में वृत्रघ्नी कहा है।

३—ये कहां की नदियां हैं?

क्या ये नदियां भूलोक की हैं? कदापि नहीं। वृत्र के बारे में लिखा जा चुका है, वह ऐतिहासिक होते हुए भी आसुरी भौतिकात्मा का प्रतिनिधि है। वृत्रवध के स्थान पर गंगा किनारे ५५ घोड़ों के (अश्वों) को बांधने की बात उक्त श. प. ब्रा. लिख रहा है और ऋ. वे. ६-६१-७ में सरस्वती को वृत्रघ्नी नाम से घोषित करता है और उसे 'त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता' (१२) सप्तस्वसा (१०) नाम से पुकारता है। ये नदियां सुन्दर अश्वों (प्राणों) वाली, सुन्दर (देव) रथवाली,

सुन्दर वस्त्र (ऊर्णनाभि) वाली, हिरण्मयी, सुकृत लोक (गुहा) वाली और अन्न वती (सोमवती) हैं, ऊर्णवती हैं, युवतियां हैं, शीलवाली (दैवी प्रवृत्ति की) हैं तथा मधु (पञ्चामृत) को सौभाग्य रूप से बढ़ाती हैं; जैसे—

"स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥"

(ऋ. वे. १०-७५-८)

इतना ही नहीं, ये नदियां तो चलने या बहने के लिए 'आश्विन्य रथ' का प्रयोग करती हैं, धरती पर चलती नहीं, जैसे—

"सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ।"

(ऋ. वे. १०-७५-९)

ये तो युद्ध भी करती हैं। यह इसी में लिखा है, और वृत्र को तो मारती ही हैं। वृत्रवध का स्थान दार्शनिक गंगा, यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी (सोम) है, वहीं वैश्वानराग्नि में वृत्र की दाह क्रिया होती है। गंगा का जन्म ब्रह्मरूप कमण्डलु या हिरण्यगर्भ प्रथम तत्त्व से ९ तत्त्व तक क्रमशः होता है। १०वें तत्त्व से २०वें तत्त्व तक ११ रुद्र हैं, तब यह गंगा इन रुद्रों के ११ पर्वरूप जटाओं में क्रमशः घूमती या विकसित होती है, २०वां तत्त्व आदित्यों को आरम्भ करता है। यहां से यमुना आदित्य पुत्री का जन्म होता है। दोनों नदियां समानान्तर रेखा में बहती हैं, २४वें तत्त्व पूषा से सरस्वती पूषण का जन्म होता है, २६वें सोम में इन तीनों की त्रिवेणी बन जाती है।

४—विपाद्, शुतुद्री

विपाट्, शुतुद्री तो स्वयं कह रही हैं कि हमको इन्द्र ने वृत्र को विदीर्ण कर उत्पन्न किया और हम तो सुपाणि सविता के प्रसव के लिए, सोम या भौतिक तत्त्व की सृष्टि के लिए, उर्वी या ऊर्णनाभि वाली उर्वी (चतुर्थ सप्तक) के लिए, प्रस्थान कर रही हैं जैसे "इन्द्रो अस्मां अरद-द्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्। देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः॥" (३-३३-६)। इसमें स्पष्ट है कि विपाट्, शुतुद्री का स्थान 'वृत्र' तत्त्व के तत्काल पश्चात् २७,२८वें तत्त्वों में आता है। यहीं से भौतिक नदियों की परिधियां फूट निकली हैं। तब तक भौतिकता की नदियां वृत्र की व्याप्ति से बन्द थीं ('अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्', 'वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार')। इन नदियों को भरत (अग्नि) नामक तत्त्वों ने पार किया था ('अतारिषुर्भरता गव्यवः' 'यदङ्ग त्वा भरताः संतरेयुः' ३-३३-१२,११)। इन नदियों के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण ऋचा यह है—

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥"

(३-३३-१०)

इन्हें 'कारु' कवियित्री और रथ में चलने वाली भी कहा है। यह कवि या कारु या कवियित्री तो सोम का नाम है, 'होतारौ देव्यौ' देखें। इसी सूक्त के मंत्र ९ में 'ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन' में कहा है कि तुम कारु या सोम को गीत सुनाने के लिए देवरथ में बैठ कर जाती हो या गाती हो। इस प्रकार ये नदियां शब्दब्रह्म की नदनशील सरणि की प्रकाशिका वाग् ब्रह्माणी हैं। हां, साथ में भूलोक की नदियों का उल्लेख मात्र आधार मात्र के लिए स्वीकार किया गया है जिसके बिना ब्रह्म विकास की यह सरणि प्रकाश में आ भी नहीं सकती थी।

अध्याय ३७

ओषधिः

ओषधि नाम उपसः भवं ओषं ओषं धयन्तीति ओषधिः। सोम सर्वा देवता है। यह रसमय सोम ब्रह्म की व्याख्या करता है। अतः यह नाम सोम रस सीधे-सीधे सोम का है। ओषधि शब्द स्त्रीलिंग है। अतः ओषधि को 'सोमराज्ञी' नाम से (१०-९७-१८) पुकारा गया है, सोम नाम ब्रह्म या भौतिक विश्वेदेवता का है तो ओषधि नाम भौतिक वाग्ब्रह्माणी का है। यह रसरूप ओषधि है। जिसका धयन या दुहन इसी ओषधि रूप सोम या सोमराज्ञी से होता है। अतः इन्हें निम्न ढंग से बड़ी स्वादिष्ट बताया गया है; जैसे "स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः' (ऋ. वे. ९-१-१)। ये ओषधियां दर्शन के स्वरूप में दो प्रकार की हैं—पूर्वार्द्धीय और परार्द्धीय। पूर्वार्द्धीय का नाम त्रियुगी त्रिःसप्तीय २४ तत्त्व की है। इन ओषधियों के सौ सप्ताह (७२० दिन) और सात सप्तक बताये गये हैं। इनके विकासों का वर्ण और नाम बभ्रु है; जैसे—

१—'ओषधि' शब्द की व्युत्पत्ति और रहस्य

"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥"

(ऋ. वे. १०-९७-१)।

इन सौ धामों या सप्ताहों को सहस्रों में भी विभाजित किया जाता है। जैसे ऋचो अक्षरे के अक्षरों की गिनती की जाती है। इसमें से तृतीय सप्तक की ओषधियों को—प्रथमादित्य से पूषा तक–१७ से २३½ तक–जैसे इन्द्र को कहा जाता है—'शतक्रतु' नाम से पुकारा गया है। वे आध्यात्मिक आत्मायें या ओषधियां हमें अगद या स्वस्थ रखती हैं। जैसे—

"शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥"

(ऋ. वे. १०-९७-२)

इन ओषधियों को आपोदेवता की तरह से 'मातरः' और 'देवी' नाम से सम्बोधित किया गया है और कहा गया है कि ये सृष्टि पुरुष में वास करती हैं (ऋ. वे. १०-९७-४)। इनका निवास अश्वत्थ (पीपल और प्राणों) में तथा इनकी कुटी (पर्णकुटी) पर्णों या सुपर्णों (पत्तों) या दर्शन के सोम नामक तत्त्व से बनी हुई है। ये आदित्यों के भाजन हैं और सृष्टि पुरुष का विकास करती हैं जैसे—

"अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥"

(१०-९७-५)

इस ऋचा का भाष्य सा लिखती हुई अगली ऋचा १०-९७-७ कहती है। तुम अश्वों वाली या प्राणों वाली सोमवती ऊर्ज (वायु) वाली और (तैजसाग्नि) वाली सब ओषधियों को जानती हो और हमारे सब अरिष्टों या रोगों का नाश भी स्वयं करती रहती हो; जैसे—

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥"

ये ओषधियां जब भौतिक सोम रूप में उदित होती हैं तो ऐसा लगता है जैसे गोशाला से गायें खोल दी गई। ये गायें आदित्यरूप हैं। और ये गोरूप ओषधियां त्रिधात्मा रूप त्रिपादमृत रूप धन से भौतिक सृष्टि पुरुष को रसमय करती हैं (ऋ. वे. १०-९७-८)। तब ये नाना रूप धारण करती हुई एक दूसरे की पूरी रक्षा करने चलती हैं। एक दूसरे के साथ-साथ चलती हैं। वे सब एक दूसरे को भली भांति जानती हैं। उनका स्वरूप वचः या 'वाग्ब्रह्म' या शब्दब्रह्म का है (१४)। प्रत्येक के अंग-अंग, पर्व-पर्व में विकसित होते जाते हैं, उस विकास धारा में उनकी अस्वस्थता को मध्यवर्ती असि की तरह सर्वतः प्रतिबन्धित करती रहो (१२)। इन ओषधियों का सर्जनहार वृहस्पति है। आदि में ब्रह्मणस्पति है, इन में कोई फलिनी है, कोई अफला, कोई अपुष्पा और कोई पुष्पिणी है, वे सब हमें अंहस या पाप पर संघर्षों से बचाती रहें।

"याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥"

(१५) हम वरुण के संयोगीय पाशों के बन्धनों से भी मुक्त रहें तथा यम के विभेदक गुणों से भी पृथक् रहें। (१६) आप त्रिपादमृतों से उतरती हुई, शब्दब्रह्म रूप में गाती हुई ओषधि रसरूप में प्रस्तुत होती हो। इस विकास धारा में हम जिस स्वरूप की जीवयोनि को प्राप्त कर सकें। उसमें सृष्टि पुरुष को कोई बाधा न होने पावे।

"अवपतन्तोरवदन्दिव ओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥"

(१७) भौतिक शब्दब्रह्माणी रूप सोमराज्ञी में जितने अनन्त वीजों के भौतिक तत्त्व रूप ओषधियां या रस हैं उनमें से तुम (भौतिक तत्त्व) सब से उत्तम हो। उससे हमारी मनभावनी अभीष्ट सिद्धि हो "या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। तासां त्वमस्युत्तमारं कामाय शं हृदे ॥१८॥' जो भौतिक मिश्रण सामराज्ञी इस पृथिवी या चतुर्थ सप्तक में आविर्भूत करती है। उन्हें वीर्यवान् बनने दो ॥२०॥ ये ओषधियां सोम राजा से संताप करती हैं, जिस-जिस की ये चर्चायें करती हैं, उन्हें ब्राह्मण या २४ ब्रह्म विकसित करना चाहता है। अतः उन्हें हे सोम राजन् पार लगाओ या स्वभावतः विकसित होने दो ॥२२॥ इन ओषधियों के वर्णन में आधार तो भूलोक की ओषधियां हैं। पर इसके सहारे वैदिक दर्शन के इस दृष्टिकोण के रहस्य का उद्घाटन किया गया है। इसके बिना उक्त सब मन्त्रों

का अर्थ अन्तर्गत ही लगेगा। उसमें कोई सन्दर्भ नहीं बैठ सकता। जैसे 'अश्वावती सोमवती' आदि विशेषणादि। कर्मकाण्ड में इन ओषधियों का अभिनय पञ्चपर्वा विद्या के अनुकूल 'पञ्चपल्लवाः', शमी, अश्वत्थ, वट, आम्र, अर्क से किया जाता है और 'सर्वोषधीः' नाम से 'हरिद्रा' या 'सरसों के दानों से भी किया जाता है। ये उक्त ओषधियों के संकेत मात्र हैं। ये ओषधियाँ नहीं हैं। जो कर्मकाण्डी या वैदिक विद्वान् भूलोक की इन लौकिक जड़ी-बूटियों को वैदिक ओषधि समझते हैं, उनकी हंसी उड़ाते हुए स्वयं वैदिक ऋषि लिख गये हैं कि ऐसे लोग बहुत बड़े भ्रम जाल में हैं। जिस ओषधि को ब्राह्मण लोग सोम नाम से पुकारते आये हैं। उस वैदिक ओषधि को तो कोई खा-पी नहीं सकता, वह तो दिव्य शरीर है। भटके लोग जड़ी-बूटी छानकर, घोटकर सोमपान कर लिया ऐसा समझते हैं, पर बात ऐसी नहीं है, जैसे "सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ इत्यादि ऋ. वे. १०-८५-३, (चौथा मंत्र भी देखें साथ में, श. प. ब्रा. २-२-३-१० में दिये ओषधि का अर्थ भी देखें।

———

अध्याय ३८

अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू

प्राचीन युग में महीनों की अवधि चान्द्रायण से, दो प्रकार से मानी जाती रही। कुछ लोग अमावस्या से लेकर दूसरी अमावस्या के अन्तर्गत एक मास मानते रहे। इसको 'दर्शमास' नाम से पुकारते थे। द्वितीया के चन्द्र दर्शन से इस मास का निर्धारण होता रहा। दर्श नाम अमावस्या का भी है। अतः इसका नाम दर्शमास पड़ा। इसके अतिरिक्त मास की अवधि चान्द्रायण से ही दूसरे प्रकार से मानी जाती रही। यह मास दो पौर्णमासियों के बीच के समय को सूचित करता रहा। प्रथम पौर्णमासी के अन्त से मास का आरम्भ होता रहा। द्वितीय पौर्णमासी को मास पूरा हो जाता रहा। इसीलिए इसका नाम पूर्णमासी तिथि तथा महीने का नाम पौर्णमास पड़ा। याज्ञिकों ने उक्त दोनों प्रकार के मासों को अमर बनाने के लिए दर्शयाग और पौर्णमास याग की रचना की है। यह तो इनकी लौकिक व्याख्या है। पर हमारे वैदिकों ने अपने दर्शन में इन दोनों का एक ऐसा मीठा सम्मिश्रण कर रखा है कि उन्हें एक दूसरे से पृथक् किया ही नहीं जा सकता। वास्तव में दर्शपूर्णमास याग इन्हीं वैदिक भावनाओं की विस्तृत व्याख्या मात्र है।

१—प्राचीन युग के दो प्रकार के मास

वैदिक दर्शन में प्रलय पौर्णमासी है। सृष्टि का आरम्भ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से होता है। ३३ देवताओं और ५० तत्त्वों में ब्रह्म द्विधा षोडशकल ब्रह्म है। २४वें तत्त्व में पौर्णमासी होती है। ब्राह्म या प्रथम पौर्णमासी का नाम अनुमति है। इस पूर्णमासी से दूसरी पूर्णमासी २४वें तत्त्व में आयेगी। उस पूर्णमासी का नाम 'राका' है। इन दोनों के प्रथम से २४वें तक के २४ तत्त्वों को पौर्णमास याग या पूर्णमास यज्ञ या पूर्ण विकास कहते हैं। निरुक्तकार कहते हैं कि अनुमति और राका दोनों देवताओं की पत्नियां हैं। याज्ञिक कहते हैं कि ये पूर्णमासी ही हैं, पर प्रथम पूर्णमासी को अनुमति, दूसरी को राका यह सब वैदिक मानते हैं। इन मास पर्वों का वैदिक दर्शन से कितना गहरा सम्बन्ध है, इस पर 'पैत्रसंवत्सर अहोरात्र' शीर्षक में विस्तार पूर्वक लिखा जा चुका है, वहीं पढ़ लें। २४वें तत्त्व की पौर्णमासी के तुरन्त बाद सूर्योदय और अमावस्या २५वाँ तत्त्व आता है।* जब भौतिक तत्त्व का पूर्वाभास सूर्य को चारों ओर से घेर कर अन्धकार कर देता है तब २६वें तत्त्व में सोम या चन्द्र का अभ्युदय होता है ; पूर्वार्द्ध दिन है, उत्तरार्द्ध रात्रि है। पूर्वार्द्ध

२—दार्शनिक पूर्णिमा और अमावस्या की व्याख्या

---

* इसी को बृहदारण्यक 'अमायामेव ध्रुवैव षोडशी कला' कहता है।

देवताओं का है, उत्तरार्द्ध पितरों और असुरों का। पूर्वार्द्ध शुक्लपक्ष है, उत्तरार्द्ध कृष्ण पक्ष। अतः दूसरी अमावस्या ४०वें तत्त्व में ही आयेगी। सृष्टि के आरंभ की प्रलय कालीन पौर्णमासी ब्राह्म पौर्णमासी है, उत्तरार्द्ध कृष्ण पक्ष की अमावस्या भौतिक अमावस्या है। पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक सृष्टि रूप शुक्लपक्षीय चन्द्र का क्रमिक विकास पौर्णमासी (२४वें तत्त्व) में पूर्णता को प्राप्त होता है। २५वें तत्त्व से भौतिकता रूप अन्धकार क्रमशः बढ़ता जाता है। आध्यात्मिकता क्रमशः सम्बद्ध, प्रवद्ध होकर भौतिक जाल से जकड़ जाती है। अन्त में वह अपने को भौतिकता में खो बैठती है। उसी का नाम अमावस्या है। इसका उद्धार दर्शयाग से किया जाता रहा। पूर्णमास याग से पूर्णब्रह्मज्ञान प्राप्ति का मार्ग खोला जाता रहा। यही इन दोनों मासों का अन्तर है। जिस प्रकार दो पौर्णमासियों के दो अलग-अलग नाम अनुमति और राका हैं। उसी प्रकार दोनों अमावस्याओं के नाम भी अलग-अलग सिनीवाली और कुहू हैं। पूर्व अमावस्या सिनीवाली कहलाती है तो अन्तिम कुहू जबकि निरुक्तकार इन्हें भी देवताओं की पत्नियाँ ही मानते हैं। याज्ञिक केवल दो अमावस्यायें ही मानते हैं। पौर्णमास आध्यात्मिक मास है, दर्शमास भौतिकतावादी। दोनों के यज्ञों में भौतिकता से छुटकारा पाकर आध्यात्मिकता द्वारा ब्रह्म प्राप्त करना अवश्य अन्तिम लक्ष रहा।

अनुमति

अनुमति शब्द की व्याख्या 'अनुमान' करने से बताई गई है। यह ब्राह्म पौर्णमासी का नाम है। ब्रह्म को इससे अच्छी व्याख्या दूसरी नहीं हो सकती।

३—अनुमति की व्याख्या

अनुमति माने जिसकी मति में या पहुँच में ब्रह्म की जैसी धारणा हो सकती है या है वही उसकी अनुमति या ब्रह्म है या पूर्णिमा या पूर्ण ज्ञान है। क्योंकि ब्रह्म विषयक सब कुछ ज्ञान अनुमति या अनुमान या अपनी-अपनी सरणि की अन्तिम पहुँच से होता है। सर्वादि और सर्वान्त, अनादि और अनन्त होने से वह केवल अनुमति मात्र है। इसीलिए अथर्ववेद ने लिखा है कि सबसे पहिले जो कुछ भी था वह सब अनुमति मात्र था, जिससे जो कुछ स्थावर, जंगम और ब्रह्माण्ड रचना में आये, हम उसी सुमति की प्रार्थना करते हैं, जैसे—

"अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत्तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः॥"

(७-२०-६)।

यजुर्वेद ३४-८ और अथर्व ७-२-९-२ ने कुछ पाठान्तर से निम्न मंत्र में अनुमति की स्तुति की है।

यजु—अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः॥
अथर्व- ,, ,, ,, ,, ,, ,, ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥

हे अनुमते ! तुम हमारी प्रार्थना स्वीकार करो, हमें सुखी बनाओ, हमें अपनी सन्तान दत्तक्रतू की तरह सन्तानों (के बीजों) से युक्त करो और हमें दीर्घायु बनाओ। अथर्व के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार होगा—हमारी दी हुई हवियों का आस्वादन करो और हमें प्रजा भी दो। इस अनुमति को अथर्व ७-२-७-५ में 'देवगोपा' नाम से भी पुकारता है और चतुर्थ मन्त्र में 'सुप्रणीते' सम्बोधन से इससे इसका स्थान पूर्वार्द्ध निश्चित हो जाता है क्योंकि पूर्वार्द्ध ही देवताओं का स्थान है, वहीं यह उनकी गोपा या रक्षिका है। इसकी अग्नि को प्रथम मन्त्र (७-२-७-१) में हव्यवाहन कहा है। यह भी उसी बात का सूचक है। उत्तरार्द्ध की अग्नि अहव्यवाड् है जैसा कि 'मनसश्चवाचश्च' के सम्वाद में परा (उत्तरार्ध की वाणी) को अहव्यवाड् कहा है (श. प. ब्रा. १-४-१-११,१२,१३)।

राका

राका शब्द की व्युत्पत्ति दार्शनिक है। ऋम्, ऋतम् वा आकरोति वा व्याकरोतीति विकासयतीति यावत् (ऋ+आ कृ) राका। ऋ शब्द ऋत् शब्द का प्रतीकाक्षर है। उसके विकास को पूर्ण करने वाले तत्त्व को 'राका' कहते हैं। यह २४वां और आध्यात्मिक सृष्टि का पूर्ण विकास या द्योतक तत्त्व है। इस तत्त्व की व्याख्या में निम्न मन्त्र मिलते हैं।

३—राका की व्याख्या

(१) "राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥"

(२) यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा॥"

(ऋ. वे. २-३२-४,५; अथर्व ७-४-८-१,२)-अर्थः—हम उस राका का आह्वान करते हैं, और सुन्दर प्रार्थनाओं से मनाते हैं कि वह सौभाग्यवती हमारी पुकार को आत्मा से समझे। सूची (सुई) के मुख के समान सूक्ष्म रूप से वह भौतिक सृष्टि के जल बिन्दु, बीज बिन्दु को सींच दे जिससे ऐसा वीर तत्त्व उत्पन्न हो, जिससे सैकड़ों उत्पन्न हो सकें, वह ऐसा मूल स्रोत (उक्थ्य) हो॥१॥ हे राके ! तुम्हारी जो सुमतियां (अनुमति से प्राप्त) सुकल्याणकारिणी हैं, जिनके द्वारा दान के निमित्त ही (वापस लेने के लिए नहीं, बदले में नहीं) नाना प्रकार के धनों को देती हो, उन सुमतियों से आज हमारे मन (मन्दिर) में आ जाओ। जहां तुम सहस्रधा बन कर सुख सम्पन्न होकर रमण करती रहो॥२॥ यह आध्यात्मिक पूर्ण विकास की द्वितीय पूर्णिमा है, २४वां तत्त्व है। अतः राका कहलाती है।

सिनीवाली

अनुमति और राका, पूर्वार्द्ध के ओर-छोर, प्रथम, अन्तिम (प्रथम और

२४वें) तत्त्व के दो पूर्णमासी रूप में वर्णित हैं। सिनीवाली उत्तरार्द्ध की प्रथम अमावस्या है और कुहू अन्तिम। सिनीवाली २५वां तत्त्व है तो कुहू ४८वां। 'सिनीवाली' शब्द की व्युत्पत्ति भी दार्शनिक ही है। सिन नाम अन्न या भौतिक तत्त्व है, सिनेन अन्नेन वलयते वृणोतीति सिनीवाली-जो तत्त्व अन्न या भौतिकात्मा से सब को (त्रिपादामृत को) घेर लेता है, वह सिनीवाली कहलाता है। इसका अर्थ लगभग 'वृणोतीति वृत्रः' के समान ही है। इन्द्र वृत्र नाम देवासुर विभेदक है तो ये नाम पक्ष भेदक हैं या अयन विभेदक। सिनीवाली के बारे में ऋग्वेद और अथर्ववेद में निम्न मन्त्र मिलते हैं—

४—सिनीवाली की व्याख्या

(१) सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥२॥
या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥३॥
या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥"

प्रथम दो मन्त्र ऋ. वे. और अथर्व दोनों में (ऋ. वे. २-३२-६,७) मिलते हैं, तीसरा मन्त्र केवल अथर्व (७-४६-१-३) में मिलता है। प्रथम मन्त्र शु. यजु. ३४-१० में भी मिलता है। हे सिनीवाली! तुम पृथुजघना या पृथुकेशवती हो, (स्तुक् सङ्घाते) और देवताओं की बहिन हो, तुम हमारी दी हुई हवि का आस्वादन करो और हमें प्रजा दो (दिदिड्ढि)। निरुक्तकार इसे देवपत्नी मानते हैं, उनका यह मत इस ऋचा से खण्डित हो जाता है; क्योंकि यह ऋचा इसे देवताओं की बहिन बतलाती है। (२) तुम सुन्दर बाँहों और सुन्दर अङ्गुलियों वाली, अत्यन्त सुन्दरता (सुषमा) से युक्त तथा अनन्तों को उत्पन्न करने वाली हो। ऐसी विश् (तृतीय सप्तक की) पत्नी, सिनीवाली के लिए हवि का आवाहन या हवन करो। इसके बाँह द्वितीय सप्तक हैं, अंगुलियां प्रथम तीन सप्तक के प्रत्येक तत्त्व से सम्बन्ध रखती हैं। यह वैदिकों की अङ्गुलि सरणि अपनी अलग है। (३) 'जो विष्णु की पत्नी और विश् की पत्नी है (विश् से ही विष्णु बनता है, विष्णु भी विश् ही है) और इन्द्र के पूर्व दिशा की ओर वृत्त रूप आसन्दी में रहती है, तथा हजारों स्तवकों में अग्रसर होती है, ऐसी हे देवि! तुम्हारे लिए दी गई हवियों को स्वीकार कर पति को धन देने के लिए प्रेरित करो।" यह अथर्व का मन्त्र है। यह सिनीवाली को विश्पत्नी के स्थान में विष्णु पत्नी भी कहने लगा है, सम्भवतः विश् का अर्थ विष्णु भी रहा होगा क्योंकि दोनों का स्रोत एक ही है तथा विष्णु का स्थान भी उत्तरार्द्ध में ही आता है, वह सोम का प्रतिनिधि है। इससे निरुक्तमत समूल खण्डित हो जाता है। फिर भी सभी भौतिक तत्त्वों को स्त्रीरूप में स्वीकार करने की हमारे यहां एक प्रथा है। जैसे प्रकृति, भौतिक तत्त्व

है, स्त्री है, पुरुष आध्यात्मिक पुंलिङ्ग है। इसी प्रकार जीवात्मा प्रकृति है, ब्रह्मात्मा पुरुष, पति इत्यादि।

कुहू

कुहू शब्द की व्युत्पत्ति 'गूहते इति कुहूः या क्व सती हूयते, का हुतं हविर्जुहोतीति वा' है कि जो अपना इतना विस्तृत विकास कर लेती है कि प्राणी लोगों के लिए त्रिपादमृत ब्रह्म एकदम निगूढ हो जाता है। यहां तक कि बहुत लोगों को अब तक भ्रम बना पड़ा है कि ब्रह्म जैसी कोई वस्तु हो भी सकती है? कुछ लोग कहते हैं 'दमः दानं दया' दत्रयी का आह्वान किस लिए, कहां और क्यों किया जाय? जहां ऐसी मति का बोलबाला मतवाला बना देता है, वहां पूरी 'कुहू' है। पर 'कुहू' को पहचानने वाला सबसे बड़ा ज्ञानी है क्योंकि ज्ञान की प्रथम श्रेणी को यहीं पर पार करने का प्रथम अवसर मिलता है। यहीं से ज्ञान मार्ग के द्वार खुलते हैं। कुहू के सम्बन्ध में अथर्व वेद में दो मन्त्र मिलते हैं:—

५—कुहू की व्याख्या

(१) "कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्।"
(२) कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु॥"

(अथर्व ७-४७-१,२)।

अर्थ—मैं एकदम से चारों ओर से घेरनेवाली और अपनी क्रियाओं (प्रकृति कर्त्री के रूप की स्वतन्त्रधर्म की क्रियाओं) के लिए प्रसिद्ध पर सरलता से बुलाई जा सकने वाली कुहू को इस यज्ञ में आमन्त्रित या आहूत करता हूँ। वह हमें अपने श्रवण दे या हमारी बातें सुन ले, या हमें भौतिकात्मा स्वरूप श्रवण या श्रावणीय तत्त्व तक पहुंचा दे, जिसको पितरों का धन या दिव्य शरीर कहा जाता है। उसका हमें अनुभव और ज्ञान हो, ऐसी देवी के लिए हम अपनी हवियों से याचना करते हैं॥ पाठान्तर—कुहू देवी सुकृत कर्म वाली है.......। वह हमें संसार की रचना में समर्थ धन (दिव्यशरीर) को प्रदान करे और ऐसी संतानों का बीज दे जो अग्रिम सृष्टि का सहस्रधा मूलस्रोत बन सके॥ (२) कुहू देवताओं की और त्रिपादमृत की पत्नी है और हमारी आहवनीय है और वह हमारी हवियों का आस्वादन करे; वह हमारी प्रार्थनाओं, यज्ञ को, इच्छा करती हुई सुने और आज हम धन को या दिव्य शरीर (ओजः, तेजः) को दान देने के लिए धारण करें।

———

अध्याय ३९

वैदिक ग्रहवाद, आधुनिक ग्रहवाद तथा भारतीय आयुर्वेद के मुख्य तत्त्व

ज्योतिष के दो अंग हैं, गणित और फलित। इस युग में अधिकतर विद्वान् फलित के हैं। गणितज्ञों की संख्या कम है। ज्योतिष के आधुनिक विद्वान् पाश्चात्य देशों में भी हैं। हमारा ज्योतिष (गणित) भास्कराचार्य के समय से अब तक सब अशुद्ध चल रहा है। हमारे गणितज्ञ और पञ्चाङ्ग निरयण ग्रहगति देते हैं जिसका फल यह होता है कि जब ये शुक्रास्त लिखते हैं तब शुक्रोदय स्पष्ट दीखता है। जब ये शुक्रोदय लिखते हैं तब शुक्रास्त हुआ मिलता है। इसी प्रकार इनका गणित ग्रहों की दृश्यगति से २३ अंश पीछे है। इसीलिए आजकल की ऋतुओं में परिवर्तन प्रतीत होता है।

१—नवीन ज्योतिष

दस मुख्य ग्रह हैं। हमारे ज्योतिषी केवल नव ग्रह ही देते हैं। उनमें भी रा०-के० को छायाग्रह मानकर कई ग्रन्थों में इनकी चर्चा ही नहीं है जैसे बृहज्जातक। हम अपने पूर्वजों के खोजे दस ग्रहों को भी खो चुके हैं। केवल सात ही उपलब्ध या वर्णित ग्रह मिलते हैं। वैदिकों ने तो आठ ग्रह और आठ उपग्रह तथा कई अतिरिक्त ग्रह बतलाए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके लिए यज्ञ-विधान है, जप है, होम है, दान है, विधान है जिसके लिए सैकड़ों मन्त्र हैं, यन्त्र हैं और तन्त्र हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये मन्त्रादि उन्हीं ग्रहों से सम्बन्ध रखते हैं जो आकाश में सौरमण्डलीय दस ग्रह हैं? यदि आप दोनों में अभेद मानें तो हमारे सामने वही निश्चित पहेलियां आती हैं जिनको कई अज्ञ विद्वानों ने उठाया है; जैसे शनि का मन्त्र जल की प्रार्थना है, मङ्गल-बुध का मंत्र अग्नि प्रार्थना, शुक्र का अन्न रस की प्रार्थना आदि। दूसरी बात इन ग्रहों के नाम की है। मङ्गल को भूमिपुत्र, कुज, भौम कहते हैं, पर सौरमण्डल में पहले मङ्गल बना, फिर यह पृथ्वी, कुज को अङ्गारक भी कहते हैं, यह तारा नहीं, ग्रह है। तब अङ्गारक कैसे? क्या बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, सोम, सूर्य ये नाम सार्थक हैं या निरर्थक? यदि सार्थक हैं तो इनका अर्थ लौकिक ग्रहों में किस प्रकार घटित हो सकता है? इनके मन्त्र इनमें क्यों नहीं घटित होते, मन्त्र ही तो इनका अर्थ देते हैं? यह क्या बात है? इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय आर्य ज्योतिष या गणित जानते ही नहीं थे।

२—ग्रह और ग्रहमन्त्र समस्या

भारतीय या वैदिक ग्रह दो प्रकार के हैं। (१) आध्यात्मिक या तात्त्विक (२) लौकिक या सौरमण्डलीय। कर्मकाण्ड में तात्त्विक ग्रहों की विधियां या विधान हैं। उनके अभिनय के पात्र

३—वैदिक ग्रह

लौकिक ग्रह हैं। मनुष्य की सुदशा या दुर्दशा का कारण आध्यात्मिक तत्त्वों का सन्तुलन रखना या खोना है। यही बात गीता भी दूसरे ढंग से कहती है—

"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" ॥

हमारे ही भीतर हमारे शत्रु हैं, जब उनका प्राबल्य होता है तो वैसी ही बुद्धि हो जाती है और उसी के अनुसार हमारी दशा हो जाती है। ग्रहपरक वेदों के मन्त्र इन्हीं शत्रुरूप ग्रहों के सन्तुलन को समान बनाने की सबसे उत्तम भूमिका देते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इन ग्रहों के कुछ अन्य वैदिक नाम हैं। जैसे (१) उपांशु ग्रह (व्यान), अन्तर्याम ग्रह (उदान), (३) ऐन्द्रवायव ग्रह, (४) मैत्रावरुण ग्रह, (५) आश्विनग्रह, (६) शुक्रामन्थि ग्रह, (८) आग्रायण ग्रह, (९) उक्थ्य ग्रह, (१०) ध्रुव ग्रह, (११) ऋतु ग्रहैन्द्राग्न वैश्वदेव ग्रह, (१२) मारुत्वतीय माहेन्द्र ग्रह, (१३) आदित्य ग्रह, (१४) सावित्रग्रह, (१५) पात्नीवत ग्रह, (१६) हारियोजन ग्रह, (१७) षोडशिग्रह, (१८) अतिग्राह्य ग्रह (१९) अंशु ग्रह (२०) महाव्रतीय ग्रह। ग्रहों की संख्या बहुत अधिक है। ग्रहों की परिभाषा में लिखा है कि हम लोग ग्रहों से गृहीत होकर आचरण करते हैं। अतः ये ग्रह कहलाते हैं—

"एष वै ग्रहः, य एष तपति येनेमाः सर्वाः प्रजा
गृहीताः तस्मादाहुर्ग्रहान्गृह्णीम इति—
'चरन्ति ग्रहगृहीताः सन्त' इति" (४-६-५-१ श. ब्रा.)।

वाणी का नाम ग्रह है। नाम का नाम ग्रह है। अन्न (आत्मा) का नाम ग्रह है। सोम का नाम ग्रह है। इन्हीं से सब काम सिद्ध होते हैं (४-५-७-२ से ५ तक)।

संक्षेप में भारतीय कर्मकाण्ड के ग्रहों में प्रत्येक निम्नलिखित आत्माओं का उद्दीपन करता है—

४—वैदिक मन्त्र आत्माओं का उद्दीपन करते हैं

मंगल–रुद्रात्मा परिजात वेदाग्नि, बुध–अतिथि तैजसात्मा जातवेदाग्नि, बृहस्पति–चतुष्पाद्ब्रह्म, शुक्र–सूर्यात्मा का अन्नमय प्रथम रस, चन्द्रमा–सोम–सूर्यात्मा के अन्नमय रस का सौम्यभाग, शनि–सूर्यात्मा के अन्नमय रस का आसुरी भाग, पञ्चपदी पञ्चपशु, सूर्य–भौतिक ब्रह्माण्ड का प्रथम पूर्व रूप, राहु–सूर्यात्मा में परितः आच्छन्न भौतिक भाव स्वर्भानु, केतु–सोमात्मा में परितः आच्छन्न भौतिक भाव जो आसुरी वृत्रात्मा शरीर कहलाता है। आयुर्वेद के तीन गुण—वात–वातात्मा, रुद्रात्मा या परिजात वेदाग्नि, पित्त–तैजसात्मा अतिथि, कफ–सोमात्मा भौतिक दिव्य शरीर आदि हैं, ब्रह्म तो निर्विकार है। उसके उपचार की कोई भी आवश्यकता ही नहीं है।

अतः हमारा कर्मकाण्ड और आयुर्वेद दोनों दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा पूर्णतः आध्यात्मिक हैं।

———

अध्याय ४०

वेद और जैन-बौद्ध

१—वेद और कर्म-काण्ड अभिन्न हैं

आज के युग में यदि कोई यह कहने लगे कि "जैन और बौद्ध दोनों के प्रथम अवतार या प्रवर्तक वेदों के वास्तविक अर्थ के ज्ञाता या समझदार थे" तो लोग एक दम खिलखिलाकर हँस पड़ेंगे। पर वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि शुश्रुवांस्, अनूचान, वेदविद् ब्राह्मण जिन वस्तुवादी कर्मकाण्डियों की मीठी और कड़वी चुटकियां ऋचाओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में फटकारमात्र के लिए लेते रहे कि वे ठीक रास्ते में आने की चेष्टा करें, पर जोर इन्हीं का बँधता गया, तब गीता ने उन पर अन्तिम चोट का डंका पीटा। इनका त्रैगुण्य विषयक स्वार्थी संप्रदाय धनीमानी लोगों की प्रतिष्ठा का पात्र बनता ही चला। उधर वस्तुवादिता निरन्तर अपने रहस्यमय खोल से खिसकती हुई, ज्ञान-विज्ञान के धरातल से नीचे धसती हुई, तर्क और साधारण ज्ञान से शून्य होकर अन्ध परम्परा की धारा बहाने लगी। यह अन्धपरम्परा रूपी रावण अब तक जीवित है, क्योंकि इस वैदिक अन्धपरम्परा की नाभि (मूल) में अमृतमय रहस्य की संजीवनी बूटी है। यह अन्धपरम्परा भले ही सबसे बड़े अज्ञान की खाइयों वाली हो, कितनी ही बुरी क्यों न हो, हम सबके सब अच्छी या बुरी तरह वेदों की प्राप्ति, इसी स्रोत से करके, इसके आजन्म ऋणी रहेंगे। यह अन्धपरम्परा अब पूर्व मीमांसा कहलाती है, पर ध्यान से देखा जाय, और समझने का थोड़ा भी प्रयत्न किया जाय तो जिसे लोग अन्धपरंपरा नाम देते हैं, उसके कर्मकाण्डी अभिनयवाद की क्रमिक शैली या विधान में ही वेदों के नीहारावृत अमृतमय रहस्य का कलश सुरक्षित मिलेगा। रहस्यामृत न सबके लिए हो सकता है, न सब उसके पात्र हो सकते हैं। यदि इस दृष्टिकोण से कर्मकाण्ड को शुश्रुवांस्, अनूचान, मनुष्य, देव, ब्राह्मण बहुत बुरा नहीं कह गये, केवल समझदारों पर दया कर छीटा कस गये कि तुम भी बह गये तो सचमुच में उक्त अन्ध परंपरारूपी पूर्व मीमांसा को वेदों की रक्षा, शिक्षा और प्रचार के लिए उनकी पूर्ण सम्मति प्राप्त है।

२—बौद्धों और जैनों ने क्या किया ?

वेदों या वैदिक संस्कृति में सर्व प्रथम आन्दोलनकारी दो महापुरुष थे, महावीर जी और गौतम बुद्ध। ये चाहते थे, अन्ध दृष्टिकोण मिटे, पर स्वयं अन्ध दृष्टिकोण के केन्द्रीभूत बिन्दु बन गये। अब जैन और बौद्ध इन्हीं की पूजा, जप और ध्यान करते हैं। जिन और बुद्ध के उपदेश वेदों, उपनिषदों के भाषान्तर या अनुवाद हैं। उनके दर्शन सनातनियों के दर्शनों के आधार पर ढले हैं। उनकी गाथायें महाभारतादि पुराणों और वैदिक गाथाओं की अनु-

कृतियां हैं। अतः किसी भी समझदार जैन या बौद्ध को बिना सांख्य, योग या वैदिक दर्शन के समझे या पढ़े कभी शान्ति न मिली। उन्होंने वेदों के इस अंग को सदा अपनाये रखा। इसका बड़ा प्रचार किया। समस्त बौद्ध देशों में इन्हीं को दर्शन समझा भी जाता रहा। यही तो वेदों का सार है। जो इन्हें मानता है; वह सब वेदों को मानता है। बुद्ध और जिन के उपदेशों के प्रतीक शब्दों में सबके सब वैदिक हैं। 'निर्वाण', 'कैवल्य', 'योग' आदि कुछ को सांसारिक चोगा पहिना दिया है, यथा—असत्—शून्य, दुःख—वैराग्य,—कर्म, भाव—व्रत तत्त्व, देव इत्यादि। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बुद्ध रहने वाले कपिलवस्तु के हैं, ज्ञान होता है 'गया' में क्यों ? वहाँ कौन आश्रम या गुरु था ? गय और गया नाम वैदिक हैं जिनसे गायत्री शब्द निकला है जो ज्ञान का आगार है। इसी ज्ञानागार को गौतम बुद्ध का ज्ञानोदय का मार्ग कहना तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल होगा। विशेषता यह है कि गौतम बुद्ध के ज्ञान को बोधि नामक अश्वत्थ वृक्ष से भी संबद्ध किया गया है। यह अश्वत्थ भी गीता और अथर्व का अश्वत्थ है तथा ऋ. वे. का वृक्ष है। इस संकेत से गौतम को अश्वत्थरूप सृष्टिवृक्ष का ज्ञान गायत्री ब्रह्म से होना कहने के स्थान में गया पीपल वृक्ष के नीचे ज्ञान हुआ, कहा गया है, जिस पीपल को बौद्धों ने बोधिवृक्ष नाम भी दिया है। बात तो यही है, लोग चाहे कुछ कहें, कुछ समझा करें, गौतम की माता माया है, कपिलवस्तु 'काम्पील' (वासिनी) का प्रतिरूप है। चक्र वैदिक चक्रों का, कमल पुष्कर का, कटोरे ऋभुओं के, पाँच शिष्य पञ्चजनों के, सब जातक वैदिक गाथाओं के रूपान्तर बुद्ध नाम से बना लिए गये हैं। इसी प्रकार जैनों ने भी अपने-अपने कथानक गढे हैं, जैसे ता० ३-७-६० के पत्र में छपी जैन अष्टानिका व्रत (अठाइ) की कथा में देवता का नाम नन्दीश्वर है, पर उसे जैन देवता कहा है। व्रत का विधान पूर्ण रूप से वैदिक है और यह नन्दीश्वर भी महादेव (सोम) का प्रतीक है। अन्तर केवल जैन चोला पहनाने का है। सती नारी की महिमा सती पार्वती की कथा का रूपान्तर है। इसी प्रकार इन दोनों सम्प्रदायों की समस्त कथायें, उपदेश, ज्ञान और दर्शन आदि सब ठेठ सनातन धर्मी वैदिक ज्ञान और संस्कृति का नाम बदल कर, वेष बदल कर दूसरे रूप मात्र में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। रह गई बात दया की, वह भी बृहदारण्यक की 'द' त्रयी के दम, दान, दया के आधार पर उनका प्रचार नई भाषा और भावनाओं में किया गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब बुद्ध और जिन को वेदों में आस्था थी, उनका ज्ञान था, उनका प्रचार करना चाहते थे, तब ये क्यों इस प्रकार के पृथक दल बन पड़े या पृथक् धर्म बन गये ? गौतम बुद्ध का बनारस के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ होने की बात प्रसिद्ध है। यह शास्त्रार्थ किस विषय पर हुआ होगा ? निश्चय ही उस युग में प्रचलित आश्वलायन और कात्यायन प्रभृति के श्रौतसूत्रों की कर्मकाण्डी वेद व्याख्या ही उसका आधार

३—जैन और बौद्धों के पृथक् दल बनने का कारण

रहा होगा। इस प्रकार के ग्रन्थों ने वैदिक कर्मकाण्ड के धरातल में छिद्र कर, उसमें बड़ी-बड़ी पोले बना डाली थी। इन्होंने वैदिक हिंसा का लौकिक अर्थ लगाकर सचमुच में वेदों के साथ बहुत बड़ा अन्याय कर रखा है। वैदिक हिंसा तो वास्तव में भौतिक प्रभाव की हिंसा या दमन, दान, दया है। इसका दूसरा प्रसिद्ध नाम योग या सृष्टि है। वैदिक पशु, ये चलने-फिरने वाले पशु नहीं हैं। उसके पशु तो पुरुष पशु जैसे तात्त्विक पशु हैं। सब देवता पशु हैं, सब तत्त्व पशु हैं। उनका वध (हिंसा) नहीं, वरन् बन्धन, उनका आलभन (हिंसा) नहीं, उनके देवत्व का आसमन्तात् लभते—पूर्णप्राप्ति ही वैदिकी हिंसा कहलाती है। यही मत गौतम बुद्ध का रहा होगा, जिसके विरोध में वाराणसी का कोई विद्वान् कुछ न बोल सका होगा।

वैदिक कर्मकाण्ड के भीतर अमृतमय ज्ञान कलश है। अतः उसे समझने की आवश्यकता है न कि कुतर्कों से अपने को भ्रमजाल में डालने की आवश्यकता है। कहने का तात्पर्य है कि कर्मकाण्ड कदापि त्याज्य नहीं। कर्मकाण्ड के बिना वेद की सत्ता नहीं। वेद नाम तो शिक्षाकल्प (कर्मकाण्ड) आदि षड्दर्शनों के समुच्चयरूप मंत्र और ब्राह्मण दोनों के तादात्म्य को कहते हैं। गौतमादि ने कल्प भाग को दयानन्दियों की तरह त्याग देना चाहा था। गौतम और उनके अनुयायियों ने तत्कालीन राजकीय संबंध से अपना प्रचार चलाने की सबसे बड़ी राजनीतिक धर्मनीति अपनाई। इससे उन्होंने वैदिक साहित्य के आधार पर अपने अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिख डाले। सैकड़ों श्रुतियां या तो स्वयं नष्ट हो गई या नष्ट कर दी गई। जिससे लोग जैन और बौद्धों के ग्रन्थों के विषयों को मौलिक कहने का साहस भर सकें या कह सकें। पर वेदों का कुछ भी नष्ट नहीं हुआ। एक वेद, एक शाखा, एक ब्राह्मण ही पूर्ण वेद है। यदि एक वेद उपलब्ध है तो सम्पूर्ण वेद सब अंगों के साथ उपलब्ध हैं। इसीलिए आज यह कहने का साहस भी हो रहा है। गौतम के तीन सौ वर्ष बाद उनकी बातों को अशोक ने ठेठ सनातनी ढंग में ढालकर बौद्ध धर्म नाम से प्रसारित किया। अशोक चक्र, वैदिक चक्रों का कंकालावशेष है। चार सिंह चतुष्पाद ब्रह्म या पशु बन्धन हैं (अबध्नन् पुरुषं पशुम्), पशु भौतिकता का प्रतीक है। वह सिंह राशि (विषुवत्) से गरजना आरम्भ करता है, जहाँ गरजना आरम्भ किया नहीं, उसे वहीं बाँधकर रख देना मनुष्यत्व है, नहीं तो यह अन्नाद वृत्र है, सबको खा जाय। अशोक का धर्मचक्रोपदेश इसी औपनिषदिक, वैदिक भावनाओं पर आधारित है। गौतम ने अपना नाम 'बुद्ध' भी गीता के 'बुद्धियोग' के आधार पर या बुद्धियोग के ज्ञान से बुद्ध रखा, नहीं तो अन्य कई ऐसे नाम रखे जा सकते थे। गीता का वास्तिविक नाम बुद्धियोग ही है। जितने दिन या युग बीतते गये प्रचारकों के अपने-अपने प्रभाव से उक्त दोनों के मतों में निरन्तर विकास, ह्रास आदि होते-होते, ये अपने मूल स्रोत से इतने दूर भटक गये हैं कि अब कोई भी उनका स्रोत वेदों में होगा, सोच भी नहीं सकता। नागार्जुन और विश्वबन्धु पहले सब बौद्ध आत्मवादी

और सांख्यवादी थे। यह अश्वघोष (विक्रम से पूर्व द्वितीय शताब्दी) के बुद्ध-चरित से स्वतः स्पष्ट है क्योंकि उसमें गौतम बुद्ध को सांख्य-योग में दीक्षित और ज्ञाता बतलाया गया है (१२ वां सर्ग)। इसीलिए सनातनी लोग गौतम बुद्ध को अवतार मानते हैं। उनका विरोध तो बाद के अनात्मवादी बौद्धों से रहा और है, यही बात जैन मत पर भी घटित होती है। वे भी पहले आत्मवादी ही थे।

कर्मकाण्ड के त्याग की बात, यह अनुच्छेद्य अस्त्र है। इससे कोई जाति बरी रह ही नहीं सकती, न है, अन्तर इतना है। संसार की अन्य सभी जातियों के कर्मकाण्ड लौकिक आचार-विचार के प्रतिबिम्ब हैं तो वैदिक

४—कर्मकाण्ड का अमृत

कर्मकाण्ड की विधि में अलौकिक या आध्यात्मिक रहस्य का अमृत बसा है। यद्यपि अनेक विधान इसमें भी लौकिक हैं पर उनमें प्रायः अलौकिकता की पूर्ण छाप है, जिनमें कोरी लौकिकता, जैसे दहेज, तिलक आदि, ये सब सामाजिक अभिशाप और विधान की अतिशयोक्तियां हैं। कला और बौद्धों ने बुद्ध की पूजा-पाठ, जप का विधान, वैदिक कर्मकाण्ड की सजीव मूर्ति को अपनाकर निर्जीव मूर्तियों और भावनाओं को साकार रूप देकर, वैदिक कर्मकाण्ड के रहस्य पर बड़ी भारी चोट करके सनातनियों को भी लौकिकता के निम्न धरातल में घसीट ही डाला। वैदिक कर्मकाण्ड में मूर्तिपूजा का कहीं भी संकेत ही नहीं है। वहां सब पूजायें कुशादि निर्मित पवित्र ब्राह्मण (विष्णु, रुद्र, ब्रह्मादि), स्रुवा, हवनकुण्ड तक सीमित हैं। सब पूजायें और चिह्न स्पष्ट वर्णित हैं जिनके एक-एक अंग में रहस्य का भण्डार भरा है।

———

अध्याय ४१

वाल्मीकि रामायण और महाभारत में वैदिक वातावरण और दर्शन

१—रामायण में वैदिक पात्र

रामायण और महाभारत को हिन्दू जनता और हिन्दू संस्कृति दोनों ने क्यों इतना महत्त्व दे रखा है ? इसके अन्दर क्या रहस्य है ? राम, कृष्ण आदि इनके पात्र तो एतिहासिक हैं और लेखक भी एतिहासिक हैं, मानव हैं, आर्य सन्तान हैं। तब इनको भगवान् या अवतार नाम से क्यों पुकारा जाता है ? मानव होते हुए पूजा, ध्यानादि क्यों होते हैं ? क्या सचमुच में हमारे पूर्वज वीर पूजा ही वाले थे जो इस प्रकार आजकल का हास्यास्पद विषय और हेय स्तर की भावना को प्रतिष्ठा के मञ्च पर चढ़ा गये ? इन प्रश्नों को कैसे समझाया जाय, बड़ी विकट समस्या है। सबसे पहले यह बतला देना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत के मुख्य पात्र वैदिक काल के और वैदिक साहित्य के पात्र हैं। रामायण के वाल्मीकि ऋषि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, भारद्वाजादि सब ऋषि वैदिक मंत्र रचयिता और वैदिक दर्शन के तत्त्व हैं। यह तो निर्विवाद है। राम, दशरथ, सीता, जनक नाम भी वैदिक हैं। वाल्मीकि के शरीर के चारों ओर वल्मीकि बनने की कथा श० ब्रा० में दी हुई च्यवन ऋषि की कथा का रूपान्तर है (श० ब्रा० ४-१-५)। राम का नाम 'वेन' के साथ १०।१२३।१ ऋ० वे० में आया है। वेन राजा को तत्त्वरूप में 'अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाः' और 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचो वेन आवः' में दिया है। दोनों स्थलों में ये सोम के प्रतिनिधि हैं। राम तो साक्षात् गायत्री ब्रह्म हैं 'तस्मादु ह तद्यः कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते रमते (गायत्री) (श० ब्रा० ६।१।१।५)। गायत्री ब्रह्म ही राम है। इस राम को परशुराम का उत्तरवर्ती समकालीन माना गया है। परशुराम 'त्रिः सप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः' कहा गया है, यह 'भार्गवेयः रामः' (ऐ० ब्रा०) त्रिपाद् गायत्री ब्रह्म का ही रूप है। दशरथ नाम इन्द्र के रथ या देवरथ या त्रिनेमि चक्र का प्रतिनिधि बनाया गया है, त्रिनेमि चक्र त्रिपाद् ब्रह्म का क्षत्र रूप है। यही अश्विनी या सुदासादि का या सूर्य का रथ है। दशरथ नाम वेदों में, ब्राह्मणों में राजा नाम से मिलता है, ऋ० वे० १।१२६।४, उसको वाल्मीकि जी ने इस रहस्य के लिए स्वीकार किया। सीता का जन्म कुम्भ से होता है। यह कुम्भ द्रोण कलश है जिससे सोम रूप क्षेत्र का जन्म होता है। घड़ा त्रिपाद् ब्रह्मरूप ऋषियों के क्रमिक विकास का परिणाम है, भौतिक सृष्टि कामना, आसुरी कररूप रक्त है। सीताकर्षण, हल-प्रवहण ब्राह्मण ग्रन्थों का क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ ज्ञानीय उच्चकोटि का कर्मकाण्ड है; श. ब्रा. ७।१।४।५, अथर्व ३।४।१७ आदि देखें। दशरथ दस तत्त्वों का सूर्य में परिणामीय

तत्त्व है और सूर्य का प्रतिनिधि होने से सूर्य वंशी कहा गया है। सूर्य आँख वाला अत्रि चतुष्पाद् ब्रह्म है। उसकी चार पत्नियाँ वाग्ब्रह्म की चार स्त्रियां हैं। इनके नाम भी कौशल्या (ब्रह्माणी), सुमित्रा (मित्राणी), कैकई (सोम्या) और दासी मन्थरा आसुरी प्रवृत्ति का वृत्र सम्बन्धिनी चतुर्थसप्तकीय शूद्रा है। चारों पुत्र अत्रि नामक चतुष्पाद् ब्रह्म के सूचक हैं। राम (ब्रह्म), लक्ष्मण (जीवात्मा), भरत (सोमात्मा दैवी प्रवृत्तिक देह), शत्रुघ्न वृत्रसम्बन्धी असुर देवता आदि के सूचक हैं। ब्रह्म के या चतुष्पाद् ब्रह्म के दो मुख्यरूप अक्षर ब्रह्म से प्रारम्भ हो जाते हैं। इन्हें दैवी और आसुरी सृष्टि कहते हैं। एक को देव या देवता दूसरे को असुर या दानव कहते हैं। ये दोनों भाई हैं। असुर बड़े भाई हैं। देव तो ठोक-पीट कर, समझा-बुझाकर, तपा-लचका कर बनाया जाता है। देवासुर का मध्यबिन्दु ही मानव या मानवता है। मानव भी चतुर्थपादरूप चतुष्पाद् ब्रह्म ही है। रावण की दशमुखता, वही दशरथ या देवरथ के दशतत्त्व हैं जो यहाँ केवल ब्रह्म के दस तत्त्वों के संकेतक हैं। अतः कहा है ब्राह्मणोऽस्य प्रथमो जज्ञे दशास्यो दशशिरः' (अथर्व ४-१-६-१)। रावण की नाभि में अमृत बतलाया गया है, यह अमृत तृतीयपाद (देवरथ) अत्रि नामक नाभिका अमृत है 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' पु० सू०। रावण का नाम वेदों में नहीं आता पर रावण शब्द की व्युत्पत्ति 'रौतीति, रावयतीति रावणः जैसी पुराणकारों ने दे रखी है। वह पूर्ण वैदिक तत्त्व बृहस्पति, इन्द्र, महोदेव और विष्णु की व्याख्या के 'वृषभो रोरवीति' आधार से वाल्मीकि जी ने नई उद्भावना करके तात्कालिक रावण द्रविण के तादात्म्य से देकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का दर्शन दिया है। ध्यान रहे द्रविणोदा अग्नि इसी भौतिक अग्नि का नाम है। 'बृहस्पते अति यदर्यो······ द्रविणं धेहि चित्रम् का द्रविण भी इसी भौतिक अनन्तता की प्रार्थना करता है। अथर्ववेद ने तो सोम का नाम 'मणि' या 'रत्न' इत्यादि स्पष्ट दे रखा है (४-१-१०)। सोम तो ग्रावाण देवता या प्रथम भौतिक पर्वत है। अतः भौतिक रत्न या धन की खान स्वयं हुआ। रावण का सीता को हरना, वाग्ब्रह्म को आसुरी रूप में स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त करता है पर वाग्ब्रह्म की दैवी सीता को आसुरी प्रवृत्ति स्वीकार नहीं है। राम को तीन अंश का अवतार माना या कहा जाता है। वह त्रिपाद् ब्रह्म का प्रतिनिधि है। 'राम' शब्द ऋ+आ=क्रम से प्रथम सप्तकों का समाहाररूप 'ओम्' का प्रतिनिधि है। अतः इसका जप ॐ के बराबर है। वाल्मीकि जी ने राम शब्द को गायत्री या ॐ का वाचक स्वीकार करने में जिस मरा से राम के उच्चारण की कथा को जन्म दिया है, उसका स्रोत भी गायत्री शब्द के त्रिगाय से गायत्री या गाय त्री शब्द की रचना 'गायत्री त्रिगमनात् विपरीता गायतो मुखादपतत्' ब्राह्मण वचन में है जिसके अनुसार यहाँ नये ढंग से नये शब्द में नई कल्पना की गई है (नि० ७-३-५)।

हनुमान बन्दर है, बन्दर नहीं, पुरुष पशु नामक प्रसिद्ध वैदिक तत्त्व का सुन्दरतम लौकिक स्वरूप है। पुरुष पशु का इससे अच्छा चित्रण कोई नहीं कर

४५

सकता। वेदों में वृषाकपायि नाम इन्द्रपुत्र का है। वृषाकपि एक ऋषि मंत्र रचयिता का नाम है, सू० १०।९६ है, यह उसी का दूसरा नाम है। इन्द्र २७ वें तक है, पुरुष पशु २८ वां विवस्वान् हैं। यही वृषाकपि या हनुमान है। प्रथम पचीस तत्त्व शिर कहलाते हैं। यह उस शिर की हनु है। यह तत्त्व हनुमान कपि है। वृषा नाम इन्द्र, विष्णु, बृहस्पतिरूप चतुष्पाद् ब्रह्म का है, उसका यह पुत्र है। उधर अथर्ववेद शुनासीर की व्याख्या में शुनम् माने 'कीनाशाः (बन्दर) भी देता है। शुनम् नाम इन्द्र का है। शुनासीर वह है जो प्राणरूप बन्दरों का विकास करता है। सभी बन्दर प्राण या मरुत् रूप हैं। हनुमान भी प्राणरूप है। अतः उसे मारुति या पवनसुत कहते हैं। वह सूक्ष्म और विशाल दोनों रूप धारण करने में और उत्प्लवन क्रिया में इसीलिए स्वयं सिद्ध बतलाया गया है। वह द्रोण या पर्वत रूप भी है। द्रोण गिरि द्रोणकलश रूप सोम है। वही देहात्मा को संजीविनी या भौतिक बूटी या अमृत है। भूगोल में यह पर्वत अल्मोड़े जिले में रानीखेत के सामने दूनागिरि, हराहाट में मिला है। वही इन्द्र प्राणकर्षक शुनासीर है, सीर सीता का भी नाम है(अथर्व ३।४।१७ पूरा)। अतः वह सीता की खोज में लगाया गया। इतिहास में रामायण लेखक वाल्मीकि के समय में दक्षिण में कोई कपि नामक आदिवासी जाति रही होगी, बन्दर नहीं हनुमान भी दक्षिण देश का है। अतः यह वैदिक दर्शन के उत्तरार्द्ध के तत्त्वों का ही वाचक भी हो सकता है। जाम्बवन्त आदि पाँच अन्वेषक चतुर्थ सप्तक के पाँच प्रसिद्ध पशु 'पुरुष, पशु, अश्व, गौ और अजा के प्रतिनिधि हैं। रावण का पुत्र अहिरावण को भी रावणरूप वृत्त के अहिरूप की प्रधानता देकर वैदिक पुरुष पशु का आसुरी स्वरूप में वृत्रपुत्र, अहिपुत्र, अहिरावण नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार संपूर्ण रामायण की कथा वैदिक दर्शन के रहस्यों को एक नूतन काव्य में, नूतन संस्कृत में, एक नूतन ढंग से प्रस्तुत करती हुई, वाल्मीकि जी की प्रतिज्ञा है कि वे नष्ट हुई वैदिक श्रुतियों को खोज कर जनता के सामने उपस्थित कर देंगे 'अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव'। वाल्मीकि जी बड़े भाग्यशाली, वेदज्ञाता, वेदव्याख्याता और गम्भीर दार्शनिक थे। उनके समय के मर्य्यादा पुरुषोत्तम राम राजा थे। उनका सहयोग वाल्मीकि को मिला। जिससे उक्त कार्य में सफल हुए। जिन युगों में राम और कृष्ण के जन्म की कथा कही गई है। वे युग तो वैदिक दर्शन के चतुष्पाद् ब्रह्म के चारपादरूप युग हैं जिनका समय हमारे पञ्चाङ्गीय युगों के ४३२०००० वर्ष के अनुकूल ठीक बैठता है। पर रामायण के लेखक वाल्मीकि और उनके राम-रावण के युग इतने प्राचीन नहीं सिद्ध किये जा सकते। इससे यह और पुष्ट होता है कि इस कथानक का मुख्य लक्ष्य वैदिक दर्शन का पुनरुद्धार है। रावणादि द्रविणों के पास विमान विज्ञान की जो वर्णना दी गई है, वह विमान विज्ञान भी द्रविणों का नहीं था। विमान तो वही देवरथ है, दैवी प्रवृत्ति है, पर भौतिक आराम के स्रोत धन, सोना, स्त्रियां, गाड़ी, नाव, विमान का एकत्र समावेश करके रावण को पूर्ण भौतिक दर्शाकर आसुरी प्रवृत्तिमात्र

की व्याख्या की गई है। आध्यात्मिकता से राष्ट्र या राज्य नहीं चलता। ये विमान और विज्ञान आर्यों ही के थे। उन्हीं ने इनका वर्णन दिया है। यदि दाक्षणात्य द्रविणों के पास ऐसे विज्ञानादि होते तो उनका कहीं कोई ग्रन्थ साहित्यादि मिलता। मोहेनजोदड़ो, हरप्पा भी आर्य सभ्यताएँ हैं, द्रविणों की नहीं। यह बताया जा चुका है कि भक्त के कारण देवता द्रविण नहीं बन सकता। रुद्र भयंकरता प्रधान जीवात्मारूप देवता है। रुद्र दैवी भयङ्करता के रूप हैं तो रावण आसुरी भयङ्करता के, दोनों रूप ब्रह्म ही के हैं। सुन्दरता के भी दो रूप हैं—ब्रह्म और सोम। अतः भयंकरता के साम्य से रावण को रुद्र का भक्त बनाया गया है। रुद्र आर्य वैदिक-दर्शन का प्रधान तत्त्व है। वह किसी भी प्रकार अनार्य देवता नहीं हो सकता। यह रुद्र वर्णन में दिया जा चुका है।

२—वाल्मीकि की व्याख्या चातुरी

वाल्मीकि जी ने अपने कथानक में लौकिक वातावरण का ऐसा पक्का पलस्तर लगा दिया है कि किसी को हवा भी नहीं लगने पाती कि वे क्या कह रहे हैं, किसका वर्णन कर रहें हैं। सारा ग्रन्थ गम्भीर नीहार के रहस्यों से ओतप्रोत होने के कारण अभीतक कोई इसके भेद को स्पष्टतया नहीं समझ पाया है। सनातनियों में राम पर जो इतनी गम्भीर श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और प्रेम है, वह परमात्मा की श्रुतियों से उपलब्ध है। यह वैदिक दर्शन का प्रतीक है। ऐतिहासिक राम की पूजा-भक्ति न उनके समय में थी, न अब है, लोग तो भगवान् को पूजते हैं। ऐतिहासिक राम तो खोल है। वर्णन या चर्चा का साहित्यिक आधार है। गीता ने, अतः मूर्ख आलोचकों को फटकारने और वैदिक रहस्यों का उद्घाटन करते हुए स्पष्ट आलोचना की है "अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतम-हेश्वरम्" बेवकूफ लोग मुझे ऐतिहासिक, मानुषिक व्यक्ति समझते हैं। वे मेरा बड़ा निरादर करते हैं। अवतार मनुष्यों में नहीं होता, अवतार तत्त्वों में होता है। श्रीमद्भागवत ने सर्वप्रथम २४ अवतार दिये हैं। महाभारत में दशावतार का वर्णन किया गया है। २४अवतार गायत्री ब्रह्म के प्रतीक हैं। ५०अवतारों का वर्णन मार्के-ण्डेयादि पुराण पूरा कर देते हैं। सृष्टि के तत्त्वों का विकास ही सच्चा अवतार है। पुराण, रामायण, महाभारतकारों ने उक्त तत्त्वों का वर्णन अपने युग के महापुरुषों के नाम और इतिहास का आधार बनाकर किया है तो गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उनका मुख्य लक्ष्य वैदिक दर्शन की व्याख्या है। नाम और इतिहास केवल खोल और आधार हैं। वैदिक मंत्रों में भी इसी शैली का अनुसरण है। उन्होंने अपने युग के महापुरुषों के नाम और इतिहास को आधार बनाया है, जैसे वेन, सुदास, अश्विनी, पूषा, रुद्र आदि नाम ऐतिहासिक भी हैं, दार्शनिक, धार्मिक और वैज्ञानिक भी, चुने ही ऐसे नाम गये हैं। गीता का 'यदा यदा हि धर्मस्य-तदात्मानं सृजाम्यहम्' वाक्य हाहाकार के समय में महाविभूति के जन्म की बात कहता है। यह लौकिक अवतार है। लोक कल्याण कारक व्यक्ति मानव है। तीसरा अवतार परिवर्तन या सन्तान है। लौकिक विभूति के आधार पर अलौकिक या

अध्याय ४२

सर्व देव पिता मन्युः

मन्यु देवता, समस्त वैदिक देवताओं का परम पिता है। यह दैवी प्रवृत्ति का सर्वप्रथम आसुरी स्वरूप और प्रलय से जागृत आदि ब्रह्म के सृष्टि करने की 'इच्छा रूप मन का प्रतिरूप' है। बृह० ने लिखा है 'तस्य शरीर एव सर्वं आसीत्' कि उसका शरीर ही मनः स्वरूप था। (मनुते मन्यते इच्छतीति (सृष्टि) मन्युः अथवा 'मनसि सृष्टिर्यस्य स मन्युः' मनसो भावो मन्युः, मन एवं सृष्टिर्यस्य स मन्युः)। दैवी, आसुरी वृत्ति किसी भले कार्य की सहायता या सिद्धि के निमित्त प्रयुक्त की जाती है। इसका पूर्ण भयंकर आसुरी रूप उत्तरार्द्ध में दृश्यमान होता है। यह मन्यु मनोवाग् पुराणों के त्रिवृत् से विकास पाता हुआ प्रत्येक देवता का स्वरूप धारण करता है। इन विकासों के लिए भी मन्यु नामक देवता का विवाह संकल्प नामक पुरुष की लड़की वाग् के साथ हुआ। इन दोनों से सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। तदनन्तर सृष्टि आगे चलाने के लिए क्रमशः देवता रूप तत्त्व उत्पन्न हुए। जितने भी तत्त्व जितनी देर या पश्चात् उत्पन्न हुए उनमें मन या मन्यु और संकल्प पुत्री वाग् की अनिवार्य पितृता रही। "कामस्तदग्रे समवर्त्तताविधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" "(ऋ० वे०) मन्त्र इसकी पुष्टि करता है और यह कथा अथर्व (११-४-१-१) ने इस प्रकार आरम्भ की है—"यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि" इत्यादि देवाः शीर्षक में पूरा उद्धरण है। संकल्प का उदय मन या मन्यु के पश्चात् होता है। सङ्कल्प का परिणाम वाग् है। अतः वह उसकी पुत्री कही गई है। मन्यु और वाग् के संयोग से 'प्राण' नामक तृतीय 'वत्स' उत्पन्न हुआ, तीनों का त्रिवृत् ब्रह्मा या कः प्रजापति या अग्नि या इन्द्र या ब्रह्मणस्पति या हिरण्यगर्भ सभी सर्वा देवताओं का श्री गणेश करता है। यह त्रिवृत् प्रत्येक तत्त्व का उदय करेगा, अतः यह मन्यु इन्द्र भी है, वरुण भी, जातवेदस् भी है, होता भी है, और विष्णु भी है, सभी देवता मन हैं। इसके अस्त्र और शस्त्र-सायक हैं, वज्र हैं, ओज है, जिनसे वह भौतिक बहुल शत्रुओं का विनाश करता है। इसका प्यारा नाम सहुरि है, वज्री है, आसुरी क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए इससे दक्षिणार्ध में जाने की प्रार्थना की गई है, जैसे—यस्ते मन्योऽविधद्वज्र-सायक सहओज पुष्यति विश्वमानुषक्। साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः। मन' विश ईळते मानुषीर्या पाहि नो मन्यो सजोषाः॥ अयं ते अस्म्युपमेह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वधायः। मन्यो वज्रिन्नभिषाया ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः॥ अभिप्रेहि दक्षिणतो भवा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि॥" (ऋ० वे०

१—मन्यु देवता की उत्पत्ति, विवाह और सन्तान

१०-८३-१,२,६,७) इस प्रकार अखिल देवता मन्यु ही मन्यु है, काम (संकल्प) ही (संकल्प या) काम है या प्राण ही प्राण हैं या इन तीनों का एक त्रिवृत् है। प्रत्येक तत्त्व त्रिवृत् है। जब प्रत्येक तत्त्व मन मय है, तो वह एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म तत्त्व सा है। अतः लिखा है "एको बहूनामसि" उपनिषदों और ब्राह्मणों में जो 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' या 'यद्दच्छा' वाक्य मिलते हैं वे सब इस मन्यु देवता के 'मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्' की सूचना देते हैं। इन वाक्यों में मन भी है, 'काम' भी है और बहुत्वापेक्ष प्राण भी हैं। प्रलय से जाग्रत् या एकाएक स्वयं उद्बुद्ध हो जाना कि मुझे तो ऐसी सृष्टि करनी है; मन है, उसका पक्का प्रण संकल्प है। दोनों के योग से प्राणरूप कः प्रजापति या काममय, दोनों मिलकर मन्युमय हो गया जैसा कि बृह-उप- ने लिखा है।

२—मन्यु देवता का वर्णन

मन्यु देवता रथ सहित (देवरथ से) आक्रमण करता है। उसके साथ प्राण रूप मरुद्गण बड़ी प्रसन्नता से तीक्ष्णायुधों सहित चल पड़ते हैं और वे अग्निरूप नरों के समान आगे बढ़ते जाते हैं। यह अग्नि देवता अपने स्वरूप में अग्नि के समान तेजस्वी सेनानी प्रतीत होते हुए पुकार सुनते ही आ जाता है। वह अनेकों में से ऐसा देवता है जो प्रत्येक व्यक्ति से पृथक्-पृथक् युद्ध करता है। उसकी जय घोष सब मिलकर एक साथ करते हैं। इसका प्रिय नाम सहुरि है। हम तुम्हारे मूल स्रोत को भी भली-भांति जानते हैं। युद्ध में बिखरे धन को बराबर बाँट कर दो और शत्रु भयभीत होकर पलायित हो जावें। जैसे "त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः। तिग्मे एव आयुधा संशिशाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः॥ अग्निरिव मन्यो त्विषित सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि··· एको बहूनामसि मन्यु वीळितो विशं विशंयुधये संशिशाधि। अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे॥ ससृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः। भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥ (ऋ.वे-१०-८४-१,२,७,७) अतः वैदिक दर्शन में मन्यु मुख्य तत्त्व और देवता है। सर्वप्रथम देवता है। सर्व देव पिता है। शेष अगले देवाः शीर्षक में देखें।

———

वैदिक दर्शन के तत्त्वों का संकेत में वर्णन करना ही वास्तविक अवतारणा है, अवतार है, रहस्य है, संकेत है, ज्ञान है, विज्ञान है, और है ज्ञेय।

शन्तनु और भीष्मपितामह (देवव्रत) की कथा का स्रोत ऋ. वे. १०–९८ के आर्षि षेण और देवापि दो कौरव्य भाई हैं। महाभारत के इस कथा का विकास कुछ हेर-फेर से किया गया है। मौलिक रहस्य खोने नहीं पाया है। इसी प्रकार द्रौपदी का नाम कृष्णा है जिसका जन्म अग्नि से हुआ, मार्कण्डेय पुराण ५–२५ देखें। कौरव, पाण्डव असुर और देवों के प्रतीक हैं। ये दोनों वर्ग सगे भाई हैं। राज्य की लड़ाई वेदि (भूमि) की लड़ाई है। असुरों ने देवों की भूमि छीननी चाही थी। उसे देवों ने जीता था, (श. ब्रा. १–३–४–१७)। महाभारत में कृष्ण, अर्जुन, कुरु, देवकी, वासुदेव, भरद्वाज, कण्व, शन्तनु, दुष्यन्त, भरत, नारद आदि नाम वैदिक पात्र हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृष्ण नाम यज्ञ के मृगरूप में लोप हो जाने की कथा दी है, श. ब्रा. १–१–४ पूरा। वेदों के मंत्ररचयिता एक ऋषि भी कृष्ण हैं। कृष्ण नाम वैदिक दर्शन के उत्तरार्द्ध के तत्त्वों का और अर्जुन नाम पूर्वार्द्ध के तत्त्वों का है—'अहश्च कृष्ण-महरर्जुनम्।'' कृष्ण रात है, अर्जुन दिन। प्रथम दक्षिणायन है, द्वितीय उत्तरायण। कृष्ण भौतिकात्मारूप सारथी है और अर्जुन रथी त्रिपाद् रूप। यदु और कुरु आर्यों की प्रमुख जाति थी। देवकी का नाम कृष्ण की माता के स्वरूप के छान्दोग्य उपनिषद् ने कृष्णाय, देवकीपुत्राय' वाक्य द्वारा देतेहुए कृष्ण को इस देव की स्वरूपिणी वाग्ब्रह्माणी का पुत्र कहकर इन दोनों पर वैदिकता की मुहर लगा दी है। वासुदेव वसु नामक वैदिक देवताओं से दृश्यमान संबन्ध रखते हैं कि वसुदेवता ही वासुदेव हैं, विश्वेदेव रूप वसुदेवता ही वासुदेव हैं, यह संदेह हीन हो जाता है। शन्तनु नाम भी वैदिक है। शन्तनु को होता कहा गया है। शन्तनु छोटे भाई थे। देवापि बड़े भाई थे। वे पुरोहित बने और यज्ञ किया। ये दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति और दार्शनिक तत्त्व सिद्ध होते हैं। महाभारत के शेष नाम तत्कालीन महायुद्ध या घटना में भाग लेने वाले पात्रों के होते हुए भी उनका तादात्म्य वैदिक तत्त्वों के क्रमिक विकासों से, बड़ी चतुराई से, सामञ्जस्य पूर्वक बैठाया गया है। द्रुपद नामक शब्द वैदिक है। पाण्डु नाम 'गौरीर्मिमाय सलिलानि—' १–१६४–४ के अनुसार गौर वर्ण सूचक दिया गया है। तीन भाई धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर त्रिपाद् के प्रतिनिधि बनाये गये हैं, क्षत्ररूप में। धृतराष्ट्र के पुत्रों को आसुरी, पाण्डु-पुत्रों को दैवी वृत्ति का प्रतिनिधि बनाया है। पाँच भाई पञ्चपाण्डव, पञ्च पशु, पञ्चप्राण और कृष्ण, सोम हैं। स्पष्ट ही लिखा है कि युधिष्ठिर धर्मपुत्र (यम पुत्र) अर्जुन इन्द्रपुत्र, भीम वायुपुत्र, कर्ण सूर्यपुत्र हैं। सूर्यपुत्र सोम और वृत्र हैं। यहाँ कर्ण को वृत्र प्रतिनिधि बनाकर उसे कौरवों में धकेल दिया है। उसकी जगह कृष्ण को स्थानापन्न कर दिया है। यहां राधा विशाखा का प्रतिनिधि है। राधा नाम नया नहीं है, वैदिक है (अथर्व १९–१मु८–३० 'राधे विशाखे' देखें'। रुक्मिणी नाम 'रुक्म्' सामवेदियों के ब्रह्म के नाम के अनुसार दिया गया है। कृष्ण के साथ जाम्बवन्त आदि पशु भी पञ्चपशु हैं।

३–महाभारत

महाभारत का मुख्य अंश और अर्थ है गीता जिसे उपनिषदों का सार कहा जाता है। अतः उसमें पूर्ण वैदिक और औपनिषदिक दर्शन है। इसकी इस प्रकार की सत्ता इस बात का पक्का समर्थन करती है कि जिसके दार्शनिक भाग में केवल वैदिक दर्शन मात्र सर्वाङ्गीणरूप में उपनिबद्ध हैं। उसके कथानक भाग में कब और क्यों अवैदिक और कोरी ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश होगा? स्पष्ट है कि महाभारत को लिखते समय लेखक के मस्तिष्क में पूर्ण वैदिक दर्शन और गाथा आदि का घनघोर पर्जन्य मँडरा रहा था। उसने जो कुछ भी लिखा है वह वेदों के पदचिह्नों में चलकर, रहस्यवादी, स्पष्ट वादी दोनों शैलियों को पृथक्-पृथक् अपना कर और ग्रन्थ में लिखा भी है कि बहुत दिनों से नष्ट हुए ज्ञान का पुनरुद्धार किया जा रहा है "स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।" अतः महाभारत का सच्चा इतिहास, वैदिक दर्शन, गाथादि के रहस्यों से नीहार रूप में सर्वत्र व्याप्त है। यह कहना तो स्वयं सिद्ध और स्वयं पुष्ट है।

४—गीता और वेद

समस्त उच्छृङ्खल और पीड़क राजाओं को परास्त कर उन्हें एक तन्त्र एक राज्य में बाँधना 'सूत्रे मणिगणा इव' और वैदिक 'आसन्दी' राजचक्र या वैदिक सम्राट्, भोज, स्वराट्, विराट्, राजा और 'पारमेष्ठ्यं महा-राज्यम्' के नामों से संगठित करने के समान वैदिक प्रयास ही हैं जिसके रहस्य को न जानने वाले भगवान् कृष्ण को बड़ा राजनीतिज्ञ कहते और मानते हैं। यह विदग्धता तो लेखक के मस्तिष्क की वैदिक वातावरण की प्रतिच्छाया रूप में लौकिक संस्कृत में प्रतिबिम्बित हो रही है। इस प्रकार संपूर्ण कथानक और वातावरण वैदिक वातावरण से आच्छादित है।

५आसन्दी ही धर्म-स्थापना है

अध्याय ४२

सर्व देव पिता मन्युः

मन्यु देवता, समस्त वैदिक देवताओं का परम पिता है। यह दैवी प्रवृत्ति का सर्वप्रथम आसुरी स्वरूप और प्रलय से जागृत आदि ब्रह्म के सृष्टि करने की 'इच्छा रूप मन का प्रतिरूप' है। बृह० ने लिखा है 'तस्य शरीर एव सर्वं आसीत्' कि उसका शरीर ही मनः स्वरूप था। (मनुते मन्यते इच्छतीति (सृष्टि) मन्युः अथवा 'मनसि सृष्टिर्यस्य स मन्युः' मनसो भावो मन्युः, मन एवं सृष्टिर्यस्य स मन्युः)। दैवी, आसुरी वृत्ति किसी भले कार्य की सहायता या सिद्धि के निमित्त प्रयुक्त की जाती है। इसका पूर्ण भयंकर आसुरी रूप उत्तरार्द्ध में दृश्यमान होता है। यह मन्यु मनोवाग् पुराणों के त्रिवृत् से विकास पाता हुआ प्रत्येक देवता का स्वरूप धारण करता है। इन विकासों के लिए भी मन्यु नामक देवता का विवाह संकल्प नामक पुरुष की लड़की वाग् के साथ हुआ। इन दोनों से सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। तदनन्तर सृष्टि आगे चलाने के लिए क्रमशः देवता रूप तत्त्व उत्पन्न हुए। जितने भी तत्त्व जितनी देर या पश्चात् उत्पन्न हुए उनमें मन या मन्यु और संकल्प पुत्री वाग् की अनिवार्य पितृता रही। "कामस्तदग्रे समवर्त्तताविधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" "(ऋ० वे०) मन्त्र इसकी पुष्टि करता है और यह कथा अथर्व (११-४-१-१) ने इस प्रकार आरम्भ की है—"यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि" इत्यादि देवाः शीर्षक में पूरा उद्धरण है। संकल्प का उदय मन या मन्यु के पश्चात् होता है। सङ्कल्प का परिणाम वाग् है। अतः वह उसकी पुत्री कही गई है। मन्यु और वाग् के संयोग से 'प्राण' नामक तृतीय 'वत्स' उत्पन्न हुआ, तीनों का त्रिवृत् ब्रह्मा या कः प्रजापति या अग्नि या इन्द्र या ब्रह्मणस्पति या हिरण्यगर्भ सभी सर्वा देवताओं का श्री गणेश करता है। यह त्रिवृत् प्रत्येक तत्त्व का उदय करेगा, अतः यह मन्यु इन्द्र भी है, वरुण भी, जातवेदस् भी है, होता भी है, और विष्णु भी है, सभी देवता मन हैं। इसके अस्त्र और शस्त्र-सायक हैं, वज्र हैं, ओज है, जिनसे वह भौतिक बहुल शत्रुओं का विनाश करता है। इसका प्यारा नाम सहुरि है, वज्री है, आसुरी क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए इससे दक्षिणार्ध में जाने की प्रार्थना की गई है, जैसे—यस्ते मन्योऽविधद्वज्र-सायक सहओज पुष्यति विश्वमानुषक्। साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः। मन्'विश ईळते मानुषीर्या पाहि नो मन्यो सजोषाः॥ अयं ते अस्म्युपमेह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वधायः। मन्यो वज्रिन्नभिषाया ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः॥ अभिप्रेहि दक्षिणतो भवा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि॥" (ऋ० वे०

१—मन्यु देवता की उत्पत्ति, विवाह और सन्तान

१०-८३-१,२,६,७) इस प्रकार अखिल देवता मन्यु ही मन्यु है, काम (संकल्प) ही (संकल्प या) काम है या प्राण ही प्राण हैं या इन तीनों का एक त्रिवृत् है। प्रत्येक तत्त्व त्रिवृत् है। जब प्रत्येक तत्त्व मन मय है, तो वह एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म तत्त्व सा है। अतः लिखा है "एको बहूनामसि" उपनिषदों और ब्राह्मणों में जो 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' या 'यदृच्छा' वाक्य मिलते हैं वे सब इस मन्यु देवता के 'मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्' की सूचना देते हैं। इन वाक्यों में मन भी है, 'काम' भी है और बहुत्वापेक्ष प्राण भी हैं। प्रलय से जाग्रत् या एकाएक स्वयं उद्बुद्ध हो जाना कि मुझे तो ऐसी सृष्टि करनी है; मन है, उसका पक्का प्रण संकल्प है। दोनों के योग से प्राणरूप कः प्रजापति या काममय, दोनों मिलकर मन्युमय हो गया जैसा कि बृह-उप- ने लिखा है।

२—मन्यु देवता का वर्णन

मन्यु देवता रथ सहित (देवरथ से) आक्रमण करता है। उसके साथ प्राण रूप मरुद्गण बड़ी प्रसन्नता से तीक्ष्णायुधों सहित चल पड़ते हैं और वे अग्निरूप नरों के समान आगे बढ़ते जाते हैं। यह अग्नि देवता अपने स्वरूप में अग्नि के समान तेजस्वी सेनानी प्रतीत होते हुए पुकार सुनते ही आ जाता है। वह अनेकों में से ऐसा देवता है जो प्रत्येक व्यक्ति से पृथक्-पृथक् युद्ध करता है। उसकी जय घोष सब मिलकर एक साथ करते हैं। इसका प्रिय नाम सहुरि है। हम तुम्हारे मूल स्रोत को भी भली-भांति जानते हैं। युद्ध में बिखरे धन को बराबर बाँट कर दो और शत्रु भयभीत होकर पलायित हो जावें। जैसे "त्वया मन्यो सरथ-मारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः। तिग्मे एव आयुधा संशिशाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः॥ अग्निरिव मन्यो त्विषित सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि··· एको बहूनामसि मन्यु वीळितो विशं विशंयुधये संशिशाधि। अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे॥ ससृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः। भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥ (ऋ.वे-१०-८४-१,२,७,७) अतः वैदिक दर्शन में मन्यु मुख्य तत्त्व और देवता है। सर्वप्रथम देवता है। सर्व देव पिता है। शेष अगले देवाः शीर्षक में देखें।

———

अध्याय ४३

देवाः

मनुस्मृति (१२-११९) ने लिखा है कि जितने भी देवता हैं, वे सब आत्म रूप है; जैसे "आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।" इन देव रूप आत्माओं में सब कुछ प्रतिष्ठित है। देव शब्द की व्युत्पत्ति 'दानात्, दीपनात्, द्योतनात्, द्युस्थानो भवतीति वा' कही गई है। देव ही देवता कहलाता है। देव या देवता दोनों शब्दों में उक्त सभी भाव एकत्र रूप से समाविष्ट मिलते हैं। जहां देव या देवता शब्द आर्य जाति के उच्च कोटि के पुरुषों के लिए आता है, वहां इस शब्द का लौकिक अर्थ लगाना चाहिए। वास्तव में वेदों में वार्णित जितने देवता या देव हैं वे तो दार्शनिक तत्त्व हैं, प्रायः पूर्वार्द्ध के तत्त्व हैं जिनका स्वरूप शुक्र ज्योतिष्मान् है, उत्तरार्द्ध के तत्त्वों की ज्योति धूमिल है क्योंकि वह चान्द्रमास, अयन वा दक्षिणायन कहलाता है। यह दक्षिणायन 'सप्तद्यून् के अन्तर्गत आ जाता है। देव या दैव, अदृश्य या अदृष्ट व्यापक तत्त्व हैं। इनका विकास देवन, परिवेदन या रोदन भी कहलाता है। जैसे छान्दोग्य कहता है "स य एतं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदँ रोदिति, सोहम नमेवं वा दिशां वत्सं वेद मा पुत्र रोदँ रुदमरिष्टं कोशं प्रपद्ये" (१-१५)। रुद्रों के बारे में सर्व प्रसिद्ध रोदन है "प्राण वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति" (छा-उप- १-१६)। वेद शब्द का विपरीत ही शब्द देव है। जो वेद है वही देव हैं, जो कुछ वेदों में है वह सब कुछ देवों में है। वेद और देव दोनों एक ही हैं, ज्ञानी को 'ज्ञान' वेद मिलता है, शेष को वेद का उलटा देव-या पूजा। देवों का प्रतिविम्ब वेद है तो वेदों का प्रतिविम्ब देव, यजुर्वेद ने इन वेद और देव शब्दों को इसी भाव में रखते हुए देव को 'वेद' नाम से पुकार कर लिखा हैं "वेदोऽसि देव! येन त्वं देव वेद, देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः' (श-प-ब्रा- १-७-३-२३ और यजु २-२१)।

१-देव तत्त्व की व्याख्या

देवता या देव, तत्त्व है। इसका एक प्रमाण इसकी उत्पत्ति की नीचे दी जाने वाली कथा है। इसके अनुसार सब देवता उस देव के विकास हैं, जिस देव या देवता को 'मन्यु' कहते हैं। मन्यु नामक देवता वैदिक दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह मन्यु एक देवता नहीं, उतने हैं जितने देवता हैं, प्रत्येक देवता का जन्म कारण मन्यु ही है। इसीलिए मन्यु को विश्वेदेवताओं में स्थान नहीं मिला है। प्रत्येक देवता मन्यु की एक नवीन प्रति है। मन्यु की व्याख्या अन्यत्र की जा चुकी है। यहां संदर्भ के लिए आवश्यक तथ्य दिये जा रहे हैं। प्रलय काल में ब्रह्म सब प्राणों को 'स्व' में आहूत करके 'स्वाहा' रूप में, स्वप्न रूप में

२-देव तत्त्व का मूल कारण

रहता है। जब वह अवधि पूरी होने पर जाग्रत् हो पूर्व सृष्टि का स्मरण कर तद्वत् रचना की मनसा करता है (एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय इत्यादि), उसका इस प्रकार का 'मन' ही 'मन्यु' नाम से पुकारा जाता है। 'मनसो भावो मन्युः'। "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।" (ऋ. वे, १०-१२९-४)। यह सच्चा प्रमाण है। यह मन्यु जब सृष्टि रचना का दृढ सङ्कल्प कर लेता है तो कामना या कामायनी या वाग् से इसका संसर्ग आवश्यक हो जाता है। अतः मनोवाक् के द्वन्द्व से या मन्यु और काम (ना) से कः नामक (हिरण्यगर्भ) प्रजापति की (प्राण रूप में) सृष्टि होती है। अब 'मनोवाक्प्राणानां 'त्रिवृत्' प्रस्तुत हो गया और आगे देवताओं का विकास चल पड़ता है। इसका वर्णन अथर्ववेद (११-८-२-१,२,३,४) में दिया हुआ है,

जैसे "यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥"
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्॥
"दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत्॥"
प्राणापानौ चक्षुःश्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥"

उक्त मनोवाक्प्राणमय ब्रह्म ने अपने समुद्रमय शरीर में तप किया। तब प्रथम हिरण्यगर्भ सा बना। उससे सर्वप्रथम दश देवता–प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति (अन्तरिक्ष भूमि), व्यान, उदान, वाङ् और मन उत्पन्न हुए—ये सब महान् या व्यापक तत्त्व थे, सब एक साथ उत्पन्न हुए। इनके पश्चाद् बृहस्पति, धाता, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी, त्वष्टा आदि देवता उत्पन्न हुए। जब सब देवता उत्पन्न हो चुके तब वे 'सब भौतिक मर्त्य तत्त्व के शरीर में, प्रविष्ट हुए। अतः इन सब देवताओं के समाहार रूप एक शरीर में प्रविष्ट रूप को पुरुष या विराट् पुरुष कहते हैं। आगे का मन्त्र देखें)। ऋ० वे० १-११६-१९ में उषा को भी देवमाता कहा है, जिसका सम्बन्ध भौतिक देवता या विश्वेदेवताओं से है।

३–ब्राह्मण और पुराणों में मन्यु

ब्राह्मणों और पुराणों में मन्यु नामक देवता का सम्बन्ध केवल 'रुद्र' की उत्पत्ति से बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्द में रुद्र की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि ब्रह्मा को क्रोध (मन्यु) आया, नाक से रक्त निकला तो उस रक्त से रोता रुद्र निकला। यहां पर 'मन्यु' शब्द को भौतिक (क्रोध) अर्थ से प्रयुक्त करते हुए भी उक्त पुराण रुद्र की उत्पत्ति वैदिक मनस्तत्त्व रूप मन्यु से बड़ी चतुराई से दर्शाया है।

देवताओं में कुछ सर्वा देवता हैं, कुछ विश्वेदेवता, अन्य एक देवता मात्र। सर्वा देवता नामक तत्त्व वे हैं जो सब देवताओं का एक साथ प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। इनमें से अग्नि, विष्णु, इन्द्र और सोम मुख्यतः सर्वा देवता हैं। इसलिए वेदों में अग्नि, सोम इन्द्र के अनेक सूक्त और मन्त्र हैं। ये सब देवताओं की व्याख्या करते हैं, उनक वर्णन ऐ० ब्रा० १-१-१ और श० प-ब्रा० १-५-२-२०,२१, २२ में दिया मिलता है। विश्वेदेवता वे देवता हैं जो चतुर्थ सप्तक में भौतिकात्मा स्वीकार करते हैं, जैसे ब्रह्मणस्पति, बृहस्पस्ति, रुद्र, सरस्वती आदि सब विश्वेदेवता हैं। जब रुद्र अग्नि का रूप है तब रुद्र भी सर्वादेवता है। शेष क्षेत्रीय देवता हैं। अलग-अलग सप्तकों के देवता हैं या भूर्भुवःस्वः महः जनः तपः सत्यं, सात लोकों में से प्रत्येक के पृथक्-पृथक् वासी हैं।

४–देवता विभाजन

देव या देवता कुल तैंतीस हैं। जैसे "ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्॥" (ऋ० वे० ८-२८-१) 'ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च' (ऋ० वे- ८-२८-२) इन तैंतीसों को एक साथ एक आसन या बर्हिः या आसन्दी में भी प्रस्तुत करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये सब भौतिकता रूप शरीर को (आसन्दी रूप) में धारण करते हैं। उस भौतिकात्मा की प्राप्ति के पश्चात् सृष्टि के विकास का दूसरा दौर या भौतिक विकास का दौर चलता है। अतः उक्त ऋचा में लिखा है कि देवता 'द्विता' दो प्रकार से विकसित होते हैं (पूर्वार्द्धीय-उत्तरार्द्धीय–आध्यात्मिक और भौतिक)। इन देवताओं के विभाजन कई प्रकार से किये गये हैं। सबसे पहिले, वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्र, प्रजापति या वषट्कार (८+११+१२+१+१=३३) नामक विभाजन सर्व प्रसिद्ध है, जिनमें वसुओं को प्रातः सवन, रुद्रों को माध्यन्दिन सवन और आदित्यों को तृतीय सवन या सायं सवन कहते हैं। इनका दूसरा विभाजन त्रिष्टुप् छन्दाक्षरों के अनुसार ११, ११, ११ के तीन पादों में भी किया जाता है जैसे "ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥" (ऋ० वे० १–१३९–११)। त्रयो देवा एकादशस्त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः। बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे देवा देवैरवन्तुमाम्॥" (शुक्ल यजुर्वेद० २०-११)। इसके अतिरिक्त इनको 'सप्तद्यु लोकों और सप्तर्षियों में भी विभक्त करते हुए लिखा है। "सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे॥" (ऋ०वे० ८-२८-५)। यहां पर 'सप्त' शब्द, सप्त सप्तकों के लिए आया है। उन्हीं सप्त सप्तकों को सप्तद्युम्नानि या सप्त दिवलोक कहा है। उनके मुख्याधिष्ठाता ब्रह्मों को ऋषि, सातों के मुख्याधिष्ठाता ऋषियों को 'सप्त ऋषयः' कहा है। इनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी श्री शोभा और शक्ति से सम्पन्न हैं। वेदों में जितने भी देवता हैं उन सबका अन्तर्भाव उक्त सब मुख्य विभाजनों में हो जाता है, इनसे बाहर कोई नहीं। जितने असुर या दानव हैं वे देवताओं के प्रतिपक्ष हैं। देवताओं के जन्म की कथा दी जा चुकी है कि वे मन्यु के वाग्

५–देव संख्या

सम्बन्ध से प्राण रूप में उत्पन्न होते हैं। प्राणों का नाम 'सु' है। अतः सु से उत्पन्न होने वालों को सुर या सुरा (देव या देवता) कहते हैं। पर इन्हीं प्राणों का दूसरा स्वरूप 'असु' है। असु भौतिकता प्रधान प्राण है। अतः असु से उत्पन्न तत्त्वों को असुर या भौतिकता प्रधान कहते हैं। सुर और असुर में आध्यात्मिक (दैवी) और भौतिक (आसुरी) वृत्तियों का अन्तर है। मूल दोनों का एक है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों ने बारंबार लिखा है"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च, ज्येष्ठाश्चासुरा कनीयांसो देवा" और "सोऽसुरानसृजत असोरसुरानिति"। वैदिक आर्यों के देवता और असुर दोनों अपनी ही आर्य जातियां हैं। आसुरी वृत्ति वाले ज्ञानमार्ग विरोधी, ब्रह्म, (वेद) विरोधी, देववाद विरोधी (अध्यात्मवाद विरोधी) थे और भौतिकता में सने शिश्नदेवा अब्रह्मचारी आचरण के थे। जिनका उल्लेख वेदों में कई स्थलों में आया है। अनार्य जातियों के तो उन्होंने स्पष्ट नाम दिये हैं। वे हैं–पक्व, भनना, भनन्ताली, विषाणी, शिवा, किराता इत्यादि (ऋ. वे. ७-१८-७ और अथर्व)। गीता के चार मनुष्यों में प्रथम मनु मन्यु ही है। इसीलिए ऋ. वे. ८-३०-२ में देवताओं को मनु देवता कहा है जैसे "मनोर्देवा यज्ञियासः;" (महर्षयः सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा–१०…)। चौथा मनु वह है जिसके बारे में श, प, ब्रा. ने 'मनोरवसर्पण' या नाव में बीज बचा कर सुरक्षित होने की कथा दी है (मनु शीर्षक देखें)। यह भी मन्यु का ही एक रूप है। रुद्र, पार्वती, दुर्गादि देवता आर्य देवता हैं। असुर तो देवतावाद के विरोधी थे, वे देवताओं को मानकर क्यों गलती करते। ऋ- वे- १० ५२-६-और ३-१०-९ में देवताओं की कुल संख्या ३३३९ दी है। जैसे "त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च, देवा नव चासपर्यन्। औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्माआदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥" पूरा सूक्त 'देवाः' शीर्षक में आता है।

वैदिक सोमीय देवताओं में न कोई अर्भक है, न कुमार है, न युवा, न जरा युक्त। सबके सब महत् या 'व्यापकता' रूप के हैं। जैसे "नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतोमहान्त इत्॥" (ऋ- वे-८-३०-१)।

६–देवताओं का स्वरूप ये सोमीय देवता हैं। अतः प्रस्तुत सूक्त में इन देवताओं को एक नये नामसे पुकारा गया है। वह है 'वैश्वानरीयाः'। जैसे "ये देवास इह स्थन विश्वे वैश्वानरा उत। (ऋ- वे- ८-३०-४) वैश्वानर देवता वैश्वानरीय भौतिकात्मा सोमात्मा देवता है। ये आग्नेय देवता हैं।

उक्त भेदों के अतिरिक्त 'साध्या' देवता या देवगण हैं। देवता दो प्रकार के हैं; साध्या और सिद्ध। साध्यों को 'पूर्वेदेवाः' कहा है, जैसे "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।" (ऋ. वे- १-१६४-५०)। साध्य देवताओं के मूल या छन्दों के बीज पहिले प्रस्तुत थे। उन्हीं बीजों से यज्ञ या सृष्टि के यज्ञ या विकास की आयोजन की गई। पहिले साध्यों का विकास नाक लोक या पूर्वार्द्ध से किया गया। फिर आगे साध्य देवता के छन्द ही हैं उन्हीं से देवताओं की स्थिति निर्धारित की जाती है। पादों और अक्षरों में, ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के कई आख्यान हैं। छन्दों रूप साध्या

देवता संख्या में १२ बतलाये गये हैं। इनका नाम पुरुष सूक्त में दो बार आया है, एक दे दिया गया है; दूसरा यह है "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।" ये देवता, साध्याः और ऋषयः हैं। छान्दोग्य उप० ने साध्य देवताओं को पांचवां अमृत बतलाया है (छा० उप० १-१०)। इसी प्रकार अन्यत्र श. प. ब्रा. १०-२-२-१, २, ३ ने साध्या नामक देवों को 'प्राणा' बतलाया है "प्राणा वै साध्याः"। जहाँ पर साध्याः ऋषयः माने प्राणाः (श, प, ब्रा ४, ६, १, ५) दिया है, इन ऋषियों को देवताओं ने प्रथमजा कहा है 'ऋषयस्त्वा प्रथमजाँ देवेषु' (यजु १५-१०)। अथर्व १०-१०-३०, ३१ में लिखा है कि साध्याः देवताओं ने 'वशा का दुग्ध पान किया। अथर्व ९-५-१०, २४ में लिखा है कि विराट् पुरुष साध्या देवताओं का अधिराज था। इस प्रकार साध्या नामक देवगण प्राणनामक तत्त्व के प्रतीक हैं। इनका सम्बन्ध सृष्ट्यादि काल में मौलिक रूप में वर्णित किया गया है। ऋषियों के बारे में पहिले लिखा जा चुका है। ऐ०ब्रा (१-३-१६) में साध्या देवता माने छन्दांसि लिखा है 'छन्दांसि वै साध्या देवाः' देवता नाम आदित्यों का और ऋषि नाम अङ्गिरस ऋषियों का है। इन्होंने पहिले अग्नि में अग्नि का यज्ञ किया और स्वर्ग प्राप्त हुए, पु०सू० १६ देखें।

इस अखिल सृष्टि को इन्द्र का एक बृहत्माया जाल वर्णित करते हुए अथर्ववेद साध्य देवताओं का सम्बन्ध अन्य देवताओं से बिठलाते हुए कहता है कि

७—बृहत्मायाजाल

साध्य देवताओं ने उस जाल का एक दण्ड उठाया, रुद्रों ने दूसरा दण्ड, शत्रुओं ने तीसरा, आदित्यों ने चौथा और विश्वेदेवता ऊपर से सब को ओज से पकड़े रहे और उन्होंने ही आसुरी सेना का बीच से हनन करके अङ्गिरसों (सात ऋषियों) को भूमि (चतुर्थ सप्तक) में आने की सुविधा प्रदान की। जैसे

"साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेकमुद्यत॥
विश्वेदेवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम्॥"

(८, ८, २, १७, १, ३)। यहां पर छान्दस साध्या देवता हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण ने लिखा है कि साध्या देवताओं ने छन्दों को अमृत लाने भेजा (८, ४, १)।

देवताओं के गण निम्न नाम और संख्या में प्रसिद्ध हैं :—

८—विभिन्न प्रकार के देवों की संख्या

आदित्या द्वादश प्रोक्ता विश्वेदेवा दश स्मृताः॥ वसवश्चाष्ट संख्याताः षट्त्रिंशत्तुषिता मताः। आभास्वराश्चतुष्षष्टिर्वाताः पञ्चाशदूनकाः। महाराजिकनामानो द्वे शते विंशतिस्तथा॥ साध्या द्वादश विख्याता रुद्रश्चैकादश स्मृताः॥
विद्याधराप्सरापक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥

अर्थात्—आदित्यों की संख्या १२ है, विश्वेदेवताओं की १०, वसुओं की ८, तुषितों की ३६, आभास्वरों की ६४, वातों की ४९ और महाराजिकों की २२०,

साध्यों की १२ और रुद्रों की ग्यारह, देवताओं की ये संख्यायें प्रामाणित नहीं जचतीं। जै० ब्रा (१, ३, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६) ने विश्वेदेवताओं की संख्या ३२, साध्यों की ३६, मरुतों की ४०+१० आदि मरुत्रुद्रों की २४, आदित्यों की ४८, वसु २४, भृग्वङ्गिरसों की २८ दी है। ये सब सर्वा देवता हैं। अन्यथा एक देवता में वे उक्त संख्याओं के चौथाई क्रम में (८, १२, १, ११, ९-७) हैं। अहोरात्र आदि संवत्सर ब्रह्म के जितने भी विभाजन हैं वे सब देवता हैं, जैसे ऋतु, अयन आदि। पञ्चपशु तत्त्व यज्ञ प्रभृति के और योग के देवता हैं। छन्दोमय पशु जिन्हें साध्या देवता या सुपर्णा कहते हैं वे भी सब के सब देवता हैं। पञ्चपर्वा के सब अंग भी देवता हैं। यहां तक कि उलूखल, मुसल, दृषदुपल को अध्यात्म शरीर का प्रतीक बनाकर देवता माना है। धेनु, पिता, शुनी आदि भी देवता हैं। गौरी, सलिल आदि अक्षर ब्रह्माणियां हैं। ये सब तीन प्रकार के हैं, अर्भक, युवा, वृद्ध (ऋ० वे० १-२७-१३)। इनमें पूवार्द्धीय पलित या वृद्ध हैं। गर्भीय अर्भक पर सोमीय सदा अमर युवा रहते हैं।

वेदों में गन्धर्व नाम नक्षत्रों का है 'वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः' (यजुः)। नक्षत्रों के पति यक्ष नाम ब्रह्म का, पुण्यजनादि लोगों के भी ब्रह्म विषयक संकेतावलियां हैं। अप्सरायें, आपोब्रह्म सागर की सृष्टि हैं। 'रक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ वेदों (ब्राह्मणों) में 'रक्षक' रखा है। किन्नर किम्पुरुष या पुरुष पशु का प्रतीक बानर का प्रतीक है। भूत नाम आदित्यों का है। अतः उक्त सब देव वाचक शब्द हैं और वे सब देव योनियां ही कहलाती हैं। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद ८-४-२, ३, ४, ५ के पूरे सूक्तों को देख लें। सप्त ऋषि भी इन्हीं देवताओं के अन्दर आ जाते हैं (सप्तर्षयः देखें)।

सब देवता सर्वा देवता हैं। उक्त देवताओं की स्तुति में निम्नलिखित प्रसिद्ध मंत्र प्रचलित हैं :—(स्वस्तिवाचन) "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥१॥ शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥२॥ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥१॥ देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्॥ देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥२॥ ऋ. वे. १, ८९, ८, ९, १, २।

९ देवताओं की स्तुति और उसका अर्थ

अर्थ—हे देवताओं ? हम कानों से शुभ कल्याणकारी वाणियाँ सुनें, आंखों से शुभ कल्याणकारी बातें देखें और हम सदा यज्ञ कर्त्ता बने रहें। परन्तु इसके साथ-साथ देवताओं की पूर्ण उपासना के योग्य जो पूर्णायु है उसे हम दृढ़ अङ्गों प्रत्यङ्गों और शरीर से और पुत्रपौत्रादि से युक्त होकर प्राप्त करें॥ ॥ हे देवताओं! हम आप लोगों (की पूजा सैकड़ों वर्षों करते रहे) के पास सैकड़ों वर्षों तक (पूजा करते रहें)

जिस उपासना में लगे, आप लोग हमारे शरीर को परिपक्व करें—जरा युक्त होने दे, जब उस अवस्था तक पहुंचने पर हमारे पुत्रादिक भी पौत्रादिकों से युक्त होकर पिता या पितर कहलाने लग जावें, और तब तक कई पीढ़ियों को देखने तक बीच ही में हमारे गमनशील जीवन की आयु की हिंसा न करो, या हमें तब तक दीर्घायु बनाओ। जब तक हम आगे की कई पीढ़ियों को फलते-फूलते न देख लें। ॥२॥ हे देवताओं ! हमें ऐसे-ऐसे शुभ कल्याणकारी यज्ञों के करने की नित्य सुविधा प्रदान करो जो सर्वतः सार्वजनीन और अमंगल हीन हों, फलानुमेय (अज्ञानफल) हों तथा ऐसे हों जो अन्य प्रकार के शुभ यज्ञों के सूत्रधार बनें (नित-नित नये-नये शुभ यज्ञ होते रहें), जिस प्रकार भी हमारे घरों में नित्य उन्नति या वृद्धि होती रही वैसे यज्ञ हमें करने का शुभ अवसर मिलता रहे, वे यज्ञ हमें दिन-प्रतिदिन सुरक्षित करते रहें और हमारे कल्याण में अनलस, अप्रमादी और सदा तत्पर रहें ॥३॥ हे देवताओं ! आप लोगों को सुमति या दैवी वृत्ति की बुद्धि हमें प्राप्त हो, और सरल पथगामी आप लोगों का यह दान हमें सदा उपलब्ध होता रहे। आपलोगों से प्राप्त दानी हम आप लोगों की सखा भाव की मैत्री प्राप्त करें और इस कार्य के सम्पादन की जीवनी के लिए हमारी आयु को सदा बढ़ाते रहो ॥४॥

नदी, पर्वत, ग्रावाण, पर्जन्य, शकुनि, सुपर्ण, समुद्र, वृक्ष, वनस्पति आदि नाम उक्त देवताओं में से किसी एक के या गणों के हैं। ऐसे ही अक्ष, मण्डूक, कपोत आदि देवता भी हैं। इनमें से प्रत्येक का द्विधा व्याख्यान है। एक लौकिक है दूसरा वैदिक या दार्शनिक। उक्त ३३ देवताओं का लौकिक आधार खगोल या वैदिक ज्योतिष और तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक संस्कृति है, जिसमें वैदिक दर्शन कूट-कूट कर भर रखा है, जिसके सामने लौकिक आधार पृष्ठतः और दर्शन ही दर्शन अग्रतः मिलता है। वही ढूढ़ना है। देवता कभी नहीं सोते 'न वै देवा स्वपन्ति' जाग्रतिदेवाः' (श. ब्रा., प्र. ३, २, २, २२; २, १, ४, ७) देवता वाग्रूप हैं, श्री रूप हैं, सत्य संहिता रूप हैं (जै. उ ३-४-८; शप २-१-४-९; ऐ १, ६) देवता यज्ञिय कहलाते हैं; संवत्सर देवताओं का गृहपति हैं। देवताओं का जन्म संवत्सर है। संवत्सर देवताओं की पुरी है। नक्षत्र उनके घर हैं, नर ग्राम हैं (श० ब्रा १, ५, २, ३; ताण्ड्य २, ३, ६, ५, ७, ६, ५; १, ५, २, ताण्ड्या ६, ९, २)।

१० नदी आदि देवता

अध्याय ४४

देवपत्न्यः

देवताओं और देवपत्नियों में तात्त्विक रूप से बहुत बड़ा अन्तर है और इनका यही तात्त्विक अन्तर, इन्हें पति और पत्नी रूप में विभक्त भी करता है। देवपत्नियों में बहुत कम का नाम गिनाया गया है, जैसे

१. देवताओं की पत्नियां इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी राट्, रोदसी और वरुणानी। जो स्वतन्त्र स्त्रियां हैं जैसे वाग्, वाग्धेनु, गौ या गौरी, वे दो प्रकार की हैं पूर्वार्द्धीय और परार्द्धीय। परन्तु जिन्हें देवपत्नी नाम से पुकारा गया है वे केवल उत्तरार्द्ध का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। ये सब भौतिक हैं। भौतिक शरीर को वैदिकों ने स्त्री रूप में मानकर आध्यात्मिक शरीर को पुरुष या पति मानने की एक शैली बना रखी है। इसी बात को वे पिता-पुत्री के रूप में भी वर्णित करते नहीं हिचके, क्योंकि इसमें वास्तविकता और सत्यता अधिक है। जाया के माने या ततः जायते सा जाया' होता है, जो उसी से उत्पन्न हुई है वह दुहिता है पर उसका नाम जाया या पत्नी भी है। यह पति-पत्नी रूपक का काव्यत्व रूप दर्शन है। देवताओं की पत्नियों में उषा, कुहू आदि भी आती हैं। ये भी भौतिक ही हैं। पिता-पुत्री रूप वर्णन को भी उन्होंने पति-पत्नी के रूप में वर्णित कर दिया है। तत्त्व यह है कि पूर्वार्द्ध आध्यात्मिक सृष्टि रूप पिता या पति है तो उत्तरार्द्ध भौतिक सृष्टिरूप पत्नी या पुत्री। बिना दोनों के संयोग के सृष्टि आगे नहीं चल सकती। अतः अपने से उत्पन्न होने के कारण पुत्री कह कर भी उसका वर्णन पत्नी जैसा ही करना अनिवार्य हो गया।

देवपत्नी के सम्बन्ध में दो मंत्र पृथक् मिलते हैं (१) देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत ॥ (२) उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥' ऋ० वे० ५-४६-७,८; अथर्व ७-३-११-१,२। इन मन्त्रों में ही स्पष्ट शब्दों में इन देव पत्नियों को 'पार्थिव' (भौतिक पूर्ण) और आपोमय (सोमात्मारूप) कहते हुए, इनसे प्रार्थना की गई है कि ये सुहवनीय होवें, कल्याणकारी बनें तथा हमारी रक्षा की सदा कामना करती हुई हमें अपत्य जनन और उनके संरक्षण के योग्य बनावें। अर्थात् इन देव पत्नियों के सोमरूप आत्माओं से सृष्टि नानारूपता तथा अन्नमयता को प्राप्त होवे। ग्ना छन्दों की देवपत्नी, इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी की पत्नी राट् नाम्नी, रोदसी द्यावा की पत्नी, (द्यावा रुद्र है) और वरुण की पत्नी वरुणानी जाया रूप में ऋतुकाल के अनुसार कामनाओं को पूर्ण करें। अपने-अपने ऋतु में प्रत्येक अपना फल

२. देवपत्नी मंत्र

दें या विकास को प्राप्त होवें। ग्ना नाम छन्दों का है और छन्दों की पत्नी छान्दसी भी ग्ना कहलाती है। वे गायत्री प्रभृति हैं। 'गणनीया इति ग्ना' जैसे श. प. ब्रा ६-४-२-७ लिखता है "ग्नास्त्वा देवीः विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वत्पचन्तूख"इति ग्ना हैतामग्रे देवी ··त्वत्पेचुः तानि ह तानि छन्दांसि एव, छन्दांसि वै ग्ना छन्दोभिर्हि स्वर्गंल्लोकं गच्छन्ति छन्दोभिरेवैनामेतत्पचति॥" छन्दों को ही देवपत्नी कहा गया है 'छन्दांसि देव्यः' (श. ब्रा. ९-५-१-३९) छन्दांसि वै देविका' (कौ १९-७)।

३. देवताओं के सम्बन्ध में व्याख्याताओं का भ्रम

आज तक जितने भी आचार्य वेदों की व्याख्या कर गये हैं उन सबने प्रायः यही समझा और माना है कि वेदों में जितने भी देवताओं का वर्णन है, वे सब के सब पृथक्-पृथक् रूप से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र से हैं। अतः यास्क ने इन सब देवताओं की समष्टि को 'तत्रैतन्नरराष्ट्र-मिव' (७-५) कहकर देवताओं को नरों के राष्ट्र की जनता रूप या व्यक्ति रूप देवता समझा तथा यह भी साफ कह दिया 'संस्थानैकत्वं संभोगैकत्वंचोपेक्षितव्यम्' कि देवताओं की एक स्थान में एक साथ हवि आदि भोगादि बातों की जहाँ चर्चा है; उसकी उपेक्षा की जाय। इसको प्रामाणिक मानकर पाश्चात्यों ने सब देवताओं का एकत्र सम्मेलन का नाम 'पैन्थियन आफ गाड्स' या देवताओं का झुण्ड नाम देकर उनका विभाजन पाँच प्रकार से—पारदर्शी, अस्पष्ट पारदर्शी, अपारदर्शी, कर्ममय और भावमय' नाम से कर दिया। उधर यास्क ने नैरुक्त मत देते हुए लिखा है कि देवता तो तीन ही हैं 'तिस्र एव देवताः'। वे तीन देवता अग्नि, वायु और आदित्य ही हैं। जिनके क्रमिक स्थान पृथिवी, अन्तरीक्ष और द्यु हैं। ये सब भयंकर भ्रम हैं।

४. सब देवता मिलकर ब्रह्म का एक शरीर बनाते ह

यह निश्चित रूप से जान लीजिए कि वैदिक ऋषि अनेक देवताओं के उपासक नहीं थे। उन का देवता या तत्त्व केवल एक था, वह था ब्रह्म। उस आदि ब्रह्म से परमाणु बनने तक जितने भी विकास होते हैं, वे विकास उस ब्रह्म रूप एक शरीर मात्र के हैं। जो विकास होते हैं, प्रत्येक अङ्ग में एक साथ वैसे ही होते हैं जैसे हमारे शरीर के अङ्गों के होते हैं। जैसे ब्रह्म रूप अनन्त भूमिक क्षेत्र में सर्व प्रथम अग्निरूप मुख और उसके शरीर वाक् का प्रादुर्भाव होता है, तब उसी भूमि में वायु आत्मा रूप प्राण शरीर का, जिसे ब्रह्म की नाक कह सकते हैं, यही इन्द्र है। इसके बाद आदित्यात्मा रूप तेज और उसके शरीर रूप चक्षु का विकास होता है, तदनन्तर श्रोत्र रूप शरीर तथा दिशा रूप शब्द सरस्वती का, फिर आपो रूप सोम या चन्द्रमा या मन का, फिर नाभि-रूप उदर या अन्तरिक्ष, भौतिक स्पर्श रूप त्वक्, तदनन्तर अन्य अङ्ग रूप देवताओं का, जैसे ब्राह्मण, क्षत्र, विट्, शूद्र को, मुख, बाहु, ऊरु और पाद कहा गया है। मुख में ब्रह्म, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वाग्पति, विश्वकर्मा, त्वष्टा, गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र,

वसिष्ठ, अत्रि, अङ्गिरस, वृत्र, अहि हैं। बाहु में—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, ईशान हैं। ऊरु मे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत्, विश्वेदेवता बाद में प्रजा, पशु, पक्षी, नदी, वृक्षादि हैं। इनका विकास संवत्सर ब्रह्म के अक्षर रूप अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि विभागों तथा इनके देवताओं के क्रम से होता है। जैसे अग्नि, वायु, आदित्य विकासों को ही त्रिपादमृत तथा वसु, रुद्र, आदित्य नाम ३३ देवताओं का दिया है। अन्य देवता इन्हीं देवताओं के विभिन्न नाम हैं। जैसे नदी, पर्वत, वृक्ष, समुद्र, सुपर्ण, छन्द, पशु, गौ आदि इन्हीं देवताओं के दूसरे नाम हैं। दूसरे ढंग की वर्णना देते हैं। यदि ऐसा होता तो सभी देवता अग्नि मुख से हवि न पाते, खाने-पीने वाला केवल प्राण रूप इन्द्र ही क्यों होता? सबको अपने-अपने मुख से ही खाना चाहिए था। पर मुख केवल अग्नि के पास है या अग्नि ही मुख है और देवताओं के पास मुख नहीं है। चन्द्रमा मन के पास जिह्वा नहीं है। चक्षु के पास न जीभ है, न कान, न नाक। अतः सब मिलकर एक ब्रह्म के ही अंग हैं।

———

अध्याय ४९

अष्टवसु

वसु शब्द की व्युत्पत्ति श. प. ब्रा. (१४-६-९) ने निम्न प्रकार से दी है "एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसवः।" कि इनमें सृष्टि का मूलधन (बीज) सुरक्षित रहता है और ये अपने में उस मूलधन (सृष्टि बीजों) को निवसित रखते हैं। अतः वसु कहलाते हैं। जिनके मूलबीज इनमें रहते हैं उनके नाम भी श. प. ब्रा. ने वहीं पर दिये हैं" अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमा श्च नक्षत्राणि च।" (ये दोनों उद्धरण बृह. उप २–९-३ में भी मिलते हैं)। 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र' ये आठ अष्टवसु हैं। इन्हीं से अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ (दिव), चन्द्रमा (सोम), अश्विनी आदि नक्षत्रों का क्रमिक विकास और सृष्टि के सब तत्त्वों का विकास होता है। महाभारत ने इनके नाम ये दिये हैं– "ध्रुव, अध्वर, सोम, अप्, अनिल, अनल, प्रभात और प्रत्यूष" यह क्रम प्रामाणिक है। पञ्चपर्वा विद्या में ये अष्ट वसु, पञ्चनदी या सप्तनदी के मूलस्रोतरूप अष्टवसुधारा भी कहलाती हैं जिसका कुछ संकेत ऋ. वे. २-७ सूक्त में 'श्रेष्ठं यविष्ठ भारताग्ने द्युमन्तमा भर। वसो! पुरुस्पृहं रयिम्॥ १॥ विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्याइव। अति गाहेमहि द्विषः॥ ३॥ त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टापदीभिराहुतः॥ ५॥" मन्त्रों से किया हुआ मिलता है। पञ्चपर्वा विद्या के पर्वतों में ब्रह्मणस्पति को प्रथम पर्वत का विकास कारक और उस प्रथम पर्वत को वसुमान् तथा मधुधार वाला कहा है, जैसे "प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं विपर्वतम्। मधुधारम्।" (ऋ. वे. २-२४-२)। इसका समर्थन यजुर्वेद मंत्र 'वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारं' करता है। वसओं का अग्निरूप में भी सर्वत्र वर्णन मिलता है। वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः" (ऋ. वे. ५-२४-२)। इसीलिए अग्नि का नाम 'विभावसु है। (ऋ. ५-२४-७) 'स्वस्ति वाचन् (५-५१-१३ ऋ. वे.) में भी वसुओं का आह्वान अग्निरूप में 'वसुरग्निः स्वस्तये' किया है। और ऋ. वे. ६-५०-१५ में वसुओं को अग्निहुताश, अधृष्ट और सबके स्तुत्य देव कहते हुए लिखा है "ग्ना हुतासो वसवोऽधृष्टा विश्वे स्तुतासो भूता यजत्राः।" और ऋ. वे. ६-५१-५ में इन्हें भाई कहा है "द्यौष्पितः पृथिवी मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः। विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥"। इसमें गिनाये सब देवता वसुओं में ही आते हैं। यह तो प्रसिद्ध मन्त्र है जिसमें अदिति को वसुओं की दुहिता और रुद्रों की माता कहा है 'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाम्' इत्यादि (ऋ. वे.

१–वसु की व्युत्पत्ति, व्याख्या और संबंध

८-१०१-१५ तै. आ. ६-१२-१)। यहां अदिति को गौ- कहा है। अतः वसुदेवता वाग्धेनु देवी के भी पिता हैं। इन्द्र वसुओं से वासव कहलाता है। इसी प्रकार अग्नि और आदित्य भी वसु ही हैं और वासव भी कहलाते हैं। सब देवता वासवीय देवता हैं, ये सबके मूल देवता हैं।

वसु देवताओं का कोई पृथक् सूक्त नहीं है। इनका वर्णन विशेष कर विश्वे-देवताओं के सूक्तों में आता है। अतः ये विश्वेदेवता भी हैं तथा सर्वा देवता भी हैं।

२—वसुओं का स्थान निर्धारण

इनका वर्णन धन, रत्न, वसु, द्रविण शब्दों में किया गया है तथा विश्वेदेवताओं में जिन्हें वसु कहा है या अष्टवसु बीजरूप कहा है, उनके वर्णन के सूक्तों में जैसे अग्नि, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष आदि में मिलता है। वसुओं का सप्तक सर्व प्रथम सप्तक है। इनके सप्तक का या प्रथम सप्तक का नाम 'अन्तरिक्षषद्' है। इस स्थान का निर्णय सर्व प्रसिद्ध ऋचा 'हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्ष-सद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसद्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्।" (ऋ. वे. ४–४०–५) से बिलकुल असंदिग्ध रूप से हो जाता है। लोगों ने वेदों में आये 'पारिभाषिक अन्तरिक्ष शब्द को लौकिक अर्थ वाले अन्तरिक्ष का समकक्ष या समान समझ कर बड़ा भारी अनर्थ ढा रखा है। यह वैदिक दर्शन का एक बड़ा पेचीदा और बड़ा महत्त्व पूर्ण शब्द है। इस वैदिक पारिभाषिक शब्द से संकेतित षद् के पहिले 'शुचिषद्' है। पीछे वेदिषद् इसके बाद दिव या दुरोणषद् है। शुचिषद् को 'द्यौ' कहते हैं। दिव या दुरोण तृतीय सप्तक है। वैदिक दर्शन में पृथिवी चतुर्थ सप्तक है। दिव के बाद पृथिवी है। लौकिक अन्तरिक्ष तो पृथिवी और आकाश के मध्य को कहते हैं, पर वैदिक अन्तरिक्ष द्यौ और वेदिक या शुचिषद् और वेदिषद् के मध्य में है, सर्वादि सप्तक है। द्यौः तो सप्तसप्तकों का शिर या मूल या ब्रह्म या हंस का (अष्टम आदि स्थान है) जिसे शुचिषद् भी कहते हैं।

वसुओं के बारे में दो ऋचायें मिलती हैं (७) 'ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः। अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य॥" (ऋ. वे. ७-३९-३)। यहां पर एक बात फिर

३—वसु विषयक मंत्र

बतलानी पड़ गई है जिस प्रथम सप्तक को 'अन्तरिक्षषद्' (वसुओं की सद्) बतलाया है उसी का दूसरा नाम 'भू' लोक है, ब्रह्मलोक है। वेदिषद् का द्वितीय सप्तक का नाम भुवः है। दुरोण तृतीय का नाम स्वः या दिव है। चतुर्थ का महः, फिर जन, तपः और अन्तिम सप्तम सत्यम् लोक है। लोग इस बात को भी नहीं जानते तभी इतनी बड़ी गड़बड़ी करते हैं। "वसु देवता भू नामक लोक में रमण करते हुए शुभ्र वर्ण स्वरूप में अपने अन्तरिक्ष-षद् में ही रमण करते हैं। ऐसे ये वसुदेवता इस अग्निरूप दूत के उत्तरोत्तर विकास के लिए अधोऽधः मार्ग या सीढियों या पीढियों को बड़े वेगवान् बनावें। हमारी प्रार्थना सुन लें॥" (२) "सु गावो देवा सदनमकर्म य आजग्मुः सदनमिदं जुषाणाः।

जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ॥" (यजु. ८-१८)। हे वसुदेवताओं ! आप लोगों के विकास के मार्ग सुगम कर दिये गये हैं। इन यज्ञों का आस्वादन करने के लिए आप आइये। यहां हवि पाकर और सोम पीकर, हमें अपने सब वसु या धन देते जाइये।" अथर्व १०-५-१०-३०, ३१ में लिखा है कि वसुओं ने वशा के दूध का पान किया। वसुओं की दिशा प्राची है जिसे राज्ञी कहते हैं (श. प. ब्रा. ६:१-१५)। अथर्व के पुरुष सूक्त में 'साध्या सन्ति देवाः' के स्थान में 'साध्या वसवश्च' पाठान्तर है। अतः इनका और ऋषियों (प्रथमजा) का स्थान एकसा हो जाता है अर्थात् सब तत्त्व ऋषि हैं। सब तत्त्व वसु हैं। आठ से वसुओं की, सात से ऋषियों की व्याख्या की जाती है।

———

अध्याय ४६

रुद्र और एकादश रुद्र

आजकल के पौराणिक वातावरण के विद्वानों के सामने रुद्र देव या तत्त्व पर वैदिक दर्शन का प्रकाश डालना साम्प्रदायिकता या धार्मिकता पर आक्रमण सा समझा जाना असम्भव नहीं है। पुराण भी शैव हैं, सम्प्रदाय भी शैव हैं जिनका द्वन्द्व प्रायः वैष्णव पुराणों और सम्प्रदायों में लगभग एक हजार वर्ष से चलता चला आ रहा है। धन्य है, स्मार्त सम्प्रदाय-पञ्चदेव पूजक सम्प्रदाय—जो गणेश, सूर्य, विष्णु, रुद्र और शक्ति पाँचों देवों को एक साथ मानता है। यह बहुमत सम्प्रदाय है। स्मृतियों का संरक्षक होने के कारण इसमें सबसे अधिक वैदिकता झलकती है। आजकल इन साम्प्रदायिकों ने विभिन्न प्रकार के शैव और वैष्णव दर्शनों का निर्माण कर लिया है जिनका आज की विद्वत्परिषद में बड़ा भारी मान भी है, स्थान भी। विद्वानों की विचार धारा की क्रमशः शतमुखी अवनति का सबसे ज्वलन्त प्रमाण उस भावना में केन्द्रित मिलेगा। जिसमें वे ब्रह्मा को सृष्टि कारक, विष्णु को सृष्टिधारक और रुद्र को संहारक नाम से पुकारने के अभ्यस्त हैं। इनके वास्तविक विकास क्रम तथा निरूपण देने में नितान्त असमर्थ, उदासीन और विमुख से लगते हैं। सुलझी गुत्थियों को ऐसा उलझा दिया है कि उनको पुनः स्वस्थान स्थापित करना एक दुःसाहस का सा कार्य प्रतीत होता है। एक बात निश्चित है कि पुराणों ने इन देवताओं की जो व्याख्यायें दी हैं उनमें पूर्ण वैदिकता है पर उनकी भावना की जो व्याख्या ये साम्प्रदायिक विद्वान् करते आ रहे हैं वे ही सदोष हैं। निर्मूल हैं और भूलों के भूलभुलैये हैं।

१-वैदिक और पौराणिक रुद्रवाद में अन्तर

वेदों में कुल तैंतीस देवता हैं। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति या वषट्कार। इनमें विष्णु का कहीं नाम नहीं है। विष्णु आदित्यों में सातवें आदित्य 'सविता' का नाम है। रुद्र एक नहीं ग्यारह हैं। विष्णु तत्त्व से सात तत्त्व पहिले तक, और आदि से नवें से उन्नीसवें तत्त्व तक के तत्त्वों का नाम है। जैमिनीय ब्राह्मण (१-३५) ने रुद्रों की संख्या ४४ दी है। ये रुद्र सर्वा-देवता के प्रतीक हैं। प्रजापति या ब्रह्मा एक है पर वह अनेक तत्त्वों का प्रतिनिधि है। दस प्रजापतियों की पौराणिक बात सच्ची है। प्रजापति शब्द वा ब्रह्मा आदि संदर्भ सापेक्ष है। इसी प्रकार विष्णु यद्यपि २६ वाँ तत्त्व है पर प्रथम से २६ तक के सब २६ तत्त्व विष्णु नाम से पुकारने की एक शैली 'विष्णुः सर्वा देवता;' (ऐ-ब्रा-१-१-०) के आधार पर रही। इसीलिए 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' में वामन रूपी विष्णु के प्रथम तीन सप्तक रूप पदों के अतिक्रमण की कथा कही गई है। 'वामन'

२—वैदिक रुद्र अग्नि सर्वा देवता हैं

५२ अंगुल का प्रतीक है। ५२ अंगुल ५२ तत्त्वों का प्रतीक है। २६ पूर्वार्द्ध के २६ उत्तरार्द्ध के। ये हुए कुल ५० ही; २६ वां उभयनिष्ठ जो ठहरा। यह वैदिकों की अंगुलि सरणि की तत्त्व गणना की अपनी अलग शैली है। यह शैली पञ्चपर्वा विद्या के अन्तर्गत आती है। जहां पर 'विष्णुः सर्वा देवता' नामक प्रामाणिक वाक्य लिखा है वहीं 'अग्निः सर्वा देवता' वाक्य भी (ऐ. ब्रा. १-१-१-) लिखा है। रुद्र अग्नि का प्रतीक है अग्निर्वै रुद्रः (श. प. ब्रा. ५-३-१-१०) 'यो वै रुद्रः सोऽग्निः' (श. प. ब्रा. ५-२-४-१२-ताण्ड्य १२-४-२४)। अतः जिस प्रकार ५० तत्त्वों की व्याख्या विष्णु नाम तथा उसकी कथाओं से की गई है। उसी प्रकार उन पचासों तत्त्वों की व्याख्या रुद्र या अग्नि रूप में भी की गई है। उनके कथानक नाना प्रकार के हैं जिनकी वैदिक लोग विष्णु या रुद्र नाम से वर्णना कर गये है। उन्हीं की व्याख्या प्रजापति या ब्रह्मा या विकास रूप में भी की गई हैं। अतः सभी ५० तत्त्व ब्रह्मा भी हैं, विष्णु भी, रुद्र भी हैं। इनका अन्तर केवल वर्णना और कथानकों मात्र का है जिनका जाल पुराणों में "विस्तार पूर्वक बिछा हुआ है पर साथ में यह भी निश्चित है कि ब्रह्मा या प्रथम प्रजापति का स्थान प्रथम तत्त्व का पूर्वार्द्ध है, रुद्र का स्थान नवम तत्त्व है, विष्णु का २६ वाँ ही है। ये निश्चित निर्णीत स्थानीय तत्त्व हैं। जिनमें से (सोम) ब्रह्मा* पुष्करवासी, रुद्र हिमालय, मानस सरोवरवासी और विष्णु समुद्रवासी, शेषशायी इत्यादि ढंग से पञ्चपर्वा विद्या के आधार पर ही घोषित किया गया है। पञ्चपर्वा विद्या के ज्ञान के समूल ह्रास हो जाने से लोगों में इन देवताओं के बारे में बड़ी-बड़ी शंकाये और कई लोग तो बड़ी-बड़ी कल्पनायें करते भी बाज नहीं आते। जैसे रुद्र को एक 'लामा' कहना वा समझना। ऐसे लोग इतिहास भी भूल जाते हैं कि लामाओं की संस्था का जन्म विक्रम की बारहवीं शताब्दी के लगभग से हुआ था, वह भी बौद्धों के अनुरूप।

कुछ लोग ब्रह्मा, विष्णु, महेश को न जाने क्यों और कैसे एक दूसरे से छोटा या बड़ा कहने का भी साहस करते हैं। ये आपस में छोटे-बड़े किस नाते से माने जाँय समझ में नहीं आता। इनके निश्चित स्थलों के अनुसार तो प्रचलित भावनाओं के विरुद्ध ही निर्णय होता है। सूक्ष्मता या आध्यात्मिकता बड़प्पन का लक्षण है तो रुद्र बड़े हैं, स्थूलता या भौतिकता यदि बड़प्पन है तब विष्णु बड़े हैं। सर्वा देवता सिद्धान्त से दोनों एक से हैं, पर वैदिक वर्णना उक्त स्थानानुसार ही है। और कुछ लोग विष्णु को सांख्यमतानुसार सत्त्व गुण का प्रतिनिधि, ब्रह्मा को रजोगुण का, और रुद्र को तमोगुण का संकेतक भी प्रायः समझा करते हैं। परन्तु स्थानानुसार तथा

३—ब्रह्मा, विष्णु, महेश का अन्तर

---

* पुष्करपर्णमुपदधाति। इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत् ता अब्रवीत् बिभेमि वै पुरं मे कुरुत, स योऽपां रस आसीत् तमूर्ध्वं समूदौहस्तामलै पुरमकुर्वन् तद्यदस्मै पुरमकुर्वन्तस्मात्पूष्करं पूष्करं ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः। (श-प-ब्रा-७-४-१-१७)

उक्त विचारधारा के एकदम विपरीत बैठता है। रुद्र ही सत्त्व गुण हो सकता है और विष्णु ही तमोगुण, भौतिक प्रथम अणु या देहात्मा। रजोगुण आदि ब्रह्मा नहीं हो सकता। उसका आरम्भ २४ वें तत्त्व में होता है। अतः यह रजोगुणी ब्रह्मा, अत्रि २४ वाँ ऊँ कार हो सकता है जिसे प्रजापति नाम से भी पुकारते हैं। प्रथम २३ तत्त्व तो विरजाः विमनाः कहलाते हैं (विश्वकर्मा सूक्त १०-८१ देखें)।

४—रुद्र के बारे में नवीन रोशनी वालों के मत का खण्डन

रुद्र की व्याख्या वैदिक भावना और दर्शन के अनुकूल करने से पहिले दो एक बातों पर प्रकाश डाले बिना नहीं रहा जा सकता। वाल्मीकि रामायण के रावण के शिव पूजक होने से, आजकल दाक्षिणात्यों में शैवमत अधिक प्रचलित रहने से, मोहेजोदड़ो तथा हरप्पा में रुद्र और पार्वती के प्रतीक मिलने से, यह निर्धारित कर लिया कि मोहेजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता द्रविड़ सभ्यता थी, कई विद्वानों ने यह निश्चित रूप से कहा है कि शिव और दुर्गा आदि देव तो वैदिक आर्यों के देवता हैं ही नहीं। ये तो यहाँ के जंगली आदिवासी या द्रविणों (रावणादि) के देव हैं। इसमें जो कसर शेष रह गई थी उसे एक बड़े विद्वान् ने गणेश को अनार्य देवता सिद्ध करके नागरीप्रचारिणी सभा बनारस से मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त कर लिया है। रुद्र और काली ब्रह्म के दो स्वरूप सुन्दर भयंकरों में से रौद्ररूप हैं। असुर भी सुन्दर भयंकर रूप वाले होते हैं जैसे गुलाब आदि और सूर्यादि जो सुन्दर भयंकर हैं। रावण आसुरी भयंकरवादी है। अतः भयंकर दैवी शक्ति का उपासक है। इसमें क्या सोच-विचार की आवश्यकता है ? चतुष्पाद्ब्रह्म देखें। लोगों की समझ में न गणपति आया, न इन्द्र। उक्त कथन की पुष्टि में वे कहते हैं कि इन्द्र का नाम 'पूर्भिद्' नगर भेत्ता है। उसने द्रविणों के मोहेंजोदड़ों आदि नगर नष्ट-भ्रष्ट किये तब मेल के लिए उनको देवता मान लिया। वेदों में इन्द्र को रुद्र का पुत्र कहा गया है। रुद्र का भोग इन्द्र मुख से (हविरूप) में होता है। तब वह इन्द्र अपने पिता का पूर्भिद् कैसे हो सकता है। वेही समझ सकते हैं। दूसरी शोचनीय बात यह है कि अनार्यों या असुरों को तो देवता हीन (अदेवयून्) कहा है। अतः अनार्यों के देवताओं की तो कभी भी सत्ता ही नहीं स्थापित होती, तब ये रुद्रादि देव अनार्यों के कैसे हो सकते हैं, (ऋ॰ वे॰ १०-२७-३) "नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्त्समरणे जघन्वान्। यदावाख्यत्समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति ॥" बतलाया गया है जो विष्णु है वही रुद्र है। वर्णनान्तर का भेद है जिसे ब्रह्मा की सरस्वती (वाग्) कहते हैं उसी को गायत्री की वाग् या विष्णु की वाग् (लक्ष्मी) या रुद्र की वाग् (दुर्गा) हैं। यहाँ तत्त्व एक है। शब्द ब्रह्म में उसकी व्याख्या रूपान्तरों या कथान्तरों का नामान्तरों में कर देने से वे आर्य-अनार्य नहीं बनते। नरबलि, अश्वबलि, अजाबलि तो पारिभाषिक पद हैं, शब्दब्रह्म परक हैं। अबध्नन् आलभते के सीधे अर्थ बाँधना और प्राप्त करना ही है। मारना और हनन करना ठग अर्थ हैं। ये योग से सम्बन्ध रखने वाले शब्द हैं। गणपति तो बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति आदि ब्रह्म है। वाग्पति या ब्रह्मपति या तत्त्वपति

भी है। वसुरुद्रादित्यों के गणों का पति या प्रथम अवशिष्ट अर्क रूप तत्त्व है। उसका हस्तिशिर उत्तरार्द्ध के उस 'पुरुषपशु' का प्रतीक है जो २७ वाँ तत्त्व है। मोहेंजोदड़ों-हरप्पा की संस्कृति और रावण सब आर्य सभ्यता के हैं। किसी में दैवी गुण अधिक हैं, किसी में आसुरी। आसुरी वृत्ति दैवी वृत्ति से ज्येष्ठतमा है। दैवी वृत्ति तो लाई-बुलाई, साधी और सिखाई-पढ़ाई जाती है। सभी देवताओं को असुर नाम से पुकारा गया है, विना आसुरी वृत्ति के तिनका नहीं हिल सकता है। दैवी वृत्ति आत्मप्रधान है, आसुरी शरीर प्रधान। प्रथम अभौतिक या आध्यात्मिक है, द्वितीय भौतिक। इनका यही सामञ्जस्य ही देवासुर संग्राम है। इसी संग्राम को राम-रावण युद्ध द्वारा दिखलाया गया है, रावण, 'वृषभो रोरवीति' महादेव के आसुरी रूप का प्रतिनिधि है। वह रोरवीति है। यह रौतीति रावण है? वाल्मीकिजी ने वेद व्याख्या की है। उनकी प्रतिज्ञा है "अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेद श्रुतीमिव।" दक्षिण भारत में शैव मत का प्रचार १४ वीं शती से हुआ, उसका सम्बन्ध आर्यकालीन वैदिक सभ्यता से कैसे हो सकता है, दोनों में चार हजार वर्ष का अन्तर है।

५-रुद्रका स्थान-विकास और अर्ध नारीश्वर

रुद्र का सम्बन्ध द्वितीय सप्तक से है जिसका आरम्भ नवम तत्त्व से होता है। इसका मीठा नाम 'कुमार' है। रुद्र का द्वितीय सप्तक द्वितीय पाद या द्विपाद कहलाता है जिसे दो अरणियाँ या दो अश्म (पत्थर) नाम से भी पुकारते हैं। इन्हीं अरणियों या * अश्मों (अश्मनोः अरण्योः) से परिजातवेदा अग्नि का आविर्भाव माना जाता है फिर इससे जातवेदा या अतिथि नामक अग्नि का (२) "कुमारो नवमो रुद्रः" (श. प. ब्रा. ६-१-१३-१०; ६-१-३-९-१०), (३) "अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइव सुधितो गर्भिणीषु।" (ऋ. वे. ३-२९-२; कठ १-४)। (४) "प्रथमं समिद्धो यो धूप्यत इव तर्हि भवति रुद्रः, अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः। अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति उच्चैर्धूमैः परमया जूत्या वल्वलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः। अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः स शाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः।" (श. प. ब्रा. २-२-३-९-१०-११-१२)। इन उद्धरणों में अग्नि का क्रमिक विकास दिया गया है जिनमें सर्वप्रथम स्वरूप 'धूपिताग्नि' का नाम रुद्र है। कर्मकाण्ड में सबसे पहिले धूप, फिर दीप तब नैवेद्य का क्रम इसी रुद्र, वरुण, इन्द्र और सोम (नैवेद्य) के लिए विहित किया गया है और यज्ञ में आग जलाने में द्विपाद् को द्विसमिध् कहते हैं। अतः मन्त्र कहते हैं "समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्" (ऋ. वे. ८-४४-१)। समिध अरणियाँ हैं। उनसे प्रथम रुद्र रूप धूपिताग्नि तदनन्तर अतिथि नामक (जातवेदाग्नि)

---

† "यो अश्मनो अन्तरग्निं जजानस जनास इन्द्रः" (२-१२-३) (ग्रावाण देवता ऋ. वे. १०-९-४९ देखें। रुद्र रूप यह अग्नि पुरुष की तरह सहस्राक्ष, सहस्रशीर्षा, सहस्रपाद्, शतप्राण, शतव्यान युक्त वर्णित की गई है (यजु. १७-६०, श.प.ब्रा. ९-२-१-५१)।

* इसीलिए उसे ब्रह्मा का नाती कहा जाता है। आंखें खोलकर बात किया करें।

प्रदीप्त की जाती है। द्वितीय सप्तक का नाम दधि और घृत भी है। दोनों का अर्थ प्राण, उदान होता है। अतः दधिक्रावन् और घृत नाम से भी अग्नि प्रज्वलन की विधि दी गई है। तृतीय सप्तक को इसीलिए घृतपृष्ठ नाम से पुकारा जाता है कि तृतीय का पृष्ठ या पिछला सप्तक घृत या दधिक्रावन् या (प्राण) उदान है। द्वितीय सप्तक का नाम 'वेदिषद्' है। इसके ब्रह्म को होता कहते हैं। वेदि का नाम योषा या स्त्री भी है। इस स्त्री को रोदसी कहते हैं। योनि' नाम से भी पुकारते हैं। रोदसी माने रुद्र की पत्नी (रुद्रस्य पत्नी रोदसी) होता है। यह सप्तक मरुतों का था। उदान वायु हैं। जिनके पिता का नाम रुद्र कहा गया है। "रुद्रस्य सूनवः सुदंससः" (ऋ- वे- १-८५-१)। इन्हीं मरुतों को वायु, वात, या प्राणवायु नाम से पुकारते हैं। इनका स्वरूप 'विद्युत्' है जिसका उल्लेख मरुतों का प्रत्येक सूक्त करता है जैसे एक यह है 'आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥" ऋ. वे. १-८८-१ इत्यादि विद्युन्मय मरुतों के रथ, स्वर्कों और ऋष्टिमद् अश्वपर्णों या प्राणपर्णों के बने हैं। यही विद्युन्मय मरुतों के गण या वायु या प्राणवायु ही अखिल ब्रह्माण्ड की आत्मा या जीवात्मा है। यह जीवात्मा रुद्र है घोषवान् है, नित्य घोषवान् है। इसकी उत्पत्ति अन्तरिक्ष नामक प्रथम सप्तक से होती है। इसकी उत्पत्ति प्रथम बार होती है। यही जीवात्मा इस ब्रह्माण्ड का गर्भ या योनि या स्त्री है। सदा स्वतंत्र है। यह रूपवान् भी (तैजस) नहीं है। भौतिक तो तब हो ही नहीं सकता। जैसे "अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः॥" आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः। घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥" (ऋ- वे- १०-१६८-३,४)। इसीलिए इसे इसी सूक्त में इस अखिल ब्रह्माण्ड का राजा घोषित किया गया है "संप्रेरते अनु वातस्य विष्ठा एनं गच्छन्ति समनं न योषाः। ताभिः सयुक्सरथं देव इयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा।" (१०-१६८-२)। इन्हीं बातों के कारण रुद्र को शम्भु कहा जाता है जैसे "वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे" (ऋ - १०-१८६-१)। प्रेरणा अच्छी या बुरी जैसी भी हो, सब इसी जीवात्मा रुद्र को मिलती है। यह ब्रह्म पुरुष के सामने उसकी पत्नीवत् व्यवहार करता है। अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक या पारिवारिक ब्रह्माण्ड में से प्रत्येक में निश्चित रूप से चार आत्मायें विद्यमान रहती हैं। इन चारों के दो जोड़े होते हैं। प्रत्येक जोड़े में एक पुरुष दूसरा स्त्री रूप होता है। जैसे ब्रह्म और रुद्र अथवा ब्रह्मात्मा जीवात्मा का एक जोड़ा है। दूसरा जोड़ा तैजसात्मा और दिव्यात्मा का है, जिनमें दिव्यात्मा स्त्री रूप है। चारों का ऐक्य एक ब्रह्माण्ड की मौलिक भित्ति खड़ा करता है। अर्द्धनारीश्वरवाद इन्हीं जोड़ों की सच्ची व्याख्या करता है। इसका चित्र स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त रूप में उतना प्राकृतिक नहीं जचता जितना 'अहिवाद' में। अहिवाद का नाम सर्पवाद है 'सर्प इति सर्पविदः' (श- प- ब्रा- १७.५-२-२०) और बृह- उप-, छा- उप०)। यह सर्पवाद कीटाणुवाद है जिसका साकार रूप केचुएँ में उपलब्ध होता है। केचुएँ में दो योनियाँ होती हैं एक पुंलिग दूसरा स्त्रीलिंग। ये

योनियाँ दोनों सिरे में होती हैं। कुण्डलाकार होकर वह स्वयं भोगी हो जाता है। इसीलिए सबका नाम 'भोगी' भी है। भोग इसी लिङ्गात्मक शरीर का नाम है।" सर्प नाम इस ब्रह्माण्ड का सर्पन्तीसनिल्लोकानिति सर्पाः (श- प- ब्रा- ७)। रुद्र का अहिवाद जीवात्मवाद है, विष्णु का अहिवाद भौतिक देहवाद (वृत्र) है। इसीलिए रुद्र का सर्प गले का शिर का हार है तो विष्णु का अहि (शेष) शय्या है, आधार है। हार या शय्या बेकार ढोंग हैं। सर्प ही रुद्र है, सर्प ही विष्णु है, लाक्षणिक विवेचन है। शाब्दिक नहीं सर्प भी नहीं, तद्रूप मात्र होने से तात्पर्य है, तत्त्व विवेचन है। साहित्य या काव्य का आधार बना लिया गया है, यहाँ सब तत्त्व अभौतिक और दिव्य हैं। रूप और आकार से नितान्त हीन हैं।

रुद्र और रोदसी का अर्द्धनारीश्वरवाद ब्रह्मजीवात्मा दोनों का तादात्म्यवाद है। यह तादात्म्य जीवन का शिलान्यास करता है। दोनों दो अश्म या शिला हैं या दो अरणियां हैं या दो समिध हैं या दो बाहु हैं जिनसे जीवात्मरूप परिजातवेदाग्नि या दर्शनाग्नि या गार्हपत्याग्नि या होताग्नि का आविर्भाव धूमायित या धूपित सा होता है।

६—रुद्र और संघर्ष

हमारा या अखिल ब्रह्माण्ड का जीवन रुद्र क्या है ? केवल एक नित्य का 'रोदन' है, नित्य का संघर्ष या संघर्षण (अश्म और अरणियों का) है। नित्य का हवन (समिधों का) है, या नित्य का परिश्रम (बाहु का) है। अतः जीवन का आरम्भ रोते-रोते ही रुद्र रूप में होता है। फलतः अखिल ब्रह्माण्ड रुद्रमय या रोदनमय ही है जैसा वैदिकों ने अपनी स्पष्टोक्ति में कहा भी है "अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं विलं, स एष कोषो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितं तस्य प्राची दिक् जुहूर्नाम, सहमाना नाम दक्षिणा, राज्ञी नाम प्रतीची, सुभूता नामोदीची, तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदँ रोदिति, सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदं रुदमरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्राणं प्रपद्येऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना…भुवः प्रपद्ये।" (छा- उप- १-१५)। उक्त उद्धरणों में छान्दोग्य ने स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति रुद्र रूप जीवात्मा के इस रहस्य को भलीभाँति जानता है वह इस विश्व में रोते नहीं पाया जाता, वह उसके लक्षणानुकूल जीवन की जटिलताओं को ठीक समझता रहता है। जो इस तथ्य को नहीं जानता वह नित्य रोते ही रहता है। रुद्र के इस महत्त्वपूर्ण लक्षणा की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक भी वैज्ञानिक और दार्शनिक ढंग से देते हुए लिखा है "पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियाँ सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म अतिस्त्रिया आत्मभूतं गच्छति यथास्वमंगं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयति एषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता ही मे लोका स्तदस्य द्वितीयं जन्म सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयतेऽथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः

प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म। तदुक्तमृषिण—"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्॥" (ऋ०वे०४-२७-१)। इति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच, स एवं विद्वान् अस्माच्छरीरभेदात् ऊर्ध्वमुत्क्रम्य अमुस्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत्।" (५४)। जिस ज्ञान की चर्चा यहां पर वामदेव ऋषि अपनी गर्भावस्था में ही कर रहे हैं उसी ज्ञान का संकेत श्वेताश्वतर उपनिषद् इस रुद्र के बारे में भी देते हुए लिखता है:—"एको हि रुद्रो न द्वितीयाय इ तस्थे यमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः॥ ॥ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुध्या शुभया संयुनक्तु॥" (३-२,४)। यह उपनिषद् रुद्र को सर्वप्रसिद्ध हिरण्यगर्भ का जनयिता मानता है। पूर्ण हिरण्यगर्भ २६वें तत्त्व में प्रस्तुत हो पाता है। आठ वसुओं को वित्त धन, हिरण्य या सुवर्ण कहते हैं।

द्वितीय सप्तक योनि, योषा गर्भ या उल्व है 'उषाः वै उल्वं' तृतीय सप्तक है।

७—कर्मकाण्ड में रुद्राभिनय

कर्मकाण्ड में गर्भ का अभिनय अग्नावैष्णवपुरोडाश से किया जाता है। उसको 'अष्टकपाल' बनाते थे। इससे नवम रुद्र का जन्म होता है। अश्वमेध में ऐ॰ ब्रा॰१-१-३ का जो उद्धरण दिया है उस उद्धरण में इतनी स्पष्टता है कि व्याख्या की भी आवश्यकता नहीं है। यह यही कुमार रुद्र है "जिसे गर्भं कुमारं पुस्करं स्रजम्" कहा गया है। शतरुद्रिय रुद्र 'सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपाद् शतं व्यानः, है (यजु, १७-७१, श॰ प॰ ब्रा॰ ९. २. १.-५१)। इस नाम की व्याख्या 'परोक्षेण परोक्षकामाहि देवाः' के आधार पर शान्तदेवत्य और शतशीर्षरुद्रशमनीय को ही शतरुद्रिय नाम से पुकारते हैं। यह ३१वाँ तत्त्व है। रुद्र के रोने से जो आंसू निकले उससे वह शतशीर्षा शतेषुधि, सहस्राक्ष बना। जो अन्य आंसू निकले उनसे असंख्यात सहस्रों रुद्रों की उत्पत्ति हुई। उनसे डरने लगे तब उसे अन्न दिया गया, मनाया गया। तब उसे शान्तदेवत्य कहते हैं (श॰ प॰ ब्रा॰ ९-१-१ १से ७ तक पूरा देखें)।

आजकल की विद्वन्मण्डली रुद्र के सभी नामों को एकही तत्त्व या देव का संकेतक समझती आ रही है। यह भावना नितान्त अवैदिक और अदार्शनिक है।

८—रुद्र के अनेक नामों की व्याख्या

वैसे रुद्रों की संख्या ११तो है ही। वे नवें से१९वें तत्त्व तक के क्रमिक प्रतिनिधि हैं। नवें से १६तक के तत्त्व मरुत् हैं, जिनको रुद्रसूनवः या रुद्र पुत्र कहा गया है। १६से१९तक के चार रुद्रों को रुद्र का ही सूनु या पुत्र कहा गया है 'रुद्रस्य सूनुं (इन्द्र) (१-६४-१२)। ये चार इन्द्र के भी प्रतिनिधि हैं। अतः इन्हें अन्यत्र रुद्रका साथी भी कहा है 'रुद्राणामेति प्रदिशा विचक्षणो रुद्रेभिर्योषा तनुते पृथु त्रयः'" (१-१०१-७)। परन्तु इन ग्यारह रुद्रों के अतिरिक्त 'अग्निरुद्र' को जब 'सर्वादेवता' कहते हैं तब वह सभी तत्त्वों का प्रतिनिधि माना जाता है। जैसे जब रुद्र को 'आपः' देवता का प्रतिनिधि सूचित करना होता है तो उसे 'सर्वः *नाम से पुकारते थे; आपो वै

सर्वोऽह्वयो हीदं सर्वं जायते, जब रुद्र को ओषधि का प्रतिनिध सूचित करना होता था तब उसे 'पशुपति' कहते थे "ओषधयो वै पशुपतिः" । जब रुद्र को वायु का प्रतिनिधि समझना होता था तब उसे 'उग्रः' नाम से पुकारते थे "वायुर्वा उग्रः" । जब रुद्र को विद्युत् का संकेतक मानते थे तब उसे 'अशनि' कहते रहे "विद्युद्वा अशनिः" । जब रुद्र को पर्जन्य का सूचक कहना चाहते थे तब रुद्र को 'भवः'* नाम से पुकारते रहे "पर्जन्यो वै भवः पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति ।" पर्जन्य नामक तत्त्व २५वां हैं । जब रुद्र को चन्द्रमा या प्रजापति या २६ वें तत्त्व का प्रतिनिधि कहते थे तब उसका नाम 'महादेव' कहते थे "प्रजापति वैं चन्द्रमाः प्रजापति वैं महान्देवः" । जब रुद्र को आदित्य का सूचक कहना होता था तब उसे 'ईशान' नाम से पुकारते रहे "आदित्यो वा ईशानः" । ये सब नामकरण अग्नि रूप रुद्र के हैं "तान्येतान्यष्टावग्नि-रूपाणि" (श. प. ब्रा. ६-१-३-१०से १५ तक) । यही बात अर्ववेद के व्रात्यकाण्ड के द्वितीयसूक्त में दुहराई गई है जिसको अब तक कोई नहीं समझ पाया है । इन नामों के क्रम में 'महादेव' या महान्देव नाम एक बड़ी भारी समस्या का हल करके यास्क और पतञ्जलि के दिये हुए निम्नलिखित ऋचा के अर्थ को अप्रामाणिक सिद्ध कर देता है । ऋचा है "चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥" (४-५८-३) । इस मन्त्र का महो देवः महान् देव या महादेव रुद्र है । यही भौतिक अर्द्धनारीश्वर रुद्र है । भू नाम प्रथम सप्तक का है, भुवः द्वितीय का, स्वः तृतीय का और 'महः' चतुर्थ सप्तक का, इसी चतुर्थ सप्तक में चन्द्रमा नामक प्रजापति सोम ही महादेव या महान् देव या महादेव रुद्र है । इसीलिए रुद्र के सिर पर चन्द्र रखा या माना जाता है । वृषभ उत्तरार्द्ध की भौतिक सृष्टि का प्रारम्भिक दिव्यशरीरी तत्त्व है । शिव मंदिरों में इसी महादेव वृषभ को मंदिर के बाहर (उत्तरार्द्ध में) स्थापित करते हैं और उसे शिव का नन्दी (नदिया) या शरीर कहते हैं । यह शिव का वाहन या रथ क्या है ? यह शिव या रुद्र रूप जीवात्मा का प्रथम भौतिक आवरण सा दिव्य शरीर रूप वाहन है । यह २६वाँ तत्त्व है । जिसके चार मुख्य ब्रह्म या चार प्राण (उदान), व्यान, अपान ही चार श्रृङ्ग हैं (ब्रह्म, प्राण, होता उदान, अतिथि व्यान, अत्रि अपान)। इनके तीन पाद गायत्री के तीन पाद रूप २४ तत्त्व हैं । दो सिरों में एक शिर अभौतिक ब्रह्म इन्द्र (प्रथम) है । द्वितीय यही २६वां चन्द्रमा । सात हाथ सात सप्तक के ५० तत्त्व हैं, त्रिधाबद्ध त्रिपादमृत के त्रिधात्माओं के त्रिवृत्तता हैं "कुमारो नवमः सैवा-ग्नेस्त्रिवृत्ता ।" (श. प. ब्रा. ६-१-३-१७) । ऐसा महादेव यद्यपि वृषम रूप, व्यान रूप इन्द्र रूप, वर्षण रूप, वृषा रूप या वर्षा रूप, वृष्टि रूप, वृषण रूप, वृष्टि रूप, पर्जन्यवृष्टि रूप (विद्युत्) इत्यादि व्याख्या से सुमंडित तत्त्व जिसका वर्णन (ऋ० वे०) १०-१०२ सूक्त में और अन्यत्र भी किया गया है । पर वह शब्द ब्रह्म है । अतः अभौतिक मौन ॐकार शब्द ब्रह्म का भौतिक शब्दब्रह्म के स्वरूप को धारण करने की यह घोषणा (रोरवीति) करता है कि स्वयं अमर्त्य या अमृत होते हुए भी वह मर्त्यरूप भौतिक

* अग्नि को प्राच्य लोग शर्वभव कहते रहे, पाठक लोग पशुपति, अन्य रुद्र,

दिव्य शरीर को प्राप्त हो गया है। यास्क और पतञ्जलि दोनों ने उक्त मंत्र की पृथक्-पृथक् व्याख्यायें दी हैं, यह भी एक प्रमाण है कि दोनों की व्याख्यायें अप्रामाणिक और निराधार हैं। यहां सब शब्द पारिभाषिक हैं, दार्शनिक हैं; सींग, पाँव, सिर हाथ, बन्धनवाची नहीं, एक और रहस्य है। रुद्र की स्तुतियों का छोटा संग्रह 'रुद्री' नाम से प्रख्यात है। उसमें रुद्र को यज्ञ का प्रारम्भ कर्त्ता कहा है।

"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यद् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।"

में यज्ञ का संचालक और सप्त होता वाला सप्तक दूसरा है। 'होता वेदिषद्' यही रुद्र का सप्तक है।

सबसे विशिष्ट बात यह है कि रुद्र की रुद्री के तृतीय अध्याय में इन्द्र के सूक्त को पूरा रख दिया गया है, यह क्यों है? इस पर कम लोगों ने ध्यान दिया होगा (१०-१०३ सूक्त देखें)। चतुर्थ अध्याय में 'सूर्य' और सविता के सूक्तों के मन्त्रों को रख दिया है। दूसरे अध्याय में पुरुष सूक्त है। यह सब क्यों हैं? इन सब का रहस्य यह है कि रुद्री में रुद्र को अग्निः सर्वा देवता' के सिद्धान्त पर सर्वदेवता प्रतिनिधि रूप में ही स्वीकार किया गया है 'यो वै रुद्रः सोऽग्निः' (शप.५-२-४-२३)। इन्द्र १७ वें से ३१ तक का प्रतिनिधि हैं, और १७वें से १९वें तक के तीन तत्त्व रुद्र भी हैं, इन्द्र भी हैं। अतः इन्द्र सूक्त को रुद्र सूक्त सा माना गया है। सूर्य की स्तुति ईशान और भव नामक रुद्र के रूप में और सविता की स्तुति महादेव या महोदेव रुद्र के स्वरूप में की गई है। अतः रुद्री सच्ची रुद्री या वैदिक रुद्री ही है। रुद्र की माता का नाम अदिति बतलाने वाली ऋचा यह है।

"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।"
(ऋ.वे. ८-१०१-१५)।

यह अदिति गो के समान अमृत की नाभी हैं। (अदिति देखें अर्थ के लिए)।

पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार रुद्र की व्याख्या जैसी होनी चाहिए थी वह पुराणों में प्रशस्त रूप से वर्णित मिलती है। खेद तो इस बात का है कि उपनिषत्कालोत्तर युग से इस विद्या का समूल ह्रास हो गया है।

९—रुद्र और पर्वत तथा नदी

पञ्चपर्वा विद्या पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा जा चुका है, उसमें प्रथम दस तत्त्व 'हेमाद्रि' या हिमालय पर्वत के नाम से पुकारे जाते हैं, रुद्र नवम तत्त्व है। अतः वह तात्त्विक हिमालय पर्वत के दस अंशों में से अन्तिम छोर के नवम अंश में प्रतिष्ठित पाये जाते हैं। यह नवम अंश मानसरोवर के पास होना बतलाया गया है।

"ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेनाः।
अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना घृतस्य धारा अभि चाकशीमि।

हिरण्मयो वेतसो मध्य आसाम्। तस्मिन्सुपर्णो मधुकृत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः। इत्यादि (नारा. उप. ५-४०, ऋ. वे., यजु) 'ग्रीष्मो मानसः' (यजु १३-५५; श प. ब्रा. ८-१-२-८)।

ग्रीष्म ऋतु द्वितीय सप्तक है। उसे मानस (सरोवर) नाम से पुकारा गया है। यहां पर घृत नाम संकेतक है। तथा रुचि और समिध् शब्द भी सन्दर्भीय हैं। सब पारिभाषिक वचन हैं। उसे द्वितीय सप्तक का अन्तर्ह्रद मानस नाम से पुकारा है। पर सुपर्ण को (चतुर्थ सप्तक में) कुलायी (सुपर्ण ब्रह्म या भौतिक अणु) नाम से कहा गया है। इसी मानस से समिध् रूप सरितों के निकलने की भी चर्चा की है। हेमाद्रि के आठ अंश रुद्र की जटायें हैं। वहीं से नदियों का उद्गम है, पर नवम रुद्र के अन्तर्ह्रद मानस (सरोवर) से गंगा का आविर्भाव होता है। गंगा जीवात्मा रूप रुद्र ही है। रुद्र भ्राता इन्द्र भी वराह कहा गया है। ऋ. वे. (१०-९९-६) सोम के प्रतिनिधि महोदेव को (चत्वारिश्रृंगा) वराह कहा गया है (ऋ. वे. ९-९७-७)। इसी रुद्र को "दिवो वराहमरुषं कपर्दिनम्' (ऋ. वे. १-११४-५) पुनः वराह नाम से पुकारा गया है। यही वराहावतार की कथा मूल स्रोत है। सबसे पहिले (हिमालय) हेमाद्रि प्रगट हुआ जो रुद्र का स्थल माना गया है। अतः वराह अवतार समुद्र से पृथिवी को निकालने की कथा वैज्ञानिक है। श. प. ब्रा. (५-१९) ने भी इसी बात की पुष्टि में वराह को अग्नि रूप घृत या चक्षु नाम से माना है। (अव्यय कल्प वृक्ष शीर्षक देखें)। वराह माने ब्राह्मण ग्रन्थों में 'वरम् आहारं अहार्षीत्' लिखा है। ऐसे आहार वाला वराह विश्वदेव रूप देवता या विश्वेदेव रूप रुद्र भी कहलाते हैं क्योंकि आहार का कार्य सोम या घृत या अन्न से प्रारम्भ होता है। अतः इन्द्र भी वराह हैं। जैसे 'वराहमिन्द्र एमुषम्' (ऋ. वे. ८-७७-१०)। अङ्गिरस भी वराह हैं जैसे 'ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः' (ऋ. वे. १०-६७-७), अन्य देवता जैसे :—

"पश्यन्हिरण्यचक्रानयोद्रंष्ट्रान्विधावतो वराहून्।"

(ऋ. वे. १-८८-५)

"और इन्द्र, विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता।" (ऋ. वे. १-६१-७)

"स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन्"।

ऋ. वे. १०-९९-६।

ये सब वराह विश्वेदेवताओं के हैं या भौतिकस्वरूप धारण किए हुए गणीय देवताओं के हैं, इनमें भ्रम नहीं होना चाहिए। वास्तविकता यह है कि यह घृत से उत्पन्न होता है 'घृत कुम्भाद्वराहो सम्बभूव' (श. प. ब्रा. ५-४-१-१९७)। घृत नाम चक्षु सूर्य का है 'घृतं मे चक्षुरमृतम्'। अतः घृतरूप भौतिकात्मा से वराह उत्पन्न हुआ।

सर्प भी जीवात्मा रूप रुद्र ही हैं। दोनों में व्याख्या का भेद है। तत्त्व एक

है। रोदसी या पार्वती रुद्र की पत्नी या दीर्घ स्वरीय रौद्री वाग् है।* डमरू इसी शब्द ब्रह्म का संकेतक है। डमरू भी रुद्र का ही रूप है। शब्दब्रह्मरूप है। पूरे २६ तत्त्वों का सूचक है। त्रिशूल तो त्रिपाद् का सूचक है। २४तत्त्व या ॐकार का सूचक है। वृषभ का वर्णन पहिले किया जा चुका है। मनुष्य रूप में रुद्र गायत्री का पुरुष है, जटाधारी है। इसीलिए रुद्र में पुरुष सूक्त सम्मिलित है। पञ्चवक्रता' पञ्चपादं पितरं' का प्रतिनिधि है। तृतीय नेत्र सूर्य २५वां तत्त्व है। भाल का चन्द्र २६ वां तत्त्व पुरुष पशु के शिर (२४ तत्त्वों) पर है। चन्द्र भौतिक स्वरूप धारण करने की सूचना देता है। वाग्ब्रह्म ही मौनवाणी है। कण्ठ २५, २६ वें तत्त्वों का नाम है, जहां से परा विद्या या भौतिकी वाणी का विष वमन आरम्भ होता है। (श. प. ब्रा. १०-५-२-२०)। अरणिवाद के समानान्तर अश्मवाद के आधार पर द्वितीय सप्तक को योनि और रुद्र को पुरुष मानकर अथवा चतुर्थ सप्तक की योनि और सोमग्रावा के जोड़े से वाणी और पुरुष के योग को लिंग और योनि रूप में ठीक प्रस्तुत किया है। अश्मवाद पञ्चपर्वा विद्या का अंग है। पितृ विद्या में रुद्र को 'पितामह' नाम से पुकारते हैं। कर्मकाण्ड में वृषभ का अभिनय वृषोत्सर्ग से किया जाता है। रुद्र नदियों का(चतुर्धात्माओं का)जन्म दाता है। अतः प्रत्येक नदी के किनारे अधिकांश में वागीश रुद्र या महादेव के मन्दिरों का निर्माण हुआ है। ताण्डव नृत्य २६वें तत्त्व के अणु का नृत्य है, "नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरजायत" (१०-७२-४)। गजानन गणेश २८वां पुरुष पशु हस्तिरूपक है। गणपति स्वयं ब्रह्म है। गिरिजा = गिरा वाग् + जा = हेमाद्रि वाग्, रौद्री वाग्, गौरी वाग् है। प्रत्येक शब्द परोक्षभूमिक और रहस्यवादी हैं।

एकादश रुद्रों के नाम ये हैं :—

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतप ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः।
स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥"

(म.भा. १-६६-२-३)

रुद्र देवता के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ जानना अवशिष्ट रह गया है।

---

*दक्ष की पुत्री सती रुद्रपत्नी २४वें दक्ष की २५वें सत् तत्त्व रूपिणी सती वाणी है। दक्ष के ऋतु का ध्वंस दक्षक्रतू का विकास २५वें तत्त्व में है। दक्ष के शिर में अजा स्थापन दक्ष २४ वें का विकास ३१वें अजा नामक तत्त्व रूप शब्द ब्रह्म की व्याख्या करता है। वीरभद्रादि आसुरी तत्त्व हैं। सती होता विकास है जिसे पुनर्जन्म नाम से पुकारा गया है। सती पुत्र गणश हस्तिमुख सोम है। सोम का नाम हस्ति है। यह पुरुष पशु हैं। २७वां गणेश हैं।

ऋग्वेद में इस रुद्र देवता के पृथक् रूप से केवल चार ही सूक्त–१ ४३, १-११४-२-३३ और ७-४६ मिलते हैं। रुद्र के सम्बन्ध में अन्य वर्णन अग्नि, मरुत् इन्द्र और विश्वेदेवता के सूक्तों के साथ मिलते हैं, साथ में सोम, सविता, वाग्, गावः और केशिन के सूक्तों में भी रुद्र का व्याख्यान मिलता है। अग्नि तो रुद्र का प्रथम स्वरूप है। शेष देवताओं के सूक्तों में विश्वेदेवता रुद्र का वर्णन है। केवल रुद्र परिजातवेदा, वेदि, अरणि की अग्नि, मरुतःपिता और रोदनशील रोदसी का पति रूप जीवात्मा था। द्वितीय सप्तक का प्रजापति है जिसे होता या वेदिषद् भी कहते हैं।

१०—रुद्री का महत्त्व, यजु मेंसर्वदेवता रुद्र और विराट् रुद्र

इस रुद्र का वर्णन जब ओषधीश सोम के समान या पञ्चवर्षीया गंगा के स्वरूप में किया जाता है तब इसे भिषक या भिषक्तम या स्वयं स्वचिकित्सक स्वधा नाम से पुकारते हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में उक्त सब प्रकार के रुद्रों का एकत्रित वर्णन दिया हुआ मिलता है। 'रुद्री' अष्टाध्यायी में भी यही संकलन दिया हुआ है! नहीं-नहीं रुद्राष्टाध्यायी में तो विराट् रुद्र का वर्णन दिया हुआ है। इसमें पूरे ५० तत्त्वों की क्रमिक सृष्टि विकास को रुद्र रूप में वर्णित किया गया है। यह वर्णन भी एक-एक तत्त्व के नाम को गिनाकर किया गया है। सबसे पहिले विषम अंकों के नाम से ३३ देवता रूप रुद्रों की गिनती दी है। फिर सम अंकों के उल्लेख से ४७ तत्त्व रूप पूर्ण तत्त्वों की संख्या के साथ पूरी सृष्टि ४७ रुद्रों के क्रमिक विकास में वर्णित की गई है (रुद्री अध्याय ७-२४-२५; यजु. १८-१-से २९ तक)। इस अध्याय में प्रत्येक तत्त्व का नाम आ गया है। पञ्चपर्वा विद्या के उल्लेख के विना ही १०,१० के पाँच भागों का वृत्तचक्र में वर्णन करके इस विद्या का पूरा चित्र इस प्रकार दे दिया गया है।

"तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वा"

इत्यादि। हां 'तीर्थानि प्रचरन्ति सृका हस्ता निषङ्गिणः' इत्यादि।

(१६-६६ यजु रुद्री ५-६३-६४-६५) में तीर्थ शब्द पञ्चपर्वा विद्या का ही है।

रुद्री का सबसे पहिले गणपति या ब्रह्मणस्पति के मंत्र से प्रारम्भ किया गया है। इस अध्याय में सातों सप्तकों का संक्षिप्त वर्णन है। द्वितीय अध्याय में प्रसिद्ध पुरुष सूक्त है। इस पुरुष का नाम यज्ञ पुरुष है। पुरुष, प्रत्येक तत्त्व का नाम है। यज्ञ भी सभी तत्त्वों का नाम है। यह हविर्धाने के साथ पुरुष और यज्ञ की व्याख्या श. प. ब्रा. ३-४-३-१ के अनुसार दी जा चुकी है। कहने का तात्पर्य यह है कि रुद्र भी पुरुष है, और यज्ञ है अथवा तत्त्वों का क्रमिक विकास है। अतः वैदिक समस्त विचार धाराओं-संवत्सर, अयन, ऋतु, सोम, सूर्य, अग्नि आदि-सबका समावेश इस रौद्र व्याख्या रूपी पुरुष सूक्त में दिया गया है। पुरुष सूक्त इस प्रकार प्रत्येक विश्वेदेवता में घटित किया जा सकता है चाहे वह अग्नि हो, वरुण हो, इन्द्र हो, विष्णु हो, बृहस्पति हो, वाग् या सब मिलकर एक साथ हों। तृतीय सप्तक में इन्द्र और रुद्रों का साहचार्य होता है। अतः तृतीय अध्याय में इन्द्र सूक्त को रुद्र वर्णन के

रूप में वर्णित किया गया है। यह तो पिछले परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। इन्हीं के साथ मरुतों का वर्णन भी आ जाता है। मरुत् द्वितीय सप्तकीय प्राणवायु उदानीय वायु हैं और मातरिश्वा तृतीय सप्तकीय व्यानीय प्राणवायु हैं। इनका वर्णन भी रुद्र और इन्द्र के साथ-साथ अपने आप आ जाता है। वही सब तृतीय अध्याय (रुद्री) में दिया गया है। चौथे अध्याय में 'सूर्य' की पूर्ण वर्णना है जिसके साथ वरुण, वेन और वृत्र या वित्रहन् का वर्णन अनिवार्य हो जाता है। वही यहां भी किया गया है। इसके आगे के सब अध्याय रुद्र को एकान्ततः वैदिक दर्शन के समस्त तत्त्वों में घटित करके उसे 'महादेव' सिद्ध कर देते हैं। चमकाध्याय ८ में वैदिक दर्शन का कोई ही तत्त्व शेष रह गया याद र्शन के तत्त्वों के नामों में से कोई ही नाम शेष रह गया हो जिसे प्राप्त करने की प्रार्थना रुद्र से न की गई हो, वह प्रार्थना भी यज्ञ रूप से प्राप्त होने की है 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' (नवम शान्त्यध्याय में सब देवताओं से 'शंभू' की प्रार्थना की गई है। विशेष कर विश्वेदेवताओं–आपः, पृथिवी, मित्र, वरुण, इन्द्र बृहस्पति, उषा, अर्यमा, ऋग्, वाग्, पूषा, वात, विद्युत्। छठे अध्याय में तो मृत्युञ्जय के लिए प्रसिद्ध मन्त्र 'त्र्यम्बकं यजामहे' और आशीर्वाद के लिए सर्वश्रेष्ठ मन्त्र 'त्र्यायुषं जमदग्ने कश्यपस्य त्र्यायुषम्' इत्यादि देकर रुद्रको पुरुष सूक्त के पुरुष की तरह 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' या त्रिपादमृत सिद्ध करते हुए शिव तत्त्व को स्वयं भेषज स्वरूपी 'भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय' बतलाकर प्रत्येक को अमर हो सकने की सूचना दी है। इसीलिए रुद्र को 'शिव' नाम की कल्याणकारी और स्वधिति या हिरण्यगर्भीय द्यौः को इसका पिता कहा है। 'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा हिंसीः।" जिस प्रकार के उल्लेख अग्नि के बारे में हैं, वैसेही रुद्र के बारे में भी जानें।

———

अध्याय—४७

धनुष के बारे में पहिले लिखा जा चुका है कि जिसे विष्णु का शार्ङ्ग धनुष कहते हैं; वही रुद्र का भी धनुष है। शार्ङ्ग धनुष माने सींगों का धनुष कहना लौकिकता या अविद्या है। शार्ङ्ग धनुष माने 'चत्वारि

१—धन्वीरुद्रः श्रृङ्गास्त्रयो अस्य पादाः वाली ऋचा के वृषभ के प्रथम चार सप्तक रूप चार शृङ्गों का बना धनुष है। शार्ङ्ग धनुष माने प्रथम चार सप्तकों का बना धनुष है। चार सप्तक ही चार श्रृङ्ग या सींग हैं। उनका बना धनुष शार्ङ्ग धनुष है। इसे महिष के सींगों का बना भी पुराणों में कहा गया है। महिष नाम अग्निक या प्राणों का या सोम का है "ब्रह्मा देवानां महिषो मृगाणाम्" और

"समुद्रं त्वा नृम्णा अप्स्वन्तः नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्॥"

(यजु १२/२०)। अतः वैदिक धनुष का साक्षात् सम्बन्ध वैदिक तत्त्वों के एक समूह से है। धनुष शब्द के कई-कई रूप और अर्थ हैं जैसे—धातु धन् और धन्व् (शब्द करना, गति, हलचल करना है) उससे धनं, धनुः, धन्वं, धन्वी, धान्यं और धन्वन् शब्द बनते हैं। इनमें धनं शब्द का अर्थ गुणधर्म भी होता है। ये सब अर्थ तथा 'धन्वन्तरिः' शब्द का अर्थ रुद्र धनुः में सन्दर्भानुसार अपेक्षित हैं। यजुर्वेद १६-४२ से ६३ तक रुद्री ५-२४ से ६३ तक के मन्त्रों में प्रथमादि सप्तक के रुद्रों को क्रमशः सहस्रयोजनीय धनुष ताने हुए बतलाया है जैसे "असंख्याता सहस्राणि रुद्रा ये अधिभूम्याम्—तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि"।

यहां पर अधिभूमि, अन्तरिक्ष, दिव, क्षमा, वृक्षेषु, भूतानामधिपतिः, पथास्पथि रक्षयः, तीर्थ्यानि नाम सप्तकों के आधार पर दिये हुए हैं। इस बात का स्पष्टीकरण रुद्र के 'इषु' से हो जाता है और इषुशब्द से धनुष का नाम इष्वी और निषङ्ग का इषुधिः पड़ता है। यह तो सब जानते हैं। पर वेदों में ये 'इषु' क्या हैं। इसका विवेचन उन्होंने स्वयं दे रखा है। यजुर्वेद १६-६३, ६४, ६५,६६ में क्रमसे लिखा है कि रुद्रों के इषु, वर्ष (या संवत्सर) हैं। येषां वर्षमिषवः। रुद्रों के इषु वात (वायु) हैं (येषां वात इषवः)। रुद्रों के इषु अन्न (सोम) हैं (येषामन्नमिषवः)। इसीलिए रुद्री पाँचवें अध्याय के प्रथम मंत्र में ही इषु को नमस्कार किया गया है और वेद में इन इषुओं को आरोपण करने की प्रार्थना की है। जब रुद्रों के इषु, संवत्सर, वात और अन्न हैं तो वह धनुष किस वस्तु का होगा। स्पष्ट है कि ये धनु और इषु दार्शनिक तत्त्वों का रहस्यमय वर्णन कर रहे हैं। ऋग्वेद ७,४६ सूक्त रुद्र के इसी धन्वी रूप का वर्णन चार मंत्रों में निम्न प्रकार से देता है

"इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥ १॥

स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति ।
अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव ॥ २॥
या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः ।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः ॥ ३ ॥
मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीळितस्य ।
आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे यूयं पात स्वतिभिः सदा नः ॥ ४ ॥

ठीक यही भाव यजुर्वेद १६-९ से १४ तक में वर्णित है ।

जैसे—प्रमुञ्च न धन्वस्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥
विज्यंधनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ २ उत
अनेशन्नस्य या इषवऽआभुरस्य निषङ्गधिः ॥
या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ।
तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिभुज ॥
परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वकः ।
अथो यऽइषुधिस्तवारे ष्ट्वं अस्मिन्निधेहिऽतम् ॥
अवतत्य धनुर्ये सहस्राक्ष शतेषुधे ।
निशीर्च शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥
नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे ।
उभाभ्यामुत नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥" अर्थ—७-४६ ऋ० वे—

में बसिष्ठ जी भरतों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं। भरत नाम उत्तरार्द्ध की अग्नियों का है और आर्यों की उस जाति का भी काम है जो विश्वामित्र के साथ बसिष्ठ जी से लड़े थे। मेरी इस स्तुति का मनन करिये जो स्थिरधन्वा या स्थिर तत्त्व है, अजरामर है। जिसके इषु या प्राण या सोम क्षिप्र या वेगवान हैं और जो स्वधावान् है 'स्वधितिस्ते पिता'। स्वयं को स्वयं धारण करने की शक्ति रखता है. । वह दूसरों को असह्य पर स्वयं सबको सहन कर सकने वाला विश्व का निर्माता तीक्ष्ण आयुधों (अक्षरों) वाला है । ?"

वह प्रत्येक पार्थिव या भौतिक (क्षम्यस्य) वस्तु को परिवर्तन द्वारा (क्षयेण) नया जन्म देकर उन्हें दिव्य सम्राट् वरुण से प्रचेतित करता है, और उन पार्थिव तत्त्वों की रक्षा करता हुआ, हमारे जैसे दुरश्चर दुराचारी भी उसकी कृपा से अनमीव या आरोग्य रहते हैं। अतः हमारी प्रजा के लिए भी स्वास्थ्य दायक (अनमीव रुद्र) बनो ॥ २ ॥ तुम्हारा जो वैद्युतीय स्वरूप त्रिपादमृत रूप में प्रस्तुत होकर पार्थिव या भौतिक तत्त्वों में व्याप्त होता है वही स्वयं प्राणरूप में लाखों या हजारों भेषजों का कार्य करता है, क्योंकि तुम स्वयं स्वपिवात या सु+अपि वात*='प्राण रूप पूर्वार्द्धीय सूक्ष्म वात या वायु' हो या 'जीवात्मा' हो, स्वयं भिषग्

*इस पर आगे इसी शीर्षक के अन्दर टिप्पणी देदी है वहां 'भिषग्रुद्र' देखें। सुवात=भेषज है, अपि=अपि च ।

रूप में प्रेरणा या ज्ञान देतेर हते हो। अतः हमारे सन्तानों और बच्चों के समान सोमादि को चर्या में जब कभी कमी-वेशी आती है तो उनसे असन्तुष्ट नहीं होते हो॥ ३॥ जब प्राणों का आधिक्य और भौतिकांश की कमी होती है तो उस स्थिति को रुद्र का मन्यु या क्रोध या हीळित कहते हैं। अतः प्रार्थना की गई है कि तुम हमारे शरीर में सन्तुलित रूप से रहो, हमें वध न होने दो, न अधिक न कम रहो, हमसे परे भी न होओ, न अत्यन्त अधिकमात्रा की क्रुद्धावस्था में फैलो। हमारे शरीर रूप बर्हि या आसन को भजो या आसन में विराजो जिससे हम जीवित रह सकें। आप सदा हमारी रक्षा अपने स्वस्तिक रूप शक्ति से करते रहें। स्वस्तिक में चार पाद होते हैं। वे चतुष्पाद ब्रह्म के सूचक हैं। उन्हीं चार पाद रूप चतुष्पाद्ब्रह्म की स्वस्तिक से हमें सदा सुरक्षित बनाये रखो॥ ४॥ यजु का अर्थ— तुम धनुष से प्रत्यञ्चा की डोरी को खोल दो। जो तुम्हारे इषु हैं उन्हें उत्तरार्द्ध में आरोपित करदो॥ तुम्हारा धनुष नित्य विजयी है। आप कपर्दी (जटाजूट) वाले या पर्व-पर्व के पर्वत धारण करने वाले हैं। विशल्य, विशाल और बाणवान् हैं। आपके जो इषु अनेषन्न् या अभौतिक हैं वे पूर्वार्द्ध के निषङ्ग में सुरक्षित रखे रहते हैं। जो तुम्हारी सुखकारी हेति या धनु है उससे हमें सदा आरोग्यतया सुखी बनाते रहो॥ आपके धनुर्धर की हेति हमें अखिलब्रह्माण्ड में सुरक्षित रखे। आपके जो इषु आरों के समान गुथे हैं उन्हें हममें आरोपित करदो। हे सहस्राक्ष और शतेपुधे॥ धनुष को तान कर शल्यों के मुखों को तीक्ष्ण करके हमारे लिए सुमना बनो। आपके अनातत धृष्णु स्वभाववाले नहीं खींचे गये आयुधों को नमस्कार। आपके दोनों बाहुओं (द्वितीय सप्तक की दोनों अरणियों) को नमस्कार और आप धनुर्धर को नमस्कार॥"

धनुर्धर रुद्र के बारे में यजुर्वेद की ऋचायें बहुत ही प्रसिद्ध समझी जानी चाहिए—

२—धन्वीरुद्र

"एतत्ते रुद्रावसंतेन परो मूजवतोऽतीहि। अवततधन्वा पिनाकवसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि" (यजु-३-६१ रुद्री ६-६)। "एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया। तंजुषष्व स्वाहैष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः॥" (यजु-३-५७, रुद्री-६-२)। 'त्र्यम्बकं यजामहे' इत्यादि और 'त्र्यायुषंजमदग्ने कश्यपस्य त्र्यायुषम्' इत्यादि (यजु-३-६०,६२ रुद्री ६-५,७)।

"नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो····"

"नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽअरथेभ्यश्च वो नमो नमोः" (यजु १६-२५,२६)। यहां पर रुद्र विषयक अनेक तत्त्वों का सम्बन्ध रुद्र से समीचीन रूप में या वैज्ञानिक दार्शनिक स्थिति में किया गया है। सबसे पहिले रुद्र का संवत्सर ब्रह्म से तादात्म्य करते हुए कहा गया है कि हे रुद्र बसंत ऋतु से (प्रथम सप्तक से) पर या उत्तरार्द्ध में मूजवान् पर्वत या सोम की जन्मभूमि उत्तरार्द्ध में प्रस्थान करो अर्थात् भौतिकात्मा को स्वीकार करो। आप नव धनुष ताने हुए, पिनाक

धारी या पूर्वार्द्धवासी होते हुए भी कृतिवास या भौतिकात्मा की त्वचा या खाल या शरीर धारण कर के, अहि रूप को धारण करेंगे (भयंकर वृत्र रूप को प्राप्त होंगे) और हमें शिव कल्याणकारी मार्ग में चलावोगे ॥

शिव का ताण्डव नृत्य कालीन हाथी की खाल यही उत्तरार्द्ध की भौतिकात्मा सोम की त्वचा है और ताण्डव नृत्य भी भौतिकात्मा के सूक्ष्म अणुओं का ही प्रभाव है। अन्तिम मन्त्र में रुद्र को गणवान् और गणपति कहा है। दूसरे मन्त्र में रुद्र के इसी गणपति स्वरूप के वाहन का काम आखु (मूषक) बतलाया है। इस प्रकार यहां पर रुद्र का वर्णन ब्रह्मणस्पति के रूप में किया गया है। साथ में प्रथम तीन नाभियों में द्वितीय नाभि का नाम अम्बिका बतलाते हुए उसे रुद्र की स्वसा कहा है! प्रथम नाभि अम्बा है, तृतीय अम्बालिका। इन्हीं तीन नाभियों वाले रुद्र को 'त्र्यम्बकं यजामहे' मन्त्र त्र्यम्बक की उपाधि देता है तो "आयुषम् जमदग्ने' इत्यादि ऋचा इन्हें 'आयुष' कहती है। ये तीन त्र्यम्बक तो अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका हैं और आयुष त्रिपादमृत है। दोनों वर्ग त्रिपादमृत रूप त्रिनाभि के प्रतिनिधि हैं। इसी रुद्र को सेनानी या सेनापति भी कहा है। सेना, व्रातों की है, व्रात व्रतों, नियमों, अक्षरों के हैं। इन अक्षरों के अक्षर रूप अक्षों या रुद्राक्षों या व्रतों की माला रुद्र मार्गी पहनते हैं,। अथर्ववेद का व्रात्य काण्ड इसी रूद्र का वर्णन देता है और उस काण्ड का द्वितीय सूक्त मुख्य रुद्रों का वर्णन तो देता ही है जिसे पहिले दे दिया गया है। इन्हीं सेनाओं या व्रातों के सामञ्जस्य को निभाने के लिए रुद्र को रथी, महारथी या पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्धीय रथों से युक्त भी कहा गया है। जो त्र्यम्बक है वही त्रिशूल भी है। जो त्रिशूल है वही परशु भी है। परशु नाम वेदों में अग्नि का है (ऋ. वे. ६-३-४), रुद्र स्वयं अग्निरूप हैं, अतः जो रुद्र है वही परशु हैं, जो त्रिपादमृतीय रुद्र है, वही त्रिशूल है। त्रिशूल में जो झण्डा लगाया जाता है, वह उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा का स्वरूप है।

वेदों में जितना सर्वाङ्गीण विवेचन तथा वर्णन और व्याख्यान इस रुद्र मार्ग का हुआ है उतना सम्भवतः और किसी दूसरे देवता का नहीं हुआ है। यद्यपि इनके सूक्त कम हैं, पर जहां-तहां भी इनका वर्णन है वह संक्षेप में भी बहुत विस्तृतोदर वाला है। इसका साक्षात् प्रमाण रुद्री और उक्त वर्णनायें हैं। पौराणिक साहित्य में भी जितना वैज्ञानिक विश्लेषण और विस्तार तथा वर्णन रुद्र मार्ग का हुआ है, उतना और किसी भी मार्ग का नहीं हो सका है। वैष्णवादि मार्ग में कई ऐसी कमियाँ हैं जिन्हें विना रुद्रवाद को अपनाये पूरा कर ही नहीं सकते। दृष्टान्त में दुर्गामार्ग जिसको मारकण्डेय जी अपनी अमरता का अभिन्न साथी बना गये हैं। सरस्वती, लक्ष्मी आदि सबका इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। दुर्गा मार्ग का सरस्वत्यादि में नहीं। विष्णुवाद शैववाद के विना नहीं चल सकता पर शैववाद विना वैष्णववाद के भी चल सकता है। यह इसकी अपनी विशेषता है। रुद्रवाद में इतनी अधिक विशालता है कि इसके विभिन्न अंगों को लेकर के कई शैव मार्ग चल पड़े। यद्यपि आज कल या

३—रुद्रवाद की महिमा

मध्यकालीन शैव रुद्र तक को नहीं जानते, पर श्रुत्या भिन्न मार्गी बने हुए हैं। उनके मूल में कुछ विशेषतायें अवश्य हैं जो आज अनोखी सी लगती और कम जँचती हैं क्योंकि पृष्ठभूमि का उन्हें कुछ पता ही नहीं है।

रुद्र जीवात्मा स्वरूप है, रुद्र अखिल ब्रह्माण्ड का मूलभूत तत्त्व भी है। रुद्र के ये दोनों स्वरूप स्वधा है। स्वधावान् है। स्वयं अपने निर्माता, पालक, पोषक और संरक्षक हैं। ब्रह्माण्ड चाहे वैयक्तिक हो, पारिवारिक या अखिल सब उक्त गुणों से युक्त रहते हैं। इनमें आने वाले आकस्मिक या सामयिक विकारों का प्रतीकार भी ये स्वयं अपने आप करते रहते हैं। इस दृष्टि से रुद्र को भिषक् नाम की पदवी दी गई है कि वह अपने में होने या आने वाले विकारों की चिकित्सा भी स्वयं करता रहता है। लेकिन वैद्य या डाक्टर उसके उपचार या स्थिति को ठीक-ठीक समझ सके तो सहायता मात्र दे सकता है. अन्यथा अधिक बिगाड़ भी प्रायः कर देता है जिसे सम्हालने में रुद्र को बहुत बेचैनी और कठिनाई भी होती है। कभी-कभी तो असाध्य भी हो जाता है। अतः इस अखिल ब्रह्माण्ड और वैयक्तिक ब्रह्माण्डों का सबसे आदि भूत, रुद्र ही दैवी भिषक् है। सर्वप्रथम भिषक् है। इसी बात को रुद्री और यजु स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहते हैं

३—भिषग्रुद्र

"अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यो परा सुव॥"
(यजु १६-५, रुद्री ५-५)

कि रुद्र दैवि शक्ति का सर्व प्रथम भिषक् है। वही आदि शब्द ब्रह्म है तथा अग्नि-रूप शब्द ब्रह्म भी है (अध्यवोचत् अधिवक्ता)। वह ओषधि या उपचार के लिए सब अहिरूप भौतिकाणुओं तथा उनकी गतिविधिरूप यातुधानियों की सृष्टि उत्तरार्द्ध में करके उन्हें एक दूसरे से भक्षण कराता रहता है। यदि ये एक दूसरे को पचाकर सम्मिलित न हों तो न इनका एका लगे, न स्वस्थता रहे, न जीवन ही रहे। यह सब कार्य दैवी शक्ति सम्पन्न भिषगात्मा रुद्र का ही है। इस बात का समर्थन ऋग्वेद की निम्नऋचा रुद्र को 'वृषभ' या 'महादेव' कहकर, जैसा कि 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य, त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।" कहती है—उसे भिषकों में सर्वश्रेष्ठ भिषक् बतलाती है जैसे—

"मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीरो अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥"
(ऋ॰ वे॰ २-३३-४)।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये 'भेषज' हैं कैसे? और किस तत्त्व के? किस स्वरूप के। यह तो निर्विवाद है कि जो भेषज हैं वही ओषधि हैं। ओषधि के बारे में अन्यत्र विस्तार पूर्वक लिखा जा रहा है। उषसो भवं ओषं तत् धारयतीति ओषधिः भी देखें। ये ओषधि सोम रूपी हैं।

४—भेषज तत्त्व

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषंत्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥
ऋ॰ वे॰ १०-८५-३,४ और ९-१-१ देखें।

सोम रसमय है। यह रसमयता सोमस्थानीय चतुर्थ सप्तकीय आपो देवी, देवताओं की है। इसका स्पष्ट प्रमाण यजु. ३६।२३, रुद्री अध्याय ९-२३ शान्त्यध्याय में आपो देवताओं को भेषज नाम से पुकार कर दे दिया है जैसे "सुमित्रिया नः आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥" यहां पर जिन आपो देवताओं को ओषधयः नाम से पुकारा गया है उनका मूल स्रोत भी सुमित्रिया या मित्र नामक देवता की दैवी सम्पदा संकेतित है। उसकी आसुरी सम्पदा को दुर्मित्रिया या शत्रु, द्विट् स्वरूपिणी बतलाया है (आपो देवता शीर्षक भी देखें)। और इन भेषजों को अन्यत्र ऋ. वे. २-३३-७ में 'जलाष' नाम से पुकार कर यजुर्वेद के उल्लेख को पक्की प्रामाणिकता दे दी है। इसमें दैव्यस्य शब्द से दैवी जलाष भेषज का भी संकेत किया गया है जैसे—

"क स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याऽभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥"

इसी बात की पुष्टि ऋ. वे. १-४३-४ का निम्न मंत्र रुद्र को 'जलाषभेषज' एक नाम से पुकारते हुए उसे शब्द ब्रह्म और बुद्धि रूप बतलाता है "गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्। तच्छंयोः सुम्नमीमहे ॥" यहां पर शम् नाम 'शन्नोदेवीरभीष्टय आपो' मंत्र के समान आपोरूपी रुद्र का विश्वेदेवी भौतिकात्मा सोमीय स्वरूप है। उसको मेधपति या भौतिक तत्त्व के आदि स्वरूप बुद्धि रूप में प्रस्तुत बतलाया है। प्रस्तुत सूक्त में रुद्र का क्रमिक विकास अदिति, मित्र, वरुण, जलाष, भेषज, शम्, शुक्र, सूर्य, सोम आदि रूपों में दिया हुआ है। ऋग्वेद १०-१३७-६ में भी आपः को भेषज नाम से पुकारा है, जैसे—

"आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
"आपः सर्वस्य भेषजीरतास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।" और ऋ. वे. १०-६६-१० में भी "आप ओषधीः प्र तिरन्तु नो गिरा·····" और रपः नाम भी शब्द ब्रह्म का बुद्धि रूपीय चतुर्थ सप्तकीय, तुरीय वाणी व्यक्त या भौतिक शब्द ब्रह्म है, रप या लप का अर्थ 'वद्' 'गद्' के समान बोलना है (रपति, लपति), और 'अरपा' नाम मौन, तूष्णी, उपांशु तथा अंश नामक प्रथम तीन सप्तकों की मानसिक या दैवी वाणियों का है। इसका समर्थन अगले परिच्छेद से हो जावेगा। बात का 'रपः' नामक भाग भौतिक है।

ओषधि या भेषज नाम केवल आपो देवताओं का ही नहीं वरन् वात या वायु देवताओं का भी है। ये वात दो प्रकार के हैं पूर्वार्द्धीय या उत्तरार्द्धीय। पूर्वार्द्धीय की सीमा दक्ष, सिन्धु या चतुर्थ सप्तक है। उत्तरार्द्धीय की सीमा सप्तम सप्तक का अन्तप्रारम्भ चतुर्थ सप्तक से होता है। पूर्वार्द्धीय वायु भेषजों का नाम विश्व भेषज है तो उत्तरार्द्धीय वायुओं का नाम 'रपः' है। जैसे—

"द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः (उत्तरार्द्ध)।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥"

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥
आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥
त्रायन्तामिह देवास्त्रायतां मरुतां गणःत्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥''
(ऋ. वे. १०-१३७-३ से ५ तक) ।

इसी तथ्य को दृष्टि पथ में रखकर ऋ. वे. ७-४६-३ में 'सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा' लिखा है कि हे रुद्र तुम्हारे विद्युत्स्वरूपी हजारों वायु भेषज हैं। ये वायु पूर्वार्द्धीय हैं क्योंकि इन्हें 'सु वात' नाम से पुकारा है। 'अपि' शब्द, तथापि और अर्थ को रखता है। अन्वय यह ठीक होगा 'अपि (च) ते सहस्रं सु वात भेषजा' क्योंकि पद पाठ में 'सु अपि वात' इस प्रकार का खण्ड किया हुआ मिलता है। पर यास्क, सायण, रौथ (Roth) में उक्त ज्ञान न होने के कारण 'स्वपिवात' शब्द को एक संबोधनीय शब्द माना है और इसका अर्थ अपनी मनमानी कल्पनाओं से स्वाप्तवचन, जिन प्राण और Learning to undarstand, appropriating to one's sefl, और to Teach to undersstand लिख मारा है। यह सब घपला वेदों के आगे पीछे के सन्दर्भों के ज्ञान के अभाव में तथा वैदिक दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का यथार्थ ज्ञान जानने से उत्पन्न हुआ है। सुवात त्रिपादमृतीय प्राण, वायु रूप भेषज, आप्तवचन, जिनप्राण, ज्ञान इत्यादि। एक दम उलटी बात। वेदों ने अपनी व्याख्या अपने आप कर रखी है। जो बात एक स्थल पर अनिर्णित और संदिग्ध लगती है उसका निराकरण अन्यत्र अपने आप हो जाता है। इसी प्रकार इसी सूक्त में आया 'रप': शब्द है।

''पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि''
''अप भर्ता रपसो दैव्यस्याऽभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः''

(ऋ. वे. २-३३-३, ७) के 'रपसः' शब्द का अर्थ पूर्व में उद्धृत १०-१३७-३ से ५तक की ऋचायें स्वयं कह रही हैं कि 'रपः' नाम उत्तरार्द्ध (परावत, परा,) की वायुओं का है। ये शत्रुया भौतिक वायु हैं। अतः कहा है 'वि वात वाहि यद्रपः' कि जो रपः नाम की वायु है उन्हें दूर करो। यही अर्थ ऋ. वे. २-३३-३, ७ के उद्धृत वाक्यों का भी है कि ''रपस् नामक वायुओं से युद्ध कर सब प्रकार से आभीति करके कल्याण करो, पापों से पार पहुँचा दो''; और ''आप रपः को दूर करने वाले हो (अपभर्ता) और दैवी वायु (पूर्वार्द्धीय) को मेरे लिए प्राप्त करो।'' लोगों ने इस 'रपः' शब्द को न समझ कर 'दैव्यस्य' शब्द को इसका विशेषण तक बना दिया है। पर इसी सूक्त में प्रार्थना की गई है कि हम रुद्र रूप सूर्य की छाया में अरपा भौतिक वायु हीन आसुरी वृत्ति हीन होकर-रुद्र के सौहार्द सुख से जीवन व्यतीत करें ''घृणीव छायामरपा अशीयाऽऽविवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्'' (२-३३-६) और पूर्वोद्धृत १०-१३-७५ में प्रार्थना की गई है कि ''जिस प्रकार यह 'अरपा' और असत् बन जाय वैसा उपाय करो''। कहने का तात्पर्य यह है कि लोग पारिभाषिक शब्दों

(जैसे यहां रपः है) का शाब्दिक व्युत्पति मूलक कर बैठे हैं। प्रश्न केवल एक दो या दो-चार शब्दों का होता है तो भी कहते, चलो और तो ठीक है, पर बात ऐसी भी नहीं है। प्रत्येक मंत्र में दो एक ऐसे शब्द अवश्य आ जाते हैं वेही शब्द उस मंत्र के आत्मा और कुञ्जी का काम करते हैं। उक्त उदाहरणों में जलाष भेषज, मेधपति, गाथपति शब्द हैं जिसका विवेचन अथर्व वेद में भी दी हुई व्याख्या के अनुकूल समानान्तर रेखा में इस प्रकार देता है। जैसे—

"इदमिद्वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यानामपब्रवत्॥१॥
जलाषेणाभिसिञ्चत जलाषेणोपसिंचत।
जलाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे॥२॥
शंच नो मयं च नो मा च नः किञ्चनाममत्।
रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम्॥३॥ (अर्थव-५७)।

यहां जलाष'भेषज और रपः का वर्णन पूर्वोक्तानुसार ही दिया है। रपः माने क्षमा या पृथिवी या भौतिक तत्त्व ही बतलाया है। ठीक इसी आशय के मंत्र ऋ. वे. १०-५९-८-९-१० में इस प्रकार मिलते हैं जिनमें दो प्रकार के भेषजों में से रपः को उत्तरार्द्ध का वायु रूप ओषधि कहा है जैसे—

"शं रोदसी सुबन्धवे यह्वी ऋतस्य मातरा।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवी क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत्।
अव द्वके अव त्रिका दिवश्चरन्ति भेषजा।
क्षमा चरिष्ण्वेककं भरतामप यद्रपो द्यौः...किंचनाममत्॥
समिन्द्रेरय गामनड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अनः।
भरतामप यद्रपो...किंचनाममत्॥

ऋ. वे. २-३३-१ मंत्र के अर्थ का विचार है "आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः। अभि नो वीरा अर्वति क्षमेत प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः॥" इसमंत्र में सूर्य संदृशो, वीर, अर्वति और प्रजा शब्द मुख्यतः पारिभाषिक हैं। सूर्य तो २५वां मध्यवर्ती तत्त्व है, संदृशः भी सूर्य ही है 'सूर्यस्य' का विशेषण है, 'चक्षुः' के बदले आया है 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः'। वीर शब्द सोम के लिए आया है (सोम शीर्षक देखें)। 'अर्वति' शब्द उत्तरार्द्ध के तत्त्वों के लिए आया है, पूर्वार्द्ध को प्राङ् या प्राञ्च या पूर्वावत् कहते हैं। उत्तरार्द्ध को पराङ्, पराच, अर्वाङ्, अर्वत आदि (द्यावापृथिवी देखें)। प्रजा नाम भौतिक सृष्टि की नानारूपता है। इसका सीधा अन्वय यह है कि हे रुद्र मरुतां पितः ते सुम्नं मा आ एतु। नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः॥ नः वीरो अर्वति अभिक्षमेत, प्रजाभिः प्रजायेमहि (वयम्)। सीधा अर्थ यह है:—"हे प्राणवायु जीवात्मारूप मरुतों के जन्मदाता रुद्र, आपकी सद्भावना मुझे प्राप्त होवे, हमें सूर्यरूप चक्षु (की कामनामय मूर्ति) से सम्बद्ध करदो। हमें भौतिकात्मा दिव्य शरीर से सदा सम्बद्ध रखो जिससे वह

५—आलोचना

दिव्यशरीरी वीर सोम उत्तरार्द्ध की नानारूपिणी भौतिक सृष्टि करने में समर्थ होसके और हम अपनी प्रजा सन्तान से सन्तानित होते रहें।" पर ग्रीफिथ आदि ने द्वितीय चरण का अर्थ उलटा करके 'मानः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः' अन्वय करके Exclude us not from looking on the Sunlight; लिख दिया है। 'मा युयोथाः' का अर्थ Exclude us not from कैसे हुआ यह समझ से परे की बात है। युयोथाः माने सम्बद्ध करना है 'मा युयोथाः माने तो हमें सूर्य के प्रकाश से दूर करो, हो जावेगा। और यहाँ 'मा शब्द का सम्बन्ध तो प्रथम चरण के 'मा आ एतु से है 'अर्वति, के माने "नीच दुष्ट लगाकर सारे मन्त्र के अर्थ को उलट दिया है। सूर्य तत्त्व तो अखिलब्रह्माण्ड की कामात्मा है। मित्र, वरुण, अग्नि (रुद्र) की चक्षु है। रुद्र की तृतीय चक्षु यही 'सूर्यस्य संदृशः' है। इससे काम भस्म की कथा रची गई है। तृतीय चक्षु तो स्वयं काम रूप है। यही काम ब्रह्म भौतिक ब्रह्माण्ड का प्रथम अंकुर है। प्रथम अंकुर का ही नाम चक्षु या आँख होता है। हमें उससे अलग नहीं, सम्बद्ध होना है। उसी से अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड का अग्रिम पीढियों का क्रमिक विकास 'प्रजाभिः प्रजायेमहि, सम्भव हो सकता है जिसका मध्यविन्दुः सूर्यसुत सोम या वीर है जहां से अर्वाङ् उत्तरार्द्ध की सृष्टि आरम्भ होती है। उसमें वह वीर क्षमता प्राप्त कर सके, यह प्रार्थना की गई है।

अध्याय—४८

द्वादश आदित्याः (विश्-गणत्वात्)

आदित्य शब्द अदिति से निकला है, अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं, सब देवता अदिति के पुत्र हैं, अतः वे सब आदित्य कहलाते हैं, परन्तु सब आदित्यों या देवताओं में देवताओं के एक गण का नाम आदित्य है। इस गण में १२ आदित्य आते हैं। इनके बारे में 'आदत्ते रसान् भौतिकात्मगुणान् अथवा आदत्ते भासं भौतिकात्मनः इति वा, अथवा 'ज्योतिषां रजसां आदीप्तः भासः' व्युत्पत्ति अधिक लाक्षणिक होगी, क्योंकि इनके स्थान से भौतिकता का प्रादुर्भाव होने लगता है और ऋ॰ वे॰ १-१०६-२ में इन आदित्यों को भूतदेवा या भौतिकात्मामय देवता भी निम्न वाक्य में कहा है। "त आदित्या आ गता सर्वतातये भूत देवा वृत्रतूर्येषु शंभुवः।" इसका समर्थन श॰ प॰ ब्रा॰ (१४।६-९-६) करते हुए लिखता है "तद्यादिदं सर्वमादाना यन्ति तस्मादादित्या इति" जिसे बृह॰ उप॰ २-९-५ में दुहराता है, इनको शम्भु और कल्याणकारी कहता है। और ऋ॰ वे॰ १०-९२-७, और ९वें मन्त्रों में 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः, सप्तभिः पुत्रैरदितिः—पुनः (परा) मार्ताण्डमाभरत्' वाक्यों में अदिति के जिन सात या मार्ताण्ड सहित आठ पुत्रों की चर्चा आई है, वे येही द्वादशादित्यों में से आठ हैं। इसका प्रमाण यह है 'ते हि पुत्रासो अदिते-र्विदुर्द्वेषांसि योतवे' (ऋ॰ वे॰ ८-१८-५)। ये सब भौतिकात्मा युक्त आदित्य हैं। इन आदित्यों में से मित्र, वरुण, अर्यमा, सूर्य, सविता, दक्ष, क्रतू, पूषा (ईशान), भर्ग, कश्यप, अंशः, गौः, पृश्निः, स्वः, नाक, विष्टप्, विवस्वान्, नभ आदि सब इनके ही नाम हैं। उदाहरण के लिए मित्रावरुणौ को 'आदित्या दानुनस्पती' (ऋ॰ वे॰ १-१३६-३) में आदित्य कहा है, मित्र को 'प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति' (ऋ॰ वे॰ ३-५९-२) से, अकेले वरुण को "अथा वयमादित्य व्रते तव···स्याम' (ऋ॰ वे॰ १-२४-१५) में कहा है, इसी प्रकार अन्यों के बारे में उनके सूक्तों में देखें। इन आदित्यों का स्थान २० वें तत्त्व से ३१ वें तत्त्व तक है। वसु देवता सात्त्विक सत्ता के प्रतिनिधि हैं, रुद्रदेवता तैजस सत्ता के, और आदित्य अत्यन्त तीव्र तैजसता युक्त हैं, पर इनमें भौतिकता का जाल या परदा है, अतः सबको सह्य होते हैं, इनमें प्रकाश और अन्धकार दोनों सम्मिलित हैं। जैसे काले शीशों में सूर्य प्रकाश छनता है वैसे ही भौतिकात्मा शरीर के अञ्जन में आदित्यों का प्रकाश छन कर धी रूप में प्रबुद्ध होता है। ये आदित्य बारहमहीनों के बारह सूर्य नहीं हैं वरन् दर्शन के १२ तत्त्व हैं, संवत्सर ब्रह्म के दर्शन चित्र के ही इनके बारह महीने कहे जाते हैं। ये हमारे इस पृथिवी के महीने नहीं हैं।

१—आदित्य शब्द की व्याख्या

द्वादशादित्यों के पृथक् सूक्त पाँच-सात हैं, वैसे मित्रवरुणादि सूर्य सविता के सूक्त भी इन्हीं आदित्यों के हुए। उक्त थोड़ेसे आदित्य सूक्तों में आदित्यों का वर्णन इस प्रकार मिलता है? ऋ. वे. २-२७ सूक्त में मित्र अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष और अंश को आदित्य नाम से पुकारते हुए इन्हें राजा और प्राणवान् (घृतस्नू) कहा है (मंत्र १)। चौथे मंत्र में इन्हें जगत्स्थादेवा भौतिक ब्रह्माण्ड का रक्षक, दीर्घ धी को धारण करते, असुर्य शक्ति सम्पन्न कृतवान् और त्रिपादमृतों के ऋणों को (गुणों को) अपने में समेटते हुए बतलाया है। सप्तम मंत्र में इन्हें राजपुत्रा अदिति के पालित और इनके पन्था (पूर्वार्द्धीय) को सुगम बतलाया है। अष्टम और नवम मंत्र में इन द्वादश आदित्यों को पूर्वार्द्ध और परार्द्ध दोनों में निवास करने वाला बतलाते हुए लिखा है कि ये आदित्य तीन द्यून् या पूर्वार्द्ध के त्रिपादमृतों और तिस्रोभूमी या उत्तरार्द्ध के तीन सप्तकों को धारण करने वाले और तीन व्रतवाले हैं। ध्यान रहे देवताओं के सात दिव (द्यून्) हैं और छह या सात भूमि हैं, ये सात सप्तकों के सूचक हैं जैसा कि देवाः शीर्षक में बतलाया जा चुका है। अतः पूर्वार्द्ध के तीन सप्तकों को हिरण्यवर्णीय 'त्री दिव्या रोचना' कहा है जो शुचि या पावक रूपी और अग्नि की ज्वालाओं की धाराओं से पवित्र हैं! ये आदित्य अस्वप्नज या सदा जाग्रत तत्त्व हैं, और सदा उन्मीलित खुली आखों वाले हैं' अतः अनमिषा कहा है। 'सप्त ऋषयः प्रति हिता शरीरे—अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ' के अस्वप्नज और सत्रसत् देव येही आदित्य हैं जिनमें त्रिपादमृत व्याप्त है। ११ वें मंत्र में इन आदित्यों को पूर्वार्द्धीय उत्तरार्द्धीय न कह कर क्रमसे सव्य दक्षिण तथा प्राचीन आदित्य और पश्चात् आदित्य नाम से पुकारा है, साथ में यह भी लिखा है कि इनमें वसु रूप बुद्धि पाक को प्राप्त होती है, इत्यादि। दो-चार मंत्र ये हैं

२—द्वादशादित्यों की व्याख्या

"इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥ १॥

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र च चारु॥
त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय॥ ९॥

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥ ११॥" इति

ऋ. वे. ७-५१, ७-५२ सूक्त भी आदित्यों के हैं। इनमें इनका सम्बन्ध वसुओं, द्यावापृथिवी और अङ्गिरसों से बतलाया है, तथा इन्हें विश्वेदेवा कहा है। ऋ. वे. ८-४७ और ८-६७ सूक्त भी आदित्यों के हैं। इनमें अन्य कोई विशिष्ट बात उल्लेखनीय नहीं है, केवल ८-६७ के १३ वें मंत्र में इन्हें पृथिवी (भौतिकताओं) का शिर बतलाते हुए लिखा

३—आदित्यों के सूक्त

है "ये मूर्द्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः। व्रता रक्षन्ते अद्रुहः।" और १६ वें मंत्र में इन्हें 'सुदानवः' विशेषण से युक्त पुकारा है

"शश्वद्धि वः सुदानव आदित्या ऊतिभिर्वयम्।
पुरा नूनं बुभुज्महे ॥

प्रथम मंत्र में इन्हें क्षत्रिय नाम से सम्बोधित करते हुए लिखा है "त्यान् नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान्याचिषामहे। सुमृळीकां अभिष्टये॥" एक विशिष्ट बात जो इन सूक्तों में मिलती है वह यह है कि मरीचि नामक मरुत् अग्नि (वैश्वानर) तथा अश्विनी और ऋभुओं को भी आदित्यों में गिना रखा है। जैसे "आदित्या विश्वे (मरीचि) मरुतश्च विश्वे देवाश्च विश्व ऋभवश्च विश्वे। इन्द्रो अग्निराश्विना तुष्टुवाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः (ऋ. वे. ७-५१-३)।" इसका समर्थन ऋ. वे. ७-१८-८ ७-१७-२०, ८-१८-९ मंत्र भी कहते हैं। आदित्यों के समय अपान वायु का विकास होता है। अतः इन्हें 'पायवः' भी कहा है (ऋ. वे. ८-१८-२)। ऋ. वे. ६-१०१,१५ में अदिति को आदित्यों की स्वसा (बहिन) बतलाया है। आदित्य भौतिक हैं, अतः इन्हें पशु और अश्व नाम से पुकारा गया है 'पशव आदित्या, (श. प. ब्रा. ७-१-१-७) 'आदित्यः अश्वः' (श. प. ब्रा. ७-२-४-१६) 'सविता पशुः' (३-२-२-१)।

यदि अदिति सर्वा देवता है तो आदित्य भी सर्वादेवता है। पर आदित्य एक वचन नाम प्रायः सूर्य (२५ वें) तत्त्व के लिए आता है। वहां पर इसको आदित्य इसलिए कहा है कि यह असुरों के लोक का आदान करता है अतः आदित्य है (तै. ३-९-२१-२)। यह आदित्य प्रजापति के रेतः को सर्वप्रथम उद्दीपित करता है, अतः इसे आदित्य कहते हैं (तै ३-३४)। यह प्रजापति का (द्वितीय) शिर है

४—आदित्य कौन-कौन कहलाते हैं

(ताण्ड्य ६-५-१)। विष्णु का शिर पतित हुआ तो यह आदित्य बना (श. प. ब्रा. १४-१०-१-१०)। पर्जन्य भी आदित्य है (गो. पू. ४-३)। अर्क भी आदित्य है (श. प. ब्रा. १०-६२-६) ज्योतिर्भुक् भी आदित्य है (ऐ. ७-१२)। यह आदित्य दूसरे शब्दों में अश्मा पृश्नि भी कहलाता है (शपब्रा. ९-२-३-१४)। इस आदित्य को अब्जा भी कहते हैं (ऐ. ८-२०)। यह आदित्य अश्व भी है (श. प. ब्रा. ६-३-१-२९)। त्रिपाद् इसके लोक हैं (गो. पू. २-२-७-९)। चक्षु भी आदित्य हैं, (श. प. ब्रा. ३-२-२-१६; जै. उ. २-२-३ गो. पू. ४-३)। ये आदित्य प्राणरूप हैं (ताण्ड्य १६-१३-२)। यह आदित्य यशः भी कहलाता है (श. प. ब्रा. ६-१-२-३; १४-१-१-३२) यह आदित्य स्वर्ग लोक है (तै. ३-७-१७-३)। आदित्य को भूतानां पति कहते हैं (ऐ. ब्रा. ७-१०)। यह सर्वतो मुख है, अन्नाद है, (श. प. ब्रा. २-६-३-१४)। आदित्य में सब ऋतुयें रहती हैं (पूरा दर्शन रहता है) (श. प. ब्रा. २-२-३-९)। आदित्य प्राण और घृत भाजन है (श. प. ब्रा. ६-६-१-११)। सब कुछ आदित्य है (श.प. ब्रा. ५-५२-१०) आदित्य ही प्रजा हैं (तै १-८-८-१)। ब्राह्मण सर्व पशु सब आदित्य हैं (तै. १-१-९-८; ताण्डय २३-१५-४; २५-१५-४)। आदित्यों का गर्भ ही पुरुष है (शपब्रा. ५-५-२-१७)

जैमिनीय ब्राह्मण (१-३६) ने आदित्यों की संख्या ४८ दी है जिससे यह सिद्ध होता है कि आदित्य केवल १२ ही नहीं वरन् प्रत्येक तत्त्व हैं। और इस प्रकार आदित्य देवता सर्वादेवता है। अतः ब्राह्मणों और उपनिषदों में प्रयुक्त आदित्य शब्द सर्वत्र सन्दर्भ की अपेक्षा रखता है कि वह कहां किस तत्त्व रूप आदित्य का संकेत किया जा रहा है। द्वादशादित्यों में भी यह समस्या सुलझानी पड़ती है। द्वादशादित्यों को भूतानां पति या भौतिकता बहुल कहते हैं।
महाभारत में द्वादश आदित्यों के निम्न नाम दिये हैं:—

(१) धाता (सूर्य) (२) अर्यमा (सोम) (३) मित्र (४) वरुण (५) अंशु (६) भग (७) विवस्वान् (८) इन्द्र (९) पूषा (१०) पर्जन्य (११) त्वष्टा (१२) विष्णु। ये सब चतुर्थ सप्तक के आदित्यों के ही नाम हैं।

वेदों में तीन विद्यायें हैं: अग्नि (ऋग्), वायु या प्राण (यजुः) और वाक् (आदित्य या साम)। इनमें आदित्यों का वर्णन भौतिकी परा वाणी के रूप में किया है। इस वाणी को 'गावः' या गायें बतलाया है और चतुर्थ सप्तक को व्रज। यह उत्तरार्द्ध में है, अतः कृष्ण है और कृष्ण स्वयं विष्णुरूप आदित्य है 'आदित्यानाम-हंविष्णुः' अतः ये आदित्य रूप गायें कृष्णरूप उत्तरार्द्ध की हैं। ऐ. ब्रा. ने स्पष्ट लिखा है 'आदित्या वै गावः, तथा स्वयं ऋग्वेद ने कई आदित्यों को गावः कहा है "गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः" (ऋ. वे. ६-२८)। इनका वाक् रूप वर्णन 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति ·····गावो यन्ति गोपतिं' और 'सोमं गावो धेनवो वावशाना', (ऋ. वे. ९-९-७-३४,३५) में दिया गया है। अन्यत्र जहां गायों का वर्णन है: उन सबका संकेत इन्हीं आदित्यों से किया गया है। जैसे "यद्वाग्वदति ·····परमं जगाम' (ऋ. वे. ९-२००-२७) और 'देवीं वाचं·····सुष्टुतैतु' (ऋ. वे. ९-१००-११) इत्यादि।

———

अध्याय ४९

ब्रह्मणस्पतिः और बृहस्पतिः, वाचस्पतिः तथा अङ्गिरसः

ब्रह्मणस्पति सब देवताओं में ज्येष्ठ देव हैं। इसका दूसरा नाम गणपति है, यह गणपति वही है जिसे कर्मकाण्ड में गणेश कहा जाता है। गणेश या गणपति दो हैं, आदि गणेश और मध्य गणेश। रुद्र और पार्वती पुत्र मध्यगणेश है, चतुर्थांश है, २४ वें से चौथा २८ वां पुरुष पशु का विकास रूप हस्ति रूप तत्त्व है। आदि गणेश ब्रह्म है (प्रथम सूत्र देखें)। जिन देवताओं को क्रमिक तत्त्वों के नाम से गिना जाता है उन सब में यह ज्येष्ठ या राजा के समान आदिभूत तत्त्व है। जैसे

१ — ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति के स्वरूपों का अन्तर

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥"

(ऋ० वे० २-२३-१)

अन्यत्र इसको तत्त्वरूप ५० ब्रह्मों का जनक बतलाते हुए लिखा है

विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि।"

(ऋ० वे० २-२३-२)।

यही ब्रह्मणस्पति 'सत्' सत्य तत्त्व है, सृष्टि का नयः या नायक या उन्नायक है, विकासक है, सृष्टिका मूलबीजभूत प्राण रूप है, सब का पूज्य और प्रार्थित है, युद्ध में सबसे बली है, यही ज्ञान चक्षु रूप है, यही भौतिक आत्मा का सर्जनहार है, यही स्थूल भौतिकता और मति रूप धन का दाता है, यही इस ब्रह्माण्ड का प्रकाश रूप देदीप्यमान सूर्य है, और लिखा है कि आकाश में जलता सूर्य तो वृथा ही तपता है जैसे

"स संनयः* स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः।
चाक्ष्मो यद्वाजं भरते मती धनाऽऽदित्सूर्यस्तपति तप्यतुर्वृथा॥"

(२-२४-९ ऋ० वे०)।

इस मंत्र के अनुसार इसे देवताओं का पुरोधा या पुरोहित कहा जाता है। क्योंकि पुरोहित शब्द के माने आदि प्राण होता है। इस शब्द की व्याख्या श० प० ब्रा० ने इस प्रकार दे रखी है।

---

*नयः शब्द को जैन लोगों ने अपने दर्शन का आदि तत्त्व आत्मा का गुण या धर्म नाम से पुकारा है, उसका स्रोत यही शब्द है।

"तदाहुः किं हितं किमुपाहितमिति प्राण एव हितं
वागुपाहितं प्राणे हीयं वागुपेव हिता प्राणस्त्वेव
हितमङ्गानि उपाहितं प्राणे हीमान्यङ्गानि उपेव हितानि।"

(६-१-२-१५)।

हित नाम प्राणों का है, जो आदि प्राण है उसे पुरः हितम्=पुरोहितं कहते हैं। और जिस तत्त्व में उक्त पुरोहितं या आदि प्राण है वही पुरोहित कहलाता है। अतः इसे देवताओं का पुरोहित या पुरोधा आदिप्राणवान् कहा जाता है; यह वैदिक अर्थ है, लौकिक अर्थ में यह तत्त्व देवताओं में सर्वाधिक ज्ञानवान्, विद्वान्, कवि और कर्मकाण्डी पुरोहित सा माना जाता है

'बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोधा' (श० प० ब्रा०) इत्यादि।

ब्रह्मणस्पति नाम इस प्रकार सर्वप्रथम उत्पन्न तत्त्व का है। यह 'मनोवाक्-प्राणानां' त्रिवृत् रूप तत्त्व है। अतः इस की पुरोहित नाम की व्याख्या में 'प्राणास्त्वेव हित मङ्गनि उपाहितं' लिखा है, ये अङ्गानि मनः प्राण और वाक् हैं। इन त्रिवृतीय तीनों को ब्रह्मस्वरूप उदधि से विकसित करने की बातें यह ऋचा कहती है

"बिभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत्"

(ऋ० वे० १०-६७-५)।

यह ब्रह्मणस्पतिः वही है जिसे एकदन्त गणेश या गणपति कहते हैं, गण नाम वसु, रुद्र आदित्यादि गणों का है, उनके ये पति हैं। जब यह गणपति रूप ब्रह्मणस्पति उक्त त्रिवृतीय तत्त्व में उपस्थित हो जाता है और आगे क्रमिक विकास पाता रहता है तब इसे विश्वेदेव ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति कहते हैं। ब्रह्मणस्पति की विकास परम्परा का नाम बृहस्पति है, इसलिए सूक्तों में ये दोनों नाम साथ साथ दिये हुए हैं। ब्रह्म विकास परम्परा में जो सात मुख्य ब्रह्मों का पति है उसे तो ब्रह्मणस्पति कहते हैं, जो क्रमिक ब्रह्मों में विकास पाता रहता है उसे बृहस्पति कहते हैं। इसी लिए बृहस्पति को भी आदि या प्रथम जन्मा कहा जता है

"बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि॥"

(ऋ० वे० ४-५०-४)

इस मन्त्र में बृहस्पति को 'सप्तास्य' या सप्तमुख ब्रह्मणस्पति रूप सप्तमुख्य ब्रह्मों के पति स्वरूप में बतलाया गया है, इसी का दूसरा नाम 'सप्तरश्मि' भी इसी में दिया है, सप्तरश्मि नाम ज्ञानप्रकाश स्वरूप ब्रह्म विकास पद्धति का है। इसी को निम्न ऋचा में इसे 'सप्तशीर्ष्णी', बुद्धिरूप बृहती या वाक् प्रकाश का प्रकट करने वाला (बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः बृह० उप०) तथा ऋत आदिब्रह्म से उत्पन्न कहा है और इसके चौथे मुख रश्मि या शिर को विश्वजन्य या भौतिक सृष्टि का मूल बीज (उक्थं) उत्पन्न करने वाला बतलाते हुए इस मुख का नाम 'अयास्य' या लौहमुख दिया है, जैसे

"इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥"
(ऋ० वे० १०-६७-१) ।

इस बृहस्पति रूप ब्रह्मणस्पति ने गुहा का आविष्कार किया जिसमें तीन मुख हैं, इनमें से दो से परे तीसरे में 'गाः' या आदित्यों का विकास किया और इस गुहा के आगे अनृत रूप भौमिकात्मा या भौतिकसृष्टि के (आरम्भ करने के लिए मध्य में) सेतु को बाँधकर अग्रिम तीन मुख्य ब्रह्मों का विकास किया जैसे

"अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥"
(ऋ० वे० १०-६७-४) ।

इस मंत्र ने भी ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति के सातों मुखों का वर्णन दे दिया है। यह ब्रह्मणस्पति सब देवताओं से परे है और त्वष्टा ने इसे 'साम' देवताओं या तृतीय सप्तक के ब्रह्मों के रूप में 'कविः' या बुद्धि या मनः का स्वरूप दिया। यह ब्रह्मणस्पति तीनों ऋणों का मूल स्रोत है, और उसी ऋण से, मूलधन से (ब्रह्म से प्राप्तधन से) वह महोरूप ऋत का धारण करने वाला तथा द्रोही आसुरी शक्ति का दैवी ज्ञान शक्ति से हनन करने वाला कहा गया है जैसे

विश्वेभ्यो हि त्वा देवेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः ।
स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि ॥"
(ऋ० वे० २-२३-१७)

जिनको सात मुख कहा है उन्हें सप्त सखि या हंस भी कहा है

बताया जा चुका है कि विश्वेदेवता वह है जिसका विकास भौतिकात्मा में वर्णित किया जाता है या जिसकी वर्णना नर नारी या प्राणी रूप में (भौतिकात्मा स्वरूप में) की गई है। बृहस्पति का भी वर्णन ऐसे रूपों में है, अतः इसको वैदिक ऋचा स्वयं वैश्वदेव्य नाम से पुकारती है जैसे—

बृहस्पते जुषस्व नो हव्यानि विश्वदेव्य ।
रास्व रत्नानि दाशुषे ॥"
(ऋ० वे० ३-६२-४)

यहां पर 'बृहस्पते' और विश्वदेव्य दोनों सम्बोधन बृहस्पति के लिए हैं। बृह० उप० ने० बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति की व्याख्या इस प्रकार उचित रूप से दे रखी है"

एष उ वै बृहस्पति र्वाग्वै बृहती तस्या एष पति स्तस्मादु बृहस्पतिः ।
एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥
(१-३-३-२०, २१)

ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति तत्त्व पञ्चपर्वा विद्या का प्रधान और आदि तत्त्व है। पञ्चपर्वा विद्याओं में सर्व प्रथम विद्या पर्वतविद्या या पर्व विद्या स्वयं है। इन पर्वतों या पर्वों का प्रथम भेदन या विकास करने वाला तत्त्व यही ब्रह्मणस्पति

या बृहस्पति है जिनका वर्णन पञ्चपर्वा विद्या में यथा स्थान यथारूप कर दिया गया है। कुछ उदाहरण यहां भी ले लीजिए।

"साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥"
(ऋ० वे० १०-६८-३)

"बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रिया पर्वतस्य त्मनाजत् ॥"
ऋ० वे० (१०-६८-७)

(इस सूक्त में बृहस्पति का पूर्णविकास दिया गया है, कुछ-कुछ ६७ में भी है)

"यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विवर्हज्मा प्राघर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥"
(ऋ० वे० ६-७३-१)

"तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम् ॥"
(ऋ० वे० २-२३-१८)

"यो नन्त्वान्यनमन्योजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि।
प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं वि पर्वतम् ॥"
अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पति र्मधुधारमभि यमोजसातृणत्।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥"
(ऋ० वे० २-२४-२,४)

पर्वत विद्या में सर्व प्रथम पर्वत हेमाद्रि पर्वत है जिसका संकेत ऋ० वे० १०-६८-१० में इस प्रकार दिया है

"हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥"

बहस्पति या ब्रह्मणस्पति की ऋतु शिशिर है। अतः इसप्रकार का वर्णन वेद वृक्ष की रीति से दिया है। बृहस्पति का सम्बन्ध अश्व, नक्षत्र, गावः, पितर, रात्रि अहः, अद्रि, वीर, नृ इत्यादि सबसे इस प्रकार दिया हुआ है

"अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधु र्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदग्दाः ॥"
इदमकर्म नमो अभ्रियाय य पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात् ॥"
(ऋ० वे० १०-६८-११,१२)

इसी अर्थ के मन्त्र २-२४-१, ४ में भी मिलते हैं

यहां तक कहा है कि बृहस्पति ने २५वें तत्त्व सूर्य को आदि तत्त्व ऋत के मधु रूप द्यौ से गर्त या योनि में उल्का की तरह फेंक दिया और उस अश्मरूप द्यौ से

'गा' तथा भौतिक तत्त्व रूप त्वचा (शरीर दिव्य शरीर) का भेदन या विकास किया जैसे—

"आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं विभेद ॥"

(ऋ० वे० १०-६८-४)

इसीप्रकार वात आदि का विकास किया (१०-६८-५) और जिह्वा या सरस्वती वाणी दी (१०-६७-६) । जिस इन्द्र को पर्वतों या नदियों का भेदन करने वाला वेदों में कहा गया है वह केवल इन्द्र ही नहीं है वरन् वह इन्द्राबृहस्पति या इन्द्राब्रह्मणस्पती तत्त्व है जैसा कि २-२३-१० ऋ० वे० के उक्त उद्धृत मंत्र से स्पष्ट है और निम्न सूक्त और मन्त्र इसका समर्थन करते हैं ।

ऋ० वे० ४-४९ सूक्त ७-९७ और ७-९८ में इन्द्राब्रह्मणस्पति और इन्द्राबृहस्पति देवताओं का वर्णन है (ऋषि वशिष्ठ हैं)

इन्द्राब्रह्मणस्पति और इन्द्राबृहस्पति

"प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।
यदेददेवीरसहिष्ठ माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य ।।"
तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत्पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ।।"
बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।

ऋ० वे० ७-९८-५—७

तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे ।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ।।"

ऋ० वे० (७-९७-३) ।

अस्मे इन्द्रा बृहस्पती रयिं धत्तं शतग्विनम् ।
अश्वावन्तं सहस्रिणम् ॥ ४-४९-४ ॥

"तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः स सत्वभिः प्रथमो गोषु गच्छति ।
अनभृष्टतविषि र्हन्त्योजसा यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।।"

(ऋ० वे० २-२५-४)

विश्वं सत्यं मघवाना.........अच्छेन्द्रा
ब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम् ।'

(२-२४-१२) इत्यादि ।

यही ब्रह्मणस्पति आदि समुद्र हैं जिसे नासदीय सूक्त

"तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥"

(१०-१२९-३)

मन्त्र द्वारा केवल अन्धकारमय नील सलिल ही सलिल रूप में सर्वतो व्याप्त रहता है

उसी की चर्चा उक्तसूक्तों में सं २-२३-१८ में ,'बृहस्पते निरपामौब्जोऽर्णवम्'' लिखा है और ऋ० वे० २-२५-५ मंत्र इन जलों का साक्षात्सम्बन्ध ब्रह्मणस्पति से बतलाता है जैसे

"तस्मा इद्विश्वे धुनयन्त सिन्धवोऽछिद्रा शर्म दधिरे पुरुणि।
देवानां सुम्ने सुभगः स एधते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः॥"

मंत्र २-२४-४ जो इस परिच्छेद के अन्त में दिया गया है, वह तो ब्रह्मणस्पति को ऐसी मधु की धारा सम बतलाता है जिसको सबने पिया, और वह ऐसे मधु के समुद्र रूप उत्स के समान है। ब्रह्मणस्पति का यह प्रथम समुद्र ही क्षीर सागर है और यहीं से हिमालय रूप ब्रह्मणस्पति से गंगा रूप ब्रह्मों का विकासोदय होता है। इस ब्रह्मणस्पति को रुद्र की तरह धनुर्धर भी कहा है। बृहस्पति धनुर्धर नहीं है, क्योंकि वह प्रत्येक तत्त्व में विकास पाता है ब्रह्मणस्पति सप्तकों के रूप में। जैसे

"ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पति र्यत्रवष्टि प्र तदश्नोति धन्वना।
तस्य साध्वीरिषवो याभि रस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः॥"

(ऋ० वे० २-२४-८)

इसके बाण साध्वी साधक हैं, मीठे हैं, रुद्र के बाण कुमार हैं

'यत्र कुमाराः सम्पतन्ति बाणाः'

इत्यादि (रुद्री)। ब्रह्मणस्पति के युजं युजं युद्ध है, संघर्ष है, विकास के संघर्ष हैं जैसे

"ऋतावानः.........ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि
नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हि तम्॥"

(ऋ० वे० २-२४-७)

यहां द्विपाद ब्रह्मों की दो अरणिरूप अश्मों के युजं संघर्ष से अग्निरूप जीवात्मा का उदय बताया है।

इसी ब्रह्मणस्पतिः का सम्बन्ध पणियों से है। जिस इन्द्र का सम्बन्ध पणियों से वर्णित किया गया है वह केवल इन्द्र ही नहीं वरन् इन्द्राब्रह्मणस्पति या इन्द्राबृहस्पति देवता हैं। जैसे

ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति का अन्य देवताओं से सम्बन्ध

"अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशु र्निधिं
पर्णीनां परमं गुहा हितम्।
ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ
आयन्तदुदीयुराविशम्॥"

(ऋ० वे० २-२४-६)

पणि सूक्त ऋ० वे० १०-१०८ में भी बृहस्पति का सम्बन्ध इन पणियों से बतलाया गया है जैसे—

"असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥"

(१०-१०८-६)

"दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनती ऋतेन।
बृहस्पतिं र्या अविन्दन् निगूल्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ॥"
(१०-१०८-११)

बृहस्पति का सम्बन्ध ओषधिः देवताओं से है। यह ओषधि शीर्षक में बताया जा चुका है। ऋ० वे० १०-९७-१५ आदि भी देखें। बृहस्पति का सम्बन्ध असत् और सत् रूप सृष्टियों से भी है जिसके आधार पर नासदीय सूक्त रचा गया है

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु (सोमायमानेषु) यः पश्यादुत्तरे युगे ॥
"ब्रह्मणस्पति रेता संकर्मार (लौहकार) इवाधमत्।
देवानां पूर्वे युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ॥
"देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। इत्यादि
(ऋ० वे० १०-७२-१, २, ३)।

यही बृहस्पति वाग्ब्रह्म का सर्वप्रथम स्वरूप प्रेरित, या उपस्थित करने वाला है जैसे—

"बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
बृहस्पति और वाक् यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-१)

"बृहस्पतिः समजयद्वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपःसिपासन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥"
(ऋ० वे० ६-७३-३)

ऐ० ब्रा० ३-३-३४ में स्पष्ट लिखा है कि बृहस्पति अङ्गिरस नामक अङ्गारों के उद्दीपन से उत्पन्न हुआ। यह चतुर्थ सप्तक का विश्वेदेवा बृहस्पति है

"पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्"

और श० प० ब्रा० ने पूषा, भगः और बृहस्पति की कथा में बृहस्पति को सविता का समकक्ष बताया है। पूषा ने चरु खाया तो अन्धा बना, भग ने खाया तो दन्त-हीन हो गया।

'पूषाऽन्धइति भगोऽदन्तकः।'

बृहस्पति वृषभ भी है और इन्द्रा बृहस्पति रूप में वृत्रादि का बध भी करता है
(ऋ० वे० ७-७६ १, २) (वृषभ शीर्षक भी देखें)।

यह वृषभ भी शब्द ब्रह्म का ही स्वरूप है जिसको 'चत्वारि शृङ्गा' इत्यादि ऋचा के समान यहां 'वृषभो रोरवीति' कहा है। यह शब्द-ब्रह्म का ही रोरवण है। इसीलिए लिखा भी है

'बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण'

कि बृहस्पति त्रिपादामृतों (त्रिषधस्थ) में रव या शब्द ब्रह्म स्वरूप में रहता है
(ऋ० वे० ४-५०-१)

और दूसरे मंत्र में उक्त वृषभ को "अनानुद" वृषभ या अत्यन्त रव कारी कहा है

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं.......... ।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पते....... ।।

(ऋ० वे० २-२३-११)

इसे ऋण या बीजरूप में सत्य भी कहा है। इस प्रकार यह ब्रह्मणस्पति अनेक प्रकार की उक्त विद्याओं के तत्त्वों में क्रम से विकसित होता है जिसे ब्रह्मणस्पति का युज या युद्ध या विकास कहा जाता है, जिसका प्रथम स्वरूप अग्नि (मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत्) और ब्रह्मा (वसु) तदनन्तर अन्य क्रमिक तत्त्व हैं जैसे

"इन्धानो अग्निं वनवद्वनुष्यतः कृतब्रह्मा शूशुवद्रातहव्य इत् ।
जातेन जातमति स प्र सर्सृते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।।"

(ऋ० वे० २-२५-१)

वेदों में दो शब्द बड़े विचित्र हैं (१) वीर और (२) तोकं तनयं। इस बात का स्पष्टीकरण इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग करके निम्न ऋचा कर देती है। वीर नाम सप्तकों के मुख्य ब्रह्मों का है और उनका है जिन्हें महर्षि, प्रजापति, या सदधिष्ठाता कहा जाता है, तोकं तनयं इन मुख्य ब्रह्मों के विकासों का नाम है, विशेषकरके उत्तरार्द्ध के भौतिक तत्त्व सोम और सोम के विकासों का। जैसे

"वीरेभिर्वीरान्वनवद्वनुष्यतो गोभी रयिं पप्रथद्बोधति त्मना ।
तोकं च तस्य तनयं च वर्धते यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ।।"

(ऋ० वे० २-२५-२)

जब विकासों के क्रम को युज या युद्ध कहा जाता है तब इन तत्त्वों को 'वीर' शब्द से पुकारा जाता है। ब्रह्मणस्पति को 'अश्मास्य' कहा है, अश्म माने अश्रु या रस होता है

"एष वै यशो यदश्रुसंक्षरितमासीत्सो अश्मा पृश्निरभवत् ।
अश्रुर्हवै ते तमश्मेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः ।।"

(श० प० ब्रा० ६-१-२-३)

अतः 'अश्मास्यं' (ऋ० वे० २-२४-४० में) का अर्थ 'रसमुख' 'रसमयः) ब्रह्मणस्पति होता है। सोम भी अश्म या ग्रावाण है, वह भौतिक रस ब्रह्म है जिसका विकास अभौतिक ब्रह्मणस्पतिक, अश्म या रस ब्रह्म से ही होता है। 'यशः' नाम ब्रह्म का ही है। "यस्य नाम महद्यशः" (यजुः ३२-३)

'अर्वाग्बिलश्चमसऊर्ध्वबुध्नो तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् ।'

(अथर्व बृह० उप०) अब

"अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पति र्मधुधारमभि यमोजसातृणत् ।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ।।"

ऋ० वे० (२-२४-४)

का अर्थ ठीक बैठेगा कि वह ब्रह्मणस्पति रस रूप शब्द ब्रह्म है, मधुधारा वाला है

जिस धारा को उसने मनोवाग्प्राणानां त्रिवृत् के ओज में विकसित किया (अतृणम्)। उसी समय मधुधारा को अगले सब विकासीय तत्त्वों ने पिया या विकसित किया, वह उत्स वा उद्गम रूप समुद्र समान जल या आपः है, उसी से सारी सृष्टि सिञ्चित या विकसित या रक्षित होती है, वह तेजास्विता में स्वर्ग की चक्षु या सूर्य सा भी बन जाता है।

वाचस्पति नाम ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति के एक विकास का है, यह वह विकास विन्दु है जब ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति आध्यात्मिक सृष्टि पूरी करके—पूर्वार्द्धीय सृष्टि रचना समाप्त करके—उत्तरार्द्ध की भौतिक सृष्टि में प्रथम पग रखता है। यह स्वरूप भी शब्दब्रह्म या वाग्ब्रह्म या भौतिक शब्दब्रह्म का है। इसको विश्वकर्मा नाम से भी पुकारा जाता है। विश्वकर्मा वह वाग्ब्रह्म है जो आध्यात्मिक सृष्टि के आधार पर भौतिक ब्रह्माण्ड को नाना रूप देने में समर्थ होता है। अतः विश्वकर्मा सूक्त (ऋ. वे १०-८१-७) कहता है।

वाचस्पति

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥"

कि वाचस्पति नामक भौतिक शब्दब्रह्म स्वरूपी विश्वकर्मा को अपनी भौतिक (वीज़) समृद्धि के लिए आहूत करता हूँ; वह मनोजुव या सूर्य नामक मनोब्रह्म या काम ब्रह्म स्वरूपी या भौतिकात्मा युक्त है। वह हमारे समस्त विकासों का आस्वादन करनेवाला है (हवनानि विकासानि) और इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रसमय भूमि या आत्मा है और इस प्रकार की आत्मा वाला सदा साधुकर्मा इसलिए है कि वह इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रक्षा करता है। यही भाव अथर्व १-१-२ के मंत्र में मिलता है।

"पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरामय मय्येव तन्वं मम॥"

यहाँ 'मनसा देवेन सह ऐहि' का अर्थ 'सूर्य रूप काम ब्रह्म या मनोब्रह्म के साथ आवो' है और प्रार्थना की गई है कि मुझे मेरा ही शरीर मेरे इसी स्वरूप में प्रदान करो, क्योंकि आप हमारे शरीर रूप धनों के पति या रक्षक है उन्हें छुटकारा दो, विकास पाने दो। इसी प्रकार का भाव ऋ. वे. १०-६८-८ की ऋचा

"अश्नापिनद्धं मधुपर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्वि रवेणा विकृत्य॥"

देती है जिसका अर्थ इस प्रकार है। बृहदारण्यक ने भौतिक सृष्टि के प्रथम उदीयमान स्थिति का वर्णन देते हुए लिखा है कि जिस समय इसका उदय हुआ अखिल आध्यात्मिक सृष्टि इस भौतिकात्मा रूप स्त्री से सम्पूरित या आवृत हो गयी, एक प्रकार से इसने आध्यात्मिक पूर्वार्द्धीय सृष्टि को निगल सा लिया। अतः यहाँ पर उस स्थिति को 'अश्नापिनद्धं' कह रहे हैं कि जिस आध्यात्मिक पूर्वार्द्धीय सृष्टि

को इस प्रकार पूर्ण आच्छादित करके निगल या ढक सा लिया, तब आध्यात्मिक सृष्टि के मधु रसमय शब्द ब्रह्म को दीन मछली की तरह बन्द रसमय ब्रह्मसागर में नष्ट होते देखकर, बृहस्पति ने उसी भौतिकाच्छादन के सृष्टि वृक्ष में बैठकर जैसे बड़े भयंकर शब्दध्वनि शंखध्वनि करके उस मछली के समान आध्यात्मिक तेज को प्रकट करने के लिए उस भौतिक आच्छादन को ढकने की तरह खोल दिया (और उसके दो पाट हो गये, पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक चमस, उत्तरार्द्ध में भौतिक चमस बन गया)। वाचस्पति तत्त्व यथार्थ में स्पष्ट शब्दों में २४ वां अत्रि नामक ॐकार तत्त्व है। बृह. उप. ने अर्वाग्बिल वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' में वाणी को अष्टमी तत्त्व और 'अत्रि' तत्त्व कहा है वह 'अत्तीत्ति' अत्रिः वाक् कहा है। अत्रि की व्याख्या में 'अत्रि' शब्द की निरुक्ति 'अत्रत्यात्' इति अत्रिः, दी है, वह भी वाणी के गर्भस्राव सम्बन्ध में। वाचस्पति विश्वकर्मा है, विश्वकर्मा को 'चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो' (ऋ वे. १०-८२-१ में) कहा है, चक्षुः नाम सूर्य का है यह सर्वविदित है। उसका पिता अत्रि ही है, अत्रि अग्निरूप मित्ररूप और वरुणरूप है। अतः वाचस्पति नाम अत्रि का ही है।

अध्यया ८०

अङ्गिरसः

अङ्गिराः या अङ्गिरस नामक तत्त्व भी न तो वाचस्पति के पर्य्याय या प्रतिनिधि हैं न ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति के। अङ्गिरस नाम के तत्त्वों का नाम ऋषि है, ये गिनती में सात हैं। जैमिनीय ब्राह्मण (१-३१) ने इनकी संख्या २८ दी है जिसमें ये सर्वादेवता से लगते हैं। इन्हें नवग्व और दशग्व नामों से भी पुकारा जाता है। इन्हें दिवस्पुत्र या उषा माता तथा दिवः पिता के दिवनामक तृतीय सप्तक के पुत्र तथा दिव नामक तृतीय सप्तक के पश्चात् उदय होने वाला बताया गया है जैसे—

अङ्गिरसः

"अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसोनॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः
चिदुर्वशीरकृपन्वृधे चिदर्यउपरस्यायोः ॥"

ऋ. वे. ४-२-१५

उषा और दिव के तृतीयसप्तकान्त में होने से ये चतुर्थ सप्तक के ठहरते हैं। चतुर्थ सप्तक का नाम नृषद्, नरः, मानवः, मनुष्य है। अतः इन्हें इन नामों से भी पुकारा जाता है। तृतीय सप्तक का नाम जातवेदाग्नि है। अतः इन्हें अग्निपुत्र भी कहा जाता है। इनका जन्म दक्षिणायन में होता है। अतः इन्हें पूर्वार्द्ध के दैवीतत्त्वों या देवों के पुत्र या देवपुत्र भी कहते हैं। इनको सर्वत्र विरूप या विशिष्ट रूप, पृथक्-पृथक् रूप वाले या कुरूप भी कहा गया है, यह कुरूपता भौतिकता की है। इनका विशद वर्णन ऋ. वे. १०-६२-१ से ६ तक के मन्त्रों में निम्नरीति से दिया गया है। "ये यज्ञेन (विकासे) दक्षिणया (उत्तरार्द्धे) समक्ता (नियुक्त हैं) इन्द्रस्य संख्यममृतत्वमानश (इन्द्र सख्य इनका त्रिपादामृत है)।

तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।
(मानव—चतुर्थ सप्तकीय रूप धारण करो) ॥१॥
य उदाजन् पितरो गोमयं वव्वृतेनाभिन्दस्परिवत्सरे वलम्।
(उत्तरार्द्ध में, पूर्वार्द्ध के एक वर्ष बाद उत्पन्न हुए, पितर और गोमय कहलाते हैं)।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥२॥
य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि।
(ऋत ब्रह्म से सूर्य तत्त्व का आरोहण २५ वें तत्त्व में किया और आदित्यों तथा भौतिक तत्त्वों का विकास किया)।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥३॥
अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।
(इनका जन्म नाभि चतुर्थ सप्तकादि से होता है)।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥४॥

ये अग्नेः (जातवेदाग्नेः) परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरसस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥६॥
विरूपास इदृषयस्त इद्गंभीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥५॥

ठीक इसी प्रकार का वर्णन ऋग्वेद के अन्य सूक्तों में तथा अन्य वेदों में भी इन ऋषियों का मिलता है, उदाहरण के लिए ऋ. वे. ३-५३-५ से १० तक में लीजिए:—

"परा याहि मघवन्नाच याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो रासभस्य ॥५॥
अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणी र्जाया सुरणं गृहे ते।
यत्रा रथस्थ बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥६॥
इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ॥७॥
रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मूहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनुतुपा ऋतावा ॥८॥
महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः ॥९॥
हंसा इव कृणुथ श्लोकमद्रिभिर्मदन्तो गीर्भिरध्वरे सुते सचा।
देवेभिर्विप्रा ऋषयो नृचक्षसो वि पिबध्वं कुशिकाः सोम्यं मधु ॥१०॥
इत्यादि ॥

यहां पर अङ्गिरस ऋषियों को भोजा नाम से पुकारा गया है। आसन्दी में भोजों का स्थान दक्षिण दिशा में निश्चित किया गया है (ऋचो अक्षरे देखें), वही स्थान इन्हें ऋ. वे. १०-१०७-११ भी देता है जैसे—

"भोजमश्वाः सुष्टुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता ॥"

यह पूरा सूक्त दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध के तत्त्वों का वर्णन भोज नाम से कर रहा है। लोगों ने यहाँ आये 'दक्षिणा' शब्द का अर्थ ब्राह्मणों को दी जाने वाली पैसे, टके, वस्त्र, गौ, अश्व आदि की दक्षिणा (दान) समझ कर बड़ा भारी धोखा खाया है। दानीय दक्षिणा का यहाँ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसका निराकरण यह ऋचा कर देती है।

दक्षिणा

"तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥"
(ऋ० वे० १-१०-१०७-६

क्या आर्य लोग उसी को ऋषि, ब्राह्मण, यज्ञकर्ता' सामगा, उक्थ-शासक, शुक्रज्ञ और तीन वेदों का ज्ञाता समझते थे जो पहिले ही दक्षिणा को ठहरा लेता था? नहीं, यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि "वही ऋषि है, वही ब्राह्मण है, वही यज्ञकर्ता है

वही सामगा उक्थशासक और शुक्रज्ञ तथा तीनों वेदों का ज्ञाता है जो 'दक्षिणा' पथ या उत्तरार्द्ध की सृष्टि का अच्छा ज्ञाता है।" क्योंकि उसमें महत्वपूर्ण तत्त्वों का विवेचन है। इन दो भागों को, ऋ. वे. १-६२-७ में 'द्विता वि वव्रे सनजा सनीले' से दो भाग करने की बात लिखी है साथ में चार नदियों का भी वर्णन है 'मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः' (ऋ. वे. -६२-६)।

ये अङ्गिरस ऋषि पितरों में गिने गये हैं। ऋ. वे. १०-१४ सूक्त पितरों और यम का है। उसमें भी इन अङ्गिरस ऋषियों का वर्णन ठीक पूर्वोक्त शैली के अनुसार इस प्रकार दिया हुआ मिलता है।

अङ्गिरस और पितर "मातली कव्यै र्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।

यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयाऽन्ये मदन्तिः ॥३॥
इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व ॥४॥
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिः यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य ॥५॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥६॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभि र्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥७॥
...इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥१५॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥८॥"

इन मन्त्रों में मातली या इन्द्र पक्ष में इन तत्त्वों को कव्य काव्य या भृगवः कहते हैं, यम विकास पक्ष में इन्हें अङ्गिरस कहा जाता है, और बृहस्पति के विकास पक्ष में इन्हें 'ऋक्व' नाम से पुकारा जाता है। ऋक्व नाम मरुतों का है जिसका स्पष्ट प्रमाण ऋ. वे. ५-५२-१ का मंत्र।

"प्र श्यावाश्व धृष्णुयार्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः।
ये अद्रोघमनुष्वधं श्रवो मदन्ति यज्ञियाः ॥"

है। इसमें ऋक्व शब्द मरुतों का विशेषण स्पष्टतया है। बृहस्पति का विकास वायु या मरुत या विद्युत्स्वरूप में होता है। विद्युत् मरुत् रूप है। अतः 'ऋक्वभिः' मानें 'विद्युद्भिः' बैठता है।

"संविद्युता दधति वाशति त्रितः स्वरन्त्यापोऽवना परिज्रयः ॥२॥
विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः ॥
(ऋ. वे. ५-५४-२, ३)

इनके अन्य नाम भी हैं जैसे अङ्गिरसों को नवग्व और दशग्व भी कहते हैं (१०-६२-६ और १०-१४-६)। भृगुओं या काव्यों को सोम्या या सोम्यासः नाम से

भी पुकारा जाता है क्योंकि इनका सम्बन्ध इन्द्र और सोम से है। भृगु को वरुण का पुत्र कहा है। वरुण २४ वां तत्त्व है जैसे 'भृगुर्वै वारुणिः' (ऐ. ब्रा. ३-३-३४) । इस भृगु की उत्पत्ति वरुण के विकास वैश्वानर से बताई गई है (वहीं) । इनके अतिरिक्त वैदिक नाम प्रतिसप्तक को एक वेद के नाम से पुकारने में इन चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों को 'अथर्वाण' नाम से पुकारा जाता है, प्रथम तीन पादों या त्रिपादामृतों के तत्त्वों को क्रम से ऋक यजुः और साम कहते हैं।

('तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' पु. सू.)

इस सूक्त के सप्तम और अष्टम मन्त्र बड़े महत्व के हैं। ये दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को दो 'पथ्या' या पन्था नाम से पुकारते हुए उत्तरार्द्धीय उक्त तत्त्व रूप पितरों से प्रार्थना करते हैं कि वे पूर्वजों और 'पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः' 'पूर्वेभिःपथिभि': या पूर्वार्द्धीय तत्त्वों के पथ्या या भाग (उत्तरायण) की ओर अपने दक्षिणायन से चलें जहाँ वे पहिले उस राजा यम फिर उस राजा वरुण का दर्शन कर सकेंगे जो (दोनों), स्वधा के आनन्द में भरपूर मग्न हैं। तब यम के साथ या संयम के साथ इष्टापूर्त द्वारा तुम परमे व्योमन् या आदि ब्रह्म को प्राप्त हो सकोगे। इष्टापूर्त पूर्वार्द्ध में उत्तरार्द्ध का क्रमिक लय योग है। वहां फिर जो कुछ भी त्रिपादामृतीय तथा उत्तरार्द्धीय निम्न स्वरूप (अवद्य) रह जायगा उसे भी उस आदि ब्रह्म में अस्त कर दो और वहाँ मात्र वर्चस्वी तेजस्वी शरीर में मिल जावो।

बृहदारण्यक उपनिषद् ने 'अङ्गिरस' शब्द की निरुक्ति इसीलिए बिलकुल वैज्ञानिक दर्शनानुसार देते हुए लिखा है

अङ्गिरस शब्द की व्याख्या

"सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वाऽङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति एष हि वा अङ्गानां रसः" और श. ब्रा. ने पुनः लिखा है "अङ्गारेभ्योऽङ्गिरसः समभवन्" (४-५-१-८) । गो. पू. (३-४) ने लिखा है कि जो अङ्गिरा है वही रस है 'येऽङ्गिरस स रसः' और इसी ने यह भी लिखा है कि वरुण ने तप किया तो उसके अङ्गों से जो रस निकला वही अङ्गिरस हुए (१-७)। श. प. ब्रा. ने पुनः लिखा है कि अङ्गिरा नाम प्राणों का है (६-१-२-२८) 'बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः' अर्थात् आङ्गिरस नाम के तत्त्व अङ्गरूप प्राणों के रस के समान हैं। इसमें 'अङ्गानि' नाम चतुष्पाद् ब्रह्म के प्रथम चार पादों या चरणों का है जिन्हें सप्तक भी कहते हैं। अतः सातों सप्तकों में से प्रथम चार को तो अङ्गानि कहा जाता है और अन्तिम तीन सप्तकों को पक्ष पुच्छानि जैसे 'चत्वार्यमून्यङ्गानि आत्मा त्रयः पक्ष पुच्छानि' (श. प. ब्रा. ६-१-२-९ ; ६-१-१-६; १०-२-२ पूरा भी देखें)। इसका विशद वर्णन 'चतुष्पाद्ब्रह्म' शीर्षक में किया जा चुका है, वहां देख लें। इस उद्धरण में प्राणा और अङ्गानि नाम चतुष्पाद् ब्रह्म रूप आत्मा के हैं, उसके रस रूप ये आङ्गिरस ऋषि तत्त्व चतुर्थ सप्तक के भौतिक ब्रह्म या भौतिक शब्द ब्रह्म की रसमयता का संकेत करते हैं।

चतुर्थ सप्तक का नाम भौतिक पर्वत है, मौञ्जवान्, मूजवान् (मूजवतोऽतीहि इत्यादि) नामी पर्वत हैं। यह सोम पर्वत है, इसीलिए ६-७३-१ में बृहस्पति को अद्रिभित् और आङ्गिरस कहा है, अद्रिभिद्बृहस्पति ही आङ्गिरस सोमरस रूपी पर्वत है। २-२३-१८ में इस कथन की पुष्टि करते हुए 'बृहस्पति ने 'गवां (आदित्यानां)' या गाय रूप आदित्यों के गोत्र या पर्वत रूप अङ्गिरसों की सृष्टि की' करके लिखा है। दोनों उद्धरण पहिले दे दिये गये हैं फिर पढ़ लें। ऊपर उल्लिखित १०-१४-४ मंत्र में 'इमं यम प्रस्तर मा सीदाऽङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः' का 'प्रस्तर' भी यही अद्रि या सोम रूप भौतिक पर्वत है। इन अङ्गिरस ऋषियों का वर्णन इन्द्र सूक्त ऋ. वे. १-६२-२ से ७ तक ने दिया है उसे भी देख लें।

'अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥'

(अथर्व) के सम्बन्ध में पहिले बतलाया जा चुका है कि यहां उल्लिखित वाक् अत्रि या वाचस्पति है, और उनके साथ वर्णित सात ऋषि यही अङ्गिरस ऋषि हैं। इन ऋषियों के नाम बृह. उप. ने क्रमशः दे रखे हैं।

"इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्नि-रिमावेव वशिष्ठकश्यपावयमेव वशिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः" (बृह. उप. ४-२-४)।

ऐ. ब्रा. ३-३-३४ में लिखा है कि वैश्वानर से तृतीय देदीप्यमान आदित्य से जो अङ्गार निकले उन्हीं को अङ्गिरस या अङ्गारा कहते हैं "अथ यत्तृतीयमदीदेवत आदित्या अभवन्येऽङ्गारास्तेऽङ्गिरसोऽभवन्यदङ्गाराः" यहीं पर बृहस्पति को इन्हीं अङ्गिरसों के अङ्गारों से उद्दीप्त अग्नि बतलाते हुए लिखा है "पुनर वशान्ता उददीप्यन्त तद्बृहस्पतिरभवत्" (वहीं)।

अध्याय ५१

विश्वकर्मा वाचस्पतिः

विश्वकर्मा देवता या तत्त्व न केवल वेदों में ही एक मुख्य तत्त्व है अपितु पुराणों तथा लौकिक संस्कृत में भी इसकी बड़ी महिमा मानी गई है। विश्वकर्मा देवता या तत्त्व का सीधा सम्बन्ध विश्व या भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना से है। यह तत्त्व वेदों तथा पुराणादिकों में नाना रूपों में वर्णित किया गया है। जब इस तत्त्व को केवल निर्माण कारण रूप में, नाना रूपों में निर्माण रचना करने वाले व्यक्ति के समान वर्णित करते हैं तब इसे विश्वकर्मा कहते हैं, जब इसे कुम्भकार की तरह घट-घट (व्यक्ति व्यक्ति) के निर्माता के रूप में वर्णित करते हैं तब इसे कुम्भकार की तरह घट घट (व्यक्ति व्यक्ति) के निर्माता के रूप में वर्णित करते हैं और कुलाल या घृतमत्कुलायी कहते हैं। जब इसे गायत्री के चतुष्पादों के अनुसार विश्वस्य कर्ता कहते हैं तब इसे चतुर्मुख ब्रह्मा कहते हैं, प्रत्येक मुख एक-एक पाद का प्रतीक है जो क्रमिक सप्तक हैं जिनसे क्रम से ऋक् (स्वर) यजुः (दीर्घ स्वर) साम (प्लुत और अनुनासिक स्वर) तथा अथर्व ऊष्माणादि विकसित होते हैं। अतः इस ब्रह्मा के चार मुख रूप चार पादों से क्रम से चार वेद निकलने की गाथा—तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि अक्षरशः वैज्ञानिक दार्शनिकता पूर्ण है और शतप्रतिशत सत्य है। विश्व शब्द की व्याख्या 'विश्वेदेवता' शीर्षक में दी जा चुकी है वहीं देख लें। इतना स्मरण अवश्य दिलाना है कि वैदिकों ने विश्व शब्द का प्रयोग संज्ञा रूप में सदा भौतिक सृष्टि के लिए ही किया है, सर्वनाम अर्थ में तो सर्वनाम ही है जैसे—

विश्वकर्मा की नानारूपता

'विश्वा जातानि परि ता बभूव'

(ऋ. वे. १०-१२१-१०)

जब इस विश्वकर्मा को पालन कर्ता रूप में वर्णित करते हैं तो इसे चतुष्पाद् की जगह चतुर्भुज विष्णु कहते हैं, जब ब्रह्मचारी या गायत्री ब्रह्मचारी रूप में वर्णित करते हैं तब इसे वामन कहते हैं। जब इसे पञ्चात्मा (ब्रह्म रुद्र इन्द्र वरुण सोम) रूप में या रौद्र रूप में वर्णित करते हैं तब इसे पञ्च मुख रुद्र भी कहते हैं इत्यादि। इसका नाम शब्दब्रह्म सरणि में वाचस्पति है यह तो वाचस्पति शीर्षक में बतलाया जा चुका है। इसका निश्चित स्थान कौन है इसका निर्णय ऋ. वे. १०-८२-१, २ मन्त्र कर देते हैं जिसमें लिखा है कि यह विश्वकर्मा देवता चक्षुः रूप सूर्य (२५ वें तत्त्व) का पिता है, अतः २४ वाँ (अत्रि-नामक) तत्त्व है और प्रजापति है (श. प. ब्रा. ७-४-२-५), संवत्सर है (ए. ४-४२), आदित्य है (कौ. ५-५)। इन्द्र ने जब वृत्र को मारा तब वह विश्वकर्मा बना (ऐ. ४-२२)। यजुर्वेद १३-५८ और श. प. ब्रा.

८-१-२-९ में विश्वकर्मा को तात्त्विक ऋषि तथा वाग् नाम से घोषित करते हुए लिखा है कि यह अखिल ब्रह्माण्ड वाक् (ब्रह्म) ही से उत्पन्न होता है। अतः वाक् नामक इस तात्त्विक ऋषि को विश्वकर्मा या विश्वकर्ता कहते हैं जैसे—

विश्वकर्मा ऋषि रिति।

वाग्वै विश्वकर्मर्षेर्वाचा हीदं सर्वं कृतं भवति तस्माद्विश्वकर्मर्षिः ॥"

यह वाणी परावाक् है जिसकी कथा वाक् शीर्षक में दी जा चुकी है वाक् रूप में यह विश्वकर्मा तत्त्व प्रजापति है अतः लिखा है।

"वाग्वै प्रजापतिः प्रजापतिर्वै वाक्"

(श. प. ब्रा. ५-१-५-६)

इसकी पुष्टि में इसे अङ्गिरस सात ऋषियों से परे भी कहा गया है "यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः।" (ऋ. वे. १०-८२) अङ्गिरस ऋषि वाचस्पति के विकास हैं यह अङ्गिरस ऋषि शीर्षक में बताया जा चुका है। इस सरणि से भी इसका स्थान २४ वाँ ही बैठता है। इस सम्बन्ध में विश्वकर्मा देवता के दो उपलब्ध सूक्तों का संक्षेप में अर्थ दे देना आवश्यक है क्योंकि लोगों ने इस देवता को भलिभाँति समझ ही नहीं पाया है, सब गोलमाल कर रखा है।

विश्वकर्मा के बारे में एक इतिहास भी है। कहा जाता है कि विश्वकर्मा भौवन नाम के एक ऋषि थे, राजा भी थे। उन्होंने सर्वमेध यज्ञ में सर्वस्व हवन कर दिया, अन्त में अपने शरीर की भी आहुति दे दी।

विश्वकर्मा का इतिहास

विश्वकर्मा देवता का नाम उन्हीं राजर्षि की पुण्य स्मृति में रखा गया है। इस सूक्त के ऋषि भी वही हैं। इस इतिहास का उल्लेख ऋ. वे. १०-८१-१ में ही स्वयं दिया गया है। ये राजर्षि आर्यों के पूर्वजों में से एक थे। उन्होंने ऐसा दार्शनिक आदर्श उपस्थित करके अपनी और आर्यों की कीर्ति अमर कर दी। सूक्त में दार्शनिक तत्त्व रूप विश्कर्मा का उक्त ऋषि से तादात्म्य कर दिया गया है जिसे समझने में गड़बड़ी का अनुभव नहीं करना चाहिए। इतिहास तो इतना ही है कि उक्त नाम के ऋषि ने सर्वमेध करके सर्वस्व हवन करके अपना भी हवन कर दिया, बस। शेष सब देवता का वर्णन है। विश्वकर्मा देवता भी अपना हवन या परिवर्तन करके सृष्टि को अग्रसर करता है।

ऋ. वे. १०-८१—(१) जिस सर्वमेधी सर्वहोता राजर्षि ने सर्वमेध में इस अखिलब्रह्माण्ड के अखिल भुवनों को हविरूप में अर्पण करके, स्वयं उस अग्निवेदी में हविरूप में बैठ गया, वह मनमें सोमरूप द्रविण या शक्ति की इच्छा करता हुआ, नये रूप से नाना नूतन स्वरूपों (भौतिकरूपों) को प्राप्त हो गया। (२) वह कौन सा मौलिक अधिष्ठान (आधार भूत तत्त्व) था और वह कैसा तथा कितना छोटा या बड़ा था जिससे विश्वचक्षु स्वरूपी विश्वकर्मा ने अपनी महिमा या शक्ति से द्यावा-पृथिवी का निर्माण किया। (द्यौ तो आध्यात्मिक थी उसे भी भौतिकता से मढ़ा

और भौतिकता को तो सम्पादित किया ही)। (३) वह विश्वकर्मा, सर्वतोश्चक्षु-रूप (सर्वतो अङ्कुर रूप) था सर्वतोमुख था जहाँ से चाहो वहीं से बोल सकता था, वह सर्वतोबाहु था कहीं से भी काण्ड रूप में विकसित हो सकने वाला था, किसी भी ओर वृद्धि को पा सकने में समर्थ होने से सर्वतोपाद भी था, वह प्रथम दो सप्तकों के प्राणों की धौंकनी से जीवित सा प्रतीत होने लगा (सं बाहुभ्यां धमति), तथा पतत्र या सुपर्ण या सोम द्वारा उसने द्यावाभूमि को केवल एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म देवता स्वरूप में निर्मित कर दिया। (४) वह कौन सा बन था जिसमें यह सृष्टिवृक्ष उगा ? वह सृष्टिवृक्ष कैसा था ? जिसमें द्यावाभूमि रूप दो यमल फलों का निर्माण हुआ। इस विषय में वैदिक दार्शनिकों ने गम्भीरतया प्रश्न किये या विचार किया जिसका परिणाम यह निकला कि वह वन या वृक्ष वह है जो इस व्यक्त भौतिक ब्रह्माण्ड के नाना भुवनों (लोकों गोलों) का अधिष्ठाता तत्त्व या मौलिक आधारभूत तत्त्व (पञ्चात्मा) है। (५) विश्वकर्मा के चतुष्पाद रूप चार मुख्य धाम हैं, प्रथम धाम परमाणि धामानि है जिसमें आठ धाम या तत्त्व हैं, द्वितीय पाद मध्यम धामानि हैं इसमें भी सात धाम या तत्व हैं, तृतीय पाद अवम धाम है इसमें भी सात धाम या तत्त्व है, तथा चतुर्थ धाम (इमा) ये भौतिक धाम हैं, हे विश्वकर्मन् तुम हमें सब ऋषियों (सखिभ्यो) को इन सबका यथार्थ ज्ञान उपलब्ध होने दो और स्वयं हविरूप या सोमरूप में अपनी स्वधा या शक्ति या आध्यात्मिकता से सुरक्षित होकर, अपने आप वृद्धि पाते हुए दिव्य शरीर का विकास करो। (६) हे विश्वकर्मन् सोमरूप हवि से स्वयं वृद्धि या विकास को प्राप्त होते हुए द्यावाभूमी का विकास भी साथ साथ करो, और लोग तो सृष्टि के इस प्रकार के विकास की पद्धति को न जानकर चारों ओर से एकदम अन्धकार में पड़े रह जाते हैं, हम लोगों का पथ प्रदर्शक तत्त्व तो मघवा इन्द्र नामक तत्त्व तथा मघवा नाम का कोई ज्ञानी ऋषि है जिसने हमें यह ज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान दिया। हम आज शब्द ब्रह्म स्वरूप (भौतिक) विश्वकर्मा को, जो हमारी कामना (काम या इच्छा) का मूल बीज है, इस यज्ञ या ज्ञान विकास परम्परा या कर्मकाण्ड के अभिनय में प्रार्थना के लिए आहूत करते हैं, वह हमारी अखिल हवियों को स्वीकार करता है। वह सबकी रक्षा के लिए सबका कल्याणकारी दैवी भौतिक दिव्य शरीर है, अतः सदा साधुकर्मा है।"

ऋ. वे. १०-८२-१—(१) चक्षुरूप सूर्य का पिता, कामरूप बुद्धि से युक्त, विश्वकर्मा ने प्राणरूप पूर्वार्द्ध की आध्यात्मिक सृष्टि या पूर्व सृष्टि को, जिसका कोई मान (प्रमाण परिमाण) नहीं था, उसके ओर छोरों तक को दृढ़ कर दिया, फिर उस पूर्व आध्यात्मिक द्यावापृथिवी को भौतिकात्मा का खोल पहिना कर नवीन स्वरूप में विकसित किया। (२) वह विश्वकर्मा, आद्विहाया या व्याप्त स्वरूपी और विमना या विभूतमना), त्रिपादामृत को धारण करने वाला धाता तथा नवीन सृष्टि को करने वाला विधाता है, वह चक्षुषः पिता होने से सम्पूर्ण अग्रिम विकासों का द्रष्टा (संदृक्) तथा भौतिकता का परम या आदि तत्त्व है। इसकी विकसित नवीन

सृष्टियाँ चतुर्थ सप्तक के आपों (जलों) की रसमयता से आनन्दमयी बनती हैं, उन नवीन सृष्टियों के प्रथमावतार अङ्गिरस आदि सात ऋषि रूप तत्त्व हैं जिन सबसे इस विश्वकर्मा को प्रत्येक या आदि का तत्त्व कहते हैं। विश्वकर्मा २४ वें से ही अङ्गिरसादि सप्तऋषियों का विकास आरम्भ होता है। (३) इस प्रकार जो विश्वकर्मा हमारा पिता है, जनक है, विधाता है और आठों धामों (षडष्टकों) का तथा अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का दिव्यशरीर ज्ञान रूप आत्मा है, जिससे देवताओं के पृथक्-पृथक् नाम मिलते हैं, वह एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म स्वरूप 'सम्प्रश्न' या नाना-रूपाकारों का मूल बीज रूप है, उसीसे निखिल व्यक्त ब्रह्माण्ड के गोल अपने-अपने स्वरूपों को व्याप्त करते हैं। (सम्प्रश्न=सम्यग् सर्वतः पृश्निः रूपबहुलः 'पृश्नि इति रूप नाम') । (४) वे पूर्व ऋषिगण (अङ्गिरसादि सप्त) विकास पद्धति में द्रविण रूप सोम का यजन या विकास करते हुए असुरूप (असूर्ते सूर्ते) दोनों प्रकार के मर्त्यामर्त्य प्राणों को भौतिकात्मा में सन्निविष्ट करके, इस अखिल ब्रह्माण्ड के आदि भूत तत्त्वों की रचना कर गये। (५) विश्वकर्मा तत्त्व से बहुत-बहुत पहिले, दिव नामक सप्तक से भी बहुत पहिले, इस भौतिकात्मा रूप सोम से भी बहुत पहिले, देवता रूप पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की सृष्टि से भी पहिले, तथा दैवीरूप आसुरी सृष्टि से भी बहुत पहिले, कःप्रजापति ने कम् या आपो ब्रह्मरूप ने सबसे पहिले ब्रह्म को अपने गर्भ या गुणों में धारण किया या लपेट लिया, उस गर्भ में समस्त अग्रिम विकासीय तत्त्वरूप देवता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लग गये थे कि उन्हें कभी विश्वेदेवता का रूप (भौतिक रूप या विश्वकर्मा का रूप) मिल जायेगा। (७) " इसके पश्चात् पूर्वार्द्ध की सृष्टि का विकास हो जाने पर उस अजब्रह्म को २४ वें तत्त्व की नाभि या विश्वकर्मा रूप भौतिकात्मा के खोल का आधार मिल गया जिसमें अखिल ब्राह्मण्ड के भौतिकरूप का मूल बीज उपस्थित हो चुका था।" (८) जिसने इस विश्वकर्मा का विकास इस भौतिक स्वरूप में पृथक् रूप में किया है उसे (जानना हँसी-खेल नहीं है; कठिन है) सब नहीं जान सकते। क्योंकि इन दोनों में ही बहुत बड़ा भारी अन्तर है। इन दोनों का व्याख्यान नीहार (कुहरे) के अन्धकार से घिरा है। अतः सृष्टि के स्रोत के खोजी, उसकी व्याख्या प्राणरूप में आत्मा (पञ्चात्मा) रूप में करके तृप्त होते हैं, इसी को सर्वत्र (जल्प्य) कहना उचित है। यही श्रेय और प्रेय मार्ग है। वैदिक व्याख्यान ही जल्प्य या कथनीय है। शेष 'कः' में देखें।

———

अध्याय ८२

देवता और विश्वेदेवाः

ऋग्वेदादि विश्वेदेवों में प्रायः उन्हीं देवताओं की स्तुतियों की पुनरुक्ति मिलती है जिनकी प्रार्थना पृथक्-पृथक् सूक्तों या मन्त्रों में की गई है। तब प्रश्न उठता है कि इनकी इस प्रकार पृथक् सामूहिक प्रार्थना करने का क्या आशय है? यदि ये वेही तत्त्व हैं जिनकी प्रार्थना पृथक्-पृथक् की गई है तो उनके सूक्तों का संक्षिप्त संस्करण कर इनकी प्रार्थना क्यों नहीं की गई? इनका यह स्वतन्त्र विधान और स्वतन्त्र नाम विश्वेदेवः क्यों रखा गया? बड़ी कठिन समस्या है।

१—देव और विश्वेदेव में अन्तर

स्पष्ट बात यह है कि 'विश्वेदेवाः' नाम उन तत्त्वों का है जो चतुर्थ पाद या सप्तक में भौतिक स्वरूप को सर्व प्रथम धारण कर लेते हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय पाद के जो तत्त्व चतुर्थ सप्तक में 'पूषा' नाम या 'आत्रेय सम्पद्' नाम को धारण करते हैं उन्हें विश्वेदेवाः कहते हैं। प्रथम तीन पादों में वसु, रुद्र और आदित्य आते हैं। इन्द्र, रुद्रों और आदित्यों का अभेद है। अन्तिम चार रुद्र और आदि के आठ आदित्य इन्द्र नाम से पुकारे जाते हैं। अग्नि तो सभी देवताओं का नाम है, विशेषकर प्राणाग्नि; वसुरग्नि, परिजातवेदा, जातवेदा या अतिथि। प्रथम तीन सप्तकीय अग्नियों के नाम हैं। वायु भी ४९ हैं; सूर्य और चन्द्र या सोम तो आदित्यों के भेद हैं, चतुर्थ सप्तक के ही तत्त्व हैं। विष्णु यद्यपि सर्वादेवता है फिर भी यह आठवाँ आदित्य या सोम का प्रतिनिधि है। इसी प्रकार रौद्री शाखा में 'महोदेवो वृषभो रोरवीति' महोदेव नामक तत्त्व भी सोम का ही प्रतिनिधि है, ईशान सूर्य का और ब्रह्मणस्पति तो आदि तत्त्व है, परन्तु यह तत्त्व विकास पाकर चतुर्थ सप्तक में बृहस्पति या अङ्गिरस कहलाता है, इसीलिए 'बृहस्पति वृषभो रोरवीति' भी (बृहस्पति देखें) कहा गया है। तार्क्ष नाम सूर्य का है, अरिष्टनेमि सोम (ओषधिः) का, वायस (सुपर्ण द्वितीय) भी सोम ही है। गय नाम अत्रिरूप प्राणाग्नि का 'मनः' है। ऋभु नाम के तत्त्व भी ३१ वें से ३४ वें तक के हैं। भग नामक तत्त्व तो २७ वां है, अदिति तो सर्वादेवता है पर चतुर्थ सप्तक की अदिति ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। 'अष्टौ पुत्रासो अदितेः' में अदिति के आठ पुत्र प्रथम आठ आदित्य कहलाते हैं। इन आदित्यों का नाम भी अदिति है, अतः इसे 'स्वसादित्यानां' कहा है। दक्ष, २४ वें अत्रि का पूर्वार्द्ध है, क्रतु उसी का उत्तरार्द्ध। इन्हीं को क्रम से मित्र और वरुण भी कहते हैं। मित्रावरुण या दक्षक्रतू का परिणाम अर्यमा में होता है, वही सूर्य बनता है। सरस्वती का उद्भव २४ वें पूषा (अष्टपशु) से होता है। पृथिवी नाम चतुर्थ सप्तक और उत्तरार्द्ध का है। द्यौ आदि तत्त्व है, वही इस चतुर्थ सप्तक में भौतिक पृथिवी बन

जाता है। पर्वत नाम प्रत्येक पर्वीय तत्त्व का है। बड़े पर्वत सप्तक हैं, प्रथम तीन महापर्वत आत्मीय हैं, चतुर्थ सप्तक में वे भौतिक या ग्रावाण या पारदर्शी तत्त्व स्फटिक दिव्यशरीरी सोम में परिणत हो जाते हैं। अतः इस ग्रावाण को सोमसुत कहा गया है, यह औषधि रूप है, अतः इसे मयोभुव या स्वास्थ्यरक्षक कहते हैं। अश्विनी, २५ वां तत्त्व है, सोम २६ वाँ है, पूषा का नाम पायुः रक्षिता या अपान है, प्राण, उदान, समान की उत्पत्ति प्रथम तीन सप्तकों में हो जाती है। वृद्धश्रवा इन्द्र सोम का प्रतिनिधि है। पृश्निमातर नाम गावः का है। गावः आदित्यों की प्रतिनिधियाँ हैं। मनु नाम सप्तकों के आदि ब्रह्मों का है, पर प्रथम भौतिक मनु का नाम विवस्वान् है, २७ वां पुरुषपशु है। इस प्रकार प्रथम चार सप्तकों के तत्त्वों का चतुर्थ सप्तकीय विकास विश्वेदेवाः कहलाता है। इसीलिए जै. ब्रा. (१-३२) ने विश्वेदेवताओं की संख्या ३२ दी है। विश्वेदेवताओं की सबसे उत्तम व्याख्या ऋ. वे. ३-५५ 'महद्देवानामसुरत्वमेकं' के टेक वाले सूक्त में मिलती है जिसमें मुख्य विश्वेदेवताओं का विशिष्ट वर्णन दिया गया है, पढ़ना आवश्यक है।

वेदों में 'विश्व' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं स्थलों में किया गया है जो विश्वेदेवों से सम्बन्ध हैं। 'विश्वं' माने 'विशिष्टाः विशेषणरूपेण स्वाः श्वाः (शुनः) प्राणाः यस्मिन् तत् 'विश्वम्' भौतिकं (ब्रह्माण्डीयम्) दिव्यं शरीरम्। इसकी पुष्टि में जै. उ. (३-३-६) ने लिखा है 'तदन्नं वै विश्वं प्राणो मित्रम्'; यहां पर विश्व को अन्न या भौतिक कहा है।

२—विश्वशब्द का अर्थ

इसीलिए पुरुषसूक्त ने 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' में प्रथम त्रिपादों को दिवि में और चतुर्थ पाद को 'विश्वाभूतानि' या भौतिक तत्त्वानि' नाम से पुकारा है। इसी प्रकार—

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः'

में भी यह 'विश्वतः' चक्षु मुख पाद वाला तत्त्व भी इसी चतुर्थ भौतिक सप्तक के सोमवाची तत्त्व का वर्णन करता है। यही बात

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'

मन्त्र भी इसी सप्तक के सोम या विष्णु तत्त्व के व्याख्यान में कहता है। क्योंकि चक्षु या पाद या शिरों में 'सहस्रता' यहीं से उत्पन्न होती है, यद्यपि सोम तक सब तत्त्व एक में सहस्रत्व रखते हैं। 'चक्षुः' तत्त्व तो (अक्षि भी) इसी सप्तक का २९ वां सूर्य तत्त्व है इसमें तो सन्देह की गुञ्जायश ही नहीं है। सविता तत्त्व सोम या विष्णु नामक २६ वें तत्त्व का वाची है; अतः उसकी प्रार्थना में भी 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, 'यद्भद्रं तन्न आसुव' में सविता से 'विश्वानि दुरितानि' या भौतिकानि दुरितानि को दूर करने और भद्र गुणानि प्रथम तीन सप्तकीय त्रिपादमृत को देने की प्रार्थना की गई है। जिस प्रकार—

'अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥'

में प्रथम तीन सप्तकों को तीन भाई कहा है, पलित, होता और घृतपृष्ठ (विश्पति सप्तपुत्र) तृतीय सप्तक पूर्वार्द्ध है, मध्यम अश्नन् २५ वां तत्त्व है और वाम नाम पूर्वार्द्ध का है, दक्षिण उत्तरार्द्ध का। यजुर्वेद ने प्रथम चार सप्तकों को क्रम से बन्धु, सुबन्धु प्रियबन्धु और विश्वबन्धु नाम से पुकारा है और इस विश्वबन्धु को प्रथम तीनों ने मारा ऐसा लिखा है। यह विश्वबन्धु भौतिक तत्त्वीय चतुर्थ सप्तक है जिसे बन्धन के कारण शत्रु या भ्रातृव्य भी कहते हैं, शूद्र जाति का भी। श्राद्ध में कुश के चार ब्राह्मण बनाये जाते हैं, इसे पार्वण श्राद्ध कहते हैं। ये चार ब्राह्मण चतुष्पाद् ब्रह्म के प्रतीक हैं जिनमें से एक का नाम विश्वेदेव, अन्य तीनों का पितृ, मातृ माता-महीय ब्राह्मण होता है। ये तीन तो प्रथम त्रिपादमृत के प्रतिनिधि होते हुए विश्वेदेव रूप चतुर्थ सप्तक के भौतिक पिण्डों के सूचक हैं। भौतिक शरीर शूद्र कहलाता है, अतः विश्वेदेव को उन तीनों से भस्मरेखा द्वारा भौतिक दीवार द्वारा पृथक् (शूद्रतया) रख दिया जाता है। हमारी स्मृतियों और पुराणों में जो 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते' कहा गया है उसका तात्पर्य भी यही है कि हम अपने भौतिक शरीर में उत्पन्न होकर शूद्ररूप में शूद्रतत्त्व रूप के भौतिक शरीर में जन्म लेते हैं। और—

"आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥"

के अनुसार हममें आचार्यत्व ब्रह्म का है, पितृत्व प्रजापति का, मातृत्व पृथिवी देवी और चतुर्थसप्तक का है और भ्रातृत्व भग देवता का विभाजित स्वरूप जो दोनों भाइयों का एक सा है। देवताओं का सोमपान इसी भौतिक तत्त्वमय शरीर का धारण करना कहलाता है। चन्द्र नाम, इसी सोम का भौतिक दिव्यशरीर है। उसकी क्षीण कला पितरों की है क्योंकि पितृतत्त्व सोम या चन्द्र की प्रथम कला या मनः कलारूप शरीर धारण करते हैं अथवा यह कहना चाहिए कि वे सूक्ष्म भौतिक मनः शरीर ग्रहण करते हैं। इसीलिए मनोरूप कृष्णपक्ष पितरों को प्रिय हैं। देवता तत्त्व उत्तरोत्तर वृद्धिगत सोम या चन्द्र के स्थूल शरीर हैं। अतः वे शुक्लपक्षप्रिय कहलाते हैं। विश्वकर्मा, वैश्वानर, विश्वावसु, विश्वश्रवा, विश्वामित्र, इत्यादि विश्व विशेषणपूर्वक जितने नाम हैं वे जहाँ पर तत्त्ववाचीरूप में प्रयुक्त किये गये हैं वे सबके सब चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का निर्देश करते हैं। इसी प्रकार ऋ॰ वे.(१-५०-१) 'उदुत्यं जातवेदसं दृशेविश्वाय सूर्यम।' में विश्वशब्द भौतिक सृष्टि का वाचक है। दशम मण्डल के 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' सूक्त में इन्द्र को उत्तरायण या पूर्वार्द्ध का विकसित देवता तथा 'विश्व' भौतिकता से पूर्व उदीयमान या अभौतिक तैजासात्मीय तत्त्व बतलाया गया है न कि इस लौकिक जगत् से परे। 'विश्वस्मात्' माने भौतिकात्, भौतिकता से परे का तत्त्व है, वह अपनी तैजसात्मा से इस भौतिक दिव्यशरीर को प्रकाशित करता है या वृत्ररूप स्थूल भूतीय अन्धकार का नाश करता है। यही बात निम्न ऋचा के विश्वशब्द में पाई जाती है।

"विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वशुरो ना जगाम।
जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात् स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥"
(ऋ वे. १०-२८-१)

विश्वकर्मा सूक्त में 'सतो वन्धुमसति निरविन्दन्' इसी रहस्य का उद्घाटन करता है। दाशराज्ञ युद्ध में भरता अर्भकाः' शब्द विश्वामित्र के अनुयायियों के लिए आया है, वह इसी चतुर्थसप्तक का निर्देश करता है। वसु प्रथम पादीय तत्त्व है पर जब उनका विकास चतुर्थ सप्तक तक पहुँच जाता है तब वे विश्वावसु कहलाते हैं। विश्वामित्र माने विश्वरूप भौतिक अमित्र शत्रु है, मित्र २४ वां शुद्ध तत्त्व है। अमित्र, मित्र का विकास रूप भौतिक तत्त्व है। इसी प्रकार विश्वावसु की भी निरुक्ति वैदिक निरुक्ति कहलायेगी। पाणिनि का 'मित्रे चर्षौ' सूत्र वैयाकरणीय अवैदिक व्युत्पत्ति देता है। वैदिक व्याकरण दूसरी वस्तु थी। वह देवताओं या तत्त्वों के नाम और रूपों की व्याख्या करता रहा। अतः वैदिक दर्शन का प्रमुख अंग कहलाता था। इसीलिए "नामरूपे व्याकरवाणि" वाक्य कहा गया है। अब इस प्रकार के वैदिक व्याकरण रूप व्याख्या या भाष्य का सर्वथा लोप हो गया है कहीं नामोनिशान तक नहीं है।

३ विश्वेदेवता कौन-कौन

विश्वेदेवाः तत्त्वों में वरुण भी दो हैं, पहला आदि अभौतिक वरुण, दूसरा भौतिक। दूसरे की बात बताई गई है, प्रथम आपोब्रह्म का देवता है। जिस अक्षरब्रह्म को सलिल, आप, समुद्र आदि के नाम से पुकारा गया है वही आपोब्रह्म है। जब इसका विकास भौतिकता में सम्पन्न होता है तब इसे मित्रावरुण कहते हैं। विश्वानर या वैश्वानर अग्नि भी भौतिक अग्नि है। आदि अग्नि ब्रह्म है। जब इसका पूर्ण विकास भौतिक अग्नि में २६ वें सोम नामक तत्त्व में होता है तब इसे वैश्वानराग्नि कहते हैं। यह अग्नि सौम्य भागीय अग्नि है। इसमें आसुरी भौतिक भाग वृत्र की चिता लगाने की कथा दी गई है (वृत्र देखें)। भस्मधारीरुद्र की श्मशान भूमि वही वैश्वानराग्नि की चिता है और उनके शरीर में प्रलिप्त भस्म इसी भौतिक तत्त्व के दैवी स्वरूप का चूर्ण या भस्म है।

४ विश्वेदेवताओं की व्याख्या

'विश्वेदेवाः' में देवताओं का अधिक व्याख्यान है। क्योंकि इनकी भावना नर-नारी रूप में की गई है। इस भावना की सिद्धि के लिए यह विश्वेदेवीय चतुर्थ सप्तक 'नृषद्' नाम से या नरसद् नाम से पुकारा जाता है। नृषद् माने नरों की गोष्ठी या सप्तक होता है। शिव, विष्णु, इन्द्र, सोम, आदि जितने देव हैं उनमें से प्रत्येक को या सरस्वती, दुर्गा (पार्वती) सती, लक्ष्मी, ब्रह्मा आदि को नर रूप में या नारी रूप में वर्णित करना उक्त नृषद् नाम की सिद्धि करता है। नारायण नाम भी इसीलिए पड़ा है। इस चतुर्थ सप्तक को 'समुद्र' कहते हैं, नर माने जल होता है। नर-नारी (प्राणी) का जन्म जल (वीर्यविन्दु के जल) से होता है, इसीलिए गीता ने यह कहा है कि

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'

यह मानुषी तनु इसी सप्तक की मादुष रूप मानुष या नर तनु है जिसे जो अपठित तत्त्व का पर्याय न समझ कर सचमुच में मनुष्य देहधारी समझते हैं, वे मूर्ख हैं। यह चतुर्थपाद है। अतः प्रत्येक विश्वेदेव को चतुर्भुज या चतुर्मुख या चतुष्पाद् ब्रह्म रूप में वर्णित किया गया है। त्रिनेत्र रुद्र त्रिपादमृत है, यही त्र्यम्बक है, यही त्र्यायुष है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गाथा वैज्ञानिक और पारिभाषिक रहस्य से भरी है। विष्णु की शेषशय्या वृत्ररूप अहि के भौतिक शरीर को आधार बनाना या स्वीकार करना है। शेष के शिर में पृथिवी का होना इस शेष पर ही पृथिवी की सृष्टि को बढ़ाने का बोझा है, हमारी पृथिवी का नहीं, अखिल ब्रह्माण्ड के भौतिक सृष्टि रचना का पूर्णभार इसी वृत्ररूप भौतिक तत्त्व अहि या शेष के सिर में है। इसमें अनन्त बीज हैं, वे क्रमशः विकसित होंगे। अतः इसे अनन्त या सहस्रमुख कहते हैं। कितना वैज्ञानिक और पूर्ण दार्शनिक विवेचन है। इसकी आजकल मखौल उड़ाई जाती है। पर वैदिकों ने इस विषय पर सन्देह हीन भाषा में लिखा है कि विश्वेदेवता अवतरणीय अविता और नर रूप धारण किये देवता से वर्णित किये गये हैं। ये उत्त-रोत्तर सवन या प्रसवन देते या करते रहते हैं जैसे—

"ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥"
(ऋ० वे० १-३-७)

शाकपूणि ने ठीक लिखा है "यदेव विश्वलिङ्गम् तद्वैश्वदेवं" कि जो अखिल ब्रह्माण्ड का मूल प्रतीक (लिङ्ग) व्यक्त या भौतिक तत्त्व है उसे वैश्वदेव कहते हैं। जिन सूक्तों में एक से अधिक देवताओं का वर्णन है उन्हें विश्वेदेवता सूक्त कहते हैं पर अभितष्टेव (ऋ. ३-३८) इन्द्र सूक्त कई देवताओं का वर्णन करता है पर इन्द्र सूक्त ही कहलाता है। अतः इसे एक लिङ्ग सूक्त कहते हैं। जो ऐसे बिना नाम के सूक्त हैं जैसे १०-१०६ उन्हें अलिंग सूक्त कहते हैं। ऋ० वे० ८-२९ में 'बभ्रुरेको' इत्यादि भी अलिंग सूक्त हैं।

कहां तक कहें। जिसको 'धृतमत्कुलायी' या कुलाय ब्रह्म कहते हैं वह भी विश्वेदेव ही है, भौतिकता युक्त ब्रह्म है। यही सरस्वती का पिता और पति कह-लाता है। यहां सरस्वती ही भौतिकता है जो इसी ब्रह्म से

५—कुलाल ब्रह्म

उत्पन्न होती है (२४ वें पूषा नामक तत्त्व से) और यही इसका पति भी है, कोई अनोखी बात नहीं। अपनी बनाई या रची या ली हुई वस्तु का सब कोई पति और पिता कहलाता है। यहां जनकत्व मात्र पितृत्व है, द्रष्टृत्व या भोक्तृत्व मात्र पतित्व; हमारे पारिवारिक लौकिक जनक पतित्व का यहां कोई सम्बन्ध नहीं है। सरस्वती सौम्य भागीय देवतत्त्वीय भौतिकता या प्रकाशमय भौतिकता है। अतः यह अन्धकारमय भौतिकतारूप वृत्र की हन्त्री कही गई है। ध्यान रहे भौतिकता सदा दो प्रकार की होती है, सौम्य और आसुरी। प्रथम को सोम द्वितीय को असुर या वृत्र या अहि आदि दानवीय नामों या कामों से

पुकारा जाता है। सौम्यभाग प्रकाशमान् दिव्यशरीरी है। आसुरी भाग की स्थूल सृष्टि आसुरी है। जिसके प्रत्येक अंश में एक प्रकाशमय दिव्यशरीरी परत है उसी को सोम या देवता या आत्मा या ज्ञान (भौतिकात्मा दिव्यशरीर) के आधार या नाम से पुकारते हैं। त्रिपादमृत की प्रकाश किरणें इस सोम (चन्द्र) रूप दिव्यशरीर में पड़ती हैं, तब यह दिव्यशरीरी सोम या चन्द्र हमारे भीतर-बाहर सार्वजनीन रूप में अधिक प्रकाशित या अधिक प्रकाश करता है। इसी प्रकाश में स्थूल भौतिकी असुर रूप देहों, पिण्डों, गोलों और प्राणियों की दिनचर्या चलती है। इसीलिए सोम का इतना महत्त्व है। सोम आधार के बिना किसी भी जड़-चेतन में प्रकाश या ज्ञान की उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती, यह नितान्त निश्चित है। और हमारा यह अखिल ब्रह्माण्ड या गोल या देह इसी सोमात्मा से प्रकाशित परत का या कुलाल ब्रह्म का परिवर्द्धित शरीर है। यही अधिक प्रकाशित और प्रकाशमय दिव्यशरीर ही विश्वानर या वैश्वानराग्नि कहलाती है जिसकी चिता या प्रकाश में उसीसे परिवर्द्धित परिविकसित स्थूल भौतिकशरीर नित्य जलता या जीवित या ज्ञानमय बना रहता है। यह न हो तो समस्त ब्रह्माण्ड अन्धकारमय हो जाय। आधुनिक सांख्य वालों ने इस सोमात्मा ग्रावाण देवता को स्फटिक शिला और त्रिपादमृत को पुरुष कहकर प्रथम को जड़, द्वितीय को चेतन मान रखा है। स्फटिक-शिलामय सोम स्वयं चैतन्यमय और प्रकाशमय है। त्रिपादमृत उसमें अधिक प्रकाश कर उसमें सार्वजनीनता, विश्वबन्धुता, विभुता और व्यापकता लाता है।

६ भौतिकता का आरम्भ

भौतिकता वैसे दो प्रकार की बतलाई जा चुकी है, सोमभागीय और आसुरी। सोमभागीय प्रकाशित प्रकाशमय परत का अभ्युदय भी आध्यात्मिक भौतिकता से होता है। अतः अब भौतिकता तीन प्रकार की हो गई; सोमीय, आसुरी और आध्यात्मिक। पर यह आध्यात्मिक भौतिकता भी तीन प्रकार की है। इसे त्रिपादमृत कहते हैं। ये आध्यात्मिक भौतिकतायें अमर हैं, अमृत हैं, विभु हैं और व्यापक हैं। वे इतनी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हैं कि अनिर्वचनीय सी हैं। सूक्ष्म भौतिकात्मा का नाम तैजसात्मा (मन) है, सूक्ष्मतर भौतिकात्मा का नाम जीवात्मा (रुद्र) है और सूक्ष्मतम भौतिकात्मा का नाम अक्षर ब्रह्म है या खं ब्रह्म है। इस अक्षर ब्रह्मरूप भौतिकात्मा के सूक्ष्मतम स्वरूप में अखिल ब्रह्माण्ड के गोलों, मण्डलों, ग्रहों, उपग्रहों, जड़-जीवों के उसी प्रकार के अतितम सूक्ष्मतम बीज समिध या अक्षर या विभक्ताविभक्त रूप में एकमय होकर 'मधु' की तरह रहते हैं। शुद्ध बुद्ध ब्रह्म इस अक्षरब्रह्म का आधार है, एकमय होकर रहते हैं, एक से होकर रहते हैं। अक्षर ब्रह्म के बीज पुरुष कहलाते हैं, वे ब्रह्म में सो जाते हैं या मिल जाते हैं, एक प्राणमय हो जाते हैं, एक अणोरणीयान् महतो महीयान्, बिन्दु बन जाते हैं। अब ध्यान रहे, अक्षरब्रह्म चेतनचेतनों का बीज होने से सचेतन और सर्वकर्म कर्तृत्व क्षम है। यहां का कोई अंश अचेतन हो ही नहीं सकता, सब विभु, व्यापक, चेतन और अमृत हैं। शुद्धब्रह्म में किसी भी स्थिति में कभी कोई भी किसी भी प्रकार का विकार

नहीं आता, जो कोई विकार या विकास होते हैं वे सब अक्षरब्रह्म में ही आते हैं। इस अक्षरब्रह्म का नाम अव्यक्त है

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्' (गीता)

इसी परमगति का नाम प्रलय की अन्तिम श्रेणी या रेखा है।

'सा काष्ठा सा परा गतिः।'

इसी का नाम पुरुष है।

'पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ)।

इसी का नाम प्रकृति है या प्रकृतिपुरुष है। प्रकृति नाम पुरुष से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। प्रकृति माने—

'प्रकर्षेण सूक्ष्मतमेन रूपेण कृतिः सत्ता, कस्य ऋतेः कृतिः स्थितिः'

अक्षरब्रह्म की सूक्ष्मतम स्थिति का नाम प्रकृति है। ध्यान रहे यह तो आद्या प्रकृति है, सांख्य की नहीं; 'कः' नाम अक्षरब्रह्म का है। शंकराचार्य ने भी प्रकृति शब्द का प्रयोग शुद्धब्रह्म के लिए किया है यद्यपि वे उसे उपादान कारण भ्रम से मानते रहें।

'चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम्'

(२-१-११ अन्तिम पंक्ति)।

चेतन ब्रह्म तो भौतिकता को लेकर ही हो सकता है। भौतिक अचेतन में ही चैतन्य कहा जा सकता है। चैतन्य तो चैकारिधर्मा है, ब्रह्म शुद्ध बुद्ध; यह असम्बद्ध, अदार्शनिक और अवैज्ञानिक मत है। चेतनता अक्षरब्रह्म में होती है। अतः वह पुरुष कहलाता है, चेतनता पुरुषादि का धर्म है। शुद्धब्रह्म पुरुष नहीं, ब्रह्म ही है। अक्षरब्रह्म में अपनी और ब्रह्म की दोनों की चेतनता विभक्ताविभक्त रूप में है। अस्तु। यह प्रकृति महानात्मा है, महापुरुष है और अव्यक्त भौतिकात्मा का सूक्ष्मतम अमृतमय स्वरूप है। इसका विकास प्रथम दश तत्त्व तक 'सत्' के बीजरूपों के प्रथम विकास रूप मौलिक आकाश या वैद्युतीय खंब्रह्म स्वरूप में होता है जिसे ब्रह्म या अक्षरब्रह्म का विकास कहते हैं, दूसरे चरण में नवें तत्त्व के बाद इसका विकास जीवात्मा या रुद्र नामक मौलिक वायव्य स्वरूप में होता है। १७ वें के बाद रूपात्मा या तैजसात्मा या बुद्धि या तप का उदय होता है, पर २६ वें में यह सोमात्मा भौतिक दिव्यशरीरी स्वयं प्रकाशित या प्रकाशमय बन जाता है तब इसे 'व्यक्त' नाम से पुकारते हैं। इसी व्यक्त का नाम 'बुद्धि' है (सांख्य में)। इसी को तमो गुण भी कहते हैं। तैजसात्मा सांख्य में रजोगुण है, यद्यपि 'रजः' नाम वेदों में व्यक्त भौतिकता के लिए ही आया है। यह तो अतितम सूक्ष्मतम भौतिक अणु है, यह 'व्यक्त' केवल आध्यात्मिकता से पूर्ण भौतिकता में पनपने के लिए कहा जाता है। ५० वां तत्त्व परमाणु है वह भी व्यक्त नहीं, पर व्यक्ततम भौतिक कहलाता है विराट् व्यक्ततर। पर लौकिक दृष्टि से ये सब अव्यक्त ही हैं। ये सब भेद अव्यक्तों ही के हैं। दृश्य ब्रह्माण्ड का निर्माण, परमाणु बनने के बाद जब षड्परमाणु का, पृथिवी का परमाणु बनेगा तब उसके त्रसरेणु से व्यक्त बन पायेगा। तबतक सब अव्यक्त हैं। यहाँ

भौतिक तत्त्व को आध्यात्मिक भौतिकता से सोमीय भौतिकता में परिणत होने के कारण व्यक्त कहा गया है, अन्यथा लौकिक व्यक्तता यहाँ कहाँ से। यह व्यक्त तो दिव्यशरीरी है, भौतिकात्मा ही है।

जब वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदारण्यकों में 'इदं शरीरम्', 'अयमात्मा', 'असौ लोकः 'अयं पुरुषः', 'योऽयं पुरुषः', 'एतत् मण्डलं', एतत्क्षेत्रं' इत्यादि पदों का प्रयोग किया गया है, तब ये शब्द हमारे वैयक्तिक स्थूल ब्रह्माण्ड के लिए, वैयक्तिक जैसे क्षुद्र वस्तु के लिए प्रयुक्त न होकर, अखिल ब्रह्माण्ड के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वह अखिल ब्रह्माण्ड भी आज जैसा दृश्य ब्रह्माण्ड है; उसके लिए न होकर उसके दिव्यशरीर सोमात्मा या विश्वेदेवीय शरीर आत्मा या क्षेत्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों को हमारे वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में केवल सोमात्मा त्रिधात्मा-प्रकाशित स्वयं प्रकाशमान के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है न कि इस स्थूल पिण्ड वाले हाथ, पाँव, आँख, नाक वाले शरीर के लिए। हमारे वैदिकों की इतनी बड़ी स्थूलवादी दृष्टि या बुद्धि कदापि नहीं रही।

७—इदं शरीरं अयमात्मा आदि शब्दों की व्याख्या

उपनिषदों या वेदों की सारभूत भावना भरी गीता ने जब 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते' कहा है तब इस शरीर रूप क्षेत्र की व्याख्या में साफ लिखा है कि क्षेत्र वे तत्त्व हैं जिन्हें ऋषियों ने वेदों के नाना मंत्रों के छान्दस दर्शनों तथा ब्रह्मसूत्रपदों और हेतुविद्या विशारदों के द्वारा निर्णीत किया है जैसे—

८—उक्त शब्द और गीता

"ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।
इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः॥
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥" (१३-५, ६, ७)

इसी क्षेत्र का नाम योनि भी है। इसीलिए अन्यत्र कहा है

'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय' (७-६)

प्रत्येक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र की योनि है। क्षेत्रों की योनि महद् ब्रह्म या 'अक्षर ब्रह्म' है

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥" (१४-३, ४)

शुद्ध बुद्ध ब्रह्म पिता के नाम से पुकारा जाता है जैसे यहीं लिखा है और ७-६ में

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'

स्पष्ट लिखा है। अक्षरब्रह्म माता है शुद्धब्रह्म पिता। माता या क्षेत्र या शरीर का नाम ही पृथिवी है। यह पृथिवी सात प्रकार की है और इसके सात क्षेत्र हैं उन्हें—

'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्'

नामक क्षेत्र या पृथिवी या शरीर कहते हैं। अक्षरब्रह्म को अव्यक्त कहते हैं। इन क्षेत्रों में से प्रथम तीन को अन्तरिक्षं, पृथिवी, दिवं नाम से भी पुकारते हैं। द्यौ नाम पिता ब्रह्म का है 'द्यौस्ते पिता' (ऋ॰ १-१६४)। प्रत्येक क्षेत्र एक एक तत्त्व है, भौतिक क्षेत्र सोम है, बुद्धिरूप है। आध्यात्मिक क्षेत्र गायत्री के २४ तत्त्व हैं, क्षेत्रज्ञ कुछ और ही वस्तु है।

'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' (१३-१)।

यह क्षेत्रज्ञ अक्षरब्रह्म का आदि विकास है, जो अक्षर ब्रह्म के वायवीय (मौलिक) सनातन नित्य स्वरूप में द्वितीय अमृतरूप में या वायवीय स्वरूपी जीवात्मा का प्रस्फुरण कर देता है। इसीलिए लिखा है।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (१३-२)

और

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुगन्धानिवाशयात् ॥" (१५-७, ८)

जीवात्मा भौतिक है परन्तु अमृतस्वरूपी भौतिक है, सचेतन है, शुद्धबुद्ध ब्रह्म उसे यहाँ सुषुप्ति से प्रबुद्धि में लाता है या प्रबुद्ध कर देता है या जागृत मात्र कर देता है और वह होता चेतन बुद्ध और सनातन ही है।

क्षेत्री नाम शुद्धबुद्ध ज्योतिष्मान् ब्रह्म का है। उसी का प्रकाश अखिल ब्रह्माण्ड में ज्ञान रूप में बिखरा रहता है और उसे प्रकाशित करता है।

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
९—क्षेत्रक्षेत्रज्ञ क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥"
(१३-३३ गीता)

यह क्षेत्री शुद्ध बुद्ध ब्रह्म अनादि निर्गुण (अपाणिपाद त्रिपदामृत से पृथक्) है और इस शरीर (ब्रह्माण्ड) में रहते हुए भी न इसका कर्ता है न इसमें प्रलिप्त ही होता है।

"अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥"
(१३-३१ गीता)

तब शंकराचार्य जी का उपादानकारण ब्रह्म कौन हुआ ? यह शांकरवेदान्त वालों को बता देना चाहिए।

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'

वाक्य के ब्रह्म का कर्तृत्व और कर्मत्व तो है ही नहीं तब कैसा वेदान्त है इसका ? सीधा उत्तर यह है कि जब शुद्ध बुद्ध ब्रह्म संवत्सर या काल या स्वभाव से अक्षर ब्रह्म में परिणत हो जाता है तब वह उपादान कारण होता है। शुद्ध बुद्ध ब्रह्म, पुरुषोत्तम ईश्वर, परमात्मा कहलाता है। अक्षर ब्रह्म पुरुष। शुद्ध बुद्ध पुरुषोत्तम ब्रह्म से परे हैं; इसका प्रमाण भी गीता देती है।

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥"

और

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥"

यहाँ स्पष्ट लिखा है कि यह मत वैदिक है

'अतोऽस्मि लोके वेदे च'

यह ब्रह्म एक होते हुए अनेक का एक है प्रकृति पुरुष का एकत्व है। इसी से सृष्टि का वैदिक क्रमानुसार अभ्युदय होता है। अक्षर ब्रह्म ही पुरुष, काल या स्वभाव ब्रह्म या वैदिकों का संवत्सर ब्रह्म है। इसमें ८,६४,००००००० अक्षर समिध् कला या स्वभाव या भाव या जातजनित्व के बीज रूप पुरुष एक रूप में, एकत्व रूप में अभिन्न रूप में रहते हुए क्रमशः विकसित होते जाते हैं।

ऐतरेय उपनिषद ने (९-२) में यह लिखा है कि महासमुद्र में जब देवताओं की मानसिक (मन्यु से मनः से) सृष्टि हुई उन्हों ने अपने उस आयतन के बारे में पूछा जहां वे अन्नाद हो सकें। उन्हें गौ का रूप दिखाया या बताया गया, वे सन्तुष्ट न हुए, तब अश्व का रूप दिखाया फिर भी प्रसन्न न हुए, अन्त में पुरुष का रूप दिखलाया तो वे बोले वह अत्यन्त अच्छा है। क्या भाव है इसका ? क्या सचमुच में गाय, घोड़े, मानव का रूप दिखलाया ही नहीं। मानसिक सृष्टि अक्षर ब्रह्म के अक्षर गुच्छाक्षर या सप्तकीय मौलिक तत्त्वों के बीज हैं। पहिले उनका विकास गाय के चार थन रूप चार सप्तकों या पादों में केवल वाणी रूप में की गई। वाक् का विकास स्वाहा, स्वधा, वषट्कार, हन्तकार रूप में होता (वाचं धेनुमुपासीत तस्या श्चत्वारस्तनाः स्वाहा स्वधा हन्तकारो वषट्कारश्च) है। इससे सृष्टि का एक तिहाई विकास हुआ, तब अश्व रूप प्राण रूप क्रम से प्राण, उदान, व्यान और अपान की सृष्टि की गई उसी क्रम से, तब दो तिहाई सृष्टि हुई। अन्त में तीसरी सृष्टि भौतिकाक्षरों की कीगई जिससे प्रजापति रुद्र, इन्द्र और सोम की सृष्टि हुई। इसीलिए इस कथानक में इन्द्र से इन्द्ररूप में इस भौतिक तत्त्व को सबसे पहिले जाने जानेकी बात कही गई है, इसी से भौतिकता का विदारण हुआ, इसी ने पहिले इसे जाना भी अतः इन्द्र कहलाया। ये पुरुष रूप तत्त्व हैं, विश्वेदेवीय तत्त्व हैं जिनका अमृतमय भौतिक विकास अन्त में सोम नामी भौतिक दिव्य शरीर में परिणत होता है। इस सोम रूप दिव्य शरीर से स्थूल भौतिक अन्धकारमय वृत्र या अन्नाद की सृष्टि का या आसुरी सृष्टि का आरम्भ होता है। अतः इस अभीष्ट सिद्धि की इस अभिलाषा या लोभ से वे अक्षरब्रह्मीय मानसिक देवता प्रसन्न हुए और कहने लगे 'सुकृतं बतेति'। पुराणों में इसी कथा के आधार पर लिखा गया है कि देवता लोग मनुष्य शरीर धारण करने के लिए सदा लालायित रहते हैं। सोम भौतिक दिव्य शरीर का

१० ऐतरेयउप० में सृष्टि

ही नर या मानव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह 'नृषद्' वासी है जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। अतः देवताओं की देह धारणेच्छा इसी सोमात्मा भौतिक दिव्य शरीर में या विश्वेदेवीय पुरुष रूप में उदित होने की आकांक्षा का नाम है। इस प्रकरण में मुख, नासिका, कर्ण, वनस्पति, चन्द्रमा, हृदय आदि शब्द, या गर्भादि शब्द हमारे शरीर या जन्म का वर्णन न देते हुए, अखिलब्रह्माण्ड की क्रमिक सृष्टि विकास को भौतिकतामय चतुर्थ सप्तक तक का व्याख्यान करते हैं। और सीधे लोगों को भी पूरा धोखा देते हैं। विश्वेदेवताओं की दूसरी सबसे उत्तम व्याख्या स्वस्ति वाचन के मन्त्रों के आदि में भी दे दी गई है।

———

अध्याय ८३

रेतः, रेवती और वज्रः

वेदों में रेतस् और रेवती शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इनकी बड़ी विचित्र पारिभाषिकता है जिसके जाने बिना इनका रहस्य ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। अब इसकी वैदिक व्याख्या देखें।

१—रेतः रेतस् प्रथम पुरुष में विद्यमान रहता है।

"रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवति' (ऐ० ३-२)।

यह हृदय में स्थित रहता है, 'रेतः हृदये' (३-१०-८-७)। यह नाभि से पूर्व रहता है 'अवाङ्नाभे रेतः'(श०ब्रा० ३-३-४-२७)। रेतस् वृष्ण्य होता है 'रेतो वै वृष्ण्यम्' (यजुः १८-११२)। सोम का नाम वृष्ण और अश्व का रेतस् है 'सोमो वै वृष्णो अश्वस्य रेतः' (तै० ३-९-५,५)। रेतः नाम सोम का है 'रेतः सोम,' (श०ब्रा०३-३-२-१ और कई स्थलों में अन्य ब्राह्मणों में भी) सोम रेतस् को धारण करता है "सोमो रेतोऽदधात्' (तै० १-६-२-२)। रेतस् से आपः (देवियों) की सृष्टि होती है 'आपो रेतः प्रजननम्' (तै० ३-३-१०-३)। आपः भी रेतस् ही है 'आपो हि रेतः' (ताण्ड्य ८-७-९)। पयः भी रेतः है 'पयो हि रेतः' (श० ब्रा० ९-५-१-५६)। रेतः नाम घृत का भी है (यजु १७-७९) 'रेतो वै घृतम्' रेत आज्यम्' (श० प० १-३-१-१७)। रेतः नाम ओदन और अन्न का भी है 'रेतो वा ओदनः' 'रेतो अन्नम्' (श० ब्रा० १३-१-१-४, गो० पू० ३-२३)। प्राण भी रेतः है 'प्राणो रेतः' (ऐ० २-३७)। तनूनपात् भी रेतः है 'रेतो वै तनूनपात्' (श० ब्रा० १-५-४-२) हिरण्य भी रेतः है 'रेतो हिरण्यम्' (तै० ३-७-२-४)। वाणी भी रेतः है 'वाग् रेतः (श० ब्रा० १-५-२-७)। रेतः शुक्ल होता है 'शुक्लं वै रेतः। (ऐ० २-१४)। स्त्री पयस्या और रेतः वाजिन् है 'योषा पयस्या रेतो वाजिनम्' (श० ब्रा० २-४-४-२१)। रेतः की सिक्ति पात्नीव्रत ग्रह कहलाता है 'रेतःसिक्तिर्वै पात्नीव्रत ग्रहः।' (कौ १६-६-ऐ० ए-३) रेतः अछिद्र होता है 'रेतो वा अछिद्रम्' (ऐ० २-३७)। रेतः सूर्य का होता है 'सौर्यो रेतः' (तै० ३-९-१७-५)। रेतः बिन्दुरूप होता है 'द्रप्सीव हि रेतः' (श० ब्रा० ११-४-१-१५) रेतः त्रिवृत् होता है 'त्रिवृद्धि रेतः'(ताण्ड्य ८-७-१४)। रेतः २५ वां तत्त्व है' पञ्च विंशं हि रेतः' (श० प० ७-३-१-४३)। यह रेतः यज्ञ है 'रेतो वा अत्र यज्ञः' (श० ब्रा० ७-३-२-९)। संवत्सरे 'संवत्सरे रेतःसिक्तिर्जायते' (कौ० १९-९)। वायु रेतः का विकर्ता है प्राण रेतः का विकर्ता है, प्राण दोनों रेतः के विकर्ता हैं 'वायुर्वै रेतसां विकर्ता, प्राणो हि रेतसां विकर्ता, प्राणोदानौ वै रेतः सिक्तं विदुरुत" (श० ब्रा० १३।३-७-१, ९-५-१-३६)। रेत ही प्रजाति है 'रेतः प्रजातिः'

(श० प० १४-९-२-६)

रेवती नाम भारद्वाज ऋषि की भगिनी का भी है, भारद्वाज ऋषि को चक्षु कहा गया है। 'रेवत्यामरवन्त' रेवती में रममाण होते हैं (तै० १-५-२-९-)।

२—रेवती

रेवती पूषा की है, गौवें उत्तरार्द्ध में, वत्स पूर्वार्द्ध में रहते हैं। 'पूष्णो रेवती गावः परस्तात् वत्सा अवस्तात्'

(तै० १-५-१-५)

रेवती साम की ज्योति है

'ज्योती रेवती साम्नाम्' (ताण्ड्य) (१३-७-२)

जो बृहत् है वही रैवत है 'यद्बृहत्तद्रैवतम् (ऐ० ४-१३)। गायत्री का नाम भी रेवती है 'गायत्री वै रेवती' (ताण्ड्य १६-५-१९) रेवतियाँ मातृ हैं 'रेवत्यो मातरः (ताण्ड्य १६-९-१७)। रेवतियों का रस वारवन्तीय है।

'रेवतीनां रसो यद् वारवन्तीयम्' (ताण्ड्य १३-१०-५)।

'रेवती आप हैं 'रेवत्यः आपः' (श०प०१ १-२-२-२, तै० ३-२-७-२ ताण्ड्य ८:९-२०), जो आपः का रस है वही रेवती है'

अपां वा एष रसो यद्रेवत्यः' (ताण्ड्य १३-१०-५)।

रेवती पशु है 'पशवो वै रेवत्यः' (ताण्ड्य १२-१०-११, १३-९-२५, १३-१०-११) वाक् ही रेवती है 'वाग्वै रेवती' श०ब्रा० ३-६-१-१२) रेवतियाँ तो सर्वादेवता हैं 'रेवत्यः सर्वादेवताः' (ऐ० २-१६)

वज्रो वा अश्रिः (श०ब्रा० ३-५-४-२)। वज्रो वै परशुः (श०प० ३-६-४-१०)। वज्रः शासः (२१-१-३-६-१-५)। त्रिवृद्वै वज्रः (कौ० ३-२)। वज्रो वा आपः (श०प० १-१-१-१७)

३—वज्रः

पञ्चदशो वै वज्रः (श०ब्र० १-३-५-७)। वज्रो वै भान्तः पञ्चदशः (यजुः १४-२३)। वज्रो वै चषद्यः (तै०१ -७-१०-५)। वज्रो वै शरः (श०ब्रा० ३-१-३-१३)। वज्रो यूपः (कौ० १०-१)। वज्रो वै यूप-शकलः) श०प० ३-७:१-५)। वज्रो वै रथः (तै० १-३-६-१)। वज्रो वै पशवः (श०प०६-४ ४-६)। वज्रो वा अश्व (श०प० ४-३-४-२७)। वज्रो वै चक्रम् (तै० १-४-४-१०) वज्रो वै ग्रावा (श०प० ११-५-९-७)। वज्रो वा आज्यम् (श०प० १-४:४-४)। वज्रो वै त्रिष्टुप् (श०प० ७-४-२-२४)। वज्र एव वाक्) ऐ० २-२१, ४-१)। वज्रो वै वषट्कारः (ऐ० ३-७) वज्रो वै हिंकारः (कौ० ३-२)। वज्रो वा एष यत्षोडशी, (ऐ० ४-१)। संवत्सरो वज्रः (श०प० ३-६-४-१९) वीर्यं वज्रः (श०प० ७-२-१-१९) वज्रो वा ओजः (श०प० ८-४-१-२०)। अष्टाश्रिर्वज्रः (ऐ० २-१)। दक्षिणतो उद्यामो हि वज्रः (श०प० ८-५-२-१३) 'पुरो गुरुरिव हि वज्रः (ताण्ड्य ८-५-२)

———

अध्याय ८४

इन्द्रः स्वराट्

मध्यमः प्राणः

सर्वा देवता इन्द्र की व्याख्या में सबसे पहिले श० प० ब्रा० (६-१-१-१, २) को लीजिए। इसमें लिखा है कि सृष्ट्यादि में ऋषि नामक तत्त्व थे, वे प्राण रूप सप्तर्षि थे। उन्होंने जब 'यथापूर्वमकल्पयत्' की इच्छा की तो वे इन्ध नामक मध्यप्राण रूप में प्रवर्तित हुए वे ही मध्य प्राणेन्द्रिय से इद्ध (दीप्त) होकर इन्द्र कहलाने लगा। उससे सप्त नाना पुरुषों (७×७ =४९) की उत्पत्ति हुई जैसे 'असद्वा इदमग्र आसीत्।

१—सर्वा देवता इन्द्र

तदाहुर्किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेसदासीत्तदाहुः
के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषय स्ते यत् पुराऽस्मात्सर्वस्मा-
दिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः।
स योऽयं मध्येप्राण एषएवेन्द्र स्तानेष प्राणान्मध्यत
इन्द्रियेणैन्ध यदैन्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्या
चक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्त
इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त॥'

बृहदारण्यकोपनिषद् ने इसी बात को दूसरे ढंग से कहा है। उस आदि पुरुष की इच्छा का द्यौः शरीर है, वह ज्योतिर्मय रूप का है, जितना बड़ा मन उतनी ही बड़ी द्यौ हुई, उन दोनों के मिथुन से प्राणों की उत्पत्ति हुई, वही इन्द्र कहलाता है वह असपत्न अद्वितीय और एक है जैसे

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्य-
स्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसौ आदित्यस्तौ
मिथुनं समैतां ततः प्राणो ऽजायत स इन्द्रः स एष
असपत्नोऽद्वितीयो वै सपत्नो नास्त्य सपत्नो भवति य एवं वेद।"
(१-५-१२)

ऐतरेय उपनिषद् और ऐतरेय ब्राह्मण दोनों इस बात को दूसरे ढंग से कहते हैं! उपनिषद् ने लिखा है कि इन्द्र सबसे पहिले उस ब्रह्म पुरुष को देख सका, अतः उसे 'इदिन्द्र' कहते थे, और इदिन्द्र कहते कहते उसे इन्द्र कहने लगे, क्योंकि देवता परोक्ष रूप में रहना अच्छा समझते हैं जैसे

"स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमितीं।
तस्मादिदिन्द्रो ह वै नाम तमिदिन्द्रंसन्तमिन्द्र-
इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया हि देवाः॥"

(तृतीय खण्ड)। इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद (२--११-१६७ और १-१०१-५) भी करते हुए लिखता है

"इदिन्द्र वा जमग्मन्" "यो ब्रह्मणो प्रथमो गा अविन्दत्"।

ऐ० ब्रा० (३-२-२२) लिखता है कि इन्द्र ने ब्रह्म को सबसे अधिक समीप जाकर स्पर्श किया और सब देवताओं ने पहिले जाना कि यह ब्रह्म है, इसीलिए उसे सब देवताओं में ज्येष्ठ कहा जाता है जैसे

इन्द्रो ह्येनन्नेदिष्टं परपर्शुः स एनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति तस्माद्वा
इन्द्रो अतितरामिवान्यान् देवान् तस्मादिन्द्रो देवानामधिकोऽभवत्॥"

इस बात की पुष्टि ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त (ऋ० वे० १०-९०-१३) 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' वाक्य से करता है कि उस आदि ब्रह्म के मुख या मुख्य प्रथम तत्त्व रूप में पहिले इन्द्र या इन्द्र और अग्नि दोनों उत्पन्न हुए। बृहदाररण्यक पुनः इसका समर्थन करते हुए लिखता है। 'यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" जैसा कि इसने पहिले द्यौ और मन का मिथुन बता रखा है। (२-८-४-१२)। अतः ऐ० ब्रा० (७-१६) लिखता है कि यह सब देवताओं में अधिक ओजस्वी, बली, साहसिक, उत्तम और पार लगाने वाला है जैसे

"इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः।"

इसी इन्द्र की व्याख्या प्रायः अधिक सूक्तों में है। उनमें से एक ऋ० वे० २-१२

'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्'

इत्यादि है। उक्त सब व्याख्यानों का आधार ऋग्वेद ही है जो इन्द्र को सब देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बतलाता है जैसे

"तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः॥"

(ऋ० वे० १०-१२०-१) और

इन्द्रज्येष्ठान बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।
यथायथा पतयन्तो वियेमिरे एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते॥"

(ऋ० वे० ४-५४-५)

यह पञ्चपर्वा विद्या है।

सर्वा देवता इन्द्र के निम्न वर्णन में 'अहं' पद भौतिकात्मा का प्रतिनिधि है। भौतिकात्मा युक्त इन्द्र विश्वेदेवता होता है। अतः 'अहं' नाना रूप लेता है। वही इन्द्र सर्वादेवता है जिसके प्रमाण निम्न संकेतित ऋग्वेद के तीन सूक्त हैं। इनमें वामदेव आदि ऋषि, इन्द्र का तादात्म्य वैदिक दर्शन के विभिन्न तत्त्वों के साथ परोक्ष रूप में करते आये हैं। वामदेव ऋषि के जिस सूक्त का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् भी करता है (१-१-४-१०) ब्रह्मव्याख्या-ब्रह्म वा इदमग्रमासीदित्यादि) वह सूक्त इस प्रकार है।

२—सर्वादेवता इन्द्र के प्रमाण

"अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे ऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥१॥
अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥
अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ३ ॥
प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा।
अचक्रया यत्स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम् ॥ ४ ॥
भरद् यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि।
तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र ॥ ५ ॥
ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम्।
सोमं भरद् दादृहाणो देवावान् दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय ॥ ६ ॥
आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥ ७ ॥

ऋ० वे० ४-२६ पूरा

यह पूरी ब्रह्म की व्याख्या है (बृहदारण्यक देखें)। अन्तिम तीन ऋचायें सोम की व्याख्या करती हैं (सोम देखें)। ऋग्वेद दशम मण्डल में इसीप्रकार के दो और सूक्त हैं जो इसी सूक्त के विस्तार से प्रतीत होते हैं क्योंकि इनका ऋषि और देवता दोनों 'इन्द्रो वैकुण्ठः' बताया गया है; किसी अन्य का नाम नहीं दिया गया है।

"अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवो ऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥ १ ॥
अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने ॥ २ ॥
मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्।
ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च ॥ ३ ॥
आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम् ॥ ११ ॥

इत्यादि ॥ (ऋ० वे० १०-४८)

तीसरा सूक्त इस प्रकार है—

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिता ऽयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥ १ ॥
मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः।
अहं हरी वृषणा विव्रता रघू अहं वज्रं शवसे धृष्ण्वा ददे ॥ २ ॥
अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक्कृषे दासं कृत्व्यं हथैः ॥ ७ ॥

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम् ।
अहं न्यन्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम् ॥ ८ ॥
अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि ।
अहमर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर्युधा विदं मनवे गातुमिष्टये ॥ ९ ॥

(इत्यादि ऋ० वे० १०-४९ पूरा)

इन तीन सूक्तों की शैली में दो और सूक्त मिलते हैं जिनमें से ऋ० वे० ४-४२ सूक्त का ऋषि त्रसदस्युः, पौरुकुत्स्यः है और देवता 'आत्मा' बताया गया है ।

"मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः ।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः ॥ १ ॥
अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त···· ॥ २ ॥
अहमिन्द्रो वरुणस्ते···,अहमपो···,अहं ता विश्वा चकरं····,

(इत्यादि ३, ४, ६)

दूसरा सूक्त ऋ०वे० १०-१२५ में है । इसके ऋषि और देवता क्रमशः वागाम्भृणी और आत्मा हैं । यह इन्द्र वैकुण्ठ के सदृश है, जैसे

"अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥
··· अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
···अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ॥ इत्यादि ॥ ८ ॥

ये सब वर्णन सर्वादेवता सम्बन्धी हैं । पांचो सूक्तों की शैली एकसी है । ऋग्वेद में अधिकांश में इसी सर्वा देवता इन्द्र का वर्णन है । उदाहरण के लिए ऋ० वे० ३-३२-८ लीजिए—

"इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे ।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः ॥"

शत क्रतु या पुरन्दर नाम का इन्द्र १०० दिनों या अंशों का इन्द्र है । यह अग्निरूप इन्द्र या संवत्सर ब्रह्म के १०० मध्यवर्ती दिनों के विकास को बतलाता है ।

३ – शतक्रतु या पुरन्दर इन्द्र

इन्ध, इद्ध नामक इन्द्र ही जब इध्म नामक इन्द्र बनता है तब इसे शतक्रतु या पुरन्दर कहते हैं । १०० अंशों या दिनों को पार करना ही शतक्रतुता शतकर्मता या शतपूरी भेदनता है । पूः नाम एक-एक तत्त्व रूप पुरी का है, वही विकास शैली में एक-एक कर्म या क्रमिक कर्म या क्रतु कहलाता है, वही संवत्सर

ब्रह्म बाद में १०० दिनों या $\frac{१००}{१५}=६\frac{३}{५}$ तत्त्वों का प्रतीक होता है, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व १५ दिन का होता है। इन्हीं १०० पुरः या दिन या क्रतुओं का नाम दुर्ग भी है। इन सब में ९९ दिन, पुर, क्रतु या दुर्ग को पार करना ही वर्णित है, क्योंकि १०० वें में तो वे क्रतु, दिन, पुर, दुर्ग सब सफल हो जाते हैं या प्राप्त ही हो जाते हैं। यह वैदिकों का ९९ का बड़ा गम्भीर फेर है। यही पुरन्दर इन्द्र कहलाता है।

इन्द्र शब्द और तत्त्व का सम्बन्ध इद्ध, इन्ध या इध्म के साथ-साथ एक और प्रसिद्ध तत्त्व से है जिसे समिध कहते हैं। समिध की व्याख्या पृथक् तथा पुरुष सूक्त १५ की व्याख्या में विस्तार पूर्वक दी जा चुकी है।

४ इन्द्र और इध्म

संक्षेप में—'ग्रीष्म इध्मः' की व्याख्या में श० प० ब्रा० (१-३-२-१) लिखता है

"इन्धे हवा एतदध्वर्युः।
इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम समीन्धे।'

यह समिन्धन नामक ग्रीष्म द्वितीय सप्तक में होता है। द्वितीय सप्तक द्विपाद् या दो अरणियों या अश्मों का है। इन अरणियों या अश्मों में तृतीय सप्तक की जातवेदाग्नि अप्रकट रूप से विद्यमान रहती है जैसे

'अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु'
"यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान' (ऋ० वे० ३-२९-२; २-१२-३)।

उसको

'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्"

मन्त्र निर्मथित कर जातवेदा या अतिथि रूप प्रथमेद्ध अग्नि को प्रज्वलित करने को कहता है। यहीं द्विपाद रूप दो अरणियों के प्राणोदानों के संघर्ष से इध्म नामक अग्नि का या इन्द्र का प्रथम तैजस रूप में दर्शन होता है। यह सत्रहवाँ तत्त्व पड़ता है, अतः श० प० ब्रा० (४-४-४-१, ५-१-२-३) कहता है

"इन्द्रो ह वै षोडशी"

कि इन्द्र सोलहवां तत्त्व है। ब्रह्म मिलाकर यह सत्रहवां हुआ और इन्द्र का वज्र पन्द्रहवाँ बतलाया गया है, वह सोलहवाँ हुआ।

"पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो' (श० प० ब्रा० १-३-२-७)।

इसका समर्थन ऐ० ब्रा० (२-१-४ में) करते हुए उक्त समिधों को 'प्राणा' और 'शीर्षन्धित्सेत्' लिखा है। इसकी विकास परम्परा का वर्णन पुनः श० प० ब्रा० (२-२-४-९, १०, ११, १२) में विस्तार पूर्वक देते हुए लिखा है कि उक्त दो अरणियों के संघर्ष से जो प्रथम धूपित सी अग्नि प्रज्वलित हुई उसका नाम रुद्र है। रुद्र नवम तत्त्व है। यह अन्यत्र (श० प्र० ब्रा० ६-१-३-९, १०) में इस प्रकार दिया है

कुमारो नवमो रुद्रः'।

जब यह प्रदीप्ततर होता है तब इसे वरुण कहते हैं, जब यह अतिप्रदीप्त और धूम की लपटों से युक्त होता है तब यह इन्द्र कहलाता है। जब इसकी अर्चियां तिरछी होने लगती हैं तब वह शमन प्राप्त दीप्ति मित्र कहलाती हैं, और जब

यह अङ्गार रूप में परिणत होता है तब यह ब्रह्म होता है। इसी अङ्गार रूप ब्रह्म की भस्म भौतिकात्मा कहलाती है। जैसे—

"तद्यत्रैतत्प्रथमं समिद्धो भवति
धूप्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः।
अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः।
...अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति उच्चैर्धूमः परमया-
जूत्या वल्वलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः।
...अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिर्यङ्ङीवार्चिः स
शम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः।
...अथ यत्रैतदङ्गाराश्चकाश्यन्त इव तर्हि हैष भवति
ब्रह्म स कामयेत ब्रह्मवर्चसी स्यामिति॥"

यहां पर दिया हुआ यह विकास क्रम ऋग्वेद में भी कई स्थलों पर मिलता है। उदाहरण के लिए ऋ० वे० ५-३-१,२ को लीजिए

"त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥
"त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि। इत्यादि॥"

पिछले परिच्छेद में दिया तात्त्विक विकास एक अन्य सरणि से भी पुष्ट होता है। यह बहुत कमलोगों ने सोचा होगा कि रुद्र की प्रार्थना में ऋग्वेद १०-१०३ पूरे इन्द्र सूक्त को क्यों रख दिया गया है? इसका कारण यह है कि एकदैवत्य रुद्र का जन्म नवम तत्त्व में होता है। (वैसे रुद्र भी सर्वादेवता है उसका पृथक् वर्णन देखें) ये रुद्र ११ हैं। सर्वादेवता में सब तत्त्व रुद्र ही रुद्र हैं—

५—इन्द्र और रुद्र

"चत्त्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः'

मन्त्र का महोदेव या महा देव सर्वादेवता रुद्र ही है यह श० प० ब्रा० ६-१-३-९ से १९ तक और अथर्व के व्रात्य काण्ड द्वितीय सूक्त में देखें)। अतः नवम से १९ तक के सब तत्त्व रुद्र ही हैं। बताया जा चुका है कि शतक्रतु इन्द्र का उदय १७वें तत्त्व में होता है। अतः इन्द्र का विकास रुद्र तत्त्वों से होता है, इसलिए इन्द्र को प्रथम चार रुद्रों का पुत्र कहा गया है (ऋ० वे० १-६४-१२) 'रुद्रस्य सूनुम्'। और १६ वें से १९ वें तक के रुद्र इन्द्र के भाई हैं, अतः उन्हें 'रुद्राणामेति प्रदिशा' (ऋ० वे० १-१७) कहा गया है। जब इनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है तभी इन्द्र सूक्त से रुद्र का स्तवन किया गया है।

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"।
(ऋ० वे० १-१६४-४६)

६—इन्द्र और 'इन्द्र मित्र' ऋचा

प्रसिद्ध ऋचा उक्त नामों को इन्द्र के अग्नि रूप के विकासों के रूप में दे रही है। इनमें जो जो तत्त्व हैं वे इन्द्र के पश्चात् ही उदीयमान होते हैं। इनमें रुद्र का नाम नहीं आया है, यह ध्यान में रहे। मित्र और वरुण तथा अग्नि (जातवेदा) तृतीय सप्तक के अन्तिम (अत्रि नामक) तत्त्व हैं जिहें दक्षक्रतु भी कहते हैं ('चक्षुर्मित्र-स्यवरुणस्याग्नेः' वाक्य के प्रतिनिधि हैं) दिव्यः सूर्य हैं, सुपर्ण सोम हैं, गरुत्मान् सविता, ("प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता" श० प० ब्रा० १०-२-२-४)। द्वितीय अग्नि शब्द अग्निर्वैश्वानर का प्रतीक है और यम २८ वां तत्त्व है। मातरिश्वा चतुर्थ सप्तक की प्राणवायुओं का नाम है जिनका दूसरा नाम दधीचि भी है (पूर्वोद्धृत १०-४७-२ देखें)। आज तक के विद्वान् इस ऋचा के नामों को ब्रह्म का पर्य्याय या एकवाद का सूचक समझते आ रहे हैं। यह ऋचा केवल हारियोजन इन्द्र के विकासों को देती है। यह हारियोजन इन्द्र अतिरिक्त इन्द्र है, इसकी व्याख्या आगे दी जायगी। यहाँ १७ वें से ३१ वें तक १६ तत्त्वों को इन्द्र ही कहते हैं।

शतक्रतु इन्द्र के स्थान निर्धारण के सम्बन्ध में दो अन्य बातों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है (१) इन्द्र का एक नाम मरुत्वान् भी है। मरुत् नाम के तत्त्वों का स्थान द्वितीय सप्तक है, तृतीय सप्तक में उत्पन्न इन्द्र, इन्हीं द्वितीय सप्तक के मरुतों से व्यक्त होने के कारण मरुत्वान् कहलाता है। श० प० ब्रा० (४-१-३-१३) ने इस कथन की पुष्टि में इन्द्र का आधा भाग मरुतों का बतलाया है जैसे

७—शत क्रतु इन्द्र

"स इन्द्रोऽब्रवीद् अर्द्धमे ऽस्य ग्रहस्येति तुरीयमेव त इति।
वायुरर्द्धमेव मे इतीन्द्र तुरीयमेव त इति वायुः"॥

कहने का तात्पर्य यह है कि शतक्रतु तो चतुष्पाद् ब्रह्म है, उसमें आकाश, वायु, तेज और आप, चारों का सम्मिलन है। इनमें वायु तत्त्व (मरुत्) आकाश भी सम्मिलित है, अतः इन्द्र में वायु का आधा भाग माने आकाशवायु रूप भाग हुआ, केवल वायु का भाग एक चौथाई ही बैठा। इस चतुष्पादिन्द्र को यज्ञ का अग्नि रूप देवता मानकर उसका सूर्य के समान उपस्थान करना बतलाया है जैसे

"इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सेन्द्रमिवैतदग्न्युपस्थानं कुरुते।
कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चासि दाशुषे"।

(श० प० ब्रा० २-३-२-३७)।

इसलिए इस इन्द्र का सवन रुद्रों की तरह माध्यान्दिन सवन बतलाया है जैसे

"माध्यंदिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र"।

(ऋ० वे० ३-३२-३)

और

"माध्यंदिनस्य सवनस्य धानाः पुरोळाशमिन्द्र कृष्वेह चारुम्"।

(ऋ० वे० ३-५२-५ तथा)

"माध्यन्दिने सवने जातवेदः पुरोळाशमिह कवे जुषस्व"।
(ऋ० वे० ३-२८-४)

अन्तिम उद्धरण में इन्द्र को 'जातवेदाः' नाम से सम्बोधित भी किया गया है। जातवेदाः का स्थान यही तृतीय सप्तक या माध्यन्दिन सवन है। जातवेदाः का वही स्थान है जो अतिथि का है। अतिथि के सदन तृतीय सप्तक को दुरोण कहते हैं "अतिथिर्दुरोणषद्" (ऋ० वे० ४-४०-५) और इसी दुरोण का वासी इन्द्राग्नी को भी बतलाया गया है जैसे

यदिन्द्राग्नी मदथः स्वे दुरोणे" (ऋ० वे० १-१०८-७)।

वैदिक ऋषियों ने वैदिक आर्यों के दाशराज्ञ युद्ध के दो दलों (तृतीय-चतुर्थ सप्तकों) के युद्ध के रूप में वर्णित कर 'आम के आम गुठली के दाम' की कहावत को चरितार्थ कर इतिहास और दर्शन दोनों की व्याख्या एकही तीर से दो पक्षी मारने के समान अद्वितीय कार्य किया है। विश्वामित्र के दल में यदु, तुर्वशु, द्रुह्यु, अनु और पुरु थे। इनका तादात्म्य इन्द्राग्नी देवता से करते हुए लिखा है

"यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युषु अनुषु पूरुषु स्थः॥"
(ऋ० वे० १-१०८-८)

अतः इन्द्राग्नी देवता की सर्वत्र विद्यमानता घोषित की कई है। ये पाँच प्रतिपक्षी पञ्चजनाः हैं, क्योंकि अदिति को पञ्चजनाः कहा है

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं...... अदितिः
पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।"

स्वपक्षी पञ्चजना तृत्सु, कुरु, भरत, मत्स्य आदि हैं, पञ्चपाद हैं पञ्चपर्वा है।

अब शतक्रतु इन्द्र के शतक्रतुओं की व्याख्या देखिये। इन्द्र को १७ से ३१ तक का तत्त्व बतलाया जा चुका है। दक्षक्रतू (या मित्रावरुणौ) का स्थान २४ वां तत्त्व है (दक्षक्रतू देखें)। क्रतु तक २३½ अंश बीतते हैं क्रतु २३½ से २४ वें तक का २४ वें का उत्तरार्द्ध कहलाता हैं। इन्द्र ३१ वें और क्रतु के बीच में ३१-२४½ = ६½ अंश

८—इन्द्र के शत क्रतु

या पक्षों या तत्त्वों का अन्तर है, एक तत्त्व या अर्द्धमास १५ अंश या दिन का है, २४ तत्त्व ३६० दिनों के। अत ६½ तत्त्व ९८ तत्त्व होते हैं, ९९ वें से क्रतु का आरम्भ होता है, १०० से क्रतु पूर्णता को पाने लगता है। इन ९९ को क्रम से पार करना शतक्रतुता कहलाती है या ९९ दुर्ग या पुरों का दलन कहलाता है। जैसे "चतुर्विंशतिर्वा अर्द्धमासा अर्द्धमास एव संवत्सरमारभन्ते...पञ्चदशस्तोत्राणि (दिनानि) भवन्ति पञ्चदश शस्त्राणि समासो (गुणा करना १५×२४) मासस्य एव संवत्सरमारभन्तो तस्य षष्टि च त्रीणि च शतानि स्तोत्रिया भवन्ति संवत्सरस्याहः सः एव इत्यादि॥"

(ऐ० ब्रा० ४-२-१२)

यही गणना सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने बार-बार दी है। उक्त ९९ दिन रूप क्रतु दुर्ग या पुरों का वर्णन विराट् उष्णिक् तथा त्रिष्टुप् छन्दाक्षरों से भी किया गया है। इनका व्याख्यान विराट् छन्दाक्षरों में ऋ० वे० (२-१८-४, ५, ६) ने इस प्रकार दिया है

"आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥
"आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङा चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्राऽऽ षष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम्॥
आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः॥"

यहां प्रत्येक तत्त्व या क्रतु को हरि या अश्व रूप में वर्णित किया गया है। २५ वां तत्त्व सूर्य है, सूर्य से रात्रि का या उत्तरार्द्ध के अन्धकार का उदय होता है। उसी को आसुर-सृष्टि या असुरों के दुर्ग कहते हैं। ३१ वें में अन्तिम शतक्रतु इन्द्र है, वहां से दिन रूप २५ वें सूर्य रूप इन्द्र के प्रकाश में भौतिकता से परे आने में ६१ अंश या पक्ष लगते हैं जिसमें ९९ रातें होती हैं। इन्हीं को पार करने और आध्यात्मिक इन्द्र की ज्योति पाने की लालसा व्यक्त करते हुए यजुर्वेद, अथर्व वेद और श० प० ब्रा० ने उक्त संख्या को त्रैष्टुभीय क्रम से देते हुये लिखा है।

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत्पञ्च सुम्नयि।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः॥"

(अथर्व १९-४७-३,४,५)

"एकं च दश च, द्वे च विंशतिश्च, त्रीणि च त्रिंशश्च।
चत्वारि च चत्वारिंशञ्च पञ्च च पञ्चाशश्च॥
षट् च षष्टिश्च सप्त च सप्ततिश्च।
अष्ट च अष्टाशीतिश्च, नव च नवतिश्च॥"

(श० प० ब्रा०, यजु०) इनमें इन पूर्वार्द्ध के ९९ को उत्तरार्द्ध रात्रि के 'द्रष्टारः' संरक्षक प्रहरी सा बतलाया है, उनमें क्रमशः एकादश संख्या की कमी करने की इच्छा शतक्रतु इन्द्र को पूर्ण शक्ति रूप में देख पाने की कामना का प्रण करती है। इन १०० को तै० आ० (२-९-१) १०० आनन्द या देवताओं के १०० आनन्द कहता है और देवताओं के इन १०० आनन्दों को इन्द्र के एक आनन्द या १०० वें क्रतु तत्त्व के आनन्द या शतक्रतु इन्द्र के एक आनन्द के बराबर कहते हुए लिखता है।

"शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः।"

इन ९९ संख्या के पुर दिन या दुर्गों का सम्बन्ध शम्बर, नमुचि, पिद्रु, तृतुनि, दनु, गोत्र, चिमुरि, धुनि, बल, रौहिण, अहि आदि से बतलाया है। यह

ध्यान रहे यह प्राचीन योग मार्ग है। योग क्रिया से इन ९९ किलों को पार किया जाता है।

ऋ० वे० २-१८ में इसका वर्णन निम्न ऋचाओं से किया गया है।

"प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षा स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्॥
सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुषः स होता।
अन्यस्या गर्भमन्य उ जनन्त सो अन्येभिः सचते जेन्यो वृषा॥"
आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥
आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङाचत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्रा षष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम्॥
अशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः॥

यह वर्णन चतुष्पाद्, त्रिपाद्, सप्तपाद्, रूप इन्द्र का विराट् छन्दाक्षरों की १०, १० की गिनती में है प्रथम में त्रिष्टुप की ११ की गिनती से है यही इन दोनों का अन्तर है।

वह इन्द्र है जो भौतिक शरीर को धारण करके छान्दस प्राण स्वरूप पाकर चतुष्पाद् व्रत बनकर आसुरी वृत्ति के तत्त्वों का दमन, शमन, आलंभन आदि कर दैवी वृत्ति की प्रतिष्ठा करता है। इन्द्र का सोमपान, भौतिकात्मा को दैवी शक्ति 'चन्द्रमा' को आत्मसात् करता है। तब इन्द्र, तृपादमृत उक्त चन्द्र सहित चतुष्पाद्ब्रह्म का दैवी कर्म करता है। यहां से कर्म मार्ग प्रारम्भ होता है। जैसे

९—हारियोजन या हरिवो इन्द्र

पहिले बतलाया जा चुका है कि 'इन्द्रं मित्रं वरुणं ··मातरिश्वानमाहुः। ऋचा अग्नि स्वरूपी इन्द्र के विभिन्न विकासों को बताती हैं। ये सब विकास भौतिकग्नि रूप में होते हैं। इन्द्र को सुपर्ण रूप में वर्णित करने में 'कपिञ्जल इन्द्र' की कल्पना की गई है। इस इन्द्र की धारणा छन्दोऽनुरूप की जाती है जैसा कि ऋ० वे० १०-१३०-४,५७६,५ में दिया है। इस इन्द्र को अधिकांश सूक्तों में हरिवो* या हारियोजन नाम से पुकारा गया है जैसे "एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्।" ऋ० वे० १-६१-१६) "सनायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षत् ब्रह्म हरियोजनाय।" (ऋ० वे० १-६२-१३) ये मंत्र या सूक्त इन्द्र के छान्दस त्रिष्टुप में ही प्रायः वर्णित किये जाते हैं। श० प० ब्रा० (४-५ ३-२-३-४) लिखता है "छन्दांसि वै हारियोजन छन्दांस्येवैतत्समर्धयति। तस्माद्धारियोजने गृह्णाति। तं वै अतिरिक्तं गृह्णाति, मनुष्या अथ पशवोऽतिरिक्ता तस्मादतिरिक्तं गृह्णाति······ अतिरिक्तो वै स आसीत् अतिरिक्त एष ग्रहः॥" यहाँ पर यह ब्राह्मण हारियोजन

* "अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य" उप ब्रह्माणि हरिवो हरिभ्यां सोमस्य याहि पीतये सुतस्य।" (ऋ० वे० १०-१०४-२, ६)

को ग्रह के रूप में ग्रहण करता है। छान्दस होने से यह अतिरिक्त ग्रह कहलाता है। इसे दशम ग्रह बतलाया है। यह १० भौतिक (२४ से ३३ तक के) तत्त्वों का प्रतिनिधि होता है जिनको मनुष्य या नर या पशु नाम से भी पुकारते हैं। अतः यह अतिरिक्त ग्रह कहलाता है। यही हारियोजन इन्द्र सब देवताओं में ओजिष्ठ, बलिष्ठ और सहिष्णु या पारयिष्णुतम कहलाता है। यही इन्द्र मायावी और नाना रूपधरः कहलाता है जैसे "रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव" (ऋ० वे० ६-४७-१८) "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋ० वे० ३-५३-८) "मायाभिरिन्द्रमायिनं" (ऋ० वे० १-११-७) "मायाः कृण्वानो इन्द्र पुरुरूप ईयते।" (ऋ० वे० ६-४७-१९) इत्यादि। इसी इन्द्र को श्वा या नृचक्षा रूप प्राण नाम से पुकारने का ध्रुपद 'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रं' तो ऋ० वे० में बहुत प्रचलित है। पाणिनि के 'श्वयुमघोनामतद्धिते' सूत्र के सब नाम इन्द्र के ही हैं 'सभेयो युवा' शब्द (आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी में) इसी इन्द्र का वाचक है। श्वा शब्द उक्त ध्रुपद में प्रसिद्ध है ही।

त्रिशीर्ष षडक्ष, त्वष्टा तथा विश्वरूप त्वाष्ट्र या वृत्र का वध करनेवाला इन्द्र यही हारियोजन इन्द्र है। "स इदासं तुवीरवं पतिर्दन्कक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्मत्" (ऋ० वे० १०-९९-६)। त्वष्टा ने इन्द्र का वज्र बनाया "अस्मदु इदु त्वष्टा त्वष्टद्वज्रम्"। जितने दुर्ग या क्रतुओं की संख्या है उतनी ही वज्रों की भी संख्या है "वि ते वज्रासो…नवति नाव्या॥" (ऋ० वे० १-८०-८)। ये वज्र दधीचि नामक मातरिश्वा की हड्डियों से बनाये गये। "इन्द्रोदधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत। जघान नवतीर्नव।" (ऋ० वे० १-८४-१६) "दधीचे मातरिश्वेन।" (ऋ० वे० १०-४८-२)। यहाँ मातरिश्वा का ही नाम दधीचि बताया है, उन्हीं से इन्द्र का वज्र बना है। इन्हीं शतक्रतुओं को 'शतक्रमा' भी कहते हैं। त्वष्टा तो इस ब्रह्माण्ड को रूप देने वाला है "तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे' (यजु० पु० सू० 'त्वष्टा रूपाणामीट्टे' (श० व० ब्रा० ५-४-२-८)। वृत्र की कथा श० प० ब्रा० (१-५-२-१ से १० तक) दी हुई है। वृत्र देखें। विश्वरूप त्वाष्ट्र की कथा श० प० ब्रा० १२-७-१ पूरे प्रपाठक में दी गई है जिसमें उसके वध से पशु और अन्न सृष्टि का एक विलोम क्रम दिया है। इसमें नमुचि का भी आख्यान आया है। जिन-जिन असुरों के बध की कथायें इन्द्र के सूक्तों में मिलती हैं, उन सब असुरों को 'दास' या शूद्र वर्ण नाम से पुकारा है "दासं वर्णमधरं गुहाकः' (ऋ० वे० २-१२-१) इन दास वर्ण नामक तत्त्वों का स्थान चतुर्थ सप्तक शूद्र सप्तक या भौतिकात्मा का सप्तक है। भौतिक सृष्टि भौतिक शरीर भौतिकात्मीय चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का नाम शूद्र दास अश्व स्त्री (परा वाग्) आसुरी वाक् है। अन्य असुर ये हैं :– शम्बर, नमुचि, तूतुजि, दनु, गोत्र, चुमुरि, धुनि, बल, रौहिण, पणि अहि या वृत्र और शुष्ण।

१०–असुर हन्ता इन्द्र

इन असुरों या दासों के साथ इन्द्र का जो युद्ध हुआ वही देवासुर संग्राम कहलाता है। यह हो सकता है उन दिनों दाशराज्ञ युद्ध के समान दैवी और आसुरी वृत्ति के आर्यों में भयंकर संघर्ष हुआ हो, उसी इतिहास को प्रतीक या

आधार बनाकर इन दार्शनिक देवासुर संग्रामों की केवल कल्पना (कल्पशास्त्र में अभिनय के लिए) की गई है। वास्तव में देवासुरसंग्राम वास्तविक संग्राम के रूप में कभी सत्ता में आया ही नहीं। इस बात को स्वयं ऋग्वेद निम्न ऋचाओं द्वारा सूचित करते हुए लिखता है कि "हमें उसकी बात समझ में नहीं आती जो यह कहता है कि देवताओं ने युद्ध में अदेवयू या आसुरी वृत्तिवाले देवताओं या दैवी वृत्ति को न माननेवालों को मारा। पर जब कोई यह कहता है कि उनके युद्ध का वर्णन तो मृधा या व्यर्थ में कल्पना मात्र हैं तब प्रतीत होता है कि कोई समझदार बातें कर रहा है। इन्द्र तो स्वयं विकसित होते हुए नाना रूपों को पाता है तो उसका वर्णन सेना के रूप में बल के रूप में किया गया है।

वेदों में जिन-जिन तत्त्वों या देवों के युद्धों की वर्णना आई है वे सब माया या योगमाया हैं, इन्द्रादि देवताओं का तो न कभी कोई शत्रु रहा है, न था। "जैसे"

११—देवासुरसंग्राम योग माया

नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्समरणे जघन्वान्।
यदावाख्यत्समरणमृधावदादिद्ध मे वृषभाः प्रब्रवन्ति ॥
(ऋ० वे० १०-२७-३) और

यदाऽऽचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्यः शत्रुर्न पुरा विवित्से ॥
(ऋ० वे० १०-५४-२)।

इस प्रकार यह भावना या ज्ञान वैदिक युग में सर्वत्र सबको भली भाँति विदित रहा; अतः इसका उल्लेख उपर्युक्त दो स्थलों में तो मिलता ही है, और साथ में श० प० ब्रा० (११-१-६-१०) भी इसी बात को इन्हीं शब्दों और ऋचाओं को उद्धरण सहित देकर अनुमोदन करते हुए लिखता है।

"नैतदस्ति यद्देवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुच्यते। इतिहासे त्वद्।
ततो ह्येतावान्प्रजापतिः पाप्मनाऽविध्यत्ते तत एव पराभवन्ति।
तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्"

न त्वँ युयुत्से कतमच्चनाहर्नतेऽमित्रो मघवन्कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहु र्नाद्यः शत्रु र्न पुरा युयुत्स इति ॥"

कि व्याख्यानों में जो देवासुर संग्राम की चर्चा की गई है वह वास्तविकता नहीं है (तत्त्वों में कभी युद्ध नहीं हुआ), हां इतिहास में ऐसे युद्ध हुए (जो इनके केवल आधार मात्र है, तत्त्वों में देवी और आसुरी वृतियों का संघर्ष है, दैवीको आसुरी घेरती है पर फिर दूर हो जाती है)। इसीलिए ऋषि या शुक्ल यजु के ऋषियों ने कहा है कि हे इन्द्र तुमने किसी दिन युद्ध नहीं किया, तुम्हारा कोई शत्रु है ही नहीं। जिन युद्धों का वर्णन कथाओं में आता है वे सब इसीलिए, काल्पनिक हैं, क्योंकि न तो तुम्हारा कोई आदि का शत्रु रहा, न तुम कभी युद्ध लड़े।" इससे अधिक स्पष्टवादिता और क्या हो सकती है। इन्द्रादि का वर्णन फलतः तात्त्विक वर्णन

स्वयं सिद्ध हो जाता है। इन्द्र के सम्बन्ध में जो कुछ भी वेदों में है वह इन्द्र तत्त्व का पारस्परिक विकास बतलाता है।

जिस प्रकार इन्द्रवृत्र आदि के कथानक इन्द्र तत्त्व के विकास को चतुर्थ सप्तकीय तत्त्वों की दैवी आसुरी वृत्तियों के द्वन्द्व का वर्णन करते हैं उसी प्रकार के कुछ अन्य कथानक-जिनमें इन्द्र को पर्वतों और नदियों का भेत्ता कहा गया है—इन्द्र तत्त्व की व्याख्या को पञ्चपर्वा विद्या के रूप में करते हैं। बृहस्पति की तरह इन्द्र को पर्वतों का भेत्ता माना गया है। सात सप्तकों या पञ्चपञ्चकों में से प्रत्येक एक-एक पर्वत या नदी है। इन कथाओं में प्राण रूप इन्द्र के पर्वतों या प्राणरूप नदियों की वर्णना की गई है। आदि पर्वत हेमकूट या हिमगिरि है जिसका उल्लेख 'मनोरवसर्पण' में दी गई है। हिमगिरि के नाना कूटों की तरह ब्रह्मव्याख्या के नाना कूट या सारणियाँ हैं। अतः ब्रह्म को कूटस्थ भी कहते हैं। १०, १० के पाँच पर्वत मुख्य है। कोई सप्तकों से सात पर्वत भी मानते हैं। इनकी व्याख्या 'इन्द्रापर्वतौ' देवता के रूप में करते हैं। इन्द्रापर्वतौ' माने इन्द्र की पर्व-पर्व में पर्वत रूप में व्याख्या करना है। पञ्चपर्वा विद्या देखें। वहीं पञ्चनदी या सप्तनदी रूप व्याख्यान भी दिये गये है।

१२–इन्द्र और पञ्च-पर्वा विद्या के पर्वत्त और नदी

'इन्द्रो अस्मा अरदद्वज्रबाहु रपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
(ऋ० वे० ३-३-५-३-२-१-६)

में विपाट् शुतुद्री का उत्थान उपस्थ या मध्यस्थान से बतलाया गया है। २४ वें सरस्वती से पूषण का उदय होता है। उसे वृत्रघ्नी कहा गया है (६-६१ से ७) (वृत्र देखें)। भागीरथी गंगा हिमगिरि रूप प्रथम पर्वत के ब्रह्मकमण्डलु से निकलकर द्वितीय पर्वत रूप रुद्रकी जटाओं में उलझती हुई तृतीय सप्तक में यमुना आदित्यों की पुत्री के साथ साथ प्रगट होती है। २६ वें तत्त्व में त्रिवेणी 'गंगा यमुना सरस्वती' भी त्रिवेणी गायत्री बन जाती है। पर्वतों और नदियों का यही महामहत्व है। इन नदियों के प्रत्येक तत्त्व रूप पर्व या तीर्थों में ज्ञान का स्नान कीजिए। इन विद्याओं का इन्द्र सर्वादेवता इन्द्र है, यह ध्यान में रहे। इन्द्र का वर्णन यम के रूप में भी मिलता है, यहाँ इन्द्र का नाम निषिध नड (नल) है जैसे—

अयुञ्जन्त विश्वकृष्टी विदानास्ते निषिधो मर्त्यत्रा।
मरुतां पृत्सुति र्हासमाना स्वर्मीळ्हस्व प्रधनस्य सातौ ॥
(ऋ० वे० १-१६९-२)

श० प० ब्रा० (२-२-४-१, २) ने इसका समर्थन इस प्रकार किया है।

"तस्मिन्वसति इन्द्रो यशो राजा नडो
नौषिधोऽनश्नन् संगमनोऽसन् पांसवः।
तद्वा एष एवेन्द्र यदाहवनीयः॥

अथैष एव गार्हपत्यो यमो राजा ऽथैष एव
नडो (नलः) नैषिधो यदन्वाहार्यपचनः।
तद्यथेतमहरहः दक्षिणत आहरन्ति तस्मादाहु
रहरहर्वै नडो नैषिधो यमं राजानं दक्षिणत उपनयन्तीति ॥"

इस प्रकार यहाँ प्रख्यात नलदमयन्ती के इतिहास को भी इन्द्र के वर्णन में गृहीत किया गया है।

इन्द्र को आसन्दी में "स्वराट्" की पदवी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व होने के कारण दी गई है। चतुर्थ सप्तक में पणियों और गायों की कथा भी आती है जिनका वर्णन ऋग्वेद १०.१३० में किया गया है। पणि आसुरीवृत्ति के हैं। इनका अभ्युदय चतुर्थ सप्तक की भौतिकता की अनन्ता से होता है। ये धी या बुद्धि रूप मौलिक भौतिकात्मा के प्रेम के आसुरी पणित्व को धारण करते हैं। ये गायों के रक्त या मांस को खाने वाले हैं, देवता उनका दूध रूप ज्ञान पीते हैं आदित्यों का नाम 'गावः' है, ऐ० ब्रा० (४-३-१७)। तृतीय सप्तक में त्रिपादामृतीय एक ही गौ या धेनु होती है, वही चतुर्थ सप्तक की भौतिकता में अनन्त धेनुओं का रूप धारण कर आसुरी वृत्ति रूप या विशों के वशीभूत हो जाती हैं। चतुर्थ सप्तक ही विष्णु का भी सप्तक है जिसके परम पद या स्थान रूप २७ वें तत्त्व में 'यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः' (ऋ० वे० १-१५४-६) कहा गया है। यही इन्द्र या विष्णु का व्रज या गोष्ठ है। पणि रूप आसुरी वृत्ति के असुरों से गायों को लाने या बुद्धि तत्त्व को दैवी प्रेरणा की ओर खींचने के लिए इन्द्ररूप त्रिपादामृत के त्रिपादामृतीय प्राणरूप सरमा शुनी दूती बनकर पणियों से कथोपकथन द्वारा गायें वापस लाने का सफल प्रयास करती है। कथोपकथन में बृहस्पति (इन्द्र) की चर्चा ब्रह्मरूप में आई है जिसे पौराणिक इन्द्र का गुरु कहकर प्रकारान्तर से इन्द्र से श्रेष्ठ मानते हैं। शेष 'सरमा शुनी और पणि' शीर्षक में देखें)

१३—इन्द्र और आसन्दी

सोम या चन्द्र को इन्द्र की इन्द्रिय कहा है। वेदों में इन्द्रिय माने 'रस' होता है। यह रस इन्दु रूप में सूर्य तत्त्व से टपकता है, वही रस भौतिकात्मा रूप रस या भौतिकशरीर का दिव्य शरीर है। अतः सोम या चन्द्र, इन्द्र की इन्द्रिय है कहने का सीधा अर्थ यह है कि इन्द्र ने सोम नामी भौतिकात्मा के रस* रूप शरीर या दिव्य शरीर को पहिन लिया या स्वीकार कर लिया (सोम शीर्षक देखें)। श० प० ब्रा० (११-१-६-१८) ने सर्वादेवता सोम को परमेष्ठी देवता बतला कर इन्द्र को इस परमेष्ठी का पुत्र भी बतलाया है। इन्द्र की इन्द्रिय तो चन्द्रमा है, सर्वादेवता सोम परमेष्ठी पिता। इससे यही निर्णित होता है कि इन्द्र उतने प्रकार के योगियों का सेव्य है जितने तत्त्व रूप ऋषि हैं, इसकी भी सूचना ऋग्वेद : ४-२५-८ स्वयं इस ऋचा से देता है।

१४—इन्द्र और सोम

"इन्द्रो परेऽवरे मध्यमास यान्तो ऽवसिताश इन्द्रम्।
इन्द्रं क्षियन्त उत युद्ध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ॥"

* इन्द्रिय की रस रूप व्याख्या 'सोम' शीर्षक में देखें।

इन्द्र ही सोम क्यों पीता है ? यह इन्द्र तो मायावी है इसकी जितने रूपों में भी व्याख्या की जाय वही कम है। इन्द्र का उत्तम सूक्त 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' इत्यादि ऋग्वेद २-१२ सूक्त है। खाने या पीने का कार्य केवल प्राण ही कर सकता है। यह इन्द्र मध्यम प्राण रूप है। अतः देवताओं में खाने पीने की शक्ति केवल इसी इन्द्र में है। पर इसके पास मुख तो है ही नहीं। अतः यह अग्नि के मुख से खाता पीता है, तब जाके अन्य देवताओं को इन दोनों के द्वारा गृहीत हवि मिलती हैं, अन्य देवता विभिन्न अंगरूप हैं।

इन्द्र के सम्बन्ध में निम्नलिखित अन्य सामग्री मननार्थ दी जाती है। एष वै शुक्रो य एष तपत्येष एवेन्द्रः (श० ४-५-५-७), अथ य स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः (श० ८-५-३-२), तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति (श० ११-१-६-८), यो वै

१५ इन्द्र विषयक श्रुतियाँ

वायुः स इन्द्रः (श० ४-१-३-१९), योऽयं चक्षुषि पुरुष एष इन्द्रः (जै० उ० १-४३-१०), प्राण एव इन्द्रः (श० १२-९-१-१४), हृदयमेवेन्द्रः (श० १२-९-१-१५), यन्मनः स इन्द्रः (गो० उ० ४-११), रुक्म एवेन्द्रः (श० १०-४-१-६), यजमानो स्वे यज्ञ इन्द्रः (८-५-३-८), स्तनयित्नुरेवेन्द्रः (श० ११ ६-३-९), इन्द्रो ब्रह्म (कौ० ६-१४), देवलोको वा इन्द्रः (कौ० १६-८), इन्द्रो बलं बलपतिः (श० ११-४-३-११), वीर्यं वा इन्द्रः (नै० १-७-२-२), शिश्नइन्द्रः (१२-९-१-१६), अर्जुनो ह नामेन्द्रः (श० २-१-२-११), इन्द्रो ह्याहवनीयः (श० २-६-१-३८), इन्द्रः सामैव (जै० उ० १-३१-१), ऋकूच सामानि चेन्द्रः (श० ४-६-७-३), इन्द्र आसीत्सीरपतिः शत क्रतुः (नै० २-४-८-७), ओकः सारी वा इन्द्रः (ऐ० ६-१७), इन्द्रो यज्ञस्य नेता (श० ४-१-२-१५), इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता (श० (श० १-४-१-३१), ऐन्द्रा वै पशवः (ऐ० ६-२५), इन्द्रो वा अश्वः (कौ० १५-४), मध्यस्थो वा इन्द्रः (कौ० ५-४), सह्यैन्द्रो यद्वृषभः (श० २-५-३-१८), सेना इन्द्रस्य पत्नी (गो० उ० २-९), ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (ऐ० २-२४), स इन्द्रस्तुरीयमभवत् (नै० १-७-१-३), ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम (ताँड्य १४-२-५), प्राणोदानौ वा इन्द्राग्नी (श० २-५-२-८), प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी (तै० १-६-४-३), बलं वै तेजः इन्द्राग्नी (गो० उ० १-२२), ब्रह्मक्षत्रे वा इन्द्राग्नी (कौ० १२-८), अमृतं इन्द्राग्नी १०-४-१-६), इन्द्राग्नी वै देवानां मुखम् (कौ० ४-१४), इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः (श० १०-४-१-९), इन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः (श० ८-१-२-२८), इन्द्राग्नी वा इदं सर्वम् (श० ब्रा० ४-२-२-१४), अस्ति वै छन्दसां देवता इन्द्राग्नी (श० १-८-२-१६), क्षत्रं वा इन्द्राग्नी (श० २-४-२-६), इन्द्रामरुता उक्षाणः (ताड्य २१-१४-१२), संवत्सरो वा इन्द्रा शुनासीरौ (तै० २-७-८-१), दर्शपूर्ण मासयो वै देवते स्त इन्द्राग्नी एव (श० २-४-४-१७)।

'माया रूप इन्द्र', और 'इन्द्र जाल' या माया जाल' पर अगले अध्याओं में दिये गये इन्हीं शीर्षकों को देखें।

———

अध्याय ८९

इन्द्राणी, वृपाकपिः और वृषाकपायी

यह बतलाया जा चुका है कि इन्द्र एक नही कई तत्त्वों का नाम है। अतः जितने इन्द्र उतनी ही इन्द्राणियाँ हैं। इन्द्र मुख्यतः दो प्रकार का है त्रिपादामृत (आध्यात्मिक) और भौतिकात्मा सोम युक्त या सोमपा इन्द्र।

१—इन्द्राणी

इन्द्राणी इसी सोमपा इन्द्र की पत्नी है, उषा का नाम भी मघोनी है, वह भी इन्द्र की ही पत्नी है, पर इसमें भौतिकात्मा का पूर्वाभास मात्र है, पूर्ण भौतिक नहीं है, हाँ सायंकालीन उषा पूर्ण भौतिकात्मा युक्त है। उषा जैसी आध्यात्मिक त्रिपादामृतीय पत्नियों के बारे में इन्द्र बेचारा स्वयं कहता है

"न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥"
(ऋ० वे० १०-८६-६)

स्त्री के एसे काम भौतिक शरीर से ही सम्पन्न हो सकते हैं, अभौतिक स्त्रियाँ ऐसा कैसे करें। वे तो सम्परिष्वक्तात्मा तादात्म्य रूप से रहने वाली ठहरीं। इन्द्राणी इत्यादि भौतिकात्मा स्वरूप पत्नियों के बारे में लिखा है

"इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगा महमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पति र्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥"
(ऋ० वे० १०-१०-११)

कि स्त्रियों में इन्द्राणी को मैंने सदा परम और सौभाग्यवती सुना है, क्योंकि इसका अपना प्रिय पतिः इन्द्र जो सम्पूर्ण भौतिकता से उत्तर (पूर्वार्द्ध) में रहता है वह कभी भी जरा को न तो प्राप्त होता है न जरा से मरता है; भौतिकात्मा भी अमर ही है।" विश्वस्मात् माने भौतिकात् होता है; उत्तर माने भौतिकता से ऊपर पूर्वार्द्ध। इन्द्रकी की पूर्वार्द्धीय अभौतिक पत्नियों में 'शची' उसकी अपनी तेजस्विता की शक्ति है 'शक्तिरेव शची।' जब शची भौतिकता में परिणत होती है तब वह उषा या उषासानक्ता (नक्तोषा) या इन्द्राणी कहलाती है। इन्द्र पुरुष रूप तत्त्व, जब इन्द्राणी रूप भौतिकात्मा से युक्त होकर स्त्रीपुमांसस्परिष्वक्त शरीर को ग्रहण करता है तब भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना का आरम्भ होता है। सर्वप्रथम इन्दु फिर सोम फिर वृत्रादि भौतिक स्थूल व्यापक तत्त्व बनने लगते हैं। सब के सब कविः बुद्धि (धी) रूप में प्रस्तुत होते हैं, जिनका स्वरूप रसमय, सरःमय आपोमय या विद्युन्मय ही होता है, जिन्हें भौतिक शब्द ब्रह्म अन्नं ब्रह्म आदि नामों से भी पुकारते हैं। 'उषा और उषासानक्ता' का वर्णन इन्हीं नामों के शीर्षकों में पृथक् दिया गया है।

वृषाकपिः नाम भी इन्द्र का ही है, पर यह नाम वरूण का प्रतिनिधि है। मित्र वरुण दोनों २४ वें तत्त्व हैं। दोनों इन्द्र के रूप हैं। वृषा नाम भी इन्द्र का ही है, वृषा माने वृष रूप वृषभ रूप वर्षणशील तत्त्व है, कपि शब्द का धातु ऋ० वे० १०-१०-१७ में 'कपृत्' (अकपृत्) दिया है इसका सम्बन्ध 'सक्थ्याकपृत्' द्वारा सक्थि से जोड़ा है जिसका अर्थ उछलना और उठाना होता है। अतः 'वृषा कपिः' पूरे शब्द का अर्थ इन्द्र के विकास को उत्तेजित करना होता है।

२—वृषाकपायी और वृषाकपिः या पुरुष-पशुः

पुराणों ने वृषाकपि को इन्द्र का पुत्र बतलाया है; पर ऐ० ब्रा० (६-५-२९-३०,३१,३२,३६) ने वृषाकपि को एवया मरुत, रेतः तथा आत्मा नाम से पुकारा है। अथर्ववेद (३-४-२-५-६) ने 'शुन' का अर्थ कीनाश (कपिः) सुफाल, वाहा, नर लाङ्गल इत्यादि दिया है जिससे 'शुनासीर' (इन्द्र) की व्याख्या की है। अतः उक्त सभी सन्दर्भों के समन्वय से यह प्रतीत होता है कि वृषाकपि नाम मारुति हनुमान (वानर) का प्रतीक है। वानर इसलिए कहा है कि यह वरुण चतुर्थ सप्तक का प्रथम तत्त्व है, अभी चतुर्थ सप्तकीय पूर्ण नरता (भौतिकता) को नहीं प्राप्त हुआ है। 'वा विकल्पेन नरः इति वानरः, यह तैजसीय वायवीय इन्द्र का स्वरूप है। इसलिए इन्द्र कहता भी है कि हे इन्द्राणि मैं वृषाकपि के बिना (अपने वायवीय तैजस रूप के बिना) सुख नहीं पाता, उसकी हवि, जो अप्य या आपोमय चतुर्थ सप्तकीय है, सब देवताओं को मिलती है जैसे—

"नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥"
(ऋ० वे० १०-८६-१२)

इसलिए राम को हनुमान इतना अधिक मान्य और प्रिय है। वृषाकपिः इन्द्र का ही एक विकास है। अतः उसे इन्द्र पुत्र रूप में कहना लौकिक रूप में कहना है। इस प्रकार का संकेत ऋ० वे० १०-१०-१२ में भी मिलता है, जिसमें वृषाकपि की पत्नी वृषाकपायी को स्नुषा या बहू और सुपुत्रा के नाम से पुकारा गया है। उसका एक और नाम रेवती भी दिया है। रेवती का स्थान भी २४ वां ही पड़ता है। यह गन्धर्व गणना के चित्र में दिखलाया जा चुका है। इससे उक्त वृषाकपि के स्थान की भी पुष्टि हो जाती है। जैसे—

"वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हवि विंश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥"

हे वृषाकपायि सुपुत्रे रेवति! सुस्नुषे! तुम्हारी सुखमय हवियों को वह इन्द्र खावे या पावे जो भौतिकता से उत्तर में है। यह वृषाकपायी, इन्द्र और इन्द्राणी की स्नुषा (बहू) है। स्वयं वृषाकपि के बारे में लिखा है

"पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि यथा पुनः, विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥"
(ऋ० वे० १०-८६-२१)

आध्यात्मिक सृष्टि स्वप्नवत् सर्वोत्कृष्ट होती है, भौतिकता में अपूर्णता होती है। यह वृषकपि भौतिकता का सुविता या प्रस्ताविता तो है, पर स्वप्ननंशन भी है; पूर्णता असीमता का नाश कर असीमता पूर्णता में बद्ध कर देता है, पुरुष को पुरुष पशु बना देता है जैसे हनुमान या गजमुख वामन या मार्तण्ड हयग्रीव अज दक्ष इत्यादि और वह स्वयं त्रिपादामृत अप्रधान बन कर अस्त सा हो जात है; यह उसका अपना मार्ग है, ऐसे तुम फिर लौट आओ, इन्द्र तो भौतिकता से ऊपर है॥ "यह ऐसा तत्त्व है जो पुष्ट तत्त्वों में मस्त होने पर (चतुर्थ सप्तक में) प्रसव करने लगता है तो इन्द्र को भी देवता नही मानता।" (१०-८६-१)। जब वह बहुवादी मृग (चन्द्रमा) वृषाकपि के घर में उड़ता आया, वह अब कहाँ चला गया।" (१०-८६-२२)

"वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।
यत्रामदद्वृषाकपि रर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्व० ॥"
"यदुद्ञो वृषाकपेर्गृहमिन्द्राजगन्तन।
कस्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्व० ॥"

अध्याय ५६

मरुतः (विश् गणत्वात्)

मरुत शब्द की निरुक्ति में निरुक्तकार लिखते हैं कि 'मित राविणे वा मित रोचिनो वा महद्द्रवन्तीति वा' (निरुक्त ११-२-१ या ११-१३) । होना यह चाहिएः—

१-- मरुत शब्द की निरुक्ति

'म् कारेण रवन्तीति रौतीति रुदन्तीति रुचन्तीति वा' कि जो 'म्' (ँ) अनुनासिक ध्वनि में ध्वनित चलित या ज्वलित होते हैं, न कि वे जो सीमित ध्वनि के या सीमित प्रकाशित या बहुत भगने वाले हैं; क्योंकि मरुत सीमित नहीं, असीम निःसीम और व्यापक तत्त्व हैं और इनकी अपनी पृथक् प्रकार की ध्वनि है । ये ध्वनि के पर्व या पर्वत हैं । शब्द ब्रह्म पर्व या पर्वत हैं ।

वेदों में मरुत तत्त्व महत्वपूर्ण देवता है । इनके लगभग २५ सूक्त ऋग्वेद में मिलते हैं । मरुत एक नहीं अनेक हैं, वैदिक दर्शन में जितने तत्त्व हैं उतने ही मरुत

२ वेदों में मरुतों की महत्ता

हैं । अतः इन्हें सदा बहुवचन में मरुतः या मरुद्गण कहते हैं और ये अग्नि और विष्णु की तरह इस प्रकार सर्वदेवता भी हैं । फलतः मरुतों का सम्बन्ध वेदों के मुख्य देवता रुद्र और इन्द्र आदि से अभिन्न रूप में वर्णित किया मिलता है । कहीं-कहीं इनका वर्णन वातः या वायु या प्राणाः के रूप में भी किया गया है जिनमें से 'वायुः' 'अरेपसः' और 'सरपः' दो प्रकार का है, उक्त दो प्रकार दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध; या आध्यात्मिक और भौतिक वातों का विभाजन देते हैं (वायु और रुद्र देखें) ।

मरुत, रुद्र और इन्द्र तीनों देवता एक ही मार्ग के हैं । वैदिक देवताओं के विकास की परम्परा तीन प्रकार से बतलाई गई है जिनमें से ब्रह्म या अग्नि तो बृंहण

३---मरुत रुद्र और इन्द्र

या अग्रसरण का कार्य करते हैं; विष्णु अदिति आदि विशतीति विष्णु या अदिति या आदित्य प्रथम तत्त्वों के बृंहण या अग्रसरण को स्थिति या सत्ता या सत्व देते हैं; तो मरुत रुद्र इन्द्र आदि देवता उनको रौद्र रूप रोदन रूप, सतता क्रियाशील स्वयं विकास ह्रास योग्य बनाकर उन्हें प्रकृति या स्वभाव का स्वरूप प्रदान करते हैं । प्रथम में मन द्वितीय में वाक् तृतीय में प्राण विकास पाते हैं; तीनों विकास यौगपद्येन से चलते हैं । अतः इन सबकी सत्ता युगपत् या त्रिवृत् रूप में मानी गई है । मरुतों का विकास रौद्र रूप में रव रूप में रोदन या प्राण रूप में होता है । यही रौद्र रूप 'रावण' रूप में परिणत होता है । यह रावण रूप रुद्र का ही विकास है । अतः रावणादि राजाओं को रुद्र भक्त कहा गया है जिसे अथर्व 'ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दशशीर्षो दशास्य': (४-२-१५) कहता है, ये ब्रह्म के ब्राह्मण रूप हैं । मरुत गणरूप देवता है; मरुत, रुद्र और

इन्द्रादि का रौद्र रूप, गणात्मकतया है, प्रत्येक वस्तु गुणों के कारण ही भयंकर लगती है। गण मुख्यतया मरुतों के हैं, मरुतों के सात गण हैं, कुल ४९ तत्त्व है या ४९ मरुत हैं, रुद्र ११ हैं यह रुद्रों का एक गण है, पर मरुतों के गण भी रुद्र के ही गण हैं, इन्द्र का नाम ही मरुत्वान् है। अतः इन्द्र भी मरुद्गणों से युक्त है और इन्द्र का वज्र भी मातरिश्वा नाम के दधीच (की हड्डियों) से बना है कहा जाता है। मरुतों का सम्बन्ध इषु अञ्जन और पर्वतों से भी है। इन्द्र को जिन पर्वतों के पंखों का भेत्ता कहा जाता है वे ये ही इन्हीं मरुतों के आञ्जनेय इषुमान् पर्वत हैं।

अस्तु मरुतों के पिता रुद्र हैं 'अधा पितरमिष्मिणं रुद्रं वोचन्ति शिकसः' (ऋ० वे० ५-५२-१६)। ये सात गण के हैं "व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिरग्नेर्भाम मरुतामोज ईमहे" (ऋ० वे० ३-२६-६)। प्रत्येक गण में सात-सात मरुत हैं, इन सातों को 'सदः' या सप्तक कहते हैं। अतः इन्हें इन सप्तकों या सदों का निर्माता कहा गया है जैसे

४—मरुतों का वर्णन

"प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन्रुद्रस्य सूनवः सुदंससः।"
"त उक्षितासो महिमानमाशत दिवि रुद्रासो अधिचक्रिरे सदः।"
'सदस्कृतः' (ऋ० वे० १-८५-१, २, ६)

इनकी माता का नाम प्रश्नि है 'प्रश्निं वोचन्ति मातरम्' (ऋ० वे० ५-५२-१६) अतः इन्हें प्रश्निमातर और गोमातरः नाम से भी पुकारा जाता है, और रुद्र के नाम से 'रुद्रासः', भी

"अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियमधिश्रियो दधिरे प्रश्निमातरः।"
"गोमातरो यच्छुंभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः॥"
(ऋ० वे० १-८५-२,३)

ये चमकीले सात्विक तत्त्व हैं। अतः 'अञ्जिभिः विरुक्मतः' लिखा है, इन्हीं से पर्व या पर्वत बनते हैं जो आञ्जनेय या आञ्जन कहलाते हैं। इन्हे रघुष्यद् या रघुत्वपान नाम से पुकारा है (ऋ० वे० १-८५-६)। इन्हीं से वज्र बनने की चर्चा ऋ० वे० १-८४-१३ और १-८५ ९ में की गई है; दधीच नाम मातरिश्वा नामक मरुतों का है। यह इन्द्र वर्णन में बतलाया जा चुका है (ऋ० वे० १०-४०-२–'दधीचे मातरिश्वने')। मातरिश्वा नाम चतुर्थ सप्तक के प्राण वायुओं का है। "मातरिश्वा यन्मातरि वातस्य सर्गः॥" (ऋ० वे० ३-२९-)। माता आपः या गाव हैं, चतुर्थ सप्तक के हैं।

मरुतों के प्राण वायु विद्युन्मय हैं, रोचिष्मान् हैं जिन्हें 'स्वर्का' या 'अर्का' या दिवो अर्का भी कहा जाता है। ये कल्याणकारी अश्व या अश्वपर्ण भी कहलाते हैं। यही वैद्युतीय मरुत् पर्वतों का निर्माण करते हैं जैसे "आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैरथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।"......"विद्युन्मासो धनयन्ते अद्रिम्" (ऋ० वे० १-८८-१, ३) "संविद्युता दधाते वाशति" (ऋ० वे० ५-५४-२) 'विद्युन्महस्ते' ५-५४-३ "दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे" (ऋ० वे० ५-५७-५)। ये आञ्जन पर्वत सर्वतोभद्र चक्र में चलते हैं।

५—मरुत और प्राण-वायु

"भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः।
अंसेस्वत्ता पविषु क्षुरा अधिवयोनपक्षान्व्यनुश्रियो धिरे॥"
(ऋ० वे० १-१६६-१०)

इन (मरुतों का नाम) यज्ञायज्ञ भी है (ऋ० वे० १-१६०-१)। इन्हें 'सुदानव' और 'अहिभानवः' नामों से भी पुकारा गया है (ऋ० वे० १-१७२-२-३)। इन्हे जाति में विश् तथा 'अश्म' नाम से भी सम्बोधित किया है (ऋ० वे० १-१७८-२, ३)। इन मरुतों को 'धारावरा' (धारा में प्रवाहित होने वाले) भी कहा है

"धारावरा मरुतो धृष्णवोजसो मृगा न भीमा तविषीभिरर्चिनः।"
(ऋ० वे० २-३४-१)

ये मरुत अपान ब्रह्म या चतुर्थ सप्तकीय भौतिक अपान वायुओं का प्रतिदिन निर्माण करते हैं।

"तं नो दात मरुतो वाजिनं रथ आपानं ब्रह्मचितयद्दिवेदिवे।"
(ऋ० वे० २-२६-७)

मरुतों का एक विशेषण 'ऋक्व' दीप्तिमय भी है जैसे "श्यावाश्व धृष्णुयार्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः" (ऋ० वे० ५-५२-१) इनकी दीप्तियों से बृहस्पति का विकास होता है, जैसे बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः" (ऋ० वे० १०-१४-३)। फलतः मरुतों का विकास बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति ही का विकास है। ऋक्व विशेषण पितरों का है। अतः पितर भी दीप्तिमय हैं। मरुतों का सम्बन्ध पर्वतों के साथ होने से, परुष्णी यमुना सरयूः (ऋ० वे० ५-५२-९, १७; ५-५३-९) की चर्चा इनके साथ की गई है और इन्हें 'अद्रिभेत्ता' 'पर्वतच्युत' भी साथ-साथ कहा है (५-५४-३) "अश्मानं चित्स्वर्यं पर्वतं गिरिं प्रच्यावयन्ति यामभिः" (ऋ० वे० ५-५६-४)। साथ में वहीं 'अश्म दिद्यवो' मणि समान ज्योतिष्मान कहा है। इनके सात सप्तकों को 'सप्त शाकिनः' नाम से अंकित करते हुए लिखा है।

६—मरुतों का सम्बन्ध पितर और पर्वतों से

"सप्तते सप्तशाकिन एकमेका शता ददुः"। (ऋ० वे० ५-५२-१७)

ये ४९ हैं पर सबका जन्म, एक साथ होता है विकास, क्रम से, जैसे

"साकं जाताः सुभ्वः साकमुक्षिता श्रिये चिदा प्रतरं वावृधुर्नरः।
विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः शुभं मातामनुरथा अवृत्सत॥"
(ऋ० वे० ५-५५-३)

इनमें से न कोई बड़ा भाई है न कोई छोटा भाई, सब बराबर हैं और ये उद्भिद हैं अमध्यम हैं जैसे

"ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा प्रश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥"
(ऋ० वे० ५-५९-६)

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुधा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥"

(ऋ० वे० ५-६०-५)

जब इनका विकास उत्तरार्द्ध में भौतिक रूप में होता है तब वैदिक ऋषि कहते हैं "के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमा य एक-एक आयथ। परमस्याः परावतः ।" (ऋ० वे० ५-६१-१)

मरुत, पृषत् या प्राण रूप अश्व में रहते हैं (यदध्वान्यूर्पु पृषतीरयुग्ध्वं हिरण्यया-प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम् ऋ० वे० ५-५४-६)। अतः इन्हें 'पृषदश्वा' नाम से भी पुकारा जाता है।

आ ये तस्थुः पृषतीषु श्रुताषु सुखषु रुद्रा मरुतो रथेषु।

७—मरुत और पृषदश्वा ये इन्द्र के साथी हैं अतः 'इन्द्रवन्तः' भी कहलाते हैं

'आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसः'

(ऋ० वे० ५-५७-१)

अन्य देवताओं की तरह इन मरुतों को भी 'असुर' और अग्नि या पावक नाम से घोषित किया है, विद्युत्स्वरूप होने से ये दोनों नाम उपयुक्त ही हैं।

"शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः।
ऋतेन सत्यमृतसाप आयञ्छुचिजन्मानः शुचयः पावकाः॥"
"कृते चिदत्र मरुतो रणन्तानवद्यासः शुचयः पावकाः"

(ऋ० वे० ७-५६-१२, २४; ७-५७-५)

"जननां यो असुरो विधर्ता"

ये मरुत मधु के उत्स भी हैं

"मध्वो वो नाम मारुतं यजत्राः प्र यज्ञेषु शवसा मदन्ति।
ये रेजयन्ति रोदसी चिदुर्वी पिन्वन्त्युत्सं यदयासुरुग्राः॥"

(ऋ० वे० ७-५७-१)

इन्हें 'सनीलाः नराः (७-५६-१; १-१६५-१) नाम से पुकारा गया है। ये सनील मरुत उत्तरार्द्ध के हैं। सनील=सनीड=घोंसले सहित

ऋ० वे० दशम मण्डल ७७, ७८ वें सूक्तों में, इनको 'आदित्य' या अदिति पुत्र के नाम से भी उच्चारित किया है

"दिवस्पुत्रास एता न येतिरे आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधुः।"

(१०-७७-२)

८—मरुत और बात

"ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमा आदित्येन नाम्ना शम्भविष्ठाः"

(१०-७७-८)

कहने का तात्पर्य यह है कि इन्हीं मरुतों का विकास २० वें तत्त्व से आदित्य नाम से पुकारा जाता है; क्यों कि अन्तिम ऋचा में इनको आदित्य नाम से अवतीर्ण होने वाले (शम्भविष्ठा) कहा है, इन्हीं को यज्ञ में 'यज्ञियास' कहते हैं। ऋ० वे० १०-७८ में इनको स्वाध्याय युक्त विप्र के समान कहा है 'विप्राः' नाम भी द्वितीय सप्तक या मरुत्सप्तक का है। इनके मुख्य ब्रह्मा का नाम ऋषि है जैसे 'ऋषिर्विप्राणाम्' (सोम देखें) तथा इन्हें स्वप्नावस्थ बतलाया है। एक विशेष बात यह है कि वहाँ इन्हें 'वातास' (वायु देवता) के रूप में घोषित कर दिया, तथा इन्हें विश्वरूप भी बतलाया है। ये नदियों की तरह उत्तरार्द्ध की ओर प्रस्थान करते हैं, यहाँ इन्हें 'सिन्धु मातरः' भी कहा है। इनकी प्रशंशा में लिखा है कि ये धूनन में वात की तरह, जिह्वा में अग्नि की तरह, योद्धाओं की तरह वर्म कवच वाले और पितरों की तरह कल्याण चाहने करने वाले और देवताओं के प्रिय है (२) इन्हें उषा का केतु या झंडा भी बतलाया है तथा अध्वर की श्री भी (७) ये राजाओं की तरह चित्र विचित्र वेष के हैं तथा पृथ्वी ब्रह्म की तरह अरेपस' या बाधाहीन सुखदायक भोगदायक (१) इत्यादि। इस सूक्त में उपमाओं की भरमार है।

ऋ० वे० १०-७८-१ के मन्त्र

"विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो देवाव्यो न यज्ञैः स्वप्नसः।"

के अनुसार ये विप्र और देव रक्षक हैं, यज्ञ के समान स्वप्नशील हैं। विप्र नाम 'सप्त विप्राः' उद्धरण के अनुसार सप्तर्षियों का है। इसका समर्थन वामन पुराण (३८-५) इस मन्त्र से करता है

"सप्तधा प्रतिभागं तु कलशस्थं जगामह।
तत्रर्षयः सप्त जाता विदुर्यान्मरुतो गणान्॥"

अर्थात् कलश से उत्पन्न सात ऋषियों का ही नाम मरुद्गण है। ये ऋषि अङ्गिरसों से भिन्न है क्योंकि मरुतों और अङ्गिरस ऋषियों को एक साथ उत्तर का वासी बताया है जैसे 'ध्रुवायां दिशि देवामरुतश्चाङ्गिरसश्च' (श० प० ब्रा० ८-६-३-३)। अतः ये मरुतः सप्तर्षि सिद्ध होते हैं।

ऋ० वे० ८-७ में भी मरुत देवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें पूर्वोक्त सबका सार-सा संगृहीत किया गया है। ऋ० वे० ४-३९-४ में दधिक्रावत्, इष ऊर्जः महः आदि नाम भी मरुतों के बतलाये हैं जैसे

"दधि क्राव्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्॥"

यम यमी सूक्त में तथा मरुतः सूक्तों में इन्हें 'महस्पुत्रासो' और असुरस्य (रुद्रस्य) वीरा (पुत्रा) भी कहा गया है (ऋ० वे० १०-१०-२)

मरुतों का नाम रश्मि भी है (ताण्ड्य १४-१२-९)। मरुत गणों के पति हैं। 'मरुतः गणानांपतयः' (तै० ३-११-४-२)। मरुतों के सात गण हैं (तै० १-६-२-)। सप्त सप्त हि मरुतो गणाः (यजु० १७-८०,८५,३९-७ श० प० ९—मरुतों पर श्रुतियाँ ९-३-१-२५)। मरुत सब देवताओं से अधिक हैं (तै० २-७-१०-१), मरुत अन्न हैं, (तै० १-७-३-५)। मरुत कीनाश हैं (ऐ० ३।१९)। मरुत प्राण हैं (श० प० ९-३-१-७)। मरुत ग्रावाण हैं (ताण्ड्य ९-९-१४)। मरुत आप हैं, और आपों में रहते हैं (ऐ० ६-३०; कौ० ५-४)। मरुतों का पङ्क्ति छन्द है (श० प० १०-३-२-१०)। मरुत इन्द्र के खिलाड़ी हैं (गो० उ० १-२३; कौ० ५-५)। मरुत सांतपन हैं (श० प० २-५-३-३; गो० उ० १-२३)।

——×——

अध्याय ८७

सर्वश्रेष्ठ देव वायुः या वातः (पञ्चप्राणो की आत्मा)

बृह-उप (१-५-२३) में वायु देवता को 'अनस्तमिता देवता यद्वायुः' लिखा है। इसका कभी अस्तमन नहीं होता। और वहीं पर यह भी लिखा है कि सूर्य देवता उसी वायु से उदीयमान और अस्त होता है जैसे 'सूर्यो वै वायोरुदेति तत्रैवास्तमेति' यही बात या वायु इन्द्र भी है जैसे 'वायुरेवेन्द्रो' यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः' (श० प० ४-१-३-१९)। बृहदारण्यक ने (३-३) लिखा है कि वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है "वायुरेव व्यष्टिः वायुः समष्टिः"। अतः यह सर्वोत्तम देवता है। वायु देवता विश्वेदेवता भी है। विश्वेदेवा सूक्तों में इसका नाम आता है जैसे—

१—वायुदेवता

"स्वस्तये वायुमुपब्रवामहे सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः"

(ऋ० वे० ५-५१-१२)

इस वायु का रथ चन्द्र का है और उस रथ का सारथि इन्द्र है। इसके रथ में ९९ अश्व हैं १०० वें से इनकी पूर्ति होती है। इनका स्थान कृष्ण पक्ष उत्तरार्द्ध है, या इसके रथ में हजारों अश्व हैं जैसे—

निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्र सारथिः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥३॥
वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव ॥४॥
वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आयातु पाजसा ॥

(ऋ० वे० ४-४८-पूरा)

इस वायु देवता का सीधा सम्बन्ध इन्द्र से है। अतः 'इन्द्र वायू' नामक देवता का वर्णन भी इसी प्रकार दिया हुआ मिलता है (ऋ० वे० ४-४६, ४-४७)। इन सूक्तों में इसको 'पूर्वपा असि' या पूर्वार्द्ध का संरक्षक बतलाया है तथा शवसस्पती और शुष्मिणः कहा है। उक्त तीनों सूक्तों में इसका सोमपान के लिए आह्वान किया गया है जिसको ऋ० वे० १-२-१ इस प्रकार कहता हैं "वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृता। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥" कि ये सोम अलंकृत हो चुके हैं दिव्य शरीरी सोम चुवाये जा चुके हैं, स्वयं आकार देख लो, अब उनकी रक्षा करो और हमारी टेर सुनो। इसी प्रकार का वर्णन इन्द्र सूक्त में आपाततः वायु सम्बन्धी होने से निम्न ढंग से दिया है।

"आसस्त्राणास शवशानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः।
अभिश्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नुवायोरमृतं वि दस्येत्॥

(ऋ० वे० ६-३७-३)

कि जब "इन्द्र अतीव बलवान् बनकर प्रस्तुत हो जाता है तब कल्याणकारी रथ के योग्य ऋजुगामी, स्वयं सरणशील अश्वों के लिए नवीन और प्राचीन दोनों प्रकार के चुवाये अन्न अमृत या (श्रव) या सोम साथ ले चलो जिससे वायु के भक्ष अमृत का अभाव न हो।" यहाँ पर भी वायु को कल्याणकारी रथ; ऋजुगामी अश्व तथा प्राचीन नवीन दोनों प्रकार के पूर्वार्द्धीय उत्तरार्द्धीय तत्त्वों से युक्त बतलाया है।

वायु विद्या प्राण विद्या है जैसे

"विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या (उदान) इव"। "अष्टापदीभिराहुतः।"
(ऋ० वे २-७-३,५)

"तन्नो दात मरुतो वाजिनं रथ आपानं ब्रह्म चितयद्दिवे दिवे ॥"
(ऋ० वे० २-३४-७)

तथा

"त्रितो न यान् पञ्च होतॄनभिष्टय आववर्तदवराञ्चक्रियावसे ॥"
(ऋ० वे० २-३४-१४)

प्रथम में उदन्या उदान है, अष्टापदी अष्टौ प्राणाः है, द्वितीय में अपान ब्रह्म चतुर्थ सप्तक का आदि ब्रह्म है (चतुर्थ में अपान प्राणों का विकास होता है) तृतीय में चित-प्राणोदानव्यान त्रिपादामृत हैं, पञ्चहोतॄन्-पञ्च प्राण है जिसका विश्रुत नाम प्राण उदान व्यान अपान और समान है। वायु नाम उदान प्राणों का मुख्यतः है। इसको ऐत० उप० 'अन्नायुर्वायद्वायुः' कहता है। उदान प्राणों का विकास द्वितीय सप्तक के आरम्भ से होता है। यही उदान प्राण जीवात्मा हैं। इनके उदय से रुदन आरम्भ हो जाता है। अतः इसे तब रुद्र भी कहते हैं। समस्त सृष्टि और उसका जीवन रुदनमय और संघर्षमय है। वायु नामक उदान प्राणों का जन्म यद्यपि द्वितीय सप्तक से होता है, पर इनका जनक 'प्राणाः' तो आदि तत्त्व हैं। अतः प्राणों को विश्वे देवता न कह कर वायु को ही विश्वेदेवता माना गया है। क्योंकि यही प्रथम विकास हैं और आगे व्यान अपान समान रूप में तृतीय से पञ्चम तक प्रत्येक सप्तक में क्रम से विकास पाकर विश्वेदेवताओं का पूर्णस्वरूप धारण करने में समर्थ हो जाते हैं। पूरे पचासों तत्वों में से जब प्रत्येक को 'प्राणाः' नाम से कहा जाता है तब उस तत्त्व के बारे में यह समझना सन्दर्भ की अपेक्षा रखता है कि यह किस सप्तक का, और किस तत्त्व का कौन प्राण उदान व्यान अपान समान का भेद है।

वेदों में वातोदेवता का वर्णन ठीक विश्वेदेवता वायुदेवता के समान इस प्रकार दिया हुआ है। ऋ० वे० १०-१६८ अनिलो वातायन ऋषिः, वायुर्देवता। निचृत्त्रिष्टुप् १, ३, त्रिष्टुप् २, ४, धैवतः स्वरः —

"वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिवस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो ऐति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥१॥

सम्प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा एनं गच्छन्ति समनं न योषाः ।
ताभिः सयुक्सरथं देव ईयते ऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥२॥

अन्तरिक्षे पथिभि रीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः ।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्वस्विज्जातः कुत आ बभूवः ॥३॥

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोपः इन्द्रस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥४॥"

वातो देवता की महिमा देखिए—वह भौतिक तत्त्व रूप रथ से घोष (शब्द ब्रह्म) को स्तनित गुञ्जित करते हुए और रोचमान होकर आता है, वह समस्त दिव या पूर्वार्द्धको व्याप्त करके उसे अरुण रूप दे देता है, तथा उसे भौतिकता के रेणु तत्त्वों से प्रच्छन्न कर डालता है। उस रथ में बैठे वातोदेवता के साथ चत्वारिवाग्पदा वाग्ब्रह्माणियाँ भी बैठी हैं, वह साथ बैठी उन्हें भी शब्द रूप में प्रगट होने के लिए प्रेरित करता है, उनके साथ बैठा वातोदेवता इस भौतिक ब्रह्माण्ड का राजा कहलाता है। यह वातोदेवता दर्शन मण्डल के मध्य में बैठा हुआ भी अपनी गतियों से निरन्तर व्यस्त रहता हुआ क्षण भर भी स्थिर या अकर्मकृत् नही रहता। यह आपोदेवताओं का सखा है और ऋत नामक आदि तत्त्वों से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला, उनसे कब और कैसे आविर्भूत हुआ इसका स्पष्ट ज्ञान किसी को न हो सका। यह वातोदेवता समस्त देवताओं का आत्मा है, इस भौतिक ब्रह्माण्ड का मूलबीजभूत हिरण्यगर्भ है और यह स्वयं स्वतन्त्र रूप से विचरण करने वाला महान् तत्त्व है। इससे उत्पन्न या व्यक्त होने वाले घोष ही इसकी प्रस्तुति की सूचना दे सकते हैं, क्योंकि इसका कोई रूप (भौतिकशरीर) है ही नहीं, यह आत्मा है। अतः ऐसे वातोदेवता का हम हवियों से यज्ञ करते हैं (हविंयाँ प्राणयामादि ही होंगी)। ये वायुदेवता या वातोदेवता अपने आध्यात्मिक स्वरूप में विद्युत्स्वरूपी हैं इसका वर्णन पर्जन्यसूक्त ५-८३-३ में है "प्र वाता वान्ति पातयन्ति विद्युतः उदोषधी जिंहते पिन्वते स्वः।"

सबसे बड़ी बात और सबसे विशिष्ट बात जो वायुदेवता या वातोदेवता के बारे में जानने योग्य है वह यह है :—वैदिक देवताओं में से पाँच देवता ही मुख्य देवता हैं। ये पाँच देवता इस अखिल ब्रह्माण्ड की मूल आत्मायें हैं, अन्य देवता इन्हीं के विकास स्वरूप देवता हैं। वे पाँच मुख्य देवता ये हैं :—(१) अग्निः (२) वायुः या वातः (३) सूर्यः (४) चन्द्रमा या सोम (५) वरुणः। इन्हीं के कारण अखिल ब्रह्माण्ड रूप पिता को 'पञ्चपादं पितरं' नाम से पुकारा जाता है। ऋ० वे० १०-१६८-४० में वायुः या वातः को 'आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो' स्पष्ट शब्दों में कहा है, और यजुर्वेद (१४-२०) ने उक्त देवताओं को मुख्य देवता रूप में 'चन्द्रमा देवता वातो देवता सूर्यो देवता वरुणो देवता अग्निर्देवता" इत्यादि मन्त्र दिया है। ऋ० वे० १-११५-१ में 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहा है। इसी प्रकार उक्त देवताओं के सूक्तों

२—वायु आत्मा है

में इन्हें आत्मा के रूप में वर्णित किया गया है। श० प० ब्रा० १४-३-२-५ से १४ में उक्त मन्त्रों का विश्लेषण करके स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है "अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा' (५); वायुर्वै सर्वेषां देवानामात्मा (७); सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा (९); चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा (११); वरुणो वै सर्वेषां देवानामात्मा (१४);। इनमें से अग्नि तो ब्रह्मात्मा है, वायुः या वातः जीवात्मा (रुद्रात्मा) है, सूर्यः तैजसात्मा है, ये तीन त्रिपादामृत हैं, चन्द्रमा भौतिकात्मा सोम है, ये चारों चतुष्पाद् ब्रह्म कहलाते हैं, और वरुण त्रिपादामृत की तीन आत्माओं का भौतिकात्मा चन्द्र से संयोग करने वाला या ताने।बाने ठीक ढंग से तानने या बुनने या बन्धन करने वाला 'सतो बन्धमसति निरविन्दन्' का कार्य करने वाला परम मुख्य आत्मा है।

२—वातो देवता के भेद

वातोदेवता के दो मुख्य भेद हैं पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय। इन स्वरूपों का नाम भेषज है या ओषधि है। ये स्वयं भेषज या ओषधि रूप हैं। पूर्वार्द्धीय वायुओं का नाम विश्वभेषज है, उत्तरार्द्धीय वायुओं को 'रपः' नाम से पुकारते हैं। इनका विशद वर्णन 'भिषग्रुद्र' शीर्षक में किया जा चुका है, वहीं देखें। ऋ० वे० में इन विभागों का वर्णन २-२३-३ से ७ तक और १०-१३७-३ से ५ तक में दिया हुआ है। 'रपः' शब्द का अर्थ भौतिकशब्द ब्रह्म है 'लपः' 'वदति' अर्थ वाची है 'अरपः' मौन तूष्णी उपांशु अंशु वाले हैं। इनका वर्णन भी वहीं रुद्र शीर्षक में दिया जा चुका है।

४—वायु देवता पर श्रुतियाँ

द्यौ में वायु आश्रित है (तै० ब्रा० ३-११), वायु दिशाओं का गर्भ है (श० प० १४-९-४-२१), वायु ही यजुर्वेद है (श० प० १०-३-५-२), वायु ही से यजुर्वेद निकला (श० प० ११-५-८-३), यजुर्वेदियों का देवता वायु है छन्द त्रिष्टुप् है (गो० पू० १-२९, श० प० ८-७-३-१२); वायु अध्वर्यु है (गो० पू० २-२४), वायु सूत्र रूप होकर सबको गूथता है (श० प० ८-७-३-१०), यह शुक्ल है और पावन कर्ता है (श० प० ६-२-२:७; २-६-३-७), वात ही वायु है (श० प० ८-७-३-१२), वात होमा है (श० प० ९-४-२-१), वायु उशन् है (ता० ७-९-५), वायु अनुवत्सर है (तै० १-४-१०-१); यह निकाय छन्द है (श० प० ८-५-२-५), यह देव है, ब्रह्म है (ऐ० ब्रा० ८-२८ जै० उप० ३-४-८), यह बृहस्पति है (श० प० १४-२-२-१०); यह पवित्र है (तै० ३-२-५-११), यह प्रजापति है (ऐ० ब्रा० ४-२६), जो वायु है वही इन्द्र है वही यम है (श० प० ब्रा० ४-१-३-१९, यजु० ३८-९), यही यन्ता और मातरिश्वा है (ऐ० ब्रा० २-४१, श० प० ६-४-३-४); मातरिश्वा वह है जो दक्षिण भाग से उत्तरार्द्ध में बहती है (तै० २-३-९-५), वायु ही जातवेदा है (ऐ० २-३४), यह वायु पूषा है (यजु० ३८-३,१५), यह मारुत है (श० प० ३-६-१-१६), यही तनूनपात् और शाक्वर भी है (श० प० ३-४-२-११); यही तार्क्ष्य है (ऐ० ४-२०;

कौ०।!०-५); यह आशु आशिष्ट त्रिवृत् और तूर्णि है (ऐ० २-३४), यह सप्ति है (तै० १-३-६-४); यह सरिर है (श० प० १४-२-२-३), यह समुद्र है (जै० उ० १-२५-४), यह साधु है, सविता है (यजु० ३७-१०, ८), यह वायु अन्तरिक्षषद् है (यजु० १२-१४), यह विश्वकर्मा है (यजु० १३-५५), यह वैश्वानर है (श० प० १०-६-१-७), यह प्राण है (ऐ० २-२६), यह उग्र और पुरोहित है (ऐ० ८-२७), यह महः है (श० प० १२-३-४-८), यही पुरुष है (श० प० १३-६-२-१); यह यज्ञ है (ऐ० ५-३३), यह अनिरुक्त और शान्ति है (श० प० ८-७-३-१२; ताण्ड्य ४-६-९), इसमें पांच देवता हैं (ऐ० ८-२८)

अध्याय ७८

देय सम्राट् वरुणः, और दक्षक्रतू या मित्रावरुण

वरुण इस अखिल ब्रह्माण्ड का वह सर्वप्रथम तत्त्व है जिससे सृष्टि का दौर एक नवीन स्वरूप में या सर्वप्रथम भौतिकता के आभास रूप में उपस्थित होता है। यह प्रथमाभासीय या पूर्वरूपीय भौतिक तत्त्व इसके जन्मदाता त्रिपादामृत को सर्वतः आवृत करने लगता है। अतः ऐसे आवरणधर्मा होने से इसे वरुण नाम से–वृणोतीति वरुणः कहते हैं। वरुण की यह आवरणीय वृत्ति आपोरूपी या विद्युद्धर्मी है। इसीलिए श० प० ब्रा० ने वरुण को 'आर्पपिता' अर्पण करने वाला कहा है। अतः आपः की उत्पत्ति भी इसी स्थान से मानी जाती है। और आपः तथा वारि दोनों की व्युत्पत्ति भी आप्नोति व्याप्नोतीति आपः' और 'वृणोतीति वाः वारि वा' उचित रूप से दी जाती है। इन आपो रूप वैद्युतीय प्रवाहों का प्रथु प्रसारण वृत्र के पश्चात् होता है। अतः उस स्थिति को—वृत्र स्थिति को—पृथुल वैद्युतीय प्रवाह प्रसारिणी 'पृथिवी' या वृणोतीति वृत्रः, कहते हैं। यह तो सप्तकीय या चतुर्थ सप्तकीय वरुण आपः वारि, वृत्र या पृथिवी की बात है। वृत्र को छोड़कर शेष आपः वाः वारि वरुण और पृथिवी का एक और स्थान है, वह आपोब्रह्म से सम्बन्ध रखता है। वैदिकों ने अखिल सृष्टि के आरम्भ की स्थिति को आपो ब्रह्म के स्वरूप में देखने की बड़ी अद्भुत कल्पना की है। वे अखिल ब्रह्माण्ड के आदि भूत आध्यात्मिक ब्रह्म को मधुमय विद्युत्स्वरूप में परम वैज्ञानिक ढंग से देखते थे। उस अखिल ब्रह्माण्ड के मूलभूत स्रोत को आपो ब्रह्म या समुद्र नाम से पुकारते थे जिससे पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार पञ्चसागर (और सप्तकों में सप्तसागर) तथा सप्तनदी और पञ्चपर्वा में पञ्चनदी की क्रमिक उत्पत्ति मानी गई है। इनका यह वरुण आदि से ही आपोरूप या आध्यात्मिक वरुण है जो चतुर्थ सप्तक के आरम्भ से पुनः प्रथम व्याख्यात भौतिकात्मा का सूत्रधार या सूत्रपात करने वाले वरुण के समान पूर्णतः हो जाता है। अतः वरुण देवता वैदिकों का परम महत्वपूर्ण तथा सर्वशाखा स्वीकृत तत्त्व है ('आपोब्रह्म' तथा 'पञ्चपर्वा विद्या' देखें)। इसीलिए इसे वैदिकों ने सर्वदेवताओं की आत्मा माना है "वरुणो वै सर्वेषां देवनामात्मा" (श० ष० ब्रा० १४-३-२-१४)। उक्त दो प्रकार के वरुण होने से ही वरुण को 'विश्वेदेवता' में माना जाता है और प्रत्येक विश्वेदेवता सूक्त वरुण की व्याख्या दिये बिना अधूरा ही समझा जाना चाहिए। क्योंकि यह देवता दोनों प्रकार की आध्यात्मिक और भौतिक या पूर्वार्द्धीय और परार्द्धीय सृष्टियों का सर्वप्रथम शिलान्यास करता है। फलतः वरुण ही अखिल ब्रह्माण्ड की उभय आधार शिला है जिसमें यह समस्त दर्शन का पचासमञ्जिल का महाप्रासाद खड़ा किया गया है।

१—वरुणः

इसीलिए वरुण को आत्मा ही नहीं वरन् देवताओं का सम्राट् भी माना गया है जैसे—

"सम्राजावस्य भुवनस्य राजथो मित्रावरुण विदथे स्वर्दृशा ।
वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे द्यावापृथिवी विचरन्ति तन्यवः ॥
(ऋ० वे० ५-६३-२)

इस सूक्त के मन्त्र में वरुण को द्यावापृथिवी के ताने-वाने चुनने वाला (तन्यवः) भी कहा है। पूर्वार्द्धीय वरुण को अग्निवरुण तथा उत्तरार्द्धीय वरुण को मित्रावरुण नाम से पुकारा गया है।

२ विविध ब्राह्मणों में वरुण का वर्णन :—वरुण आवरण धर्मा होने के साथ-साथ वह तत्त्व भी कहलाता है जिसका देवताओं ने भौतिक स्वरूप धारण करने के लिए स्वयं वरण किया (गो० पू० ५-१-७); इसका नाम जुम्बक भी है, रात्रि उत्तरार्द्ध भी (यजु० २५-९; ऐ० ४-१०); रात्रि को (उत्तरार्द्ध को) इसीलिए 'वारुणी' कहते हैं (तै० १-७-१०-१); वरुण प्राण रूप है, (गो० उ० ४-११); अग्नि रूप है (श० प० ५-२-४-१३ ऐ० ६-२६); यह अग्नि का प्रदीप्तर घोर रूप है (श० प० २-३-२-१० ऐ० ३-४) मित्र उष्ण रूप है, वरुण अग्निरूप है (श० प० ५-३-२-८); अपक्षीयमाण मास (उत्तरार्द्ध) वरुण कहलाता है आपूर्यमाण मास (पूर्वार्द्ध) भी वरुण है (ताड्य० २५-१०-१०, श० प० २-४-४-८), पूर्वार्द्धीय वरुण श्री है उत्तरार्द्ध का क्लोम (श० प० १२-९-१-१५, कौ० १८-९), यही श्री उसका साम्राज्य है (श० प० ११-४-३-३); अतः दोनों द्यावापृथिवी मित्रावरुण के प्रिय धाम हैं। वरुण व्यान (तृतीय सप्तकीय) प्राण है (श० प० १२-९-१-१६), उत्तरार्द्ध में यह अपान है (श० प० ८-४-२-६); यह मध्यवर्ती है अतः योनि भी कहलाता है (श० प० १२-९-१-१७); वरुण आदित्य है अतः सूर्यसविता दश आदि नामों से भी सम्बोधित होता है (श० प० ४-१-८-१, जै० उ० ४-२७-३; कौ० १८-९), ऐ० ब्रा० १-२४), वरुण संवत्सर भी है (श० प० ४-१-४-१०), वरुण का नक्षत्र शतभिषा है (तै० ३-१-२-७), इन्द्र ही वरुण भी है (कौ० ४-५, गो० उ० १-२२), सब वरुण के हैं (श० प० ४-२-१-११), वरुण यज्ञ के अरिष्ट का शमन करता है (ऐ० ३-३८), सत्यानृत भी वरुण हीहै (तै० १-७-१०-४)। अनुडुही वहला वरुण की अधर्मी स्त्री है (श० प० ५-२-४-१३), वरुण धर्मपति है (तै० ३-११-४-१), वरुण अर्पणकारी है (वरुणो आर्पायिता–श० प० ५-३-१-५), वरुण ही अन्नपति है।

वरुण देवताओं का सम्राट् और राजा दोनों है (तै० २-५-७-३ श० प० १२-८-३-१०), विराट् (छान्दसी) वरुण की पत्नी है (गो० उ० २-९), वरुण आपो मय सृष्टि का निवासी है (तै० १-६-५-६)। यह प्रजापति के रेत से सर्वप्रथम उद्दीपित हुआ उससे भृगु हुआ, अतः भृगु को वारुणि कहते हैं 'भृगुर्वारुणिः' (ऐ० ३-३४), वरुण की उत्पति के समय भर्ग प्रथम अपक्रान्त हुआ, अतः भृगु तृतीय हुआ (ताण्ड्य १८-९-१)। अपामावर्त या अवभृथ वरुण का पुत्र है (श० प० १२-९-२-४), वरुण

का वीर्य ही सुवर्ण या हिरण्य है (तै० १-८-९-१), ग्रन्थियाँ सब वरुण की होती है 'वारुण्यो ग्रन्थिः' (श० प० ४-२-५-१७), रज्जु (रस्सी) या बाने भी वरुण के ही होते हैं (श० प० १-३-१-१४)। वरुण के वस्त्र काले (कृष्ण) होते हैं (श० प० ५-२-५-१७); उसका रूप खलित (खल्वाट) विंक्लिध शुक्र और पिङ्गाक्ष है (तै० ३-९-१५-३)।

अश्व वरुण का ही है (तै० २-२-५-३), प्रजापति ने वरुण के इस अश्व की इच्छा की (श० प० ६-२-१-५), वरुण का प्रत्यक्ष पशु मेष है (श० प० २-५-२-१६), इसकी त्वाष्ट्री अविः भी है (श० प० ७-५-२।२०), विष्णु यज्ञ वरुण यज्ञ ही है (कौ० १६-८), राजसूय नाम वरुण यज्ञ का ही है (श० प० ५-३-४-१२), मित्रावरुण में वरुण सव्य दक्षिण है मित्र (वाम) (तै० १-७-१०-१) ओषधियां सब वरुण की हैं (श० प० ५-३-२-५), आज्य वरुण का है, मलाई मित्र की (श० प० ५-३-२-६)।

वरुण के यवों का नाम 'वरुण प्रघासा' है (श० प० २-५-२-१); वरुण के प्रघासों से प्रजापति वरुण के पाशों से मुक्त हुआ (तै० १-४-१०-६), तब अनमीवा हुआ (श० प० २-५-३-१), वरुण के प्रघास दक्षिणार्द्ध के तत्त्व हैं (श० प० ११-५-२-३), मित्रावरुण प्राणापान हैं और प्राणोदान हैं (यजु १४-२४ श० प० १-८-३-१२)। मित्र दिन है वरुण रात्रि (ऐ० ४-१०)

मित्र भी ब्रह्म है दिन है, प्राण है आपूर्यमाण अर्द्धमास (पूर्वार्द्ध है), मित्र सत्य का अधिपति है (तै० ३-११-४-१; श० प० ४-१-४-१; ऐ० ४-१०); यह मित्र सबका मित्र है (श० प० ५-३-२-७)।

पूर्वार्द्धीय वरुण भी सम्राट् वरुण है, उत्तरार्द्धीय मित्रा वरुण भी। जैसे अग्नि सर्वादेवता है वैसे ही अग्नि वरुण भी सर्वादेवता है पर मित्रावरुण केवल उत्तरार्द्धीय भौतिक है इसका वर्णन ब्राह्मणों ने स्पष्ट भाषा में कर रखा है

३—वरुण का स्थान

और उनके व्याख्यान के आधार भी वैदिक ऋचायें ही हैं जैसा कि यहाँ पर क्रमशः दिया जावेगा। जिसको मित्रावरुणौ नाम से पुकारा जाता है उसके कई अन्य नाम भी है, उन नामों में से एक प्रख्यात नाम 'दक्षक्रतू' भी है। दक्ष का स्थान वैदिक ऋचा ने स्वयं निर्धारित कर रखा है

"अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥४॥
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृत बन्धवः ॥"

(ऋ० वे० १०-७२-४,५)

कि अदिति नामक पूर्वार्द्धीय तत्त्व से अन्त में दक्ष की उत्पत्ति हुई। दक्ष के पश्चात् उत्तरार्द्ध का आरम्भ हो जाता है। उत्तरार्द्ध को भी अदिति नाम से पुकारा जाता है इसलिए कहा है कि दक्ष से आगे उत्तरार्द्ध भी अदिति ही है। यहाँ पर जन्म लेने का प्रश्न नहीं है। कहना इतना ही है कि पूर्वार्द्धीय अदिति के अन्त का तत्त्व दक्ष नाम से पुकारा जाता है, और इस दक्ष से आगे के तत्व भी अदिति ही

(अखण्ड, एक ही) हैं। परन्तु उत्तरार्द्ध की अदिति के दो स्वरूप हैं एक पूर्वार्द्धीय दैवी दूसरी उत्तरार्द्धीय भौतिकी या आसुरी। इस भौतिकी उत्तरार्द्धीय अदिति को दिति नाम से भी पुकारते हैं क्योंकि यह आसुरी है। अतः मित्रावरुणौ से प्रार्थना में कहा है

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आरोहथ वरुण मित्र गर्तं यतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ॥"

(ऋ० वे० ५-६२-८)

कि हिरण्य रूपिणी उषा सूर्य के उदय के लिए स्थूण रूप में अपनी पूरी सज-धज से उदित हो चुकी है अब हे मित्र! और वरुण! तुम्हें अवसर प्राप्त हो रहा है शीघ्र ही गर्त या विषुवद्रेखा या २५ वें तत्त्व में आरोहण करो (विकसित हो जावो) जहाँ पर खड़े होकर तुम पूर्वार्द्धीय अदिति और उत्तरार्द्धीय भौतिकी दिति दोनों को एक साथ देख सकोगे। क्योंकि गर्त मध्यविन्दु है। उत्तरार्द्धीय भौतिकी दिति भी अदिति या अखण्ड या 'एक' ही है, यह भी ध्यान से न उतरे। इसके समर्थन में सबसे बलिष्ठ प्रमाण स्वयं ऋ० वे० का १०-४-७ मंत्र है जिसमें दक्ष का जन्म अदिति के उपस्थ या मध्यस्थान या अश्विनी नामक मध्यवर्ती ओष्ठीय तत्त्व या योनि से बतलाया है जैसे—

"असच्चसच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे ॥"

पूर्व परिच्छेद के विषय की पुष्टि में (श० प० ब्रा० ३-२-१-१३) ने लिखा है

"इमे वै प्राणा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवो वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ। चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वेदेवा एतासु हैवास्यैव देवतासु हुतं भवति ॥"

यहाँ पर दक्षक्रतू को मनोजात अत्रि मनोजात, वागग्नि तथा प्राणोदान स्वरूपी बतलाते हुए मित्रावरुणौ नाम से भी पुकारा है, इनकी चक्षु का नाम षष्ठादित्य सूर्य है, श्रोत्र विश्वेदेवता सोमादि है। इस कथन की पुष्टि में इसी ब्राह्मण ने अन्यत्र (श० प० ब्रा० ४-१-४-१) कहा है

"स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो, दक्षो ब्रह्मैव (ब्राह्मण)
मित्रः; क्षत्रं वरुणो, ऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः ॥"

कि वह दक्ष मित्र ही है, क्रतु वरुण ही है। दक्ष या मित्र ब्राह्मण हैं, क्रतु और वरुण क्षत्र हैं ब्राह्मण अभिगन्ता पुरोगन्ता या पुरोहित है, क्षत्रिय कर्ता या यजमान। और इस वाक्य के आदि में यह भी स्पष्ट लिखा है कि क्रतु दक्ष दोनों मित्रावरुणौ कहलाते हैं "ऋतूदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ।" ये कथन ब्राह्मण ग्रन्थ की अपनी नहीं है वरन् इस मन्तव्य का स्रोत वैदिक ऋचायें ही हैं जैसे

"यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः।
वरुणो यस्य दर्शतो मित्रो वा वनते गिरः ॥"

(ऋ० वे० ५-६५-१)

कि जो कामना करता है वह सुक्रतु या क्रतु है, वह हमें दीक्षा दे, वरुण उसका मार्ग दर्शक है मित्र उसकी वाणी है, यह वाणी क्रतु में उपस्थित हो। तथा

"अधा हि काव्या युवं दक्षस्य पूर्भिरद्भुता।
निकेतुना जनानां चिकिथे पूतदक्षसा॥"

(ऋ० वे० ५-६६।४)

कि मित्रावरुणौ दोनों कवि कारु और सृष्टि कर्ता (भौतिक) हैं। वे दक्ष की पुरी में अद्भुत स्वरूप पाते हैं, दक्ष से पूत होकर ये चतुर्थ सप्तक के जनों को भौतिक केतु (ध्वजा) से निर्मित करते हैं इत्यादि। दक्ष माने वह तत्त्व है जहाँ से ब्रह्म की दक्षता प्रकट होती है, 'यदक्षयत् तस्मादक्षः' या जो अक्ष या अक्षि को देता है वह दक्ष है 'ददाति अक्षं अक्षि वा दक्षः' दक्ष से दक्षिणा या दक्षिणायन का प्रारम्भ भी होता है। दक्षिणा चार हैं:—'हिरण्य गौ वस्त्र अश्व'। ये चारों उत्तरार्द्ध के तत्त्व हैं। 'चतस्रो दक्षिणा हिरण्यं गौ र्वासोऽश्वः" (श० प० ब्रा० ४-३-१ १ से ७ तक पूरा देखें तथा ४ से ७ तक देखें)।

४—वरुण के पास

वरुण के पाश पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप ताने वाने हैं। उन्हीं ताने वानों से यह अखिल ब्रह्माण्ड एक स्वरूप को प्राप्त होता है। ये ताने वाने ८,६४००००००० हैं (ऋचो अक्षरे देखें)। इन ताने वानों को बुनने वाली मातायें हैं, मातायें वरुण के आपों की हैं। इसका वर्णन ऋ० वे० ५-४७-१ से ७ तक के मन्त्रों में इस प्रकार किया है

"प्रयुञ्जती दिव एति ब्रुवाणा मही माता दुहितु र्बोधयन्ती।
आ विवासन्ती युवति र्मनीषा पितृभ्य आ सदने जोहुवाना॥१॥
अजिरासस्तदप ईयमाना आतस्थिवांसो अमृतस्य नाभिम्।
अनन्तास उरवो विश्वतः सीं परिद्यावापृथिवी यन्ति पन्थाः॥२॥
उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः प्रश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥३॥
चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान्॥४॥
इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।
द्वे यदी बिभ्रतो मातुरन्ये इहेह जाते यस्या सबन्धू॥५॥
वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।
उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ॥६॥
तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तुशस्तम्॥७॥"

"इसमें आविवासयन्ती (१) 'इदं वपुर्निवचनं' (२) और वितन्वते···वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति (७) ध्यान देने योग्य शब्द हैं जिनमें यह ब्रह्माण्ड रूप शरीर वस्त्र है और उसको बुनने वाली आपो मातायें मुख्यतः बतलाई गई हैं, शेष में वरुण की महत्ता—जैसे चतुष्पाद् ब्रह्म को धारण करने वाला, दश गर्भ वाला, दो पदों का

पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध का धारण करने वाला, त्रिधातु त्रिपादामृत वाला, आदि स्रोत समुद्र वाला (उक्षा समुद्रः), प्रश्नि रश्मा वाला इत्यादि—भी बहुत उत्तम ढंग से दी है।" मुक्ति चाहने वाला देव सम्राट् वरुण के इन्हीं पाशों से छुटकारा पाने या दिलाने की प्रार्थना करता है। "मरुतों के पाशों को यजुः (१७-२) ने 'स्वर्का' नाम से पुकारा है। इन पाशों की सर्वोत्तम व्याख्या (तै० ब्रा० १-४-३-५) ने बड़ी स्पष्टता दी है। इसमें लिखा है कि ये पाश गायत्री त्रिष्टुप् जगती आदि के छन्दाक्षरों के सूतों के बने हैं, येही गायत्र त्रैष्टुभ और जागतादि सूत्र वरुण के पाश हैं। जिनके भौतिक बन्धन से छुटकारा पाने की स्थान स्थान पर वैदिक ऋषियों ने याचना की है। तात्पर्य यह है कि वरुण के पाश छान्दस पाश हैं प्राणमय पाश हैं।

देव सम्राट् वरुण जल रूप या आपो रूप नहीं है, यह विद्युद्रूप या अग्नि रूप है। आपोब्रह्म या आपः की व्याख्या में बतलाया जा चुका है कि आपः शब्द विद्युत् के लिए आया है। वरुण को इन आपों का अधिष्ठाता देवता माना जाता है, अतः वह स्वयं विद्युत्स्वरूपी सिद्ध हो जाता है। इसका अग्नि रूप व्याख्यान निम्न ऋचा देती है।

५—वरुण का स्वरूप

"त्वमग्ने वरुणो जायसे यस्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वं विश्वे सहस्पुत्रः देवास्त्वामिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥"
(ऋ० वे० ५-३.१)

और

"त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेलोऽव यासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्॥" 4
"स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृलीकं सुहवो न एधि॥" 5
"स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता योयुवानो वृषभस्य नीले॥" 11
"प्रशर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योनौ वृषभस्य नीले।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्तप्रियासो ऽजनयन्त वृष्णे॥" 12
"ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन्।
तज्जानतीरभ्यनूषतव्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः॥" 16
"स भ्रातरं वरुण मग्न आववृत्स्व देवा अच्छासुमती यज्ञवनसम् ज्येष्ठं यज्ञवनसं।
ऋतावानादित्यं चर्षणीधृतं राजानं चर्षणीधृतम्॥" 2
(ऋ० वे० ४-१-४,५,११,१२,१६, और २)

वरुण अवम अग्नि है, महोबुध्न (चतुर्थ सप्तक) में रज या भौतिकता के साथ उत्पन्न होता है, वह प्रथम या आदि में समुद्र रूप में अपादशीर्षा है, वह निवास में वृषभ कहलाता है। २४ तत्त्वों (त्रिःसप्तमातुः) के पश्चात् यह वपुष्य या शरीरी बनता है, तब 'गो' वृषभः होता है। यह अग्नि का भाई सब देवताओं में ज्येष्ठ ऋतवान् चर्षणीधृत (गोमान्) राजा (सम्राट्) है। इस आशय की पुष्टि शतपथ

ब्राह्मण (२-२-४-९ से १३ तक) ने उक्त प्रथम मन्त्र (ऋ० वे० ५-३-१) का भाष्य सा करते हुए उज्वल भाषा में लिखा है "तद्यत्रैतत्प्रथम ७ं समिद्धो भवति। धूप्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः……अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः ……अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति उच्चैर्धूमपरमया जूत्या वल्वलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः ……अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः स शाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः……अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्त इव तर्हि हैष भवति ब्रह्म (बृहस्पति)" इति यह अग्नि का क्रमिक विकास है, रुद्र नवम है, वरुण २४ वें का पूर्वार्द्ध मित्र, उत्तरार्द्ध इन्द्र १७ से ३१ वाँ, ब्रह्म बृहस्पति ३६ वाँ है। वरुण का वर्णन ऋ० वे० ५-६९ और ५-८५ में बहुत उत्तम दिया हुआ है, उन्हें अगले परिच्छेदों में पढ़िये। उक्त ऋचा में भी 'महो बुध्ने योनौ' शब्द चतुर्थ सप्तक के ही बोधक हैं, यह स्पष्ट है।

६—ऋ० वे० ५-६९ में वरुण

त्रीरोचना वरुण त्रींरुतद्यून त्रीणि मित्र धारयथो रजांसि।
वावृधानावमतिं क्षत्रियस्यानुव्रतं रक्षमाणा वजुर्यम् ॥१॥
इरावती र्वरुणं धेनवो वां मधुमद्वां सिन्धवो मित्र दुह्रे।
त्रयस्तस्थुर्वृषभासस्तिसृणां धिषणानां रेतोधा वि द्युमन्तः ॥२॥
प्रातर्देवी मदितिं जोहवीमि माध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य।
राये मित्रावरुण सर्वतातेळे तोकाय तनयाय शं योः ॥३॥
या धर्तारा रजसो रोचनस्योतादित्या दिव्या पार्थिवस्य।
न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि ॥४॥
(उरुचक्रितरात्रेय ऋषिः)

अर्थ—वरुण देवता त्रीरोचना या तीन प्रकाशस्तम्भों (ब्रह्मात्मा जीवात्मा और तैजसात्मा) को धारण करने वाला, तथा साथ-साथ तीन द्यु-भूर्भुवः स्वः-या एकपाद द्विपाद और त्रिपाद—या वसु रुद्र आदित्यों के स्थानों को धारण करने वाला है; तथा तीन रजांसि या अन्तिम तीन सप्तकों के भौतिकात्माओं को धारण करता है। मित्र भी उक्त सबको धारण करता है। ये दोनों बढ़ते या विकसित होते हुए भौतिकात्माओं का संरक्षण करते हैं; और मित्र स्वयं ब्राह्मण (त्रिपादामृत) होते हुए भी क्षत्र तत्त्व वरुण की (अनुव्रतं) नियमतः निरन्तर रक्षा करता रहता है ॥१॥ हे वरुण तुम्हारी धेनुएं इरावती भौतिकी हैं और तुम्हारी नदियाँ मधुमती अमृतमय (विद्युद्धर्मिणी) हैं जिनको मित्र दुहता है, वा विकसित करता है ('पञ्च-पर्वा' देखें)। उक्त त्रिपादामृतीय धेनुओं को गर्भवती बनाने वाले तीन वृषभ (वसु-रुद्र आदित्य) हैं जो वैद्युतीय और तैजसात्मीय बुद्धियों का रेतः धारण कराते हैं ॥२॥ अदिति देवी प्रातः कालीन या पूर्वार्द्धीय है उसका हम आह्वान करते हैं, उस पूर्वार्द्धीय अदिति से माध्यन्दिन काल या सवन में सूर्य का उदय होता है। हे मित्रा वरुण हम आप दोनों की प्रार्थना उस भौतिकात्मा रूपधन के लिए करते हैं जो सर्वतः श्रेयस्कर है, और जिसको सोम ज्योति की बूदें (तोकाय) और विष्णु ज्योति-रूप पुत्र कहते हैं ॥३॥ हे मित्रावरुण आप उक्त तीन प्रकाशस्तम्भों को धारण करने

वाले हैं, भौतिकात्माओं तथा आदित्यों के दिव्य पार्थिव आत्मा या भौतिकात्माओं के संरक्षक हैं। आप दोनों निश्चित नियमों और त्रिपादामृतों को देवगण न तो अस्वीकार कर सकते हैं न उसमें परिवर्तन ही कर सकते हैं ॥४॥ फलतः मित्रावरुण सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं।

७—ऋ० वे० ५-८५ में वरुणो देवता

"प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं प्रियं ब्रह्म वरुणाय श्रुताय ।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय ॥१॥
वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमधात्सोम मद्रौ ॥२॥
नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥३॥
उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित् ।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः ॥४॥
इमामूष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्रवोचम् ।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ॥५॥
इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष ।
एकं यदुद्गा न प्रणन्त्येनी रासिञ्चन्तीरनवमयः समुद्रम् ॥६॥
अर्यम्यं वरुण मित्र्यं या वा सखायं वा सदमिद्भ्रातरं वा ।
वेश वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत् ॥७॥
कितवासो यद्रिरिपु र्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म ।
सर्वा ता वि ष्य शिथिरेव देवाधा ते स्याम वरुण प्रियासः ॥८॥"

अर्थ—हम उस प्रख्यात देवसम्राट् वरुण की प्रिय गंभीर और बृहत् अर्चना करते हैं जिसने चर्मोपा पृथिवी को वधिक सा होकर मारा कि वह ठंडी ही हो गई; और उसने सूर्य के विकास के लिए पृथिवी भौतिकात्मा को विछा दिया, (भौतिकता को दैवी शक्ति प्रदान की) ॥१॥ जिस (वरुण) ने जलों में अन्तरिक्ष का निर्माण किया (आपो ब्रह्म से वसु ब्रह्मों का विकास किया) प्राणाश्वों को अन्न या सोम में परिणत किया, वाग्धेनुओं में वाणी रूप पयः का जन्म दिया, हृदय में (सृष्टि पुरुष के हृदय में) जिसने क्रतु या क्रम का सूत्रपात कराया, जिसने आपोब्रह्म को अग्निमय, दिव को सूर्ययुक्त और मेरु पर्वत (मध्यविन्दु में) सोम को उत्पन्न किया, (हम उस देव-सम्राट् वरुण की···) ॥२॥ उस वरुण ने पूर्वार्द्ध के नीचे के भाग को पूर्णतः आवृत करके, ऐसा स्वरूप उपस्थित किया जिससे रोदसी (पृथिवी) अन्तरिक्ष (द्यावा) से पृथक् सी ऐसी दीखने लगी जैसे कि कोई कबन्ध (शिर हीन) आगया, (क्योंकि द्यावा रूपहीन अमूर्त है पृथिवी (रोदसी) मूर्त या भौतिक या रूपवती। कबन्ध शब्द में एक और श्लेष है क+बन्ध=जल या चतुर्थ सप्तक के जलों का बन्ध या आरंभ करना, उत्तरार्द्ध पृथिवी को 'क' या विद्युत्स्वरूपी जल रूप में निर्मित करना आरम्भ कर दिया। ये जल वृत्र वध से तरंगित हुए 'वृत्रं जघान्वाँ अप तद्ववार' (ऋ० वे०

१-३२-११) । वृत्र वरुण वारि वाः और आपः की व्युत्पत्ति एक ही है; यह दिया जा चुका है । ऐसे महत्व पूर्ण कार्य (भौतिक तत्त्व की प्रथम सृष्टि) करने से वह अखिल ब्रह्माण्ड का राजा ही नहीं वरन् सम्राट् कहलाता है और उस भौतिक पृथिवी में वह सोम (यव) की वृष्टि सी करके सृष्टि के ताने बाने बुनता है (व्युनत्ति) । (पूर्वार्द्ध की सृष्टि का नाम गो या गोधूम गेहूँ है तो उत्तरार्द्ध की सृष्टि का नाम 'यव' है) ॥३॥ जब वरुण दूध की या चेतनामय भौतिक तत्त्व की वर्षा करता है तभी भूर्भुवः स्वः इत्यादि, लोकों (भूमि) और द्यावापृथिवी के ताने बाने बुनने योग्य बनते हैं । वह स्वयं पर्जन्य की तरह प्रस्तुत होता है जिससे सोम आदि पर्वत बलवान् बनकर नाना वीरों (वीजों) की रचना करने लगते हैं ॥४॥ इन ऋचाओं में हमने प्रख्यात प्राणस्वरूप वरुण की मायाविनी महिमा गाई है, वह द्यावा (अन्तरिक्ष) में तो केवल मान रूप में, अनुमान रूप में या आध्यात्मिक स्वरूप में विद्यमान रहा, पर उसने सूर्य (की उत्पत्ति करने) से पृथिवी (उत्तरार्द्ध) की सृष्टि का आरम्भ कर दिया ॥५॥ इत्यादि ॥

यास्क ने वरुण को और प्राचीन 'निरुक्तकारों' के मध्यस्थानीय शब्द को अन्तरिक्ष स्थानीय माना है । प्राचीन निरुक्तकारों का 'मध्यस्थानीय' शब्द पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध या द्यावा पृथिवी के मध्यस्थान २४ वें तत्त्व से तात्पर्य रखता है ।

"तमू षु समना गिरा पितृणां च मन्मभिः । नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः
सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥"
(ऋ० वे० ८-४१-२)

की व्याख्या में नाभाक ऋषि कहते हैं कि हम वरुण की स्तुति पितरों की स्तुति की शब्दावली में कहते हैं, वह शब्दावली जो पितरों को अतिप्रिय है, नाभाक की रची इन प्रशस्तियों का निष्कर्ष यह है कि जिस वरुण के अभ्युदय से नदियों का सप्तक उसकी सात बहिनों के समान प्रस्तुत हुआ वह वरुण मध्यस्थानीय या मध्यम या २४ वाँ तत्त्व है वह 'अन्यके समे' या उत्तरार्द्ध में 'नभन्ता' २४ वें तत्त्वरूप नाभि से उत्पन्न होकर परिवर्द्धित या विकसित हो । यास्क ने 'नभन्तामन्यके समे' के माने 'हमारे विरोधी दुर्बुद्धि लोग न हो पावें' लिखा है, प्राचीन निरुक्तकारों का आशय तो यह रहा होगा कि "उत्तरार्द्ध में भौतिकता प्रधान शत्रुरूप आसुरी बुद्धि या आत्मा का उदय न होकर, दैवी भौतिक आत्मा या दैवी भौतिक बुद्धि का उदय हो" यह शब्दार्थ नहीं, साधारणतः भावार्थ है, ऐसा भाव प्रत्येक सूक्त और ऋचा में निहित मानना चाहिए ।

यास्क ने वरुण को द्युस्थानीय भी माना है । पर वे इसे पृथिवी स्थानीय नहीं मानते । द्युस्थानीय वरुण की व्याख्या में उन्हें ऋ० वे० १-५०-५,६,७ का ठीक ठीक समन्वय ही नहीं लग सका है । छठी ऋचा के सम्बन्ध में वे कभी यह कहते हैं कि इसका सम्बम्ध सातवीं ऋचा से है, कभी यह कहते हैं कि पांचवों ऋचा से है, फिर अन्त में कहते

८—वरुण सम्बन्धी भ्रम

हैं कि सम्भवतः इस छठी ऋचा का अर्थ इसी ऋचा में है, अन्य सन्दर्भ जोड़ने की आवश्यकता नहीं। उनकी ऐसी तर्कनायें ही उन्हें नितान्त अनिश्चित धरातल पर डाँवाँडोल करती सी दिखाई पड़ती हैं :—

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ् उदेषि मानुषान् ।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥५॥
येन पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥६॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥७॥

ऋ० वे० १-५०-५,६,७

इन मन्त्रों के अर्थ की सबसे सरअ तरल कुञ्जी है वेद का दूसरा वाक्य 'चक्षु मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' कि 'सूर्य' (२५ वाँ तत्त्व) मित्र वरुण और (जातवेदा) अग्नि की चक्षु है। यहाँ पर सूर्य को वरुण की चक्षु कहा जा रहा है। अतः छठे मन्त्र का अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता है। हे वरुण तुम जिस अग्निरूप चक्षु (सूर्य) से क्षिप्रगामी सुपर्णीय जनों या चतुर्थ सप्तकीय नरों (नृषदस्यों) को देखते हो या देख पाते हो या विकसित करते हो ॥६॥ हे वरुण तुम विश संज्ञा के चतुर्थ सप्तक के देवताओं के पश्चात् , मनुष्य नामक चतुर्थ सप्तक के देवताओं के आरम्भ के पश्चात् और स्वर्लोक की चक्षु नामक भौतिकात्मा के पश्चात् या साथ-साथ उत्पन्न होते हो ॥५॥ तुम सूर्य ही हो, तुम द्यावा में विरजस्क, अभौतिक रूप से रहते हो, पर उक्त द्यावा रूप अहः या दिनों को तुम रात्रि रूप भौतिकात्मा से आवृत करते हो या नापते हो जिससे तुम उत्पन्न होने वाले सबके विकासों को देखने में समर्थ होते हो ॥७॥

वैश्वानराग्नि की व्याख्या आगे दी जायगी। यह उस अग्नि का एक स्वरूप है जिसकी चक्षु का नाम सूर्य है 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः'। यह अग्नि वास्तव में जातवेदा का अन्तिम स्वरूप है, पर उदीयमान वैश्वानराग्नि का पूर्व रूप है। अतः इसे भी मित्र और वरुण की तरह देव-सम्राट् की पदवी से घोषित किया गया है जैसे :—

९—वरुण और वैश्वानर

"मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविं साम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥"

(ऋ० वे० ६-७-१)

इसकी उत्पत्ति 'पित्रोरुपस्थे' गर्त या मध्यस्थान बतलाते हुए लिखा है

"वैश्वानर तव तानि व्रतानि महान्यग्ने नकिरादधर्ष ।
यज्जायमान मित्रोरुपस्थेऽविन्दः केतुं वयुनेष्वहाम् ॥"[१]

(ऋ० वे० ६-७-५)

इस वैश्वानर को भी भौतिकात्मा का निर्माता, सुक्रतुः दिवो, विरोचना, कविः, और विश्वा भुवनानि का विकासक (पप्रथे) बतलाती हुई ऋचा यह है :—

"वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः ।
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथेऽदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता ॥"
(ऋ० वे० ६-७-७]

कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्थ सप्तक, अग्निरूप में वैश्वानर है, आपोरूप में वरुण है, आदित्य रूप में मित्र है। अतः तीनों को सम्राट् कहा गया है। वरुण को आपोरूप में सम्राट् बनाने वाली ऋचा यह है

"यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वेदेवा या सूर्जं मदन्ति ।
वैश्वानरो यास्वग्निप्रविष्टस्ता आपो देवी रिह मावयन्तु ॥"
(ऋ० वे० ७-४९-४)

इस सूक्त के तीसरे मन्त्र में वरुण को 'मध्ये सत्यानृते पश्यन् जनानाम्' कहा है। यहाँ 'सत्य' माने देवता और अनृत माने मनुष्या (चतुर्थ सप्तक) है (श० प० ब्रा० ३-२-५-२) "सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः"। सत्यानृत की व्याख्या आगे इसी के उपशीर्षक 'सत्यानृतम्' में दी जा रही है।

दक्ष क्रतु के स्थान में इन दोनों तत्त्वों को मित्रावरुणौ कहा जाता है। दक्ष तो मित्र है और क्रतु वरुण है, ऋचाओं में दक्ष को सुदक्ष और क्रतु को सुक्रतु कहा गया है। दक्ष, अदिति का पाँचवा पुत्र है* तो क्रतु उसकी उत्पत्ति क्रम से यज्ञ क्रम से या विकास क्रम से बतलाता है। अतः क्रतु नाम यज्ञ पुरुष या विकास पुरुष का मध्यबिन्दु है।

१०—मित्रः

मित्र आदित्यों में पाँचवा आदित्य अत्रि या दक्ष नामक तत्त्व है, यह ॐ है। अतः इस २४ वें तत्त्व मित्र के बारे में लिखा है कि यह तत्त्व किसी का अमित्र नहीं हो सकता, यह त्रिपादामृत का एक सामूहिक नाम है जैसे

"सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि, न मित्रं सन्नमित्रो भविष्यामीति"
(श० प० ब्रा० ४-१-४-८)

और यह मित्र तत्त्व ऋत है, ब्रह्म है, वरुण आयु है और संवत्सर है इसलिए ये योनि कहलाते हैं।

"राया वयं ᳪ···तां धेनुं मित्रावरुणा···मेष ते योनिॠतायुभ्यां त्वा"
(यजु०)

"ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि,
वरुणः संवत्सर आयुः तस्मादाहैष ते योनिॠतायुभ्यां त्वा।"

* अष्टौ पुत्रासो अदिते र्ये जाता तन्वस्परि देवाँरुप प्रैत्सप्तभिः परामार्तण्डमास्यत् (१०-७२-८) सप्तभिः पुत्रै······प्रजायै मृत्यवे-त्वत्पुनर्मार्तण्डयमाभरत् (१०-७२-९) आदितेर्दक्षो अजायत दक्षात् उ अदितिःपरि" (ऋ० वे० १०-७२-४)

वरुण और मित्र को अर्यमा का पुत्र या अर्यम्य या अर्यमण कहा गया है जैसे ऋ० वे० ४-२-४, ऋ० वे० ५-८५-७ में और "अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्" इत्यादि (ऋ० वे० १-८९-३ यजु० २५-१६) इत्यादि में। यह अर्यमा २३ वाँ तत्त्व चौथा आदित्य है। यह मित्र 'शान्तार्चिशाम्यतो भवति, प्रतितर मिव तिरश्चीवार्चिः') श० प० ब्रा० २-२-४-११,१२) कहा गया है। मित्र के बारे में ऋ० वे० ३-५९ सूक्त उत्तम है

"मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टी रनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोतन ॥१॥
प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥२॥
अनमीवास इलया मदन्तो मितज्ञयोवरिमन्ना पृथिव्याः।
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम ॥३॥
अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ठ वेधाः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥४॥
महाँ आदित्यो नमस्योपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः।
तस्मा एतत्पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविरा जुहोत ॥५॥
मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि।
द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥६॥
अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः।
अभि श्रवोभिः पृथिवीम् ॥७॥
मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे।
स देवान् विश्वान्विभर्ति ॥८॥
मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्त वर्हिषे।
इष इष्टव्रता अकः ॥९॥

अर्थ :—मित्र नामक तत्त्व इस अखिल ब्रह्माण्ड और हमारे वैयक्तिक ब्रह्माण्ड का वह भौतिकात्मीय तत्त्व है जो किसी भी भले-बुरे कार्य की स्वीकृति वा प्रतिक्रिया सुनते ही कहते ही जानते ही स्वयं तुरन्त कर देता है उसके इसी सावधानी पूर्ण कार्य से द्यावापृथिवी पूर्ण ब्रह्माण्ड सुव्यवस्थित है (दधार) अन्यथा कब क्या न हो जाता। यह मित्र, भौतिकात्मा (कृष्टी) के इस प्रकार प्रतिक्षण संरक्षण में तत्पर रहता है; ऐसे मित्र को अपने प्राणों की सी आहुति देते रहो ॥१॥ यह मित्र आदित्यों के नियमों में संचालित होता है, यह नाशवान् भौतिकात्मा युक्त हुआ करे, पर यह नित्य गतिमान् कर्मण्य और त्रिपादामृत भी है। इसकी भौतिकात्मा और त्रिपादात्मा न तो मारी जा सकती है, न जिलाई जा सकती है, न इसको कोई पाप का लेश छू सकता है, चाहे वे पापादि समीपी या दूर के हों। यह मित्रात्मा अजरामर और शुद्ध-बुद्ध चैतन्य मय है (गीता के 'न जायते म्रियते वा कदाचिद्' और कठ के इसी प्रकार के वाक्यों का आधार यही ऋचा है) ॥२॥ यह मित्र स्वस्थात्मा इच्छा के

साथ (भौतिकात्मा के साथ) मस्त रहता हुआ पृथिवी (भौतिकात्मा) की महिमा से मितज्ञता को भी स्वीकार कर लेता है ॥३॥ यह मित्र नमस्कार के योग्य है, परम कल्याणकारी है, राजा है, क्षत्र है, इसने कुलायी ब्रह्मा (वेधा) को जन्म दिया, यह यज्ञिय या विकासभरा तत्त्व है, हम उसकी सन्मति और सन्मानस से पूजा करते रहें ॥४॥ यह महान् आदित्य है, अपने घर में स्थापित करने योग्य है, यातयज्जन है और सदा कल्याणकारी है। उसके लिए विशुद्धाग्नि में हवि प्रदान करो ॥५॥ हम उस चर्षणी (गावः आदित्याः के व्रतो) को धारण करने वाले देवता मित्र की शरण जाते हैं, वह हमारी रक्षा करे, जो स्वर्गीय चित्र-विचित्र स्वरूप को धारण करने में समर्थ होता है ॥६॥ जिसे अपनी महिमा से दिव नामक तृतीय सप्तक को उसके पूर्ववर्ती सप्तकों सहित और अपनी विकासीय शक्ति से पृथिवी उत्तरार्द्ध को अभि-भावित किया या अपनी संरक्षण में रखा या परास्त किया उसको हम पूजते हैं ॥७॥ मित्र के लिए पञ्चादित्यों ने संयमपूर्वक कार्य किया कि अभीष्ट कल्याण (सृष्टि विकास) हो, अतः वह समस्त देवताओं को (भौतिकात्मा देकर उनकी) रक्षा करता है ॥८॥ मित्र देवताओं की आयु को मनुष्यों या भौतिकात्माओं में धारण करने के लिए यह भौतिकात्मा की आसन्दी का वरण करता है। जिससे अभीष्ट सृष्टिविकास कार्य इच्छानुकूल कर सका ॥९॥

११—प्रचेतसौ-मित्रावरुणौ

मित्रावरुण के जन्म की कथा (श० प० ब्रा० १-६-३-७ से १२ तक) ने दी है। जिसके अनुसार एक शेष मनु ने तपस्या की तो संवत्सर भर के बाद एक स्त्री निकली, उसीसे मित्रावरुण का जन्म हुआ। उसने अपना नाम मनु की दुहिता बताया, उसी की यथार्चना से हमारी प्रजा बनी। वही फिर इडा बनी*। मित्र और वरुण, अथवा दक्ष और क्रतु इस अखिल ब्रह्माण्ड के बड़े महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। इनसे भौतिकात्मा का अभ्युदय तदनन्तर भौतिक ब्रह्माण्ड का निर्माण प्रारम्भ होता है। भौतिकात्मा और भौतिक ब्रह्माण्ड की चेतनायें भी यही मित्रावरुण या दक्ष क्रतु तत्त्व हैं। ये न हों तो अखिल सृष्टि जड़वत् स्थिर बनी पड़ी रह जावे। समस्त गतिमान् ब्रह्माण्ड की गति या चैतन्य इन्हीं देवताओं की देन है, यह निम्न ऋचायें स्पष्ट भाषा में उद्घोषित कर रही हैं :—

"इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इम ऋतस्य वावृधु र्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः॥"
"इमे मित्रो वरुणो दूलहभासो अचेतसं चिच्चेतयन्ति दक्षैः।
अपि क्रतुं सुचेतसं वतन्तस्तिरश्चिदंहः सुपथा नयन्ति॥"
"इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।
प्रब्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्॥"

(ऋ० वे० ७-६०-५, ६, ७)

* (तै० ब्रा० १-७-१०-१) ने लिखा है कि मित्रः अहः या पूर्वार्द्ध वरुण रात्रि उत्तरार्द्ध। मित्र दक्षिण है वरुण सव्य या वाम

अर्थ—ये मित्र, अर्यमा और वरुण, अनृत या भौतिकात्मा को चेतना प्रदान करते हैं। ये स्वयं ऋत नामक पूर्वार्द्ध से विशेष कर दुरोण नामक तृतीय सप्तक से विकसित हुए हैं, ये महाबली और अविजेय तथा अदित के पुत्र हैं॥ ये मित्र और वरुण दुर्लभ तत्त्व हैं, ये अचेतन में भी चेतना फूँक देते हैं। चेतना फूँकने में ये बड़े दक्ष हैं और दक्ष रूप में चेतना देते हैं। और क्रतु नामक (वरुण) तत्त्व स्वयं सुचेताः (प्रचेताः) है, उसका क्रमिक विकास करके बुरे मार्गों से संरक्षित करते हुए विकास को बढ़ाते जाता है॥ ये पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों का विकास प्रतिक्षण करना चाहते हुए अचेतन भौतिकात्मा की सृष्टि करते हैं, जो नदी की तरह उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते इतना अत्यन्त अगाध-अखिल ब्रह्माण्ड के रूप में उपस्थित हो जाता है जिसका कहीं पार नहीं, कहीं छोर नहीं, कोई पूर्णज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ पर आपाततः 'सत्यानृत' पर प्रकाश डाल देना उचित है। ऋ० वे० ७-४९-३ में लिखा है

"यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते पश्यञ्जनानाम्"

१०—सत्यानृतम्

कि जिन आपोदेवियों का राजा वरुण दर्शन के मध्यवर्ती भाग में स्थित होता हुआ चतुर्थ सप्तक (जनानां) के तत्त्वों के सत्यानृत दोनों गुणों को देखता है। सत्य पूर्वार्द्ध है अनृत उत्तरार्द्ध। सत्य ऋत है, अनृत ऋत से भिन्न भौतिक। ऋत नाम मित्रावरुण का है। यह मित्र के प्रथम परिच्छेद में उद्‌धृत किया जा चुका है। शतपथ ब्राह्मण ने आरम्भ में ही सारी सृष्टि को दो भागों में निश्चित रूप से विभक्त करते हुए लिखा है

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवाऽनृतं च।
सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः॥"

(३-२-५:२)

यहाँ 'मनुष्या' शब्द चतुर्थ सप्तक भौतिक तत्त्व का वाची है, इसका नाम नृषत् भी है। यही 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' का 'मनुष्य' शब्द है। यहाँ पर जिन तत्त्वों को 'सत्यानृत' नाम से पुकारा है, उन्हीं को दूसरे स्थलों में दो अन्य प्रकार के जोड़े के शब्दों द्वारा सूचित किया गया है जैसे

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, आर्द्रं चैव शुष्कं च।
यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्।............
सूर्य एवाग्नेयः, चन्द्रमा सौम्यो, अहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्या,
य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः स आग्नेयो योऽहःक्षीयते स सौम्यः॥"

(श० प० ब्रा० १-५-२-२३, २४)

कि इस सृष्टि चक्र में दो ही तत्त्व मुख्य हैं, तीसरा है ही नहीं। वे दो हैं—आर्द्र और शुष्क, जो शुष्क तत्त्व है वह आग्नेय है, जो आर्द्र है वह सौम्य (सोम सम्बन्धी) है......आग्नेय तत्त्व सूर्य (२५ वाँ तत्त्व) है, सौम्य तत्त्व चन्द्रमा है। आग्नेय को दिन कहते हैं, सौम्य को रात्रि; जो अर्द्धमास (पूर्वार्द्ध) आपूरित होता है

(जैसे कृणपक्ष का चन्द्रमा) वह सौम्य भाग है। अन्यत्र श० प० ब्रा० २-२-३-१० में लिखा है।

> "द्वयं वा इदं जीवनम्। मूलि चैवामूलं च।
> तदुभयं देवाना ॐ सन्मनुष्या उपजीवन्ति॥
> पशवो मूला ओषधयो मूलिनस्ते पशवो मूलाः।
> ओषधीर्मूलिनीर्जग्ध्वापः पीत्वा ततः एष रसः सम्भवति॥"

कि जीवन दो प्रकार का है, मूलि और अमूल। ये दोनों देवताओं के (भेद) हैं जिनसे मनुष्या (चतुर्थ सप्तकीय तत्त्व) उपजीवित होते हैं (देखिए 'इमे चेतारो इत्यादि पहिले)। मूल नाम पशुओं का है, पशु नाम तत्त्वों के उन नामों का (इन्द्र वृत्र विष्णु रुद्र आदि का) है जिनको संकेत करके तत्त्वों की व्याख्या काव्य रूप (ऋचाओं) में की गई है। 'यदपश्यत्तस्मादेते पशवः' (पशुवाद देखें)। ओषधि नाम मूलिनि तत्त्वों सोमादि का है, ये भी पशु ही हैं। मूल नामक पशु मूलिनी ओषधियों को खाकर आपोब्रह्म पीकर जब प्रस्तुत होते हैं तभी उनसे रसः नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। ये सब दार्शनिक विवेचन हैं जिन्हें कथा रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मध्य युग के वेदान्ताचार्य शंकर रामानुज प्रभृति ने 'सत्यानृत' शब्दों के अर्थ, लौकिक अर्थ के समान 'सच्चा झूठा' समझा है। वैदिक ऋषि अनृत शब्द से इस भौतिक ब्रह्माण्ड को स्वप्न सा असत् नहीं कहते वरन् इससे ठोस तत्त्वों का संकेत करते हैं। ऐसा पूर्व परिच्छेद में कहा जा चुका है 'सत्यानृत' शब्द त्रिपाद ब्रह्म और सोमात्मा के दो मुख्य स्वरूपों या आध्यात्मिक और भौतिक सृष्टियों के पूर्वार्द्धीय उत्तरार्द्धीय तत्त्वों के संकेतक हैं। दोनों ठोस तत्त्व हैं, दोनों आत्मायें हैं। इनका अन्तर अभौतिक और भौतिक स्वरूप का है। पूर्वार्द्ध को ऋत या सत्य कहते हैं तो उत्तरार्द्ध को ऋत से भिन्न अनृतं। ये दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। यहाँ पर इनके लौकिक अर्थ का वैदिक पारिभाषिक अर्थ से कोई लगाव नहीं है। भौतिक ब्रह्माण्ड का पारिभाषिक नाम अनृत (ऋत से भिन्न) होने से उसकी सत्ता को वैदिकों ने कभी नहीं मिटाया वरन् उन्होंने इस अनृत नामक भौतिक तत्त्व के भयंकर स्वरूप को शत्रु, असुर और भ्रातृव्य आदि कई अन्य नामों से पुकार कर इसकी सत्ता की महानता विशालता और अधिकता का पूर्ण परिचय दिया है। वास्तव में सभी देवता तभी वास्तविक देवता कहलाते हैं जब वे इस भौतिकात्मा (सोम) को प्राप्त कर शरीरी बन जाते हैं। वे इस शरीर के लिए सदा तरसते रहते हैं। अतः इस भौतिक ब्रह्माण्ड के दो स्वरूप हैं, दैव और आसुर।

अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की भौतिकात्मा का अभ्युदय 'मित्र' या 'वरुण' या 'अग्नि' (जातवेदा) की चक्षु से होता है 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः'। यह चक्षुः तत्त्व सूर्य २५ वाँ तत्त्व है जिसमें दैवी आत्मायें या त्रिपादामृत

११— मित्र और शत्रु

हैं, चक्षुरूप सूर्य में तीन त्रिपादामृत आत्माओं के साथ

सोमात्मा भौतिक आत्मा भी है, वह भी अमृत ही है, पर इसका परिवर्द्धित विकराल स्वरूप आसुर या वृत्र या शत्रु या भ्रातृव्य कहलाता है। प्रथम तीन सप्तक तीन भाई हैं

"अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥"
(ऋ० वे० १-१६-४-१)

तीसरा भ्राता घृतपृष्ट कहलाता है, जातवेदा तृतीय सप्तक है, उसका यह चक्षुः रूप सूर्य है, उसका पुत्र भौतिकात्मा है, अतः उसे भ्रातृव्य तीसरे भाई का लड़का या शत्रु या असुर या (बहुप्राणात्मा) कहते हैं। और मित्र कभी अमित्र नहीं होता, किसी का अमित्र नहीं होता जैसा पहिले दिये गये श० प० ब्रा० ४-१-४-८ के उद्धरण से स्पष्ट है, क्योंकि वह त्रिपादामृत है। अतः वैदिक लोग सदा प्रार्थना करते आये हैं कि हम सदा सबको मित्र की चक्षु या त्रिपादामृतीय आत्मा रूप में देखने के अभ्यस्त रहें, क्योंकि यह अखिल ब्रह्माण्ड मित्र की चक्षु (सूर्य तत्त्व) से उत्पन्न हुआ है जैसे--

"दृते दृहं मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥"
(यजु० ३६-१८)

कि मुझे दृढ़ शरीरी बनाओ, सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखें, मैं सबको मित्र-दृष्टि से देखूँ, हम मित्र की आखों से देखें। यही भाव

'मन्त्रार्थाः सफलाः सन्तुः पूर्णाः सन्तु मनोरथाः।
शत्रूणां बुद्धिनाशाय मित्राणामुदयस्तव ॥'

का है। शत्रुबुद्धि आसुरी भौतिकात्मा है। मित्रबुद्धि त्रिपादामृत है। वेदों में बुद्धि या धी शब्दों का प्रयोग सदा ही त्रिपादामृत और भौतिकात्मा के लिए हुआ है। गायत्री मन्त्र के 'धियो यो नः प्रचोदयात्' का धी शब्द भी इन्हीं त्रिपादामृतों और भौतिकात्मा के सवन (चोदयात्) की प्रार्थना करता है।

———

अध्याय ५६

अहोरात्रवाद

वैदिकों का अहोरात्रवाद, दर्शन का बृहत् प्रकाश स्तम्भ है। यह एक प्रकार का नहीं वरन् अनेक प्रकार का है। पर यह अनेक प्रकार का केवल नाम और व्याख्या शैली के अनुसार है, तत्त्वतः यह केवल एक ही प्रकार का है। क्योंकि इसके नाना प्रकार, वैदिक दर्शन के पूरे पचास तत्त्वों के विभागों का ही वर्णन करते हैं। वैदिक दर्शन को और उसके विभाजनों को विभिन्न संज्ञाओं के अहोरात्रों के नाम से पुकार कर उनकी व्याख्या उन नामों के अनुसार मात्र की गई है। जैसे यह अहोरात्रवाद चार प्रकार का मुख्यतः माना जाता है (१) मानुष अहोरात्रवाद (२) पितृ अहोरात्रवाद (३) दैवत अहोरात्रवाद (४) ब्राह्म अहोरात्रवाद। इस ब्राह्म अहोरात्र वाद को ७२, ७२ युगों के विभाजन से मन्वन्तरों में भी विभाजित किया जाता है। ये मन्वन्तर सप्तकों के महर्षियों या मुख्य ब्रह्मों के प्रतिनिधि होते हैं। चारों अहोरात्रवाद संवत्सर ब्रह्म कहलाते हैं।

१—वैदिक अहोरात्रवाद के भेद

मानुष अहोरात्रवाद पूरे पचास तत्त्वों को दो भाग दिन और रात में विभाजित करता है। इसका मध्य विन्दु २५ वां तत्त्व नृषद् या मनुष्य सप्तक में आता है, अतः यह मानुष अहोरात्रवाद कहलाता है। इसका पूर्वार्द्ध दिन और उत्तरार्द्ध रात्रि कहलाती है। दिन की समाप्ति २५ वें सूर्य नामक तत्त्व के उदय से मानी जाती है। रात्रि का आरम्भ २६ वें तत्त्व सोम या चन्द्र के उदय से समझा जाता है। उषा का उदय २४ वें तत्व से होता है। इस अहोरात्र के ६० दण्डों में पला कला आदि ८६४००००००० अक्षर समिध या सूक्ष्म काल भेद होते हैं। 'पुनरह्नः पूर्वाह्नो देवाः अपराह्नः पितरः' (श० प० ब्रा० २-१-३-१) का अपराह्नः यही उत्तरार्द्ध है।

२—मानुष अहोरात्र

पितरों का पैत्र अहोरात्रवाद दर्शन के पचास तत्त्वों को 'मासः' कहता है। इसमें दर्शन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, पक्ष कहलाते हैं, प्रथम भाग शुक्लपक्ष कहलाता है, उत्तरार्द्ध कृष्णपक्ष। पितरों की समृद्धि या सोमपान, कृष्ण पक्ष या उत्तरार्द्ध में होता है, अतः इन्हें सोम या पितर कहते हैं। श० प० ब्रा० २-१-३-१ का उत्तरार्द्ध में 'य एव आपूर्यते अर्द्धमासः (पक्षः) स देवा योऽपक्षीयते (कृष्णपक्ष) स पितरो' वाक्य इसी बात का संकेत करता है। पितरों के सोमपान के माने 'भौतिक दिव्य शरीर पाकर बढ़ना' होता है। षोडशकल ब्रह्म की व्याख्या इसी अहोरात्रवाद से होती है। ब्रह्म को अमावस्या माना जाता है और पूर्णिमा, सोम या चन्द्र का उदय २६ वाँ तत्त्व है। कृष्णपक्ष

३—पितृ अहोरात्र

यहीं से आरम्भ होता है, ५० वें तक रहता है। इस अहोरात्रवाद के दिन रात (७२०) समिध होते हैं जिनके सूक्ष्म भेद 'गौरीर्मिमाय' की शैली से कुल ८६४००००००० होते हैं। पूर्वार्द्ध के प्रारम्भ में 'अनुमति' अन्त में 'राका' दो पौर्णमासी होती हैं उत्तरार्द्ध के आरम्भ में 'सिनिवाली' और अन्त में 'कुहू' नाम की दो अमावास्यायें होती हैं। इनका वर्णन पृथक् किया जा चुका है।

देवताओं का दैवत अहोरात्रवाद वर्ष या संवत्सर का होता है। यहाँ वर्ष या संवत्सर को दो अयनों में विभक्त किया जाता है। दर्शन के पूर्वार्द्ध के २५ तत्त्व उत्तरायण, शुक्लपक्ष और अग्नि ज्योतिर्मय कहलाते हैं, और

४—दैवत अहोरात्र

उत्तरार्द्ध के २५ तत्त्व दक्षिणायन कृष्णपक्ष और चान्द्रमस ज्योतिर्मय नाम से पुकारे जाते हैं। इनका मध्यवर्ती तत्त्व त्रिषुवद् रेखा (गर्त) कहलाता है। इसके पूर्वार्द्ध में भी १२ महीने होते हैं उत्तरार्द्ध में भी १२ महीने। इनके दिन या रात ३०,३० दण्ड के होते हैं। २४×१५=३६० पूर्वार्द्ध के दिन, २४×१५=३६० उत्तरार्द्ध की रातें होती हैं। 'अहरेव देवा रात्रिं पितरः' (श० प० ब्रा० २-१-३-१) इसी बात की ओर संकेत करता है। इसमें सप्तकाधार पर सात ऋतुयें, पञ्चपर्वा के आधार पर पाँच ऋतुयें, गायत्रीब्रह्म के अनुसार छह ऋतुयें या पूर्वार्द्ध में तीन उत्तरार्द्ध में भी तीन ऋतुयें, कुल ५० तत्त्वों की मानी जाती हैं। पुरुष सूक्त गायत्री की ऋतुयें मानता या देता है। इसमें भी ८६४००००००० समिधादि होते हैं। इनका वर्णन संवत्सर ब्रह्म शीर्षक में किया जा चुका है।

ब्राह्म अहोरात्रवाद की गणना युगों से की जाती है। युग चार हैं, पर ये युग पूर्वार्द्ध में भी चार होते हैं उत्तरार्द्ध में भी चार। इनके वर्षों की कुल संख्या ४३२०००० वर्ष है इनका अनुपात ४ : ३ : २ : १ है जिससे

५—ब्राह्म असोरात्र

१७६४०००, १२९६०००, ८६४०००, ४३२००० के क्रमिक युग होते हैं, योग ४३२०००० वर्षों को एक हजार से गुणा करके ४३२००.००,००,० वर्ष पूर्वार्द्ध के होते हैं, ४३२००,००,००,० वर्ष उत्तरार्द्ध के; कुल ८६४००,००,००,० वर्ष का ब्राह्म अहोरात्र होता है, पूर्वार्द्ध दिन है, उत्तरार्द्ध रात्रि। यही पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध मनुष्यों के 'कल्प' कहलाते हैं। कल्प केवल ये दो ही होते हैं। इस अहोरात्रवाद को ७२ से विभाजित किया जाय तो वह अष्टकों का प्रतीक बन जाता है। ६००,००,००,० वर्ष का एक अष्टक या मन्वन्तर होता है; ये पूरे वर्ष हैं, आधे वर्ष १२००,००,००,० होंगे। एक मन्वन्तर छह करोड़ पूरे वर्ष या १२ करोड़ आधे वर्ष का होता है। इन सब अहोरात्रों का दार्शनिक या तात्त्विक व्याख्यान संवत्सर ब्रह्म व्याख्या के अवसर पर तत्त्वनिर्णय प्रकरण में किया जा चुका है।

ये अहोरात्रवाद चतुष्पाद् ब्रह्म को अहः दिन या पूर्वार्द्ध शुक्लपक्ष उत्तरायण

आदि नाम से पुकारते हैं और भौतिक सृष्टि को रात्रि उत्तरार्द्ध कृष्णपक्ष दक्षिणायन चान्द्रमस ज्योति इत्यादि नाम से। गीता के

६—अयनीय अहोरात्र "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां (रात्रौ) जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥"

श्लोक का अर्थ इस अहोरात्रवाद को जाने बिना नहीं लग सकता, सर्वभूतानां निशा-भौतिक जगत्, संयमी-चतुष्पाद् ब्रह्म-दिन; यस्यां जागर्ति = भूतानि = भौतिक जगति; सा रात्रिः उत्तरार्द्धः भौतिक–पश्यतो मुनेः चतुष्पाद्‌ब्रह्म जागरुकस्य → निशा-इत्यादि।

वेदों में अहोरात्र का संकेत

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥"
(ऋ० वे० ६-९-१)

में मिलता है, यही विवर्तकारी है, इसका मध्यविन्दु सूर्य और वैश्वानर नामक अग्नि है जिसे गर्त या विषुवत् कहते हैं।

'अहोरात्र' का विषय वैदिक विश्वदर्शन में अतीव महत्त्व पूर्ण है। अहोरात्र वैदिक विश्व दर्शन या सृष्टि और अतिसृष्टि (योग) के दो भागों के दो नामों का एक सम्मिलित नाम है। सृष्टि में पूर्वार्द्ध अहः या दिन है, उत्तरार्द्ध रात्रि। पर अतिसृष्टि या योग में पूर्वार्द्ध रात्रि है (जिसका वर्णन आगे 'रात्रि' शीर्षक में दिया जा रहा है) उत्तरार्द्ध दिन। इन दोनों भागों के कई और नाम भी हैं जैसे—श्री लक्ष्मी, सत्यानृतं, उषासानक्ता, देव्यौ होतारौ, द्यावापृथिव्यौ, अश्विनौ, असत् सत्, अदितिदिति, उत्तरायण-दक्षिणायन, शुक्लकृष्णपक्ष, अपरपर, अर्वाक् पूर्वाक्, देवी ज्योष्ट्री, देवी ऊर्जाहुती, उत्तरावत-दक्षिणावत, उत्तरापथ-दक्षिणापथ, उत्तरा-दक्षिणा, परावत-पूर्वावत, पूर्वापरा। इन दोनों भागों के मध्यवर्ती तत्त्व का नाम चक्षुः सूर्यः, विषुवत् रेखा, गर्तम्, मध्याकर्तोः, उपस्थ, योनिः, ओष्ठं, नासिका, कर्णौ, चक्षुषी, दृषदुपले, इत्यादि है। इन सबका हृदयस्पर्शी वर्णन ऋ० वे० २-३९ में गृत्समद ऋषि ने सजीव आलंकारिक भाषा में किया है। इस अहोरात्र नामक दो भागों को सृष्टि और अतिसृष्टि का विवर्त करने वाला बताया है जैसे 'विवर्तेते अहनी चक्रियेव' (ऋ० वे० १-१८५-१)। इनके मध्यवर्ती तत्त्व सूर्य को 'मध्याकर्तोः' या सृष्टि और योग के कृत्यों के मध्यवर्ती स्थान या तत्त्व कहा गया है। इस तत्त्व के यथार्थ ज्ञानाभाव में भाष्यानुवादकारों ने ऋ० वे० १-११५ सूक्त में आये 'मध्याकर्तो' शब्द का अर्थ गलत समझा और लगाया है। इस स्थान को 'हरितः सधस्थात्' (या प्राणाश्व के अस्तबल से') कह कर प्राणाश्व का निवास बताया है जहाँ से सृष्टि या योग का कार्य 'विततं संजभार' या विस्तारित किया कहा गया है जैसे

"तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्याकर्तोः विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥४॥

कि जब तक रात्रि सूर्य पर रात्रि रूप कम्बल या वस्त्र (ढकने के लिए) डालती है तब तक उसने प्राणाश्वों को इस अस्तबल से खोल कर जोत लिया, और आगे के कार्य को विस्तारित कर दिया। यही बात इससे अगली ऋचा अधिक स्पष्ट रूप से दूसरे ढंग से कहती है, जैसे

"तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः संभरन्ति ॥५॥"

अस्तु अहोरात्र सर्वश्रेष्ठ वर्णन ऋ० वे० १-११३ सूक्त में निम्न ऋचाओं में भी मिलता है, जैसे—

"इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥१॥

रुशद्वत्सा रुशतीश्वैत्यागादारैगु कृष्णाः सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अनृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥२॥

समानो अध्वास्वस्रो रनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥३॥"

इनमें प्रथम ऋचा के अन्त में कहा है कि रात्रि ने सूर्य को जन्म देने के लिए उषा के सामने अपनी योनि खोलकर दिखा दी कि उसका प्रसव कर दो। इनका व्याख्यान मेरे ग्रन्थ 'पुराण दर्शन' के देवकी यशोदा शीर्षकों में भी देखें।

———

अध्याय ६०

उषा और उषासानक्ता या अहोरात्रम्

वेदों में उषा तत्त्व महामहत्वपूर्ण है। यह पूर्वार्द्ध की सृष्टि अथवा अतिसृष्टि में भौतिकात्मा या सोम ज्योति की विवर्तकारिणी प्रथम उषा है, नेत्र स्वरूपिणी है।

१—उषा

ऐ० ब्रा० (४-२७) ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सृष्टि काल में भौतिकात्मा की और योगावस्था में सोम ज्योति की उत्पत्ति इसी उषा से होती है जैसे

"ऊषो हि पोषोऽसौ वै लोक इमं लोकमभिपर्यावर्तत ततो वै,
द्यावापृथिवी अभवतां न द्यावान्तरिक्षांनान्तरिक्षाद्भूमिः ॥"

महर्षि वसिष्ठ जी ने इस उषा को इसीलिए त्रिपादामृतीय ज्योति या सोम की आविष्कर्त्री और सूर्य तत्त्व को चक्षुरूप में अङ्कुरित करने वाली कहा है जिससे सभी देवता या योगीजन सार्वजनीन जीवन विताते हैं। यही उषा अन्ततोगत्वा अखिल भुवनों की तथा सभी देवताओं की जननी भी है, जैसे :—

"इदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं क्त्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं
विश्व मुषाः ॥१॥

...अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात्प्रतीच्यागात् ॥२॥
एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः ॥७॥"
(ऋ० वे० ७-७६-१, २, ७)

इस उषा के उदित हुए विना न तो भौतिक सृष्टि—स्थूल या सूक्ष्म-सत्ता में आ सकती हैं, न योगीजन सोम ज्योति रस और देव ज्योतियों की प्राप्ति कर सकते हैं। इसी कारण वेदों में इसकी इतनी बड़ी-बड़ी महिमायें या स्तुतियाँ या वर्णनायें मिलती हैं। इसको मघोनी, दिवोदुहिता इत्यादि विशिष्ट विशेषणों से विभूषित किया है :

अथर्ववेद ने छह सूक्तों (१९-४७, ४८, ४९, ५०, ५५, ५६) में रात्रि का विस्तृत वर्णन दिया है। ये रात्रियाँ योग के पूर्वार्द्ध की हैं जिनका विश्लेषण निम्न मन्त्र से किया जा सकता है।

२—रात्रिः

"ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव।
अष्टाशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥
द्वौ ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः।
तेभिर्नो अद्य पायुभिर्नु पाहि दुहितर्दिवः ॥"
(अथर्व० १९-४७-३,४,५)

ये रात्रियाँ योगी की, योग प्रक्रिया की सीढ़ियाँ हैं। ये चतुर्थ सप्तक के ९९ रात्रियाँ हैं जिनमें आगे बढ़ते चलकर योगी इनकी संख्या को घटाते जाते हुए क्रम से ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२, ११ करके अन्त में प्रथम रात्रि रूप २४½ वें अंश या तत्त्व में पहुँच जाता है जहाँ पर रात्रि समाप्त होकर उषा का पूर्णोदय हो जाता है। यह योग त्रिष्टुप् छन्द के अक्षरों या प्राणों की सीढ़ियों से किया जाता है। ये ही इन्द्र रूप मनोब्रह्मा के १०० यज्ञ हैं जिनसे वह शतक्रतु कहलाता है। इन्द्र का स्थान ३१ वाँ है। उसे २४½ वें तत्त्व सूर्य को प्राप्त करने के लिए ३१ - २४½ = ६½ × १५ = ९९ अंशों या सीढ़ियों को पार करना है। प्रत्येक तत्त्व एक पक्ष (१५ रातों का) है। अतः ६½ तत्त्वों को पार करने में ९९ रात या सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। इनकी पूरी व्याख्या 'इन्द्र' शीर्षक में दे दी गई है (वहीं देख लें)।

———

अध्याय ६१

देवी ज्योष्ट्री और देवी ऊर्जाहुती

इन दोनों का वर्णन मैत्रायणी संहिता में मिलता है

(१) देवी ज्योष्ट्री वसुधिती ययो रन्यघा द्वेषांसि यूयवदान्या ।
वक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीता यज ॥
(मै० सं० ४-१३-८)

यह दो का जोड़ा है, दोनों को मिलाकर देवी ज्योष्ट्री कहते हैं । दोनों सम्मिलित रूप से वसुधा या द्रविण धारिणी हैं या भौतिक आत्मा युक्त हैं । इनमें से भौतिकात्मा के भाग वाली (उत्तरार्द्धीय) देवी ज्योष्ट्री तो अघ और द्वेष को स्वभावतः धारण करती है, पूर्वार्द्ध वाली प्रथमा (अन्या) वसु या त्रिपादामृत द्रविणों को यजमान के लिए देती है, अतः यज्ञ करने वाले की सदा कामना करती है ।

"यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् "

इनको प्राणायामौ या प्राणोदानौ भी कहा है

(२) देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धि
सपितिमन्या नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम ।
पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने
अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥
(मै० सं० ४-१३-८)

यह भी दो का जोड़ा है । एक इष और ऊर्ज (जीवात्मा तैजसात्मा) को प्रदान करती है दूसरी सग्धि सपीति या भौतिकात्मा के अन्त और सोम रूप को, द्वितीय का नाम 'नव' नवीन है, इस पर पुराण या पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत दया करते रहें, और वे नवीन को अपने अमृत (ऊर्ज आदि) देते रहें जिसको यह ऊर्जाहुती पाकर द्रविण युक्त यजमान के यज्ञों की सदा कामना करती रहे । ये भी प्राणादानौ या प्राणायामौ ही हैं ।

अध्याय ६२

द्यावाभूमी या द्यावा पृथिवी

द्यावा पृथिवी तो प्रत्यक्ष रूप में अश्विनी हैं यह आगे अश्विनी नामक शीर्षक में स्पष्ट किया जायेगा। द्यावा पूर्वार्द्ध का नाम है, पृथिवी उत्तरार्द्ध का, कहीं भी देखलें। इन दोनों को क्रम से पिता और माता के नाम से पुकारा गया है "द्यौष्पितः पृथिवी मातः" (ऋ० वे० ६-५५-५) "द्यौर्वःपिता पृथिवी माता" (ऋ० वे० १-१९१-६) "तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः" (ऋ० वे० १-८९-४) "मधु द्यौ रस्तु नः पिता" (१-९०-६)। इन दोनों के संयोग का नाम अखिल ब्रह्माण्ड का बीज या पूर्ण वैदिक दर्शन हैं। इन दोनों का जन्म केवल एक ही बार होता है, अन्य सब बार-बार होते रहते हैं जैसे

"सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमि रजायत।
प्रश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानुजायते॥"

(ऋ० वे० ६-४८-२२)

इनके विपरीत जो जातवेदादि (जिसके भेद सभी विश्वेदेवता) हैं वे नित्यशः होते रहते हैं जैसे

"जन्मञ्जन्मन् निहितो जातवेदा विश्वामित्रेभिरिध्यते रजस्रः"

(ऋ० वे० ३-१-२१)

इन दोनों को चमू (चम्वोः) नाम से पुकारते हैं, जिसमें से द्यौश्चमू को पिता और पृथिवी चमू को माता नाम से पुकारते हैं। इस पृथिवी चमू रूप भौतिक तत्त्व के गर्भ में, द्यौश्चमू वाक् का गर्भाधान, करता या रहता है। इसलिए लिखा है,

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो र्योनिरन्तरत्रा पितादुहितुर्गर्भमाधात्॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३३)

यहाँ पर योनि, उक्त दोनों के सम्मिलन बिन्दु का नाम है जैसा अहोरात्र वर्णन में दिया जा चुका है जैसे

"य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३२)

इसी योनि गर्भ को 'सप्तार्द्धगर्भा' नाम से पुकारते हैं। सप्तार्द्धगर्भा नाम सात सप्तकों के ठीक बीच में (अर्द्ध में) गर्भ धारण करने वाले का है जैसे

---

* "श्रीश्चते च लक्ष्मी च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमाश्विनौ व्यात्तम्"

(यजुर्वेदीय पु० सू०)

"सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि"

(ऋ० वे० १-१६४-३६)

इस गर्भ का रेतः या बीज पूर्वार्द्ध से भिन्नधर्मा या विधर्मा है। यह गर्भाशयी तत्त्व सोम है, यही पृथिवी की अन्तिम रेखा है, यही यज्ञ की नाभि है, यह भी ऋ० वे० १-१६४-३५ में स्पष्टतया लिख दिया है जैसे

"इयं वेदिः (योनि) परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णा अश्वस्य (द्यौ ब्रह्मणः) रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

इससे यह भी स्पष्ट है कि द्यावा का नाम परमव्योम या परमे व्योमन् है, वह आध्यात्मिक वाग्ब्रह्म है। इसी के 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' होते हैं। इन्हीं अक्षरब्रह्म स्वरूप पूर्वार्द्धीय त्रिधामृतात्माओं से समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड सजीव सा व्यवहार करता है। और भौतिक ब्रह्माण्ड यह नहीं समझता कि मुझमें यह सजीवता (ज्ञान या वेद) समाया हुआ है, फिर भी यह उनके नकेल में सन्नद्ध उन्हीं के मनोवेगों से चलता रहता है जैसे

"न विजानामि यदि वेद मस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यथा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३७)

स्वभाव से सम्बद्ध या लाचार होकर पूर्वार्द्ध (द्यावा) उत्तरार्द्ध (अपाङ्) के स्वरूप (भौतिकात्मा) में परिणत हो जाता है। ये दोनों प्राण स्वरूप आत्मायें हैं और दोनों मिलकर ब्रह्माण्ड पटल को अभूतपूर्व स्वरूप में बुनते हुए भी, इनमें से प्राङ् या पूर्वार्द्ध रूप द्यावा तो अपाङ् या उत्तरार्द्ध रूप पृथिवी को जानती है, पर अपाङ् रूप पृथिवी प्राङ् रूप द्यावा को नहीं समझ सकती, क्योंकि यह उससे बहुत स्थूल बुद्धि स्वरूपिणी है। कुछ भी हो, प्राङ् रूप त्रिधात्मा अमृत हैं, अरूप और अयोनि हैं। ये योनि या रूप या शरीर को तभी पाती हैं जब ये अपाङ् मर्त्य रूप को प्राप्त हो जाती है। "अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः" (१-१६४-३८) 'योनि' शब्द के माने स्त्री योनि नहीं वरन् भौतिक शरीरों की नानारूपता है जिसका आरम्भ द्यावापृथिवी के सम्मिलन बिन्दु से होता है। उस बिन्दु का आकार अवश्यमेव स्त्री योनि सा बन जाता है। इसी को अदिति का उपस्थ या 'मातुर्योनिः' के नाम से पुकारा गया है, "दक्षस्य जन्मन्नदिते रुपस्थे" (१०-४-७) "समातुर्योना परिवीतो" (१-१६४-३२)। जहाँ कहीं भी द्यावा पृथिवी का वर्णन आता है, या सभी द्यावा पृथिवी के सूक्तों में इनको घृतवती नाम से पुकारा गया है। यह घृत उत्तरार्द्ध या पृथिवी के लिए ही आया है। इसका प्रमाण यह निम्न लिखित ऋचा है।

"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥"

(ऋ० वे० १-१६४-४७)

उत्तरार्द्ध या कृष्ण नियान या कृष्ण पक्ष या पृथिवी के सुपर्ण (सोमादि) ही उसके घोड़े हैं या प्राण हैं। ये चतुर्थ सप्तकीय है, अतः अपो वसाना या वैद्युतीयतरंग

धर्मी है या वैद्युतीय तरंग वस्त्रावरणीय हैं। इनका जन्म या विवर्तरूप में विकास, ऋत के सदन से या त्रिपादामृत से होता है, उन्हीं त्रिपादामृतों से यह वैद्युतीयतरंग-मय भौतिकात्मा का दिव्यशरीर अनुप्राणित होता है। इसीलिए कर्मकाण्ड में इनकी विधि में कहा जाता है

"पृथिवी ते पात्रं द्यौस्ते पिधानं अमृते अमृतं जुहोमि"

समस्त पुराणों, महाभारत और मनुस्मृति ने इस द्यावा पृथिवी का वर्णन इसी स्वरूप में पूरे वैदिक प्रणाली में किया है। उदाहरण में मनु ने लिखा है

"तदण्डमभवद्धैमं द्वेधापातयच्च तम्।
उभाभ्याम् शकलाभ्यां तु द्यावाभूमिं च निर्ममे ॥" (१-)

कि हिरण्यगर्भ सुवर्णाण्ड या शब्द ब्रह्म था, उसके दो टुकड़े किए (या उससे दूसरा भाग उत्पन्न हुआ), उन दोनों भागों को द्यावाभूमी कहते हैं। वैदिकों को जब अखिल सृष्टि को आध्यात्मिक भौतिक दो भेदों के साथ एक साथ कहना होता था तो वे वहाँ पर सदा द्यावापृथिवी या 'द्यावा भूमी' नाम से ही पुकारते रहे, जैसे

"विश्वतश्चक्षु रुतविश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुतविश्वतस्पात्।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रै र्द्यावाभूमिं जनयन्देव एकः॥"
(ऋ० वे० १०-८१-३)

"विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।"
(ऋ० वे० १०-८१-६)

"चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो धृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदि द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥"
(१०-८२-१)

इसी द्यावापृथिवी का नाम मेध्य अश्व है, इसीं का नाम 'पुरुष पशु' है (पुरुष पशु और अश्वमेध देखें)। इसका नाम पुरुष पशु इसलिए पड़ा कि इसका शिरोभाग और रुण्ड भाग दोनों बराबर हैं, दृश्य जगत् में मुण्ड छोटा बहुत छोटा होता है, रुण्ड उसका कई गुना बड़ा। नृमेध का पशु भी यही पुरुष पशु है। 'द्यावा पृथिवी' का सर्वोत्तम सूक्त ऋ० वे० ६-७० है।

"घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशषा।
द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥"
इत्यादि 'देवरथ' नामक शीर्षक देखें।

श० प० ब्रा० (७-५-१-१०) ने कश्यप कूर्म को भी द्यावा पृथिवी कहा है "कश्यपकूर्मौ हि द्यावापृथिव्यौ" इनमें कश्यप पूर्वार्द्ध आध्यात्मिक है और कूर्म भौतिक उत्तरार्द्ध। कूर्मावतार को समुद्र मन्थन में मेरु का आधार कहने का आधार यही वैदिक भावना है।

—x—

अध्याय ६३

पृथिवी

हमारे वैदिक विद्वान् (यास्क से लेकर आज तक के सब) पृथिवी शब्द से हमारी इसी जगत् की मिट्टी पत्थर वाली पृथिवी समझते आरहे हैं और द्यावा तथा द्यौ माने आकाश। यह घनघोर अनर्थ है। द्यावा पृथिवी के व्याख्यान से स्पष्ट हो गया होगा कि पृथिवी शब्द पारिभाषिक है, और वैदिक दर्शन के उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा का प्रतीक है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त (१२-१) में इसी भौतिकात्मा पृथिवी का व्याख्यान है। समस्त विश्वेदेवता इसी पृथिवी देवता के विभिन्न अंग या स्वरूप हैं और वे इसी पृथिवी के शरीर या दिव्यशरीरी देवता कहे गये हैं। वेदों में इस पृथिवी के लिए विश्व शब्द का भी प्रयोग होता है और उन्हें विश्वेदेवता कहते हैं (विश्वेदेवता देखें)। विश्व माने भी भौतिकात्मा ही होता है, यह संसार नहीं। विश्व या पृथिवी इस अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिकात्मा है, इसका स्थूल शरीर नहीं। अथर्व के पृथिवी सूक्त में जिन नदियों पर्वतों ओषधियों वृक्षों, पशुओं, उषा आदि प्राकृतिक तत्त्वों का वर्णन है वे सब नाम वैदिक दर्शन की नाना विद्याओं के पारिभाषिक शब्द हैं, जैसे सिंह सूर्य का नाम है, वृक चन्द्र का, वराह रुद्र का, सर्प वृत्र का, पक्षी सुपर्ण सोम का, समुद्र ब्रह्म का, आपः विद्युत् स्वरूपी आत्मा का; और गंगा यमुना सरस्वती विराट् शुतुद्री, इत्यादि पञ्चपर्वाविद्या के पर्व हैं, इसी प्रकार मेरु सुमेरु मौंजवान् हेमद्रि आदि पर्वतादि भी इसी विद्या के अंग हैं, ग्रावाण अश्मा भी सोम के नाम हैं, अश्वत्थ पारिजात, वट कल्पवृक्ष सन्तान नाम भी पञ्चपर्वा विद्या के भाग हैं। इस प्रकार समस्त पृथिवी सूक्त उक्त पारिभाषिक शब्दों के श्लेष से वैदिक दर्शन की पूर्ण व्याख्या करता है। इन शब्दों से लौकिक विषय भी संकेतित होते हैं पर उनका वर्णन सूक्तों की व्याख्या शैली से उत्तमतया या पूर्णतया हो ही नहीं सकता। क्योंकि लौकिक वातावरण में विष्णु रुद्र वरुण इन्द्र आदि देवताओं के लिए कोई स्थान ही नहीं हो सकता। इस दार्शनिक पृथिवी को इसीलिए इस प्रकार वर्णित किया है

१—पृथिवी

"भूरसि भूमिरस्य दितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य।
धर्त्री पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह मा पृथिवीं हिंसीः॥"

(यजु०)

इस पृथिवी रूप भौतिकात्मा में भूः या प्रथम सप्तकीय शब्द ब्रह्म है, द्वितीय सप्तकीय भुवः का रुद्रात्मा या जीवात्मा है, इसी में 'अदितिः' या तैजसीय आत्मा का विकास रूप तृतीय सप्तक है, दिति का जन्म दक्ष रूप २४ वें तत्त्व से होता है

(अदिते र्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि) । दक्ष से आगे की अदिति ही दिति नाम से पुकारी जाती

"आरोहथ वरुणमित्र गर्तमतः चक्षाथे अदितिं दितिं च ।।"

(ऋ० वे० ५-६२-८)

यह दिति नामक पृथिवी, हमारी मिट्टी की पृथिवी नहीं हो सकती

"स्योना पृथिवी भवानृक्षरा निवेशिनी ।

यच्छा न शर्म सप्रथः ।।"

(ऋ० वे० १-२२-१५)

तुम सुख कारिणी बनो, इस सृष्टि के अनिर्मित अक्षरों (अनृक्षरों) का निवेशन करो, हमें पूर्ण शरण दो ।। ऋक्षरा माने काँटे भी होता है, सृष्टि के काँटों रहित पर्वों को नव सृष्टि के अक्षरों को, 'ऋ' या ऋत के अक्षरों को 'ऋचो अक्षरों' को निशिष्ट या उन्मुक्त करो जिससे हमें पूर्ण शरण प्रदान कर सको । अतः इस पृथिवी का वर्णन ठीक दार्शनिक तत्त्वानुकूल देते हुए अथर्ववेद (१२-१-८,९, १०) लिखता है ।

"यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे (सोमे) दधातूत्तमे ।।
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयोदुहामथो उक्षतु वर्चसा ।
यामश्विनावमिमातां विष्णु र्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेन मित्रां शचीपतिः ।।"

वह पृथिवी जो आदि में अर्णव या आपोब्रह्म के सलिल रूप में थी, जिसका व्याख्यान मनीषि ऋषियों ने रहस्य रूप में किया, जिसका हृदय या आत्मा परमे व्योमन् या द्यावा या त्रिपादामृत हैं, जिसको (द्यावा को) इस पृथिवी के सत्य या भौतिकस्वरूप ने आवृत कर ढक दिया है, वह सोम रूपी राष्ट्र या दिव्यशरीर में कान्ति दीप्तिबल ओज को धारण करे । जिस पृथिवी रूप दिव्यशरीर में वैद्युतीय प्रवाही आत्मायें प्रमादहीन अहोरात्र का क्षरण या विकास करते हैं वह भूमि उन आत्माओं की पयोधाराओं को अनेक धाराओं में संचारित करती रहें ।। जिस पृथिवी में अश्विनौ ने अभिरमण किया, जिसमें विष्णु के तीन पाद का विक्रमण हुआ, जिसमें इन्द्र ने शक्तिमान बनकर मित्र का उदय किया वह माता रूप पृथिवी हमें या सोम रूप सुत को आत्माओं (त्रिपादामृत) का पयोदान करती रहे ।।" इन मन्त्रों का अर्थ अन्य लौकिक ढंग से बिलकुल बुढ़ियों की सी कथा बन जायेगी, पर दार्शनिक ढंग में इसका एक-एक शब्द परम वैज्ञानिक व्याख्या देता है । अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के सभी मन्त्रों का अर्थ इसी प्रकार दार्शनिक विवेचना मात्र देता है । लौकिक पृथिवी दार्शनिक रहस्य की आधार मात्र है । इस सूक्त के उक्त मन्त्रों तथा अन्य मन्त्रों में तथा इस काण्ड के तीसरे चौथे सूक्तों में, एक शब्द भूमि आया है । यह भूमि शब्द पृथिवी शब्द का पर्याय वाची नहीं है । यह शब्द 'पृथिवी' शब्द से एकदम भिन्न

अर्थ रखता है। भूमि शब्द पूरे दर्शन को ९ भागों में विभक्त करता है जैसे अथर्व ११-४-१४ में दिया है जैसे

"नव भूमीः समुद्रा उच्छेष्टेधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ।।१४।।
उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।।इत्यादि॥"

इसीलिए ऋ० वे० ५-८४-१ में पृथिवी सूक्त में पृथिवी और भूमि दोनों शब्द दो विभिन्न भागों का वर्णन देते हैं जैसे

"बलित्या पर्वताना खिद्रं बिभर्षि पृथिवी।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि ।।"

कि तुम "हे पृथिवी तुम पर्वतों के खेदन वा विकास का बल धारण करती हो, और उस बल से नाना भूमि का निर्माण करती हो, उसको अपनी महान् महिमा से परिपूर्ण करती हो।" इन नव (९) भूमियों के अन्तर्गत पूर्वार्द्ध परार्द्ध दोनों आ जाते हैं, पूर्वार्द्ध को गुहा कहते हैं, अतः जहाँ इनके वर्णन् का संदर्भ है वहाँ भूमि शब्द का प्रयोग दिया है जैसे

"यच्छयानः पर्य्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभि रधिशेमहे।।
(अथर्व १२-१-३४)

और

"यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदा विभोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ।।
त्वमस्या वपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत्त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ।।
उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ।।"
(अथर्व १२-१-६०, ६१, ६२)

ऋ० वे० ५-८६-४ में भी यही अन्तर दिया है "उनत्ति भूमिं पृथिवी मुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्" इत्यादि। परन्तु ऋ० वे० १-१०८-१० में तो पृथिवी के ही तीन स्वरूपों का वर्णन देता है। और तीन प्रकार की पृथिवी का वर्णन देते हुए कहता है कि हे इन्द्राग्नी जो तुम 'परम पृथिवी' में हो जो 'मध्यम पृथिवी' में हो और जो 'अवम पृथिवी' में हो, वे वृषण स्वरूप वर्षण स्वरूप धारण करके सोम पान के लिए जावो, अब सोम भौतिक दिव्यशरीर प्रस्तुत हो चुका है जैसे

"यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्याँ मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः।
अतः परिवृषणावा हि पात यथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ।।"

यास्क ने पृथिवी को तो इस भूलोक को ही माना है, पर उसका वर्णन पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युस्थान तीनों में दिया है जिससे उनका किया और दिया देवता स्थान विभाजन स्वयं खण्डित हो जाता है और उन्हें अपने मत का ध्यान ही नहीं है, वे

पुराने निरुक्तों की नकल कर रहे हैं अपना विभाजन भूल गये हैं। प्रश्न यह है कि भूलोक जैसी पृथिवी तो दो अरब गोलों में है। वे इनके मत से द्युस्थान में आते हैं, तब क्या उनको पृथिवी नहीं मानते? क्या शेषनाग केवल हमारी पृथिवी को ही धारण किये हैं? यदि ऐसा है तो और गोल झड़ क्यों नहीं जाते? क्या वराह केवल हमारी ही पृथिवी को ऊपर लाया था, और गोलों की पृथिवी को कौन लाया कैसे लाया? (रुद्र देखें)। इन कथाओं की व्याख्या पृथिवी को बिना दार्शनिक तत्त्व माने नहीं हो सकती। शेषनाग (अहि वृत्र) स्वयं ही पृथिवी या भौतिकात्मा है, उस पर भौतिक सृष्टि बढ़ाने का भार है, उसीसे सृष्टि आगे बढ़ती है। यह वैदिक भाव है।

२—रोदसी

रोदसी विषयक सर्वश्रेष्ठ सूक्त ऋ० वे० १-१०५ है। जिसमें समस्त पूर्वार्द्ध के तत्त्वों को वित्त या मूलधन बतलाया है। 'वित्तं मे अस्य रोदसी' वाक्य ही इस सूक्त का ध्रुपद है। यह मूलधन विद्युत् स्वरूपी है जिसको उत्तरार्द्ध के हिरण्यमय चन्द्रादि तत्त्व नहीं जानते। यह रोदसी 'ऋत' है, यह त्रिरोचन वाली त्रिपादामृतीय है। जब इससे वृक या चन्द्र या भौतिक तत्त्व का उदय उत्तरार्द्ध में होता है तो यह कहती है 'अहं सोऽस्मि' जो आजकल वेदान्त का प्रसिद्ध वाक्य है। सात सप्तकों में से तीन के बाद इसकी नाभि है (९)। इसमें कद्रती कथा भी है और पूर्वार्द्धीय सब देवता ब्रह्मा रुद्र वरुण इन्द्र आदि सब देवता इसके निर्मित हैं या इसे बनाते हैं, पूरा सूक्त देखलें। यह रोदसी नाम रुद्रपत्नी का है, रोदितीति रुद्रः, रोदसीति रोदसी, यह एक वचनान्त शब्द है। जब यह द्विवचनान्त होता है तब इसका संकेत द्यावापृथिव्यौ के लिए होता है। एक वचनान्त रोदसी इस प्रकार 'द्यावा' का सूचक है। इसमें शब्दब्रह्म (प्रथम सप्तक) प्राणब्रह्म या जीवब्रह्म (रुद्र या द्वितीय सप्तक) और तैजसब्रह्म (तृतीय सप्तक) रहता है। इस आशय को मन में रखकर निम्न ऋचा कहती है कि हे रोदसी तुम मातरिश्वा (मरुत) के रथ वाली हो (तृतीय सप्तक) जिसमें श्रवणीय ध्वनि वाली गति (प्रथम सप्तक शब्द ब्रह्म) और (द्वितीय सप्तक के) मरुतों के स्वस्थ प्राण समाविष्ट हैं, हम तुम्हारा आह्वान करते हैं।

"रथं नु मारुत वयं श्रवस्युमा हुवामहे।
आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी ॥"

(ऋ० वे० ५-५६-८)

इस रोदसी को वरुण ने कबन्ध के समान विरचित किया, फिर यव (सोम) की वृष्टि की, अतः भुवनों का राजा बना जैसे

"नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षं।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥"

(ऋ० वे० ५-८५-३)

नीचीनन्तरं = अधःप्रवाही जल वाला या अधोमुख द्वार वाला, रुण्ड, जलों का बन्ध, शब्द वायु अग्नि रूप में रोदसी और अन्तरिक्ष का नाम।

अध्याय ६४

आर्त्नी

आर्त्नी नाम, एक बड़े शास्त्र के साथ छोटे शास्त्र के जोड़े का, दो स्त्री रूप में माता पुत्र रूप में (जैसे खुकुरी के साथ एक छोटी छुरी) दो देवियों के जोड़े का है। ये दोनों दैवी शक्तियाँ हैं, एक आध्यात्मिक त्रिपादामृतों की दैवी शक्ति है दूसरी भौतिकात्मा की दैवी शक्ति, प्रथम दूसरी को दोनों शक्तियाँ के मध्यविन्दु (२५ वें तत्त्व) पर पुत्र की तरह गोद में लिए बैठी है, ऐसी आर्त्नी देवियाँ आर्तिहारिणी हों। अतः उन आसुरी भावों का नाश करो जो हम में प्रायः घर करते रहते हैं, उनको अपनी तेजस्विता की चकाचौंध से नष्ट कर दो जैसे -

"ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं विभ्रतामुपस्थे।
अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् ॥"
(ऋ० वे० ६-७५-४)

अध्याय ६८

शुनासीरौ

शुन नाम वायु या प्राणों का है, सीर नाम आदित्यों का; दोनों पूर्वार्द्ध के तत्त्व हैं।

"शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः ।
तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥"

(ऋ० वे० ४-५७-५)

हे शुनासीर देवताओ! जिस वाणी को आपदेवियों ने पयो रूप में निर्मित किया है उसका आस्वादन करके, उससे इस सृष्टि को अग्रसर करो, (उपसिंचतम्), बीज को अंकुरित करने के लिए सिंचन करो॥ शुनासीर नाम इन्द्र का भी है पर वह द्विवचन नहीं त्रिवचन (त्रिपात्) और चतुर्वचन (चतुष्पात्) है। इन्द्र आध्यात्मिक और भौतिक दो प्रकार का है। भौतिक तत्त्व इन्द्र का इन्द्रिय या दिव्यशरीर कहलाता है, आध्यात्मिक (त्रिपाद्) उसका त्रिपादामृत। इन्द्र का सम्बन्ध तृतीय सप्तक के प्राणों तथा आदित्यों, और चतुर्थ सप्तक के आदित्यों से है। अतः उसे भी शुनासीर कहते हैं। वैसे 'शुनासीरौ' नाम से प्राणों और आदित्यों का जोड़ा ही पुकारा जाता है। प्राण पाँच है सीर १२, दोनों का प्रत्येक में तादात्म्य शुनासीरौ—२० वें से ३१ तक के तत्त्वों में प्रत्येक शुनासीरौ हैं, क्योंकि इनमें प्रत्येक में उक्त दोनों का जोड़ा है। संवत्सर रूप इन्द्र शुनासीर कहलाता है, शतक्रतु इन्द्र भी शुनासीर कहा गया है। इन्द्र में देखें।

अध्याय ६६

अरण्यानी

अरण्य वासिनी को उपलक्ष बनाकर उत्तरार्द्ध के भौतिक तत्त्वों की निर्भीक स्वच्छन्द गति का वर्णन 'अरण्यानी' नामक देवता द्वारा किया जा रहा है। कहते हैं हे अरण्यानी ! तुम बन-बन फिरती रहती हो, कभी खो नहीं जाती, क्यों तुम ग्राम को नहीं पूछती, क्या तुम्हें भय भी नहीं लगता ? जो गाँव में नहीं आ पहुँचता उसको कोई मारता नहीं, तुम तो स्वादु फलों को खाकर यथा काम अभीष्ट सिद्धि समझती हो

"अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि ।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ ३ ॥१॥
न वा अरण्यानि र्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥५॥"

(ऋ० वे० १०-१४६-१,५)

यहाँ पर 'ग्राम' नाम 'ग्राम्य' या त्रिपादामृत का है जैसे ('पशूँस्ताँश्चके वायव्या नारायान् ग्राम्याश्च ये' पु० सू०)। जैसे बृहदारण्यक ने लिखा है कि जिसको गान्धार देश को जाने की इच्छा है वह पूछ-पूछ कर जाते हुए गांधार देश को अवश्य प्राप्त हो जाता है—स 'गान्धारानेव प्राप्नोति' उसी प्रकार अरण्यानी से कहते हैं तुम पूछ-पूछ कर ग्राम रूप गान्धार सा गन्धर्व देश ब्रह्मलोक का पता क्यों नहीं लगाती ? चतुर्थ सप्तक नर सप्तक है, उसी को देवताओं का ग्राम कहते हैं "नरो वै देवतानां ग्रामः" (ताड्य ६-९-२)। यह भौतिक ग्राम या सप्तक है। स्वादुः फल खाना या भौतिकता में लिप्त रहना ही इस जीवन का लक्ष पूरा नहीं करता। भौतिकता अधूरा, जड़ और पशु जीवन है, जाग्रत जीवन तो ग्राम या त्रिपादामृत की संजीविनी पाने से प्राप्त होता है। यह मत समझिए कि इस अरण्य रूप भौतिकता की मौज उड़ाने वालों की खैर बनी रहती है, वहाँ मृगों 'चन्द्रमा' की माता 'अरण्यानी' (वाग्ब्रह्माणी) रहती है, इस अरण्य में जो सुन्दर रंग-विरंगे सुगन्धि वाले नाना रूप के अन्न (सोम) फल मृग पक्षी हैं यह उसी की बिना जोत लगाई खेती है, तुम उसकी कमाई को चोरी से जैसी खाती हो, मैं उस (ओषधि) से तुम्हारी यह शिकायत कर दूँगा ? यह बात ऋषि निम्न ऋचा से कहते हैं।

"आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥"

अतः इस वास्तविक वातावरण से इस जगत के उन अरण्यवासी जंगली लोगों को सचेत किया गया है जो समझ कर भी भौतिकता को ही जीवन का लक्ष समझते हैं। इन लोगों को अपने किये का फल समय पर अवश्य मिल जाता है, इनको शिकायत करने वाला इन्हीं के अन्दर बैठे अनेकों आसुरी बुद्धियों का पारस्परिक द्वन्द्व है, वे कभी न कभी 'वल्मीकोदर सर्पवत्' अपना भण्डाफोड़ अपने आप कर बैठते हैं। सबको अपने अपने परिश्रम से खाने का उद्योग करना सृष्टि का मुख्य लक्ष है। यह धर्म भी इससे रहस्यतया उद्घाटित होता है।

अध्याय ६७

'सूर्यः' (चक्षुः शरीरः आत्मा, ईश्वरः, ईशानः)

वैदिक दर्शन को जानने के लिए 'सूर्य' नामक तत्त्व को जान लेना उतना ही अधिक आवश्यक और अनिवार्य है जितना देखने के लिए चक्षुः और प्रकाश। इसी लिए इसका नाम चक्षुः और सूर्य दोनों है। यह सचमुच में वैदिक दर्शन पुरुष की सच्ची चक्षुः है और सच्चा प्रकाश–सूर्य। जिसको इस तत्त्व का ज्ञान हो गया वही आँख वाला वेदों का ज्ञानी है, अन्य सब अन्धकार रूप अज्ञान के गर्त में पड़े, यह निश्चित है।

१ – सूर्य तत्त्व महिमा

कर्मकाण्ड में इस तत्त्व का अभिनय लौकिक सूर्य, खगोलीय चमकीले सूर्य से तो अवश्य किया जाता है, आवश्यक भी है क्योंकि इस तत्त्व को समझाने के लिए कोई दूसरा पात्र हो ही नहीं सकता। पर रामाभिनेता की पूजा से राम की पूजा नहीं हो सकती, वह तो समझने समझाने का, अतिरञ्जन मनोरञ्जन का और आत्म संस्कार तथा अन्य सांसारिक धन्धों का मार्ग है। लौकिक सूर्य हमारे वैदिक दर्शन के सूर्य की एक अद्भुत उपमानीय प्रतिमा है, अतः आजतक इसकी वर्णना की कई समतायें, विद्वानों की आखों में पट्टी बाँधे हुई है। पर समानताओं के साथ-साथ इन दोनों में कई ऐसी असमानतायें हैं जिनकी सूचना देने वाली शब्दावली को उक्त भ्रामक समता ने भ्रमपूर्ण अर्थों में घसीट रखा है। अभाग्यवश एक भयंकर समानता है। लौकिक सूर्य से ही हमारी लौकिक पृथिवी निकली है, पर साथ में भयंकर असमानता भी है दार्शनिक सूर्य से पहिले चन्द्रमा का निर्माण होता है फिर दार्शनिक पृथिवी का।

२ — कर्मकाण्ड का सूर्य

अब आप वैदिक दर्शन के इस परम मुख्य सूर्य तत्त्व का रहस्य अपनी ज्ञान चक्षु से देखने की श्रद्धामय कामना पूरी करें। वेदों ब्राह्मणों उपनिषदों में, महाभारत पुराणों में तथा श्रुतियों और धर्म ग्रन्थों में आपको सर्वत्र एक 'अहोरात्र' नामक दर्शन मिलेगा। आजकल के गिने जाने वाले दर्शनों में इसका नामोनिशान मिट गया है। वास्तव में वैदिक आर्यों का सर्वप्रथम दर्शन यही 'अहोरात्र' दर्शन की शाखा है। गीता ने भी इसका उल्लेख किया है। इस अहोरात्रवाद को भी लोग बिलकुल गलत ही समझे बैठे हैं। ये लोग अहः या दिन को सृष्टि तथा रात्रि को प्रलय समझते हैं। 'अहोरात्र' दोनों में केवल सृष्टि मात्र का क्रम है, इसमें प्रलय का कहीं कोई स्पर्श या लेशमात्र नहीं हैं। *अहोरात्रवाद चार प्रकार का हैं जिसका विवरण पहिले दे दिया गया है।

३—अहोरात्र दर्शन

अहोरात्रवाद का मूल आधार सूर्य तत्त्व है। जिस प्रकार लौकिक सूर्य से दिन रातों का निर्माण होता है उसी प्रकार सृष्टि क्रम के तत्त्वों के सूर्य तत्त्व से दार्शनिक

४—अहोरात्र का आधार

'अहोरात्र' सिद्धान्त का निर्माण किया गया है। लौकिक सूर्य और दार्शनिक सूर्य में बहुत बड़ा भारी अन्तर भी है। इस दार्शनिक सूर्य के उदय होने में २४ तत्त्वों का विकास होता है २५ वें मध्यवर्ती तत्त्व में इसका उदय होता है। और ज्योंही यह उदित होता है त्योंही तुरन्त पश्चात् रात्रि का उदय हो जाता है। इसीलिए लोगों को 'मध्याकर्तोः विततं संजभार' और

"यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै"

(ऋ० वे० १-११५-४)

का उचित अर्थ लगता ही नहीं है। इसका भाव पाँचवी ऋचा दूसरे ढंग से देती है। इन दोनों का भाव पिछले दो वाक्यों में दे दिया गया है शेष 'अहोरात्र' और 'उषा' शीर्षकों में देखें। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि वेदों में जहाँ कहीं भी सूर्य का वर्णन आया है वहाँ 'मध्या' या 'उपस्थे' का उल्लेख अवश्य किया गया है। यह सूर्य के स्थान का निश्चित निर्धारण (मध्यस्थान २५ वाँ तत्त्व) है।

यह अहोरात्रवाद वैदिक दर्शन को दो भागों में विभक्त कर देता है। प्रथम भाग के २४ तत्त्वों को अहः या दिन कहते हैं और द्वितीय भाग के २४ तत्त्वों को रात।

५—अहोरात्र के दो भाग

सूर्य का उदय २५ वें में होता है, उसके उदय होते ही रात्रि का प्रारम्भ हो जाता है, वह उस सूर्य के लिए भौतिक सृष्टि के कपड़े बुनना आरम्भ कर देती है। इन दो भागों को दिन और रात्रि के स्वभावानुसार क्रम से शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष कहते हैं। अतः ऋग्वेद (६-९-१) लिखता है

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वनरो जायमानो न राजाऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥"

इसमें अर्जुन 'अर्जुनमहः' शुक्ल दिन है, कृष्णमहः रात्रि कृष्ण पक्ष है। इन दोनों का विवर्त विदित भौतिकात्मा में होता है। इन दोनों के मिलन से वैश्वानराग्नि का जन्म होता है। वह अपनी ज्योतिष्मत्ता से भौतिकात्मा के रात्रि रूप कृष्णपक्ष के अन्धकार को पार कर लेता है या उस अन्धकार में दीपक सा जला देता है। भौतिक ब्रह्माण्ड की ज्ञानाग्नि यही वैश्वानराग्नि है। अन्यत्र भी लिखा है

"इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥"

(ऋ० वे० १-९८-१)

इस सूर्य से उत्पन्न वैश्वानराग्नि से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। इस अहोरात्रवाद का चित्रण यजु (३१-२२) ने

"श्रीश्चते लक्ष्मी च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।"

मन्त्र से किया है, अन्य उल्लेख तो यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। शाखा भेद से या व्याख्या सरणि भेद से इस अहोरात्रवाद के दो भेदों के कई नाम हैं, जैसे संवत्सर ब्रह्मवाद में ये उत्तरायण (दिन) दक्षिणायन (रात), अदितिवाद में अदिति

और दिति। इस सम्बन्ध में दो एक ऋचायें सूर्य के स्थान का निश्चित निर्धारण कर देती हैं कि सूर्य दर्शन के तत्त्वों का मध्यवर्ती २५ वाँ तत्त्व है जैसे

"अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तन्मे पिताऽभूत्।
अहं सूर्य मुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥"

(यजु० ८-९)

इस मन्त्र में दर्शनके दो भागों को परस्तात् और अवस्तात् नाम से पुकार कर सूर्य को इनके मध्यबिन्दु स्थित मानकर उससे उभयतः या दोनों भागों से देखने का वर्णन दिया है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन (ऋ० वे० ५-६२-८) भी देता है जैसे

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आरोहथ वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥"

यहाँ पर मित्र वरुण को गर्त या कर्क रेखा या विषुवद्रेखा २५ वें तत्त्व में आरोहण करने को कहा है। सूर्य जो मित्रावरुण की चक्षु है जिसे यहाँ पर उषा के पश्चात् स्थूण रूप में उदित माना है, इस स्थान से अदिति पूर्वार्द्ध और दिति उत्तरार्द्ध दोनों को देख सकोगे, यह मित्रावरुण से कहा जा रहा है। ये दोनों प्रमाण सूर्य का स्थान मध्यवर्ती २५ वाँ तत्त्व निश्चित कर देते हैं। इन्हीं दो भागों को अष्टचक्र वाद में श्री (दिन) लक्ष्मी (रात) यज्ञ विधान में पूर्ववेदि (दिव) उत्तरवेदि (रात)। देव तत्त्ववाद में पूर्वार्द्ध और परार्द्ध; देव और असुर; उषा उषासानक्ता; पत्न्यौ; पितरं मातरं, अश्विनौ; असद् सद्; अदिति दितिः; देव्यौ होतारौ (पत्न्यौ); द्यावापृथिव्यौ या वामा दक्षिणा, रोदस्यौ; पूर्वाचमू उत्तराचमू, विद्या अविद्या; पूर्वाञ्च अर्वाञ्च; पूर्वाङ् अर्वाङ्; पूर्वा परा, प्राङ् अपाङ्; देवी ज्योष्ट्री, अवस्तात्परस्तात्, देवी आर्त्नी; देवयान पितृयान शुनासीरौ; स्वस्ति पथ्या, त्रिपात् सप्तपात्; उत्तरावत दक्षिणावत; स्वस्तिः पन्थाः; उत्तरापथ दक्षिणापथ; अर्वावत परावत; पूर्वा परा; दृषदुपले, देवा विश्वेदेवा इत्यादि*

जिस तत्त्व को सूर्य कहते हैं उसका स्थान मध्यवर्ती है। इस मध्यवर्ती स्थान के भी शाखा या व्याख्या भेद से कई प्रसिद्ध नाम हैं जैसे चक्षुः, सूर्यः, अश्विनी, योनिः, विषुवान् या विषुवत्; गर्तम्; सिंह, मध्याकर्तोः, उपस्थे, ओष्ठम्; नासिका, नाभि, अनीकं, कर्णौ; चक्षुषी। सूर्य का स्थान अन्य रीतियों या प्रमाणों से इस प्रकार निर्धारित किया गया है। इस सूर्य का नाम 'मनोब्रह्म' भी है। इसको काम ब्रह्म भी कहते हैं (ऋ० वे० १०-१२९-४) लिखता है

६—सूर्य का स्थान

* "द्वे सृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥"
"यत्रावदेते अवरः परश्च यज्ञन्यो कतरो नौ विवेद।
आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥"
(ऋ० वे० १०-८८-१६, १७)

श्रीश्चते च लक्ष्मी च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप मश्विनौ व्याम्

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।"

इस काम या मनः को छान्दोग्य दैवी चक्षुः नाम से पुकारते हुए लिखता है

"मनोऽस्य वै दैवं चक्षुः स वा एतेन दैवेन
चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ।।" (८-१२)

इसके पहिले इसी उपनिषद् ने चक्षुः नामक सूर्य को चतुर्थपाद, या चतुष्पाद् ब्रह्म कहते हुए लिखा है "मनो ब्रह्मेत्युपासीत,...तदेतत् चतुष्पाद् ब्रह्म,...वाक्पादः, प्राणः पादः, चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः (चतुष्पाद के चार पाँवों के नाम हैं); वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः,...प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः...चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः... श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः" इत्यादि (३-१८)। यह मनः या चक्षुः नामक चतुर्थपाद तो उत्तरार्द्ध का प्रथम चरण है, पूर्वार्द्ध के त्रिपादामृतों (२४ तत्त्वों) के पश्चात् ही आयेगा। प्रथम तीन पादों का नाम भूर्भुवः स्वः या द्यावा या दिवि है 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः' इत्यादि। सूर्य इनके पश्चात् चतुर्थपाद या उत्तरार्द्धीय चतुर्थ सप्तक में स्वयं आ जाता है। छान्दोग्य ने उक्त उल्लेख सूर्यविषयक ऋचा

"उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तमुत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमागन्म ज्योतिरुत्तमम् ।।" (ऋ० वे० १-५०-२)

की व्याख्या में लिखा है जिसका सीधा अर्थ यह है—जब सूर्य नामक तत्त्व के चारों ओर भौतिकात्मा का अन्धकार तमः या केतुः या स्वर्भानु के रूप में कपड़ा सा बुनते हुए छाने लगा या परदा सा लगाने लगा, तब साधक ऋषियों ने (तत्त्वों ने भी) उसके उत्तरी भाग की ओर पूर्वार्द्ध की ओर जहाँ स्वः या दिव का स्थान है, देखा तो उन्हें उस सूर्य रूप त्रिपादामृत के दर्शन हो गये। क्योंकि भौतिकात्मा का तमः दक्षिण की ओर दक्षिणार्द्ध की ओर बढ़ रहा था, और वे उसी ओर बैठे थे। यह सूर्य, मनो ब्रह्म है, अतः सूर्य से चन्द्रमा की उत्पत्ति बतलाने में चन्द्रमा को इसी मनः (रूपसूर्य) से उत्पन्न कहा गया है जैसे 'चन्द्रमा मनसो जातः' (पु० सू० १०)। यह मनो रूप चक्षु है, दैवं चक्षुः है जिससे सब काम देखे जा सकते हैं।

"मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन
चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन् रमते ।।"

(छान्दोग्य ८-१२)

वैदिक ऋषियों ने इस भौतिकात्मा से आवृत सूर्य को एक दूसरे ढंग से वर्णित किया है। ऋ० वे० (१०-८८-११, १२) ने लिखा है

७—सूर्य और भौतिकावरण

"यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् ।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा ।।"
"विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वनरं केतुमह्नामकृण्वन् ।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन् ।।"
इत्यादि

ऋषियों ने भौतिक तत्त्व को स्त्री रूप में वर्णित किया है और सूर्य के त्रिपादामृत रूप को पुरुष, इन दोनों के जोड़े को उक्त ऋचा 'मिथुनौ' नाम से पुकार रही है और बृहदारण्यक इसका भाष्य सा करते हुए लिखता है "आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहन्नामाभवत्.... अहमयमित्येवाग्रे उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन ओषत्.... स नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्सह्येतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ....तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत इव ।।" (१-४-१, २) यहाँ पर आत्मा सूर्य (सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) है, वही बोलता है, वही अहं नामी है, वही आदितेय आदित्य (छठा) है, वही चरिष्णू मिथुन रूप में उपस्थित हुआ है, इसके चारों ओर घिरा हुआ भौतिकात्मा रूप स्त्री में ही अखिल ब्रह्माण्ड के भुवनों के मौलिक बीज हैं। ये बीज वैश्वानराग्नि रूप वैद्युतीय हैं, यह पूर्वार्द्धीय दिनों के केतु या झंडे के समान है, यही नक्तोषासा शोभायमान है, यही भौतिकात्मा के अन्धकार से मानो अखिल ब्रह्माण्ड रूप वस्त्र के थान को बुनती है और उसे अपनी ज्योति से उज्ज्वल भी बनाती जाती है।

अहोरात्रबाद में सृष्टि का क्रम ब्राह्म मूहूर्त से प्रारम्भ होता है। ब्राह्म मूहूर्त से सूर्योदय होने में २४ तत्त्वों का विकास होता है। सूर्योदय २५ वाँ तत्त्व है। इसके अगल-बगल में २३ वें और २५ वें के उत्तरार्द्ध क्रम से उषा और नक्तोषा या उषासानक्ता का उदय होता है। सूर्योदय के तुरन्त पश्चात् चन्द्रमा का उदय और रात्रि का आरम्भ हो जाता है। इसी काल को नक्तोषा या उषासानक्त या अहोरात्रीय उषा कहते हैं। पूषा इन दोनों उषाओं का 'जार' कहा गया है, प्रातः कालीन उषा के साथ-साथ पूषा का प्रारम्भ हो जाता है। पूषा देखें। सृष्टि के इस क्रम का वर्णन कुछ-कुछ ऋ० वे० (१०-८८-६) में इस प्रकार दिया गया है

८—अहोरात्र में सृष्टि क्रम

"मूर्द्धा भुवो भवति नक्त मग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्।।"

यहाँ का 'भुवः मूर्द्धा' जातवेदाग्नि है

"यज्जातवेदो भुवनस्य मूर्द्धन्नतिष्ठो अग्नेः सह रोचनेन।"

(१०-८८-५)

जहाँ से भौतिकात्मा का उदय होता है वही भौतिक ब्रह्माण्ड का शिर है, प्रथम शिर ब्रह्म है, येही 'द्वेशीर्ष्णे' हैं। वहीं प्रातः काल होता है तो सूर्योदय होता है तथा तुरन्त चन्द्रोदय और रात्रि आ जाती है। तदनन्तर वह भौतिकात्मा रसमय आपोमय समुद्र के समान वर्णित किया जाता है।

जहाँ कहीं सूर्य का वर्णन दिया गया है वहाँ वहाँ अनिवार्य रूप से उस सूर्य को भौतिकात्मा रूप तमः या अन्धकार से घिरा बतलाया गया है। यहाँ पर दो एक प्रख्यात उल्लेख दिये जाते हैं

९–सूर्य और भौतिका- "उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
वरण की अभिन्नता दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१॥"

(ऋ० वे० १-५०-१)

यत्त्वा सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥२॥
स्वर्भानो रध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूढं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥३॥
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् ॥४॥
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन् ॥५॥

(ऋ० वे० ५-४०-५, ६, ८, ९)

प्रथम मन्त्र के अर्थ में अभी पिछले परिच्छेद में दिये गये 'केतवः' शब्द का अर्थ दुहरा लीजिये

'विश्वा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन् ॥"

केतु नाम वैश्वानराग्नि का है जिससे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड (विश्वा भुवनाय) की रचन ा की गई। यह भौतिकात्मा वैश्वानराग्नि पूर्वार्द्धीय दिन रूप डंडे में लगे झंडे के समान है । अब ऋचा का अर्थ स्वच्छ हो गया है कि सूर्य तो जातवेदा अग्नि का अन्तिम विकास है, उस जातवेदाग्नि रूप सूर्य का डंडा, वैश्वानराग्नि रूप केतु या झंडा चक्षु रूप विश्वात्मा या भौतिकात्मा की सृष्टि के लिए उठाये या धारण किये हैं । चक्षु नाम उस सूर्य का है जो भौतिकात्मा का प्रथम अङ्कुर या आँख को धारण करता है । दूसरे शब्दों में भौतिकात्मावृत सूर्य ही चक्षुः कहलाता है, जिस तत्त्व में सर्वप्रथम भौतिकतत्त्व दिखाई पड़ता है, वही सूर्य चक्षुः है, प्रथम भौतिक अङ्कुर चक्षु है । इस चक्षुरूप सूर्य को अत्रि दूसरे ढंग से वर्णित करते हैं । वे कहते हैं कि भौतिकात्मा का जो आवरण उस जातवेदाग्नि सूर्य रूप के चारों ओर वैश्वनराग्नि रूप में आच्छादित हुआ था वह लौकिक सूर्य में राहु ग्रसित ग्रहण के समान प्रतीत हुआ था । भौतिकतत्त्व को वैदिकों ने शूद्र स्त्री या असुर रूप में वर्णित किया है । यहाँ वे इसे (वृणोतीति) वृत्र कहने के स्थान में (स्वर्गीय भानु रूप वैश्वानराग्नि न कहकर) स्वर्भानु (राहु) नाम से या असुर नाम से पुकार रहे हैं । (श० प० ब्रा० ५-२-६) ने इसकी कथा (श्रुति) भी दी है जैसे—' स्वर्भानु र्ह वा असुरः, सूर्यं तमसा विव्याध । स तमसा विद्धो न व्यरोचत, तस्य सोमारुद्रा वेवैतत्तमोऽपाहतां स एषोऽपहतपाप्मा तपति ··शूद्रांस्त्वद्यांस्त्वत्तस्य सोमारुद्रावैवेतत्तमोऽपहृतः सोऽपहत पाप्मैव दीक्ष्यते····कृष्णं वै तमः तत्तमोऽपहन्ति ॥" । यह स्वर्भानु रूप भौतिकात्मा इतना और ऐसा छा गया था कि वहाँ पर अक्षेत्रविद् अनजान स्थान की तरह मुग्ध या विमूढ़ सा लगने लगा, पर उससे ही अखिल भुवनों की सृष्टि हुई ॥
३—इस तृतीय ऋचा का स्वर्भानु भी वही भौतिकात्मा रूप वैश्वानराग्नि है, और इस ऋचा में आया अत्रि नाम, इस मन्त्र के रचयिता अत्रि का न होकर तत्त्वरूप

अत्रि है जिसकी कथा कई वार दे दी जा चुकी है फिर दी जाती है। क्योंकि चक्षु रूप सूर्य को तो इस अत्रि रूप जातवेदाग्नि की चक्षु या आँख कहा गया है जैसे "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः (जातवेदसः)"। पुराणों में भी अत्रि के आँख से सूर्यचन्द्र दोनों की उत्पत्ति बतलाई गई है। ये सूर्यचन्द्र यही सूर्य और भौतिकात्मायें हैं। अतः बृहदारण्यक उपनिषद् (३-२-४) ने

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासते ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्राह्मणा संविदाना॥"

का अर्थ देते हुए स्पष्टोक्ति में लिखा है "वागेवात्रिर्वाचाह्यन्नमद्यते" कि अत्रि नाम वाक् या वाणी या वाग्ब्रह्मरूप जातवेदाग्नि का है और इस अत्रि की व्याख्या 'अत्तिर्ह वै नामैतदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति' अर्थात् 'अत्ति' नाम को ही अत्रिः (सर्वभक्षी) कहते थे। और वागष्टमी यही अत्रि है। अतः लिखा है 'वाग्घ्यष्टमी ब्राह्मणा (दार्शनिकाः) संवित्ते' (वहीं)। यह अत्रि उक्त उद्धृत मन्त्र के 'अत्रासते ऋषयः सप्ततीरे' के या "सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सधमप्रमादम्।" प्रसिद्ध मन्त्र के (ऋषयः शीर्षक देखें) और ऋ० वे० ५-४०-६, ७, ८, ९ मन्त्रों के देवता ऋषि हैं। सात तात्त्विक ऋषियों के नाम 'गोतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ कश्यप, और अत्रिः हैं। अष्टमी वाग् भी अत्रि की ही भौतिकी परा वाग् है जिसका वर्णन श० प० ब्रा० (१-४-१-८ से १३ तक) ने विस्तार पूर्वक देते हुए लिखा है कि एक वार मनः और वाणी में आपस में एक दूसरे से बड़ा समझने का विबाद छिड़ गया। मनः ने कहा मैं भद्र और श्रेयस्कर हूँ, तुम (वाणी) से श्रेष्ठ हूँ, क्योंकि तुम वही बोलती हो जो मैं सोचता हूँ, तुम तो मेरी नकल मात्र करती हो। वाणी ने उत्तर दिया मैं तुमसे बड़ी हूँ, क्योंकि जो कुछ तुम जानते हो उसे मैं विज्ञापित करती हूँ, जनाती हूँ। तव दोनों प्रजापति के पास निर्णय के लिए गये। प्रजापति मनः ही मनः में बोले, और मन ही मन में कह दिया कि मनः ही तुम (वाणी) से श्रेष्ठ है, तुम (वाणी) तो मनः की नकल करती हो, नकल या अनुकरण करने वाला भौतिक या पापीयान् होता है। तब जब वाणी ने यह सुना कि प्रजापति ने मुझे परा (उत्तरार्द्धीय भौतिकी) वाणी कह दिया है तो उसको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसका एकदम गर्भपात हो गया और कहने लगी मुझे तो अहव्यवाड् कह दिया है। इसीलिए जब प्राजापत्य यज्ञ किया जाता है तो उसे मनः ही मनः या उपांशु में ही किया जाता है। गायत्री जप इसीलिए उपांशु किया जाता है। तब देवता उस गर्भपात के रेतः को खोजते हुए पूछने लगे तो कहा गया 'अत्रत्यादिति' कि 'यहाँ पर गिरा था शायद'। उसीका 'अत्रत्यात्' कहते-कहते 'अत्रिः' नाम पड़ गया। इसी वाक् रूप अत्रिः से सारी प्रजा उत्पन्न हुई। यह अत्रि तत्त्व रूप अत्रि है, वाक् रूप अत्रि है। इसका नाम भी ऋषि है पर ये मंत्र रचयिता अत्रि से बिलकुल भिन्न ऋषि हैं। इसीलिए प्रस्तुत ऋचा में इस तात्त्विक अत्रि को तुरीयब्रह्म या चतुर्थ सप्तक का प्रथम

ऋषि रूप ब्रह्म या २४ वाँ तत्त्व कहा गया है। अब इस ऋचा के अर्थ के रोड़े हट गये, यह अर्थ हुआ "इन्द्र ने स्वर्भानु रूप भौतिकात्मा की आसुरी माया को अधस्तात् उत्तरार्द्ध की ओर ढकेल दिया, दिव या पूर्वार्द्ध की रक्षा की, और उस आसुरी वर्तमाना या आवरण सा करती हुई माया का हनन या दमन किया। उस आसुरी माया के गम्भीर तमः से आवृत, तुरीय या चतुर्थ महर्षि रूप अत्रि २४ वें तत्त्व ने उसे भली-भाँति जान या पहिचान लिया ॥" चौथे मन्त्र में पौराणिक कथा का भौतिक आधार है कि "उस अत्रि नामक (२४ वें महर्षि नामक) तत्त्व ने उस भौतिकात्मा रूप स्वर्भानु को सूर्य की चक्षु रूप में धारण किया, अपने दिवि या द्यावा में है, और चक्षुः को पृथिवी रूप में धारण किया।" तब वे पूर्ण द्यावापृथिवी रूप में प्रस्तुत हो गये।" २४ वें अत्रि से २५ वाँ सूर्य तत्त्व, अत्रि की चक्षु रूप में प्रस्तुत हो गया, और उस अत्रि से इस प्रकार स्वर्भानु की मायाजाल का दमन या शमन कर दिया ॥" पाँचवें मन्त्र में मन्त्र रचयिता अत्रि ऋषि तथा उनके गोत्र या आश्रम के मुनियों के आत्रेय सिद्धान्त की घोषणा करते हुए लिखा गया है कि 'जिस सूर्य को स्वर्भानु रूप भौतिकात्मा के अन्धकार ने घेर लिया था, उसका ज्ञान इस स्वर्भानु आसुर रूप में सर्वप्रथम मन्त्र रचयिता अत्रि ऋषि ने ही कर पाया था और इस ज्ञान को अत्रि गोत्र के मुनि लोग जानते रहे ॥" यह ज्ञान सूर्य को राहु या स्वर्भानु या त्रिपादामृत पान किया हुआ तत्त्व मानना, या भौतिकी सृष्टि का शिर मानना है, इसमें सूर्य त्रिपादा-मृत भी है स्वर्भानु रूप भौतिक ब्रह्माण्ड के बीज भी। इस शिर रूप राहु का विकास उत्तरार्द्ध के शेष २३ तत्त्व हैं जिन्हें 'पक्षपुच्छानि' कहते हैं। अतः केतु को पुच्छ नाम से पुकारते है। पूर्वार्द्ध के त्रिपादामृत तथा चतुर्थपाद के दो तत्त्व तो चार आत्मायें (चतुष्पाद्ब्रह्म) या अङ्गानि कहलाते हैं

"सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः चत्वार्यमून्यङ्गानि त्रयः पक्षपुच्छानीति।"

(पु० सू० देखें)

पूर्ण पुरुष सप्तर्षिमय या सप्तपदी या सप्त मुख्य ब्रह्मों का होता हैं। यह राहु केतु का सिद्धान्त अत्रि या आत्रेयों का है। ईश, ईशान और ईश्वर यही सूर्य है 'आदित्यो वा ईशानः' (रुद्र देखें)। ईशावास्य इसी सूर्य का वर्णन देता है।

हमारे इस तात्त्विक सूर्य के सम्बन्ध में एक बार ऋ० वे० १०-८८-१८ में प्रश्न उठाया गया है कि बताओ कितनी अग्नियाँ हैं कितने सूर्य हैं कितनी उषायें हैं कितने आपो देवी हैं' जैसे

१०—सूर्य एक है "कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्॥

जिसका उत्तर (ऋ० वे० (८-५८-२) में इस प्रकार दिया है :—

"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः विश्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥"

कि अग्नि तो केवल एक (ब्रह्म) ही है, अन्य सब अग्नियाँ उसके नाना विकास हैं, इसी प्रकार सूर्य भी केवल एक ही तत्त्व है जिससे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना हुई। उषाः भी केवल एक ही है जो इस ब्रह्माण्ड की गतिमति चेष्टा क्रिया वाक् रूप शोभा है। इन सबका आशय यह है कि आदि-आदि में केवल एक ही सर्वमय (ब्रह्म) तत्त्व था, (उसी की व्याख्या इन नाना रूपों में की गई है)। इस सूर्य के बारे में ऐ० ब्रा० (३-४-४४) ने भी लिखा है कि यह सूर्य न तो कभी उदित होता है न अस्त ही होता है, यह पूर्वार्द्ध में दिन और दक्षिणार्द्ध में रात्रि करता है, भौतिक शरीर रात्रि है आध्यात्मिक शरीर दिन है, यह दिन रूप सूर्य कभी उदित या अस्त नहीं होता (यह तो त्रिपादामृत रूप ब्रह्म है)। अतः इसको इस प्रकार जानने समझने मानने और अनुभूत करने वाला उसकी सायुज्यता सरूपता और सालोक्यता को प्राप्त होता है जैसे "स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यते-ऽह्न एव तदन्तमित्वा थात्मानं विपर्यस्यते, रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात् यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते ऽहरेवावस्तात्कुरुते रात्रीं परस्तात्स वा एष न कदाचन निम्रोचति न ह वै कदाचन निम्रोचत्येतस्य ह सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुते य एवं वेद य एवं वेद॥" इसमें स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति लौकिक सूर्य के समान इस तात्त्विक सूर्य को अस्त होता है कहता है वह पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत का अन्त करके ब्रह्म के विरुद्ध बात करता है अब्रह्मण्य करता है, इसी प्रकार जो इस सूर्य को लौकिक सूर्य के समान प्रातः उदित होता है कहता है वह इस भौतिक ब्रह्माण्ड की सत्ता मिटाकर आत्मा या ब्रह्म के विरुद्ध बात करता या बहुत बड़ा अब्रह्मण्य करता है। वह न कभी अस्त होता है न कभी उदित, सदा एकसा है।

यह सूर्य दिन को प्रगट करने वाला होने से विवस्वान् या अहः विवास्ते इति विवस्वान् यौगिक अर्थ में कहा जाता है। यह मनु भी कहलाता है, पर मनु नामक विवस्वान् यम का पिता है। सूर्य मनु का विवाह त्वष्टा की दुहिता सरण्यू से हुआ जिनसे पहले मनु फिर अश्वरूप में आश्विनी और सवर्णा से सावर्णि हुए। त्वष्टा की दुहिता प्रजापति की दुहिता उषा दिवो दुहिता है। यह द्वादशादित्यों में छठा मध्यवर्ती आदित्य है सर्वादित्यों में २५ वाँ मध्यवर्ती है। अदिति सर्वा देवता है अतः उसके जन्य आदित्य भी सर्वादित्य ४८ हैं। सूर्य का पूर्ववर्ती आदित्य मित्रावरुण है जिन्हें मनु का पुत्र बतलाया गया है (श० प० ब्रा० १-६-३·७)। इसका उत्तरवर्ती आदित्य सविता है। इस सूर्य का सर्वोत्तम सूक्त ऋ० वे० १-११५ है उसे यहाँ दे दिया जाता है।

११—सूर्य और विवस्वान् और सूक्त

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥
सूर्यो देवी मुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्॥

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः ।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परिद्यावा पृथिवी यन्ति सद्यः ।।
तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तो विततं संजभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ।।
तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्यौरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ।।
अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।।"

वैदिक दर्शन को न जानने के कारण इस सूक्त की ऋचाओं और शब्दों के भावों के बारे में प्रायः सभी लोगों में कुछ न कुछ मतभेद हैं। दुःख इस बात का है कि इनमें से सभी व्याख्याता सूक्त की भावना के वास्तविक धरातल से फिर भी कोसों दूर रह गये हैं। (१) देवताओं या तत्त्वों का मुख या अद्भुत रूप का सूर्य नामक तत्त्व उदीय मान हुआ जो मित्र वरुण और (जातवेदा*) अग्नि की साक्षात् चक्षुः (सृष्टि वृक्ष की आँख उसे २४ वें तत्त्व में प्रथम भौतिक तत्त्व रूप अङ्कुर रूप में, जो मित्र वरुण या जातवेदाग्निः नाम से पुकारे जाते हैं) नाम से पुकारा जाता है। यह सूर्य अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड (स्थावर जङ्गम दोनों) का, जिसमें दर्शन के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध और मध्यस्थान (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष) तीनों सम्मिलित हैं भौतिकात्मा है। 'सूर्यः वै सर्वेषान्देवानामात्मा' (श० प० ब्रा० १४-३-२-९)। शेष पहिले ही बतलाया जा चुका है। (२) यह सूर्य, उषा के पीछे-पीछे इस प्रकार चला आया जैसे कोई प्रेमी अपनी प्रेयसी के पीछे-पीछे चला करता है। यहाँ पर यह नरः या विश्वानरः रूप का सूर्य देव रूप तत्त्वों के विकास के लिए (जैसे कृषक बैलों के जुवे को तैयार करता है वैसे ही) अपने जुवे को प्रस्तुत करता है जिससे अगली भौतिक विकास रूप कृषि क्रमशः उत्तरोत्तर उत्तम रीति से होती चले। यहाँ पर नरः शब्द चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों के लिए है, नृषद् या नरषद् इसका नाम है। यह २५ वाँ मध्यवर्ती तत्त्व है। अतः पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप दो अश्वों या वृषभों के कन्धों के जुवे के समान है जिसका स्पष्ट भाव ऋ० वे० १०-१०१-३,४ में दिया गया है। २५ वाँ तत्त्व योनि भी कहलाता है; अतः कहा है

"युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ।।"
"सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ।।"

(३) सूर्य के घोड़े (भौतिकात्मा रूप या भौतिकात्मा के प्राण रूप हैं अतः)

---

* अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य 'धारा समिधो नसन्त (प्राप्नुवन्तः') ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ।।
(ऋ० वे० ४-५८-८)

कल्याणकारी या दिव्यशरीरधारी हैं। ये दुःखहर्ता, अनिर्वचनीय विचित्र वर्णों के, जहाँ चाहें वहाँ जा सकने वाले (एतग्वा) और उन्मत्त की तरह निरन्तर क्रियाशील प्राण रूप (अश्व हैं। ये क्रम से नमते हुए या विकास पाते-पाते दिव रूप तृतीय सप्तक के पृष्ट रूप चतुर्थ सप्तक में भौतिकात्मा के दिव्यशरीर रूप में स्थिर होकर द्यावा पृथिवी दोनों भागों में चले जाते हैं या दोनों भागों को तुरन्त स्वायत्त कर शरीर को धारण कर लेते हैं।

(४) अहोरात्र सिद्धान्त को न जानने के कारण इस ऋचा तथा अगली ऋचाओं की व्याख्या में सब लोगों ने बड़ा धोखा खाया है। यहाँ 'मध्याकर्तोः' विकास क्रम का मध्य स्थान या मध्य कार्य है। अयुक्त माने प्रायः सबने 'अमुञ्चत्' (खोल दिया) माना है। यहाँ घोड़े बँधे हैं, खुलें नहीं। यहाँ अयुक्त माने बाँधना जोड़ना ही है। अब अर्थ यह है। "यह सूर्य रूप तत्त्व की देव शक्ति या तत्त्वशक्ति और महिमा है जिसने मध्यवर्ती स्थान से (भौतिक सृष्टि का कार्य) विस्तृत करना प्रारम्भ किया। ज्योंही उसने उस मध्यस्थान (सधस्थात्) से घोड़ों को जोता या बाँधा ही था कि तुरन्त ही रात्रि ने उन्हीं भौतिक प्राणों के तानों बानों से भौतिक सृष्टि रूप रात्रि के उत्तरार्द्धीय विकास रूप कपड़े बुनना प्रारम्भ कर दिया, (सिमस्मै =अपने लिए) (शेष ऊषा और अहोरात्र शीर्षकों में देखें वहाँ भी इनकी व्याख्या दी गई है, पहिले भी लिखा जा चुका है)

(५) यह सूर्य, द्यौः के उपस्थ या मध्यस्थान २५ वें तत्त्व से रूप नामक मूर्त सृष्टि या भौतिक सृष्टि को अपने पूर्ववर्ती मित्र और वरुण की आँखों (चक्षु रूप धारण करने वालों) के लिए प्रस्तुत करता है (यह सूर्य मित्रावरुण की चक्षु है और इस चक्षु को रूप में परिवर्तित कर देता है)। इस सूर्य की शक्ति (पाजः) अनन्त असीम है। पूर्वार्द्ध में यह उज्वल (रुशत्) रूप की शक्ति धारण करता है (जहाँ यह आध्यात्मिक स्वरूप का केवल तेजस्वी स्वरूप रखता है) और उत्तरार्द्ध में यह कृष्ण या रात्रिरूप अन्धकार रूप भौतिकात्मा के खोल को पहिन कर प्राणाश्वों को भी उसी रंग में रंग लेता है। लोगों ने अनन्त माने असंख्य लगाकर असंख्य दिन रातों का निर्माण कहा है, यह गलत है)

(६) अद्य नाम दिन का है पूर्वार्द्ध का है, देवा शब्द सम्बोधन नहीं, कर्म है। आज इस पूर्वार्द्ध के अन्त में सूर्य के उदित होने से सभी देवता उदित हो गये, (क्योंकि सूर्य ने भौतिक सृष्टि या रूप की रचना कर दी जिसके लिए सब देवता तब तक तरसते रहे, अब उन्हें भी यह भौतिक दिव्य शरीर मिल गया है अतः उदित हो गये हैं)। सूर्य सहित सब ये देवता रूप तत्त्व तथा सूर्य तत्त्व पापहीन या आसुरी वृत्तिहीन शुद्ध दैवी गुण धर्मों से युक्त हैं, अतः इस प्रकार अनवद्य या पूजनीय होने से वे हमें भी पाप और आसुरी वृत्तियों से सुरक्षित रखें। और मित्र वरुण अदिति सिन्धु (नदी रूप पञ्चपर्वीय देवता पृथिवी (दैवीभौतिकात्मा या उत्तरार्द्ध और द्यौ (पूर्वार्द्ध का त्रिपादामृत) सब पूजनीयता या दैवी गुणधर्मों से युक्त दिव्य शरीर की महिमा को प्राप्त होकर हमें भी आसुरी वृत्ति से) बचायें रखें।

अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मौलिक भौतिकात्मा सूर्य को जिस प्रकार घेर कर आच्छादित करता है, उसका नाम तमः या तमांसि या स्वर्भानु के बदले 'हिरण्य' भी है। इसी हिरण्य के गर्भ में यह सूर्य रूप त्रिपादामृत रहता है, अतः यही हिरण्य गर्भ भी कहलाता है। यही पूषा या पुष्टि या भौतिकात्मा पोषक है, अतः वैदिक ऋषियों ने कहा है

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥'

कि उक्त भौतिकात्मा रूप हिरण्मय पात्र से सत्य रूप त्रिपादामृतीय सूर्य का मुख ढका हुआ है, हे पूषन्!, इस शरीर के पोषक!! इस सत्य धर्मा के दर्शन के लिए तुम अपने आच्छादन को खोल दो, उसके दर्शन के द्वारों को खोल दो॥

१२—सूर्य पर श्रुतियाँ

सूर्य पूर्वार्द्ध के अन्तिम छोर का निवासी है "अन्तो वै सूरः' (ताण्ड्य १५-४-२)। यह सूर्य शुक्र रूप है (श० प० ४-५-९-६)। यह पूषा में से एक है (गो० उ० १-२०)। यह सविता प्रसविता और सावित्र्य है (तै० ३-१०-६-१५; श० प० ३-२-३-१८)। यह धाता है और वषट्कार है (ऐ० ३-४८)। यह स्वाहाकार भी है (श० प० १४-१-३-१६), क्योंकि इसमें उत्तरार्द्ध के सब तत्त्व स्वाहा रूप में रहते हैं। यही ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है (श० प० १४-१-२-१५), यही वरुण भी बनता है, (तै० १-१-७-२), यही अर्क और चक्षु भी है (तै० १-१-७-२)। यह यज्ञ भी है (यजु ३७-११), यही पिता भी है (यजुः ३७-२०), यह भर्ता और ग्रह भी है (श० प० ४-६-७-२१; ४-४-५-१)। यह गोजा भी कहलाता है (ऐ० ४-२०), गोपा भी (यजु ३७-१७)। यही तन्त्रायी भी है (यजुः ३८-१२)। इसी का नाम निविद् या निवेदन कर्ता है (कौ० १४-१, जै० उ० १-:-२), यह स्वः और दिन (अहः) कहलाता है (श० प० १-१-२-२१), यह स्वर्दृक् है (ऐ० ४-१०)। यही विश्वकर्मा है (कौ० ५-५ गो० उ० १-२३)। यही वरसद् है (ऐ० ४-२०), यही वसुरन्तरिक्षषद्, व्योमषद् आदि है (ऐ० ४-२०)। यह पदीय वर्णना सूर्य की सर्वादेवता रूप में व्याख्या देता है। यह यम है, मृत्यु है (यजु ३७-११; श० प० १०-५-१-४)। यह परिवत्सर है (तै० १-४-१०-१), यही पुरश्चरण है (श० प० ४-६-७-२१), यही वाजपेय है और परोरजा है (तै० ३-१०-९-४; गो० उ० ५-८)। इसके नाम धर्मः अर्कः शुक्रः ज्योति और सूर्यः हैं (श० प० ९-४-२-२५)।

यह सूर्य देवताओं का गर्भः है, गर्भ माने 'गृह्णाति गृभीतम्' है (श० प० १४-१-४-२)। यह महदुक्थं और ऋचाओं का लोक है तथा बार्हत है (श० प० १०-५-२-१; गो० उ० ३-२०)। यह बृहती में रहता है (गो० उ० ५-७)। यह जाग्रत भी है त्रैष्टुभ भी कौ० २५-४,७)। यह स्वरूप है (जै० उ० ३-३३-१, गो० पू० ५-१४)। यह मूर्द्धा भी है (श० प० १३-४-१-१३)। इसकी स्वर्ग की ज्योति का नाम उत्तम है (श० प० १२-९-२-८)।

यह सूर्य नाष्ट्रा राक्षसों का हन्ता है (श० प० १-३-४-८)। यह प्रजाओं की चक्षुः है (श० प० १३-३-८-४) । सूर्य की एक रश्मि ही-जिसका नाम वृष्टि वनि है-से सब प्रजाओं का निर्माण होता है (श० प० १४-२-१-२१) । अश्व इसी सूर्य का है (गो० उ० ३-१९)। रेतः सूर्य का होता है (तै० ३-९-१७-५)। सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुआ (श० प० ११-५-८-३)। चन्द्रमा की रश्मि सूर्य से आती है अतः वह सूर्य रश्मि कहलाता है (श० प० ९-४-९-९ यजु० १८ ४०) ।

सूर्य की दुहिता का नाम श्रद्धा है (यजु० १९-४) । इसको सूर्य ने सोम को दिया (कौ० १८-१ ऐ० ४-७) ।

'चक्षुः' नाम शरीर या अध्यात्म का है और सूर्य इसकी आत्मा या देवता है।

---×---

अध्याय ६८

धाता और विधाता (सूर्याचन्द्रमसौ—विश्वकर्मा च)

अमर कोशादि कोशों तथा पुराणों में धाता और विधाता दोनों शब्द एक ही देवता 'ब्रह्मा' के प्रतीक हैं, परन्तु वेदों में धाता और विधाता दोनों शब्दों का ब्रह्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये दोनों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र देवता के सूचक शब्द हैं। अथर्ववेद ने धाता देवता के सूक्त में इसे 'जगतस्पतिः' या भौतिकात्मा बतलाया है और कहा है कि वह प्राची (पूर्वार्द्ध) रूप अनुपक्षीण रयि या धन (मूलधन सृष्टि बीज रूप त्रिपादामृत) को हमें जीवन के लिए पूर्ण रूप से दे, इसीलिए हम उसका ध्यान करते हैं। उसे सत्यधर्मा या 'विश्वराधा' कहा है दोनों का अर्थ सत् रूपी भौतिकात्मा की नियमित शक्तिमत्ता है। यह धाता तत्त्व तो धारण करने वाला है, यह धारण कार्य प्रजाकामाय या सृष्टिकामाय विकास हेतु दान करने के लिए करना ही पड़ता है जिसे वह अपने दुरारोह दुर्गम अगम्य अनिर्वचनीय दिव्य शरीर में धारण करता है। जिस वस्तु को वह धारण करता है वह है अमृत या त्रिपादामृत जिसे अदिति आदि विश्वे देवता उसे अर्पित करते हैं। इस प्रकार धाता के अमृत धारण करने से, सविता, प्रजापति (अत्रिः) निधिपतिः (ब्रह्मणस्पति) त्वष्टा (सूर्य) विष्णु (सवृत्र) आदि देवता इस शरीर या ब्रह्माण्ड की सृष्टि या चतुष्पाद् ब्रह्म की ज्योति रूप धन का रमण करें, और उस धन को यजमान में भी धारण कराते या करते रहें जैसे :—

१—धाता विधाता में अन्तर

"धाता दधातु रयिमीशानो जगतस्पतिः।
स नः पूर्णेन यच्छतु॥
धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः (सत्यधर्मणः)॥
धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु॥"
(अथर्ववेद ७-२-४ या १७ पूरा)

यह धाता बुद्धि (सांख्य तत्त्व सम) रूप है, अतः उसके उस कल्याणकारी रूप का हम ध्यान करते हैं यह कहा गया है। धाता का काम धारण करना है यह अथर्व ७·१९-१ कहता है "प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु 'सुमनस्यमानः॥"

विधाता नाम विशेष रूप से धारण करने वाले का है। यह विशेष रूप से धारण करने वाला तत्त्व सोम राजा और वरुण के धर्मों के अनुकूल चलने वाला,

२—विधाता

और बृहस्पति की सुखकारी कल्याणकारी अनुमति से संयुक्त है, इस प्रकार का तत्त्व 'कलश' (भौतिक तत्त्वात्मक भौतिकात्मा या) दिव्य शरीर ही है जिसका सेवन तभी किया जा सकता है जब उसमें त्रिपादामृत रूप इन्द्र या मघवा की उपस्तुति या प्रस्तुति या उपस्थिति हो, ऐसी उपस्थिति में ही धारण करने वाले कलश की विधातृता या कलशयुक्त त्रिपादामृतता का भक्षण या अनुस्वादन या अनुभूति की जा सकती है। अतः विधाता वह तत्त्व है जिसमें आधार और आधेय दोनों तत्त्व—भौतिकात्मा-कलश तथा त्रिपादामृत-इन्द्र, दोनों एक साथ विद्यमान हैं। यही भाव निम्न ऋचा दे रही है :—

"सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पते रनुमत्या उ शर्मणि ।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् ॥"
(ऋ० वे० १०-१६७-३)

यहाँ पर 'कलश' शब्द की व्युत्पत्ति यह है 'कला' (भौतिकी कला) अस्मिन् शेरते (विद्यते) इति कलशः; कलिः अस्मिन् शेरते (विद्यते) इति वा कलशः; अर्थात् जिसमें 'कला' (अंश) विद्यमान है या सोती है या जिसमें कलि (या कलह या द्वन्द्व) विद्यमान या (अणोरणीयान्) सुषुप्तावस्था में है। दिव्य शरीर में भी कला सुषुप्तावस्था में (अणोरणीयान् रूप में) है। कला वा कलि उसे कहते हैं जो किरण रूप में क्रमशः विकीर्ण होकर विस्तृत होती जाती है। दिव्यशरीर का प्रथम भौतिक स्वरूप आपो रूप या विद्युत्स्वरूप है, विद्युत्किरणें ही कला या कलि की मूल जननी हैं। और इस भौतिकात्मा दिव्यशरीर से ही कला द्वारा काल का अनुगम या ज्ञान प्रारम्भ होता है, अभौतिकता कला या काल से हीन है। अतः उसे अनन्त अनादि और अपार इत्यादि नामों से पुकारते हैं। यह अभौतिकता दूसरे शब्दों में आध्यात्मिकता या त्रिपादामृतता या ब्रह्म कहलाती है जिसे इसी कारण अनन्त अनादि आदि नामों से सार्थकतया कहा जाता है।

उक्त दोनों धाता और विधाता तो हमारे दार्शनिक तत्त्व 'सूर्याचन्द्रमसौ' हैं। सूर्य धाता है, चन्द्रमा विधाता, ये दोनों मिलकर विश्वकर्मा कहलाते हैं, वह भी धाता विधाता हैं (ऋ० वे० १०-८२-२)*। ये दोनों मिलकर ही अखिल ब्रह्माण्ड की रचना पूर्ववत् करते हैं। इस आशय की ऋचा तो स्वयं ऋग्वेद और तै० सं० देते हैं जैसे

३ सूर्याचन्द्रमसौ

---

* "विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन्पर एक माहुः ॥"

विश्वकर्मा को एक ऋषि, और उत्तरार्द्ध (परे का) ऋषि भी कहा है। इसे श० प० ब्रा० ५-१-५-६ में वाग् ब्रह्म कहता है। अतः विश्वकर्मा शब्द ब्रह्म है, वाचक उत्तरार्द्ध का तत्त्व है, धाता विधाता ह।

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रोऽर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥" (ऋ० वे० १०-१९०-३)। पूर्वार्द्ध में या दिन में ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। वह तप से हुई, उससे उत्तरार्द्ध या रात्रि उत्पन्न हुई, उस रात्रि में सर्वप्रथम समुद्र की उत्पत्ति हुई, उससे संवत्सर की, तब (७२०) अहोरात्रों की। यह उत्तरार्द्ध की सृष्टि सूर्य और चन्द्र रूप धाता और विधाता ने यथापूर्व की। इन्होंने भूर्भुवः स्व महः आदि सब लोकों की रचना कर दी।

अध्याय ६९

सोमः

अब तक के सभी विद्वान् सोम को 'सुरा' या लता के रूप में समझते चले आ रहे हैं। कुछ लोग भूल भटक कर कभी-कभी सोम माने आत्मा भी कहते सुने जाते हैं पर यह कैसी और किस आत्मा का बोधक है यह वे बताने में असमर्थ हैं। 'सोम' एक ऐसा तत्त्व या देवता है जिसे वैदिक आर्य अपना राजा मानते थे—जैसे "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" (यजु० ९-४०, १०-१८)। इसीलिए हमें वेदों में जहाँ देखो सोम की चर्चा मिलती है, ऋग्वेद का पूरा नवम मण्डल इसी सोम की गूढ़ व्याख्या देता है। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस सोम के बारे में जो भ्रम आजकल के विद्वानों के मस्तिष्क में है उसका मूलकारण, यज्ञविधान में सोम के अभिनय के लिए प्रयुक्त वस्तुयें हैं। याज्ञिक लोग धीरे-धीरे वेदों के रहस्यमय सोम तत्त्व को भुला कर उसके प्रतिनिधि बनाये गये वस्तु को ही सोम समझने लग गये थे, और समझने की हठ भी करने लग गये थे। यह परिस्थिति तो ऋग्वेद के निर्माण काल में ही प्रस्तुत हो गई थी। और ऋग्वेद ऐसे अनभिज्ञ कर्मकाण्डी याज्ञिकों को फटकारते हुए, और उनकी खिल्ली उड़ाते हुए तथा सोम की वास्तविकता प्रस्तुत करते हुए कहता है।

१—दार्शनिक और याज्ञिक सोम

"सोमं मन्यते पपिवान् सम्पिशन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न हि तस्याश्नाति कश्चन॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णमिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥"
(ऋ० वे० १०-८५-३,४)

लिखा है कि ये याज्ञिक सिलबट्टे में ओषधि को घोटकर समझते हैं कि हमने सोमपान कर लिया, पर जिसको वेदों में सोम कहा गया है उसे तो कोई (मिट्टी का पुतला–शरीरी) पी ही नहीं सकता॥ "यह सोम तो बृहती वाग्ब्रह्म (बार्हतैः) के आच्छादनों से सुगुप्त है, उसे तुम (याज्ञिक) दृषदुपल या सिलबट्टा समझते हो ? खेद है, उस सोम को तो कोई पार्थिव (कीड़ा शरीरी) नहीं पी सकता!" इससे स्पष्ट है कि सोम का वास्तविक रहस्य वैदिक युग में ही लुप्त हो चला था। हमें जो वेद या ब्राह्मण मिलते हैं वे इसी प्रकार के याज्ञिकों के स्रोत से मिले हैं। अतः विद्वानों को इन्हीं की धारणा विवश किये बैठी है। दुःख तो इस बात का है कि यद्यपि यास्क ने अपने निरुक्त के परिशिष्ट में ऋग्वेद के पवमानीय सोम की ९-९६, ९.९७ ऋचाओं को उद्धृत करते हुए सोम को महान् आत्मा मानते हुए लिखा है

"महान्तमात्मानमेतानिसूक्तानि एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति"

पर जब पूर्वोक्त 'सोमं मन्यते पपिवान्' इत्यादि की व्याख्या निरुक्त ११-१-२ में करते हैं तो वे यहाँ पर इसके अधियज्ञ और अधिदैवत यजुः सम्बन्धी दो अर्थ देने पर भी, सोम माने चन्द्रमा आकाश का ग्रह तथा यज्ञ से बाहर बनाया गया सोम (रस) ही मानते हैं, जिससे भाण्डारकर का यह मत कि निरुक्त का परिशिष्ट किसी दूसरे व्यक्ति का लिखा है स्वयं परिपुष्ट हो जाता है। यास्क भी कर्मकाण्डी हैं, याज्ञिक निरुक्तमत के हैं। अब यह निश्चित हो गया कि 'सोम' दो प्रकार का है, एक तात्विक दूसरा याज्ञिक। एक बात अवश्य ध्यान में रहे कि हमें वैदिक याज्ञिक या ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा यज्ञों में सोम के बनाने की विधि के साथ-साथ उसकी तात्त्विक और रहस्यमय दोनों व्याख्यायें साथ-साथ दी हुई मिलती हैं। यह विचारधारा उपनिषदों और गीता तक अटूट और अविछिन्न रूप से बहती चली आई हैं।

२—याज्ञिक सोम

अब पहिले याज्ञिकों के सोम को लीजिए। सोम आर्यों को अतीव प्रिय था और अब तक है। संसार की समस्त आर्य जाति—चाहे वह भारतीय वैदिकों की सन्तान हो, चाहे पूर्व मध्ययुग के ईसाई धर्म मानने वाला हो, चाहे परवर्ती मध्ययुग के इस्लाम धर्म का अनुयायी ही—सब इस याज्ञिक सोम को अब तक किसी न किसी रूप में छाती से लगाकर अपनाए हुए हैं। आश्चर्य तो यह है कि उन्हें इसका अभी तक पता तक नहीं है। जैसे ईसाई धर्म में सुरा को परम उच्च और पवित्र स्थान दिया जाता है, ये कहते हैं "God blushed; the wine became red"। बिना इस दैवी सुरा या सोम को अपने कर्मकाण्ड में प्रयुक्त किये उनका कोई संस्कार शुद्ध या पूरा नहीं समझा जाता। उधर इस्लाम धर्म ने खींची गई सुरा के पान का निषेध अवश्य किया है, पर इसने सोम के दूसरे पहलू को स्वीकार किया है। इस्लाम धर्म का रमजान रोजा ईद इसी सोमयाग या दर्शयाग का एक आत्म संस्कारीय अद्भुत यज्ञ है, यह सोम यज्ञ है। हजरत मुहम्मद ने ईसाई धर्म में यह एक उच्चकोटि का सुधार करके इस्लाम धर्म को आध्यात्मिकता का खोल पहिना दिया। यह वैदिक दार्शनिकों की, बहके हुए याज्ञिकों की अनभिज्ञतामयी सुरापान क्रिया पर दूसरी बड़ी भारी विजय है।

अब इस याज्ञिक सोम के सभी पहलुवों पर बिचार करलें। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक विधि में सोम का प्रतिनिधि बनाने के लिए पाँच वस्तुओं से सुरा या रस का निर्माण किया जाता रहा; वे हैं (१) ब्रीहिः (गोधूम) (२) यव (३) दधि (४) शमी (५) करीर। प्रथम तीनों से निर्मित सोम का नाम क्रम से गवाशिरं यवाशिरं और दध्याशिरं था, ये आसव प्रतीत होते हैं। अन्तिम दो को सिलबट्टे में घोटकर पेय बनाया जाता रहा। ये सब नकली सोम हैं, याज्ञिकों के मस्ती के सोम हैं। वेदों और ब्राह्मणों में उक्त सब नाम रहस्यात्मकतया प्रयुक्त हैं। अतः अब सोम की तात्विक व्याख्या की ओर चलें, उससे इन नकली सोम बनाने की विधियों की रहस्यात्मकता पर भी प्रकाश पड़ जावेगा।

सोम की व्याख्या, देवता रूप में, कलश रूप में, इन्द्र रूप में, चन्द्रमा रूप

मे, पीयूष रूप में, वर्ण, पर्ण, मणि सुपर्ण रूपों में, शंख, शाला, शिला प्रश्निपर्णी रूपों में, अन्नं ब्रह्म रूप में, अग्नि-अग्नि वैश्वानर और वृत्र तथा विष्णु रूपों में नाना प्रकार से दी हुई मिलती है। सोम शब्द की शाब्दिक व्याख्या, सूयते इति सोम, सुतः इति सोमः, सविता प्रसविता इति सोम तो है पर ॐ (ओमा) सह सोम ही सर्वोत्तम हो सकती है। श० प० ब्रा० (३-९-४-२२) ने लिखा है कि 'स्वा प्राण मेरे हों' यह भाव मन में रखकर इसे सोम कहते हैं जैसे "स्वा मे य एवेति' तस्मात्सोमो नाम"। जिन पाँच वस्तुओं से कर्मकांण्ड में अभिनय के लिए नकली –पीने वाला– सोम बनता रहा, उनके नाम वैदिकों ने पारिभाषिक शब्दों के रूप में रखे थे। जैसे

३—सोम की नाना रूपों में व्याख्या और सोम की निरुक्ति

"स इमां पृथिवीं प्रविवेश तं खनन्त इवान्वीयुस्तमन्वविन्दँस्ताविमौ व्रीहियवौ"

(श० प० ब्रा० १-२-१-७)

यह पञ्चपशुओं के क्रम में दिया है। अज तत्त्व पृथिवी में प्रविष्ट हुआ तो व्रीहियव बने। इनमें व्रीहि तो पूर्वार्द्ध का वाचक है, और यव उत्तरार्द्ध का जैसे—

"व्रीहिमेवाग्रे पिण्डमधिश्रयति तद्यजुषां रूपम्; अथ यव मयम्

तदृचां रूपं अथ व्रीहिमयं तत्साम्नां रूपं तदेतत् त्रय्यै विद्यायै रूपं क्रियते ॥"

(श० प० ब्रा० ५-४-७-९)

यहाँ ऋग् पूर्वार्द्ध व्रीहिमय है, यजुः उत्तरार्द्धमय है। साम ऊष्माण उत्तरार्द्धीय हैं। इसका समर्थन निम्न वाक्य करता है।

"वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्टा वरुणस्य यवान् जक्षु र्वरुण्यो ह वा अग्रे यवः ॥"

(श० प० ब्रा० २-४-३-१)

मुण्डक उपनिषद् (२) भी इसकी पुष्टि में लिखता है "प्राणापानौ व्रीहि यवौ, तपश्चश्रद्धा, सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥" जिस प्रकार मुण्डक व्रीहियवौ को प्राणापानौ' कहता है उसी प्रकार श० प० ब्रा० (२-४-३-२ में) इन्हें 'प्राणोदानौ' कहता है। केवल ब्राह्मणादिक ग्रन्थों में ही नहीं, स्वयं ऋग्वेद सोम के आशिर या आसव को उषा (२४ वें तत्त्व) से, सिन्धुओं, गंगादि सरस्वती (तृतीय चतुर्थ सप्तक) से, तथा गायत्री के त्रिःसप्त (त्रिपादों) से दुहा गया बतलाते हुए कहता है

"अयं पुनानः उषसो विरोचदयं सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत्।
अयं त्रिःसप्त दु दुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥"

(ऋ. वे. ९-८६-२१)

यहाँ पर इस सोम को लोककृत् पुनानः और या चारु चरु रोचिष्मान् कहकर इसको भौतिकात्मा के रूप में प्रस्तुत किया है। अन्य उदाहरण ये हैं।

"इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च न पिब। अगस्त्या वृषभिः सुतम् ॥"

(ऋ० वे० ३-४२-७)

"यवं यवं नो अन्धसा पुष्टं पुष्टं परिश्रवः । सोम विश्वा च सौभगा ।।"
(ऋ० वे० ९-५५-१)

"सुषमा यातमद्रिभिर्गोश्रीताः मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे ।
आ राजाना दिविस्पृशास्मत्रा गन्तुमुप नः ॥"
"इमे वां मित्रावरुणा गवाशिरसोमाः शुक्रा गवाशिरः ।।"

"इम आयात मिन्दवः सोमासो दध्याशिरः सुतासो दध्याशिरः ।।"...
...अस्मत्रागन्तु मुप नो ऽर्वाञ्चा सोम पीतये ।।"
(ऋ० वे० १-१३७-१,२,३,४)

इन सब में सोम की व्याख्या आध्यात्मिक है, व्रींहियवादि शब्द पारिभाषिक हैं जिनसे अभिनय के लिए नकली सोम बनाया जाता रहा ।

अब शमी करीर और दृषदुपले (सिलवट्टे) से सोम बनाने के सम्बन्ध में इन शब्दों की पारिभाषिकता पर भी विचार कर लें । करीर नाम 'कं' ब्रह्म या पूर्वार्द्धीय तत्त्व (कस्मै देवाय हविषा विधेम) का है तथा शम् उत्तरार्द्ध के चतुर्थ सप्तक के आपो देवियों का नाम है। जैसे "तयो रुभयोरेव करीराण्यावति । कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरै (अङ्गै) रकुरुत कम्बैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते । तयोरुभयोरेव शमी पलाशान्यावति । शं वै प्रजापतिः शमीपलाशै रकुरुत शम्वैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते ॥" (श०प० ब्रा० २-४-३-११,१२, १३)। यह व्रीहियव के सिलसिले में ही कहा गया है । इन करीर और शमी को घोटने के लिए सिलवट्टे का प्रयोग भी पारिभाषिक ही है* जैसे "तत्संज्ञामेतत् दृषदुपलाभ्यां वदति, नेदिग्योऽन्यं हिनसात इति द्यौरेषा रूपेण हनू एव दृषदुपले जिह्वैव शम्या तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि वदति ।।" (श० श० ब्रा० १-१-२-१७) । शम् ब्रह्म का मन्त्र तो सर्वप्रसिद्ध हैं "शन्नो देवी रभीष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयोरभि स्रवन्तु नः ।" (ऋ० वे० १०-९-४; अथर्व १-६-१, साम १३, यजुः ३६-१२, तै० ब्रा० १-२-१-१; २-५-८-५; तै० आ० २-८-६-३)। वेदों में शम् शब्द का प्रयोग संज्ञा विशेषण क्रियाविशेषण तथा समस्त (शम्भु) रूपों में मिलता हैं । दृषदुपल ही द्यावापृथिवी हैं, और येही ग्रावाण देवता हैं, ये पञ्चपर्वा विद्या के अङ्ग हैं । येही आपोदेवियों के जनक हैं या आपोदेवियों को ही ग्रावाण या अश्मा कहते हैं "अथ यदश्रु संक्षरित मासीत्सोऽश्मा प्रश्निरभवद् अश्रुर्हवै तमश्मेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः ।" (श० प० ब्रा० ६-१-२-३) । इन सबका वर्णन ऋ० वे० की निम्न प्रसिद्ध सोमपवमानीय ऋचा एक साथ कर देती है जैसे--

४—घोटने वाला सोम

"कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम इन्द्रायेन्दो परि श्रवः ।।"
(ऋ० वे० ९-११२-३)

---

* सोमलता और तक्मान् के बारे में आगे दो स्थलों में टिप्पणियाँ दी जा रही हैं उन्हें देखें ।

पहले मैं कवि रूप तृतीय सप्तक त्रिपादामृत था, फिर द्यावा रूप पिता और भिषक् या अत्रि २४ वाँ तत्त्व, फिर दृषदुपल रूप द्यावापृथिवीरूप माता या दुहिता, तदनन्तर नानारूप के वसुयव, व्रीहियव (गा) पृथिवी या भौतिकता के अनुकूल बना। यास्क को इसका ठीक अर्थ नहीं लगा, न लग सकता था (निरुक्त ६-२-२), क्योंकि उन्होंने इनको सामाजिक या पारिवारिक सम्बन्धों में घटित कर दिया है।

सोम के दो मुख्य स्वरूप हैं (१) सर्वादेवता रूप (२) एकदैवत्य रूप। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम का वर्णन 'सर्वा देवता' के रूप में किया गया है। यहाँ वह यज्ञ, पुरुष अग्नि विष्णु या ब्रह्म की तरह प्रत्येक सीढ़ी में सोम ही सोम कहा गया है। श० प० ब्रा० (१-५-२-२१) ने इसी लिए सोम को सर्वादेवता घोषित किया है "सोमः सर्वा देवता"। एक दैवत्य सोम उत्तरार्द्धीय प्रथम भौतिकात्मा रूप तत्त्व है। इसे चन्द्र चन्द्रमा या इन्दु नाम से भी पुकारते हैं। वृत्र-हन्ता पुरभिद् सोम, इन्द्र के समान सर्वादेवता है। इस सर्वा देवता स्वरूप सोम की महिमा निम्न ऋचाओं में देखें।

५—दो प्रकार का सोम

"इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रिर्हन्ता वृत्राणामसि सोम पूर्भिद्।"
(ऋ० वे० ९-८८-४)

"स भन्दना उदियर्ति प्रजावती विश्वायु र्विश्व सुभरा अहर्दिवि॥"
(ऋ० वे० ९-८६-४१)

"सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥"
(ऋ० वे० ९-९६-५)

इस ऋचा में सोम को पवमान तथा द्यावापृथिवी, अग्नि सूर्य चन्द्र और विष्णु का जनक पिता बताया है। यही उसका 'सार्वदैवत्य' है। इसी भाव की जोड़ीदार यह निम्न ऋचा है

"ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वाधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥"
(ऋ० वे० ९-९६-६)

इसमें सोम के नाम प्रत्येक सप्तक में पृथक्-पृथक् विकासानुकूल दिये गये हैं और जिनका इसको पूर्व ऋचा में जनक बताया है उन्हीं के सप्तकों के प्रधानों के नाम सोम सरणि में दिए गए हैं। सोम को वाग्विकास सरणि में इस प्रकार दिया है।

"तिस्रो वाचो ईरयन्ति प्रवह्नि ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥
(ऋ० वे० ९-९७-३४)

इसमें वाणी के विकासों को सोम के पास वैसे ही जाता बतलाया गया है जैसे गायें (वाग्धेनुएँ) गोपति (सोम) के पास जाती हैं। 'तिस्रः वाचः' पूर्वार्द्धीय त्रिपादीय वाणियाँ हैं। इसी बात को पुनः दूसरी ऋचा दुहराती है

"सोमं गावो धेनवो वावसानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते ॥"

इसमें सोम विकास को त्रिष्टुप् के ११ अक्षरों के पादों से ३३ तत्त्वों में विकसित होने की बात लिखी है। एक स्थूल प्रश्न सामने रखा जाता है जिसे सूर्य, इन्द्र, अग्निः, दिवः, पृथिवी, विष्णु आदि का जनक घोषित किया गया है और ब्रह्म, पदवी, ऋषि, महिष, श्येन, आदि नामों से पुकारा गया है, अहोरात्र निर्माता वृत्रहन्ता, और पूर्भिद् आदि कहा गया है क्या वह सोम, अनाज (व्रीहियवौ) दधि करीर और शमी से निर्मित आसव हो भी सकता है? यह तो कर्मकाण्ड के अभिनय के प्रतीक पारिभाषिक शब्दों का जाल मात्र है जिनका लौकिक अर्थ लौकिक कर्मकाण्ड का काम मात्र चलाने के काम में आता है, यह अब स्वतः स्पष्ट हो गया होगा।

६—एक दैवत्य सोम

एक दैवत्य सोम का स्थान उत्तरार्द्ध में पड़ता है। यह विधु इन्द्र चन्द्र या चन्द्रमा भी कहलाता है। इसके स्थान के निर्णय के बारे में पुरुष सूक्त के 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' पद की व्याख्या में विस्तारपूर्वक विवेचन दे दिया गया है; वहीं इसका उचित स्थान भी है। यह सोम या चन्द्रमा ब्रह्म के 'द्वे शीर्ष्णे' का द्वितीय शिर है जिससे भौतिक सृष्टि का प्रथमोत्थान प्रारम्भ होता है। इसको गायत्री ब्रह्म में 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा (श्येनो भूत्वा) सोममपाहरत् (या सोममाजहार)' वाक्य तथा (ऋ० वे० ४-२६-७) की

"आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरन्धि (गायत्री) रजहादराती मँदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥"

ऋचा में सोम नामी अमृत लाने वाली गायत्री कहा गया है, गायत्री २४ तत्त्व की है। अतः इसका अभ्युदय २५ वें से २६ वें में होता है, २५ वाँ श्येन या सूर्य है २६ वाँ सुपर्ण। सुपर्ण को श्येन का पुत्र कहा गया है जैसे

"यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्।
शतचक्रं यो॑ ह्यो वर्तनिः ॥"

(ऋ० वे० १०-१४४-४)

इसमें सूर्य रूप श्येन से परावतः दक्षिणायन के वासी सुपर्ण को पुत्र कहा है। इसका समर्थन 'श्येनो गृद्धाणां' पद (ऋ० वे० ९-९६-६) पूर्वोद्धृत भी करता है। सुपर्ण गृद्ध है उनमें सोमः सर्वा देवता श्येन है। इसी बात का समर्थन पुनः

"सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणमेषामुपस्थे सोम आहितः ॥"

(ऋ० वे० १-८५-२)

में है। आदित्य और पृथिवी वाला सोम उत्तरार्द्ध का ही है। क्योंकि यहाँ पर इसको नक्षत्रों का मध्यवर्ती (उपस्थे) बतलाया है। नक्षत्रों का मध्यवर्ती सोम कैसे है यह 'नक्षत्र विद्या से तत्त्व गणना' तथा पुरुष सूक्त के श्रीश्चते लक्ष्मी······पार्श्वेनक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्' मन्त्र की व्याख्या में दे दिया गया है। यह वही मध्यविन्दु है जिसको नासदीय सूक्त 'सतो बन्धमसति निरविन्दन्' (१०-१२९-४) वाक्य से पूर्वार्द्ध की असत् या आध्यात्मिक सृष्टि का सेतुबन्ध उत्तरार्द्ध की इस सोम नामी भौतिक (सद्) सृष्टि से होने की बात करता है। यह सोम, शरीर या तनु कहलाता है। अतः (ऋ० वे० १०-५९-७) में लिखा है "पुनर्नः सोमस्तन्वं यातु"। यह शरीरी सोम, इन्दु या विन्दु-विन्दु रूप से टपक कर इन्दु नाम से पुकारा जाता है। यह रस स्रवण दो प्रकार से वर्णित किया गया है, (१) रेतो रूप या शुक्र रूप में (२) सूर्य चन्द्र को पुरुष की दो आँखें मानते हुए चन्द्र रूप आँख को फूटी मानकर तथा उस फूटी आँख से निरन्तर अश्रु रस चूते रहने के रूप में। जैसे

"स सप्तधीतिभिर्हितो नद्योअजिन्वदद्रुहः ।
या एकमक्षि वावृधुः ॥" (ऋ० वे० ९-९-४)

"बृहत्तत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः ।" (ऋ० वे० ९-९७-४०)

"प्र तद्वोचेमं भव्यान्दधे हव्यो न य इषवान्मम रेजति ।
स्वयं यो अस्मदानिदो वधैरजेत दुर्मतिम् ॥
अवस्रवेदघशंसोऽवतरम् ।
अव क्षुद्रमिव स्रवेत् ॥"
(ऋ० वे० १-१२९-६)

इन्हीं टपकती बूदों को पितर और देवता पीते हैं जैसे

"यस्त्वा देव प्रपिबन्ति ततः आप्यायसे पुनः ।
वायु सोमस्य रक्षिता समानमास आकृतिः ॥" (ऋ० वे० १०-८५-५)

"नवो-नवो भवति जायमानोऽह्नां केतु रुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्योः विदधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥"
(१०-८५-१९)

इसका स्पष्ट आख्यान श० प० ब्रा० (७-१-२-७) देता है

"द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी, यच्चक्षुरध्यशेत
स चन्द्रमा तस्य मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्रवत् ॥"

इस प्रस्रवणीय इन्दु का स्थान चतुर्थ सप्तक बतलाने वाली कई अन्य ऋचायें मिलती हैं जैसे—

"शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन ।
कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोम पवित्रमत्येति रेभन् ॥
ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम् ।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप् ॥

चमूषच्छ्येन शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥"
(ऋ० वे० ९-९६-१७, १८, १९)

इसमें सर्वादेवता सोम के साथ-साथ ऐन्दवी या चान्द्रमस सोम को महिष तथा चमूसुत या उत्तरार्द्धवासी (चमू=अर्द्ध पटल चतुर्थ सप्तक और समुद्र साम के तुरीय या चतुर्थ साम या चतुर्थ सप्तक वाली बतलाया है। यहाँ लिखा है कि विराट् छन्द से जब पञ्चपर्वा विद्या के विभाग करते हैं तो इसका स्थान तृतीय पंचक होता है। यही तृतीय धाम है। जब अनुष्टुप् या गायत्री छन्द से पाद रूप में गणना करते हैं तब सोम का स्थान चतुर्थ पाद होता है। इन्दु या चन्द्रमा रसमय होते हुए भी अग्नि-रूप या विद्युद्रूप है और इस रूप में उक्त महिष नाम भी अग्नि का ही है। महिष नाम की व्युत्पत्ति यह है 'महीषु षड्उर्वीषु षदतीति महिषः' या 'महसि महर्लोके जात महिषः' इसी को वराह नाम से भी पुकारते हैं। यही वराह रूप चन्द्र या महिष रूप सोम, पृथिवी या भौतिकात्मा का उन्नायक है

"प्रकाव्य मुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति।
महिव्रतः शुचि बन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥"
(ऋ० वे० ९-९७-७)

इसको चमूषद् वासी कहने के स्थान में चमू सुत भी कहा है 'इन्द्र सोमं पिब मधुमन्तं चमूसुतं" (१०-२४-१)। इसका नाम दाक्षाय्य अर्यमा भी है, दक्ष २४ वाँ तत्त्व है, अतः दाक्षाय्य या दाक्षाय्यी कहलाता है।

"दाक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम" (ऋ० वे० ९-८८-८)

यह सोम, पितृसम्बन्धी विवक्षा में अर्यमा आदित्य कहलाता है, अतः, पिता कहलाता है "पितृणामर्यमा चास्मि" (गी० १०-२९) इसीलिए पितरों को सोमपा पितर भी कहते हैं। इस सोम नामी इन्दु या चन्द्र का अभिनय विवाह संस्कार में

"अथ वरं वृणीते बलवद्ध वै देवा एतस्य ग्रहस्य होमं" इत्यादि
(श० प० ब्रा० ४-१-१-२१ से २५)

से किया जाता है। क्योंकि यह विष्णु है, अर्द्धनारीश्वर है, यहाँ वर-वधू के संयोग से अर्द्धनारीश्वर पूर्ण किया जाता है। इस इन्दु या चन्द्रमा का स्वरूप भौतिक है, अतः मरणधर्मा या परिवर्तन शील है। इसलिए कहा है कि जो पूर्वार्द्ध में (कल=ह्यः) अमृत था वह यहाँ उत्तरार्द्ध में आकर युवा होते हुए भी मृत्युधर्मा या क्षीण होने वाला बन गया है जैसे

"विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥"
(ऋ० वे० १०-५५-५)

यह चन्द्र भौतिक है रसमय है स्वयं प्रकाशित है, फिर भी इसमें अपना वैसा प्रकाश नहीं है जैसा कि पूर्वार्द्ध के त्रिपादामृतीय तत्त्वों का, या उनके निचोड़ या

पूर्ण विकासीय २५ वें तत्त्व सूर्य का। अतः इसे वही सूर्य या इन्द्र या सोम पूर्ण प्रकाशित किये रहता है। यह स्फटिक शिला या आयने के समान है उसमें सूर्यादि प्रतिबिम्बित होकर इसे दूर से प्रकाशित करते हैं जैसे

"एकया प्रतिधा पिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम्।
इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥"

(ऋ० वे० ८-७७-४)

पूर्ण इन्द्र ३२ वें में होता है, वह सोम के ३० सरों को या ३० तत्त्वों का पान करके पूर्ण कान्तिमान् बनता है तब सोम को भी कान्ति देता है। अतः कहा है कि इन्द्रः, सोम का या चन्द्र का कान्तिदायक है, सोम की कान्ति, सूर्य या इन्द्र की है

"यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति" "यथा देवा अंशुमाप्यायन्ति"

ये तीस तत्त्वों के ३० सरोवर हैं। (तै० ब्रा० २-४-१४-१)। ये तात्त्विक सूर्य चन्द्र हैं, लौकिक या खगोलीय नहीं।

इस इन्दु को रसमय, बूँद-बूँद टपकने वाला तो कहा है। पर इसे एक दूसरे प्रसिद्ध नाम से पुकारा जाता है। वह नाम इन्द्रिय है। इस इन्दु चन्द्र या सोम को इन्द्र की 'इन्द्रिय' कहा गया है जैसे

७—चन्द्र या इन्दु रूप सोम

"इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते
ज्येष्ठाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥"

(यजु० ९-४०, १०-१८)

बस जो कोई इस 'इन्द्रिय' शब्द के अर्थ को बताने जाता है उसकी पहुँच पञ्चज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियों से बाहर जा ही नहीं सकती। क्योंकि मध्ययुग से यह शब्द उक्त विषयों में प्रौढ़तया रूढ़ि बन गया है। पर वैदिक साहित्य में इन्द्रिय शब्द का अर्थ ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों में कोई इन्द्रिय, कदापि भी है ही नहीं। वेदों में 'इन्द्रिय' शब्द का सीधा अर्थ 'रस' है। यह इन्दु या चन्द्र या सोम, इन्द्र का इन्द्रिय या रस है जिसे वह पीता है। इस अर्थ का प्रमाण निम्न ऋचाओं में स्वयं ऋग्वेद में मिलता है।

"सोमो अर्षति धर्णसि र्दधान इन्द्रियं रसम्।
सुवीरो अभि शस्तिपाः ॥"

(ऋ० वे० ९-२३-५)

"मत्सर इन्द्रियो रसः।" (ऋ० वे० ९-९६-१०)

"इन्द्रस्येन्द्रियमन्नस्य रसम्।" (श० प० ब्रा० १२-७-३-१)

"आत्सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसा भुवत्।
उक्थं यदस्य जायते ॥"

(ऋ० वे० ९-४७-३)

जिसे रस या 'रसो वै सः' कहते हैं उसी को चरु, चारु, मत्सरः या रेतः या शुक्रः नाम से भी पुकारते हैं। जैसे

"तच्चक्षुर्देव हितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ॥"
(ऋ० वे० ७-६६-१६ यजु० ३६-२४ तै० आ० ४-४-२-५)

इस शुक्र को श० प० ब्रा० (४-१-६-१) ने चन्द्रमा ही बतलाया है "तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव"। इस शुक्र रूप चन्द्रमा या सोम का जन्म उक्त ऋचा में चक्षु नामक सूर्य २५ वें तत्त्व से बतलाया है जिसका समर्थन पुनः निम्न ऋचायें करती हैं

"विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीश्चन्द्रं द्विपदे चतुष्पदे।"
(ऋ० वे० ९-९६-१०)

"भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि" (ऋ० वे० ९-१०८-१०)

इसी रस से अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिक रचना होती है। अतः इस सूर्य और चन्द्रमा को धाता और विधाता कहा गया है

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीमन्तरिक्षमथो स्वः ॥"
(ऋ० वे० १०-१९०-३ तै० आ० १०-१-१४)

अतः अन्यत्र इनको जगत् की आत्मा और प्रजापति कहा है "इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः।" (ऋ० वे० ९-५-९)। इसीलिए ऐ० ब्रा० (२-५-४४) इस चन्द्रमा को ब्रह्म और श० प० ब्रा० (१४-३-२-११) सब देवताओं की आत्मा कहता है 'चन्द्रमा वै ब्रह्म' 'चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा'। इसी को सोम नाम से देवताओं की 'हवि' नाम से भी पुकारा जाता है 'सोमो वै देवानां हविः' (श० प० ब्रा० ४-४-४-१)। इसी को हिरण्यगर्भीय सूक्त 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' और पुरुष सूक्त 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत' कहते हैं। यही सोम विष्णु भी है सविता प्रसविता भी है "यो वै विष्णुः सोमः सः' (श० प० ब्रा० ३-५-२-१९)। विष्णु इसी चन्द्र के रस सागर का शायी है। उपनिषदों में इसी सोम को "अन्नं ब्रह्म' नाम से पुकारते हैं*। अन्न नाम अखण्ड और अदिति से उत्पन्न अत्ता अन्नाद वाक् नामक तत्त्व का है। जो रस स्रवित होता है उस रस का नाम ही अन्न या यज्ञ भी है, और उस अन्न रूप में ही रस टपकता है जैसे

अन्नात्परिश्रुतो रसं ब्राह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः।" इत्यादि
(यजु० १९-७५)

---

* 'यज्ञो हि देवानामन्नं' (श० प० ब्रा० ५-१-१-२) 'अन्नं सोमो अन्नादश्च इदं सर्वं अन्नं च' (श० प० ब्रा० १-५-२-१७; ११-१-६-१६) पुरुष सूक्त में 'पुरुषएवेदं सर्वं···यदन्नेनाति रोहति' मन्त्र में अन्नेन माने सोमेन या यज्ञेन है न कि खाने के अन्न से।

'मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्रवत्' (पहिले लिखा जा चुका है (श० प० ब्रा० ७-१-२-८) । इस रस टपकने को कोई तो 'पर्जन्य' नाम से पुकारता है कोई वृष्टि। इस वृष्टि का स्वरूप विद्युत्प्रवाह है। 'सोमात्पर्जन्यः पर्जन्याद्वृष्टिः' (मुण्डक) 'आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते चन्द्रतो वृष्टिर्वृष्टिर्विद्युत्' (ऐ० ब्रा० ८-५-२८) 'वृष्टिं दिवः पवस्वरीति मपां जिन्वा गविष्ठये धिया' (ऋ० वे० ९-१०८-१०)

"दिवो न विद्युत्स्तनयन्त्यभ्रैः सोमस्य ते पवत इन्द्र धारा।"

(ऋ० वे० ९-८७-८)

"शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥"

(ऋ० वे० ९-४१-३)

यह विद्युद्रूपीय वृष्टि ही दूसरी शैली में अग्निवैश्वानर कहलाता है जो वृत्र की चिता बनाया गया।

"पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम्।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥" (ऋ० वे० ९-६१-१६)

जिसमें तमोरूप वृत्र की चिता क्या लगाई, पुनः प्रकाश आ गया, अन्धकार का मिटना ही वृत्रवध है।

"पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्। कृष्णा तमांसि जंघनत् ॥
पवमानस्य जङ्घ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत। जीरा अजिरा शोचिषः ॥"

(९-६६-२४,२५; ९-१०७) और उद्धरण ९-६५-२४, ९-१०६-९,९-१०८-१० में देखें)

यहाँ पर जिसे 'कृष्णा तमांसि' कहा है, उसी का नाम अन्यत्र वृत्र दे रखा है जैसे

"अतिष्ठन्तीना मनिवेशानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥"

(ऋ० वे० १-३२-१०)

इसमें भी रस टपकता है जैसे

"दास पत्नी रहिगोपा······अपां विलमपिहितमासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥"

(ऋ० वे० १-३२-११)

यह वृत्र सोम का आसुर्य या भौतिक भाग है, इसे आसुरी प्रवृत्ति मूलक भाग कहते हैं, इसका दैवी प्रवृत्ति मूलक भाग चन्द्रमा कहलाता है जैसा कि श० प० ब्रा० (१-५-२-१२) ने लिखा है कि जब इन्द्र से वृत्र को मारना चाहा तो वृत्र ने कहा मुझे मार कर तुम स्वयं सत्ता में नहीं रह सकते। तब उसने उसके दो भाग किये, दैवी भाग सोम या चन्द्रमा बना, आसुरी भाग से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड। चन्द्रमा उस भौतिक ब्रह्माण्ड की आत्मा या या देहात्मा है। जैसे "स होवाच मानु मे प्राहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव, माकुरु मामुया भूवमिति स वै मेऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधाभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदासूर्यमास तेनेमाः

प्रजाः । उदरेणाविध्यत्तदाहुर्वृत्र एव तर्ह्यन्नादः……यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्या एवेतद् वृत्रायोदराम बलिं हरन्ति…।।" इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में अशनाया और अनशनाया का जो वर्णन आता है वह चन्द्रमा और वृत्र का है, चन्द्रमा अनशनाया है, वृत्र अशनाया, यही अनश्नन और अश्नन् दो सुपर्ण 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाय' के हैं । त्रिपादामृत या पञ्चात्मायें अनश्नन् या निराहार है । ये स्वयं पुष्ट हैं खाने की आवश्यकता नहीं रखते । आसुर्य शरीरी भाग विना अशन के नहीं रह सकता । इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम को वृत्र, वृत्र को सोम और विष्णु नाम से घोषित किया है जैसे 'वृत्रो वै सोम आसीद्' (श० प० ब्रा० ४-१-४-७) 'वृत्रो यश्चन्द्रमा अस्यैष भ्रातृव्य जन्मेव तस्माद्यद्यपि पुरा विदूरमिवोदितो अस्य एनमेता तां रात्रिमुपैव न्याप्लवते सोऽस्य व्यात्तमापद्यते ।।" (श० प० ब्रा० १-५-३-१८)

"अथाब्रवी वृत्र मिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व ।"

(ऋ० वे० ४-१८-११)

अतः सोम नाम तो चन्द्रमा और वृत्र दोनों का है, पर चम्द्रमा सोम और वृत्र की आत्मा या दैवी शक्ति है । सोम से चन्द्रमा का इसलिए बड़ा महत्त्व है । चन्द्रमा को इसीलिए सोम या वृत्र का सौम्य भाग या 'चन्द्रो वै देवानामात्मा' कहते हैं; वृत्रं या सोम (सर्वादेवता) इस चन्द्रात्मा का भौतिक शरीर है । चन्द्रमा भौतिकात्मा है, वृत्र भौतिक शरीर ।

८—सोम और अश्व

वर्ण रूप वर्णना में चन्द्रमा विश और सोम क्षत्र तत्त्व है, वृत्र दास या शूद्र वर्ण है पर पशु रूप वर्णना में इन दोनों को सोम कहने के बजाय अश्वः, दधिक्रा, वृषभः नाम से पुकारा जाता है तो आदित्य रूप वर्णना में 'गौः' । वेदों में जो रेतः या रजः नामक रस का वर्णन आता है वह इन्हीं पशुओं के रेतः रजः या बीज (वीर्य) रूप में किया गया है । चन्द्रमा या सोम को जब प्रजापति कहते हैं* तब भी उनके रेतः या रजः की वर्णना की जाती है । वृत्र सविता सोम चन्द्र अश्व गो वृषभ आदि वर्तमान या वृणोतीति आवरण धर्मा हैं । अतः 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानः' 'स यद्वर्तमानः समभवत् तस्माद्वृत्रो नाम' (श० प० ब्रा० १-५-२-९) कहा है, यह अपाद् था अतः अहिः (वृत्र) कहलाया, दनु दनायु ने पाला तब दानव भी कहलाया (वहीं) । अश्व नाम प्राणों का है यहाँ अपान प्राण का । इसकी व्याख्या दधिक्रा और अश्वमेध तथा 'सु असु श्व अश्व' आदि शीर्षकों में की जा चुकी है । इस अश्व की महिमा बृह० उप० के प्रारम्भिक परिच्छेद में भी दी गई है । ऋ० वे० १-१६३ तथा ४-४० में भी विस्तार पूर्वक वर्णित है । यह अश्व या दधिक्रा, सवारी का घोड़ा नहीं है । पर यह अश्व, त्रिपादामृत का वाहन रूप प्रथम भौतिकात्मा या भौतिक शरीर है, वृषभ भी

---

* 'सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्-प्रजापतिर्वै सुपर्णो (सोमः) गरुत्मानेष सविता'

(श० प० ब्रा० १०-२-१-४)

'चण्द्रमा वै प्रजापतिः' कई बार कहा गया है, उद्धृत किया जा चुका है ।

इसी वाहन रूप में वर्णित है। सभी देवताओं को वृषभ नाम से पुकारा गया है, 'वृषभ' शीर्षक देखें। और प्राण रूप में भी सभी देवताओं का वर्णन आता है। ये अश्व रूप वर्णन हैं जैसे

"अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मां नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः काम्पिलवासिनीम्॥" (यजुः)

प्रसिद्ध मन्त्र का अश्वक तो त्रिपादामृतीय अश्व है। यह काम्पिलवासिनी लक्ष्मीः के पास सोया हुआ बतलाती है। उस भौतिक शरीर की वह स्त्री ईर्ष्या या लिप्सा करती है। जब केशव रूप में या अर्द्धनारीश्वर रूप में वर्णना की जाती है तो पूर्वार्द्ध पुरुष है उत्तरार्द्ध स्त्री जिनके जोड़े को द्यावापृथिवी नाम से पुकारा जाता है, इनके रेतः को भी रजः या रस नाम से पुकारा जाता है। इस जोड़े को पिता-पुत्री, पितामाता नाम से भी पुकारा गया है।

'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' 'समातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेशः'
(दोनों १-१६४-३२,३३)

वैदिक आर्य यज्ञ में प्रयुक्त घोड़े के पुजारी कदापि नहीं थे। वे इसे त्रिपादामृत के वाहन रूप अश्व का प्रतीक बनाकर आत्मरञ्जन तथा मनोरञ्जन दोनों कार्य सम्पादित करने के साथ-साथ कर्मकाण्ड विधि में प्रयुक्त मन्त्रों द्वारा वेदों की रक्षा करना चाहते थे। यास्क ने निरुक्त (९-१-१,२,३) में बड़े आश्चर्य की बात कही है। वे यहाँ जिस मन्त्र को देकर अश्व का वर्णन कर रहे हैं वह तो इस 'इन्दु' या चन्द्रमा को अश्व या प्राणरूप भौतिक शरीरी वाहन कहकर, इन्दु या चन्द्रमा या सोम का वर्णन देता है। इसे वे अश्व या घोड़े का मन्त्र समझ बैठे हैं, यह गलत है। यह मन्त्र नवम मण्डल के पवमानीय सोम के सूक्तों में से (९-११२-४) एक है। जैसे

"अश्वो वोढा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिवान् मण्डूक इच्छति इन्द्रायेन्दो ! परिस्रव* ॥"
(ऋ० वे० ९-११२-४)

इस मन्त्र में सम्बोधन 'इन्दु' के लिए है (हे इन्दो !) और इसको रसमय रस स्रावक कहने के स्थान में वारिन् या जलमय दूसरा सम्बोधन किया है (हे वारिन्= वारिवन्=जलमय रसमय)। अतः इस रसमय इन्दु को जलमय जीव 'मण्डूक' नाम से भी पुकारा है। वारिन् शब्द में वृणोतीति 'आवरण धर्मा' अर्थ की ध्वनि भी है। "सेदं सर्व माप्नोद्यदिदं किञ्च यदाप्नोत्तस्मादापो, यदवृणोत्तस्माद्वाः" (श० प० ब्रा० ६-१-१-९) और 'यन्मण्डयति स मण्डूकः' जो त्रिपादामृत को शरीर से भौतिकात्मा से मण्डित करता है वही मण्डूक है (मेढक नहीं जैसा कि लौकिक व्याख्याता समझते हैं)। ये सब अश्वरूप या प्राणरूप में हैं, भौतिक प्राण रूप शरीर से त्रिपादा-

* यास्क ने इसका भाव और अर्थ और सन्दर्भ उचित नही दिया है।

मृत का बोझा ढोते हैं, या चन्द्रमा रूप रथ में भौतिकाशरीर (वृत्र) रूप अश्व, त्रिपादामृत को आनन्द से, खींचते हैं, (इस जीवन की गाड़ी को सब आनन्द से खींचते हैं मरना कोई नहीं चाहता) 'हसनामुपमन्त्रिणः' हसन रूप उपमन्त्री चन्द्रमा है वही रथ है। हसन नाम ज्योतिष्मान् हासमान प्रसन्न मुख चन्द्र का है। अतः इन्दु से प्रार्थना की जा रही है कि तुम उस रूप को (शेपः) प्राप्त हो जावो जिससे 'रोमण्वन्तौ भेदौ' या रोमश या लोमशः (सहस्राक्षरीय) दो भेद पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की कामना पूरी हो जावे (इच्छति)। यहाँ पर बलि के घोड़े की चर्चा कहाँ है ? यहाँ तो चन्द्रमा की इन्दु रूप में प्रार्थना है।

सोमलता सोमओषधि सोमपर्वत, सोमनदी सोमसागर

सोम तो सर्वादेवता या सर्वासर्वे तत्त्व है, अतः इसकी वर्णना सैकड़ों ढंग से की गई है। बताया जा चुका है कि सोम तत्त्व के उक्त प्रकार के रस स्रवण या अस्र स्रवण या अश्रु स्रवण को ही 'अश्म' (स्फटिकशिला) नाम से पुकारते हैं (श० प० ब्रा० ६-१-२-३)। यह सोम की पञ्चपर्वा विद्या के रूप में व्याख्या देता है। प्रत्येक तत्त्व एक एक पर्व है, उससे जो सप्तक या दशक बनते हैं उन्हें पर्वत कहते हैं (पञ्चपर्वा विद्या' देखें)। इस सोम रूपी प्रत्येक पर्व के अश्म से सोमीय पर्वत बनने का उल्लेख प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलता है उदाहरण के लिए कुछ ये हैं।

९—सोम और पञ्च पर्वा विद्या

"अतः समुद्रा गिरयोऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः"

(मुण्डक उप० २) "देवो वै सोमः दिवि वै सोमः, तस्यैतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोऽशानामोषधिर्जायते॥" (श० प० ब्रा० ३-३-४-१३)। ये अश्म, पर्वत और समुद्र तथा नदियाँ उस सोम की हैं जो सर्वादेवता है। एक दैवत्य सोम का चतुर्थ अश्म, पर्वत समुद्र और नदी है। ऋ० वे० ने इन पर्वों या पर्वतों का उल्लेख इस प्रकार किया है

"चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः"

(ऋ० वे० १०-८९-७)

"पर्वशश्च कर्तगवामसि" (ऋ० वे० १०-८९-६)

"त्रिःसप्तसानुः संहिता गिरीणाम्" (ऋ० वे० ८-९६-२)

(शेष पञ्चपर्वा विद्या में देखें)।

इन पर्वतों या पर्वों का सम्बन्ध बृहस्पति, इन्द्र और सोम से है। कहने का तात्पर्य यह है कि सप्तपर्वतः सप्तनद्यः सप्तसागरा या पञ्चपर्वता पञ्चनद्यः और पञ्चसागराः, पञ्चवृक्षा ये सब रसमय सोम आदि ब्रह्मों के विकास हैं। एक दैवत्य का चतुर्थ या तृतीय पर्वत आदि है जैसे 'समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति' 'तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्।" यहां अनुष्टुप् से चौथेपाद में तथा विराट् से तृतीयपाद में इस एक देवत्य सोम का

स्थान पड़ता बतलाया गया है। (ऋ० वे० ९-९६-१९-१८) रसमय सोम ब्रह्म की व्याख्या इन्हीं नदी और सागर रूपों में की जा सकती है। ग्रावाणदेवता, अश्म या पर्वतों के अंग हैं। पर्वतों से ओषधि रूप सोम की व्याख्या की जाती है। ऋ० वे० १०-९७ में इनका सुन्दर वर्णन है। बृहस्पति भी पर्व या पर्वत भेत्ता है। अतः उन पर्वतों से ओषधियों का प्रसव बताया है। ओषधि माने जड़ी-बूटी घास-फूस नहीं है वरन् इसका सम्बन्ध 'उषा' से है। 'उषसा भवं ओषम्', 'ओषं दधातीति ओषधिः'। सोम सूक्त १०-११९-१० में 'ओषम्' शब्द आया है। इस व्युत्पत्ति को न जानने के कारण इसका भाव किसी की समझ में नहीं आया है। एक दैवत्य सोम का जन्म उषा काल २४ वें से प्रारम्भ होता है, अतः उसे ओषं कहते हैं, उसी ओष रूप सौम्य भाग को धारण करने वाले पर्वत नदी समुद्र रूप आसुर्य भाग 'ओषधिः' कहलाते हैं। यहाँ पृथिवीं या चतुर्थ सप्तक को ही उक्त ऋचा 'ओषम्' नाम से पुकार रही है। ये ओषधियाँ भी रसमय ब्रह्म स्वरूपिणियाँ हैं। 'कारु रहं ततो भिषक्' ऋचा में इसी रसमय ब्रह्म की भिषग्रूपता है। सोम भिषग् है तो उसका रस ओषधि है। हमारा शरीर या अखिल ब्रह्माण्ड स्वयं भिषग् और स्वयं ओषधि है (ओषधिः और रुद्र उषा शीर्षक देखें)। एक दैवत्य सोम का स्थान चतुर्थ सप्तक है, इसका नाम रसमय होने के कारण नृषद् नरषद् या जलषद् या 'समुद्र' है आपः सागर है। इसे नारायण या जलायन भी कहते हैं। नारायण शब्द की व्याख्या में मनु ने भी 'आपो नारा इति प्रोक्ता' इत्यादि लिखा है। उक्त उद्धरणों के अतिरिक्त ऋ० वे० ९-९६-१९ में 'समुद्रे क्षियन्तं भुज्यं' लिखा है जिसकी व्याख्या में श० प० ब्रा० (९-४-१-११) ने 'भुज्युः' माने सुपर्ण सोम दिया है ('भुज्युः सुपर्णः') इसका समर्थन अथर्व ४-२-५ और ४-३-१ तथा ऋ० वे० १०-१४-१ करते हैं। इस सप्तक का नाम 'अब्जा' (ऋ० वे० ४-४०-५) भी है जिसका अर्थ वही नारायण, समुद्र, आपोमय सागर है। यह सब सोम के या इन्दु के रस के सागर हैं। वेदों में सोम रूप पर्वत में, सोम नामी लता को सोम ओषधि कहा है। तब सोम पर्वत को मूजवान् या मौजवत नाम से और सोम को लता नाम से पुकारते हैं। अथर्व ने इसका उद्भव गान्धार, अङ्ग (विहार) मगध में भी बतलाया है। यह लौकिक सोम लता है। इसके सेवन के बाद द्यूतक्रीड़ा का वर्णन दार्शनिक पहेली में दिया गया है (गावः कितवः अक्षा देखें)। ऋ० वे० १०-३४ सूक्त में इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है जैसे

"प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥" इत्यादि
(ऋ० वे० १०-३४-१)

और अथर्ववेद ५-२२-१४ में तक्मा का वर्णन देते हुए तथा सोम को तक्मा बताते हुए इसका समर्थन मिलता है जैसे

"गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि ॥" इत्यादि

इन वर्णनों में सोमपान या सोमप्राप्ति या आनन्द प्राप्ति का वर्णन, लौकिक सोमलतारस के नशे की मस्ती के रूप में वर्णित किया गया है। यही रहस्य ऋग्वेद के मन्त्र में उद्धृत है।

अखिल ब्रह्माण्ड सोमरस भरा बृहत्कलश है जिसको ब्रह्म या ब्रह्मणस्पति पीता है या पाता है। इसकी व्युत्पत्ति पहिले दी जा चुकी है धाता-विधाता देखें प्रत्येक व्यक्ति वस्तु पदार्थ गोल आदि भी एक-एक सोमरस भरा घट है। या यह सब बृहद्ब्रह्म का थान है, उससे छटे कटे कटाये गुडियों के समान छोटे कपड़े हैं। इन दोनों प्रकार की वर्णना इसी रसमय सोमब्रह्म से की गई है। हमारे दर्शनों में जो महावरा 'घट-पट' या 'घट-घट वासी' इत्यादि अब तक प्रचलित है वह मध्ययुग का नहीं है, यह भाव वैदिक है, शब्द भी वैदिक है, अब कैंचुली रह गई है। भावरूप साँप भग गया है। घट या कलश नाम भौतिक शरीर का है, जिसका निर्माण सोमरस के ताने-बानों को बुन-बुन कर, इतने ठोस तथा इतने जटिल रूप में पाया जाता है। बुनने वाले ऋषि पितर पुरुष यज्ञ या मातरः (आपः पृथिवी, उषा) हैं। इनका वर्णन 'देवा यद्यज्ञं तन्वाना' पुरुक्त सूक्त १५ तथा दाशराज्ञ युद्ध में किया गया है (वही देखें)। यह कलश 'त्रिवृतं सप्त तन्तुम्' (ऋ० वे० १०-१२४-९१) है और यह

१०—सोम और कलश

"स सूर्यस्य" (२५ वें तत्त्व के) रश्मिभिः (तन्तुभिः) परिव्यत (बुनता है) तन्तुं तन्वानः त्रिवृतं यथाविदे। नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसी पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतिम्॥" (ऋ० वे० ९-८६-३२)

"वत्से वष्कये अधिसप्ततन्तून्वितत्निरे ओतवा उ"
(ऋ० वे० १-१६४-५)

इत्यादि ऋचाओं की सरणि से बुना गया है। यह अखिल ब्रह्माण्ड का दिव्य शरीर है, जिसे कः प्रजापति या हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। पवमानीय सोम के वर्णन वाले नवम मण्डल में इस सोमरस के कलश की महिमा अनेक बार गाई गई है, वे इसको दुहराते-दुहराते भी थकते ही नहीं, इतना प्यारा और मीठा रस है इस कलश में जैसे

"इन्द्रस्य सख्यं पवते विवेदित्सोमः पुनानः कलशेषु सीदति"
(ऋ० वे० ९-८६-९)

'सत्ता नियोना कलशेषु सीदति' (९-८६-६)

'सोमः कलशे शतयाम्ना पथा' (९-८६-१६)

'पवस्य सोम दिव्येषु धामसु सृजान इन्दो कलशे पवित्र आ' (९-८६-२२)

'सुवानः सोमः कलशेषु सीदति' (९-८६-४७)

'सोम पुनानः कलशेषु सत्ता' (९-९६-२३)

'प्रास्यधारा बृहती रसृग्रन्नक्तो गोभिः कलशाँ अविवेश' (९-९६-२२)

'हरिरानीतः पुरुवारो अप्स्वचिक्रदत्कलशे देवयानम्' (९-९६-२४)

'अन्यं मृजन्ति कलशे दशक्षिपः प्र विप्राणां मतयो वाच ईरते' (९-८५-७)

'अवद्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमानः कोष आ हिरण्मये' (९-७५।३)

'अयं दिव इयर्ति विश्वमा रजः सोमः पुनानः कलशेषु सीदति'

(९-८६-९)

'परि प्र सोम ते रसोऽसर्जि कलशे सुतः । श्येनो न तक्तो अर्षति'

(९-६७-१५)

'आ कलशा अनूषतेन्दो धाराभिरोजसा । ऐन्द्रस्य पीतये विश'

(९-६५-२४)

'आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नाभिश्रियः' (९-६२-१९)

'दधान कलशे रसम्' (९-६३-१३)

'यः सोमः कलशेस्वाँ अन्तः पवित्रः आहितः । तस्मिन्परिषस्वजे'

(९-१२-५)

'आ कलशेषु धावति पवित्रे परिषिच्यते। उक्थैर्यज्ञेषु वर्द्धते' (९-१७-४)

'स शुष्मी कलशेषु आ पुनानो अचिक्रदत् । मदेषु सर्वधा असि ।।'

(९-१८-७)

अमृत का नाम जगत् की सभी भाषाओं में मिलता है । पुरुष सूक्त में 'त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' वाक्य पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्व वाले गायत्री ब्रह्म या गायत्र पुरुष (पशु) को द्यावा (पूर्वार्द्ध) में उत्पन्न अमृत कहता है। यह अमर

११ — सोम और अमृत तो है ही, पर रस रूप का अमृत तो यही सोम रस है । इसका प्रमाण ऋ० वे० (९-१०९ ३) की ऋचा

"एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष, दिव्यः पीयूषः"

है । यह सोमामृत रस, शुक्र नाम से भी पुकारा गया है जैसा कि 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' इत्यादि पूर्व उद्धृत प्रमाणों से सिद्ध है, और अर्ष या ऋषियों (सप्तमहर्षियों या प्रत्येक सप्तक में प्रथम तत्त्वों से निकला है ('ऋषय' शीर्षक देखें) तथा यही दिव्य या द्यावा से उद्धृत पीयूष है, यही महः रूप चतुर्थ सप्तकीय तत्त्व है । 'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सधमप्रमादम्' इत्यादि मन्त्र के जिन ऋषियों को शरीर में सुनिहित बताया है वे इसी अमृत को बनाने वाले सप्तर्षि रूप तत्त्व हैं । इस सोमामृत के कलश या शरीर या दिव्यशरीर के सम्बन्ध में पुराणों में जो तीन कथायें मिलती हैं उनका आधार भी यही वैदिक दर्शन की शैली है। गरुड़ का अमृत कलश लाने की कथा का भौतिक आधार यह ऋचा है

"आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः॥"
(ऋ० वे० ४-२६-७)

इस मन्त्र की पुरन्धि स्त्री पुराणों की मोहिनी अवतार है और वैदिकों की गायत्री नामक सुपर्ण है जिसके आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों ने बार-बार घोषित करते हुए लिखा है "गायत्री श्येनो भूत्वा सोममाजहार" इत्यादि; गायत्री ब्रह्म में इसकी पूरी-पूरी कथायें दे दी गई हैं (वहीं देखें)। धन्वन्तरि के अमृत कलश लाने की कथा का आधार ओषधि रूप सोम या अमृत का भिषग् सोम से निर्माण बतलाने वाली वह प्रसिद्ध ऋचा है जिसे 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना' इत्यादि (ऋ० वे० ९-११२-३) देती है। धन्वन्तरि तो भिषग् सोम है, सर्वादेवता है, अमृत कलश एक दैवत्य इन्दु चन्द्र या सौम्य रूप ओषधि के रस से भरा है। एक दैवत्य सोममृत का भिषग् या धन्वन्तरि अत्रि ऋषि २४ वाँ तत्त्व है।

देवताओं या इन्द्र का सोमपान करना एक अद्भुत रहस्य को बतलाता है। इन्द्रादि देवता सोम रूप भौतिकात्मा की दैवी शक्ति रूप चन्द्र स्वरूपी अमृतमय भौतिक तत्त्व को धारण करते या दिव्य शरीर प्राप्त कर लेते हैं तो उनका सोमपान कहलाता है। पितरों का सोमपान भी इसी चन्द्र रूप भौतिकात्मा के दैवी रूप चन्द्रामृत का पान भी दिव्यशरीर को पा जाना है। यह रसमय तत्त्व है, अतः इसे सोमपान या रसपान या अमृतपान कहते हैं। यह सृष्टि प्रक्रिया में होता है। पर अतिसृष्टि या योग प्रक्रिया में योगीजन अपने प्राणों को तपा गला कर सोम ज्योति रस को मदिरा की तरह भपके से चुवाते हैं। अतः वह सुत या चुवाया हुआ या विष्णु ज्योति का अवतार कहलाता है जिसकी अनुभूति ही सोमपान (योग में) कहलाता है।

१२—सोमपान क्या है ?

कर्मकाण्ड में उक्त सोमरसीय अमृत कलश का अभिनय ब्राह्म कलश के रूप में या वैदिक दर्शन की प्रायः समस्त सरणियों के समाहार रूप में की जाती है। कलश ताँबे का या मिट्टी का या सुवर्ण का चतुर्थ सप्तक के धातु के अनुसार बनाया जाता है, उसमें गङ्गा जल पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत के गङ्गा यमुना के जल से आपूरित कर, फिर सारस्वत या पौष्ण या सौम्य जल डाला जाता है। उसमें वही सप्तर्षयः प्रतिहिता शरीरे' मन्त्र के सप्तर्षि तत्त्वों के प्रतीक रूप ब्रह्मा (कुश का बना कर) रखा जाता है। फिर सप्तमृदः, सप्तभूमी या सातों सप्तकों के प्रतीक में डाली जाती हैं, गोमय आदित्य रूप गायों के प्रतीक में; पयोदधिघृतमधुशर्करा, पञ्च-सागरों के प्रतीक में, पञ्चपल्लवा पञ्चवृक्षा के प्रतिनिधित्व में, सर्वोषधी हरिद्रा और पूगीफल, ओषधि रूप सोम के बदले, पञ्चरत्नानि, पञ्चवसुओं के लिए, सोना, हिरण्यगर्भ की सूचना के लिए, यव का प्रक्षेप, 'व्रीहियवौ' के लिए, दूर्वा धूर्वा या ध्रुवा, का प्रयोग इसके 'काण्डात् काण्डात्प्ररोहन्ती' के विकास को जतलाने के लिए,

१३—कर्मकाण्ड और सोम कलश

वस्त्र उसी घट या कलश के 'त्रिवृतं सप्ततन्तुं' की सरणि दिखाने के लिए, सप्तधान्य पूर्णपात्र, सर्वबीजत्व की सूचना के लिए, और गन्ध तथा अक्षत कलश रूप सोम के जलमय होने से अप्सराओं से विभूषित ब्रह्मचारिणियों के रूप में 'गन्ध इत्यत्सरसः' (अप्सरायें ब्रह्म को गन्ध नाम से पुकारती हैं, और अप्सरायें-अप्सुभवा अप्सरा हैं जैसे

'समुद्रिया अप्सरसो मनीषिरागमासीना अन्तरभि सोममक्षरत्'

(ऋ० वे० ९-७८-३)

ये अप्सरायें इस कलश को बुनती हैं, इनमें से उर्वशी से वशिष्ठागस्त्य का जन्म मित्रावरुण के रेतः के स्खलन से बतलाया गया है।

'यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परिजज्ञे वशिष्ठः'

(ऋ० वे० ७-३-१२)

इस कलश का नाम द्रोण कलश भी है जो सोमराजा का ही पात्र कहलाता है (श० प० ब्रा० १-५-२-७,४)। आदि में पृथिवी का स्पर्श करके उसकी स्थापना भौतिक दिव्य शरीर का सर्वप्रथम सत्ता में आना बतलाता है। 'उर्वी' माने ऊर्णोति वयति इति उर्वी और प्रथयतीति विस्तारयतीति पृथिवी होता है। ये सोम के ही प्रतीक हैं। तब कलश में कुश ब्रह्मा को स्थापित करते हुए यह बहुत प्रसिद्ध पर सर्वथा अनभीष्ट अर्थ में अवगत मन्त्र पढ़ा जाता है :—"आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्म वर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा। सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् योगक्षेमो नः कल्पन्ताम्" (यजुः २२-२२)। यह मन्त्र देखने में तो एक आशीर्वाद का सा मन्त्र लगता है और इस आशीः की प्रतिध्वनि इसमें है भी अवश्य। पर जिन वैदिक ऋषियों ने इस मन्त्र की रचना की है उन्होंने इस कलश के पूर्वोक्त प्रयुक्त वस्तुओं के प्रतीक रूप प्रायः सभी तत्त्वों का एकमात्र ऐसा समाहान किया है, और उनको ऐसे प्रचलित लौकिक शब्दों से सम्बोधित किया है कि उस पाठक या श्रोता को जो वैदिक दर्शन के पारिभाषिक पदावली से अनभिज्ञ है, यह केवल आशीर्वाद का सा मन्त्र लगता है। इस मन्त्र की पारिभाषिक शब्दावली की रहस्यात्मकता का दृश्य इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

उक्त मन्त्र के अर्थ के लिए अपनी कल्पना करने को कोई आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ श० प० ब्रा० १३-१-९ पूरे प्रपाठक में स्पष्टतया दे रखा है। इसमें लिखा है कि सबसे पहिले ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस रूप में उत्पन्न हुआ जिसके समर्थन में अथर्व (४-२-६) लिखता है 'ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दशास्यो दशशिरः'। यह ब्राह्मण प्रथम दशतत्त्व रूप दशास्य या दशशिर कहलाता है, इनमें जो विकास होता है वह वर्चस् रूप से होता है जिसे ब्रह्मवर्चस कहते हैं। इस विकास का आरम्भ बृहस्पति तत्त्व से होता है जैसे श० प० ब्रा० ११-४-३-३ में लिखा है,

१४—'आब्रह्मन्ब्राह्मणो' मन्त्र का अर्थ

"तस्या रग्निरन्नाद्यामादत्त सोमो राज्यं वरुणः साम्राज्यं, मित्रः क्षत्रं इन्द्रो बलं बृहस्पतिर्ब्रह्मवर्चसं सविता राष्ट्रं पूषा भगं सरस्वती पुष्टिं त्वष्टा रूपाणि"।

इसीलिए मन्त्र का अर्थ देते हुए लिखा है 'ब्राह्मण एव ब्रह्मवर्चसं दधाति, तस्मात्पुरा ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जज्ञे' कि पहिले उक्त प्रकार दशमुख दशशिर ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस रूप में उत्पन्न या विकसित हुआ, वह अब भी ऐसा ही हो। फिर 'आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्' के अर्थ में भी लिखा है कि पहिले (पुरा) राजन्य नामक तत्त्व शूर इषव्य (धन्वी) अतिगत व्याधी और महारथ रूप में उत्पन्न हुआ*। राष्ट्र दाता या गृहीता सविता है, सविता ही राष्ट्रपति है। इस राष्ट्र में क्षत्र नामक तत्त्व रुद्र सोम इन्द्र मित्र रूप में शौर्य महिमा से युक्त होकर धन्वी ओषधिमय (व्याधिहीन) और महारथी रूप में उपस्थित हुए, अब भी होवें। श० प० ब्रा० (११-४-३-३,१४) सविता को राष्ट्र या राष्ट्रपति बतलाता है। 'दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा' में दोग्ध्री धेनु तो वही 'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारस्तनाः स्वाहाकारः स्वधाकारो हन्तकारो वषट्कारश्च (बृह० उप०) और 'धेनुर्वागस्मानुपसुष्ठुतैतु' वाली तात्त्विक धेनु है; वही दोग्ध्री या दुहनशीला या विकासमाना हो, यही अभीष्ट है। क्योंकि अन्यत्र भी लिखा है "प्रथमा हव्युवास सा धेनुरभवत् यमे' (अथर्ववेद ३-२-१७)। इसी आशय को मन में रख कर इसीलिए लिखा है 'धेन्वामेव पयो दधाति तस्मात्पुरा धेनुर्दोग्ध्रीजज्ञे'। यह तत्त्वों का पयोदधि आयुत (मलाई) नवनीत घृत रूप में विकास बतलाती है (ऐ० ब्रा० १-१-३)। अनड्वान् या वृषभ नाम प्रायः प्रत्येक मुख्य देवता का है पर यहाँ पर वोढाऽनड्वान् अथर्व के दिए हुए पूरे दो सूक्तों के वृषभ या अनड्वान् हैं जिनके शीर्षक पद ये हैं

"सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रमुदाचरत्" (४-२-५)

"अनड्वान् दाधार पृथिवीमुतद्यामनड्वाँ दाधारोर्वन्तरिक्षम्" (४-३-१)

इस अनड्वान् में बोझा ढोने के बल की कामना की गई है, बल प्रतीकी तत्त्व इन्द्र है 'इन्द्रो बलं बलपतिः' (पूर्वोद्धृत)। अतः लिखा है 'अनडुह्येन बलं दधाति तस्मात्पुराऽनड्वान्वोढा जज्ञे'। सप्ति नाम सात सप्तकों के ४९ प्राणों का है जिन्हें अश्व या अश्वक नाम से पुकारते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक शरीरों में जो जव या वेग या सरणशीलता है वह बस इन्हीं प्राण रूप सप्तियों की है। अतः लिखा है "आशुः सप्तिरिति अश्व (प्राणाः) एव जवं दधाति तस्मात्पुरा अश्व (प्राणाः) सर्ता जज्ञे"। 'पुरन्धिर्योषा' पद की पुरन्धिः स्त्री, गायत्री है जिसका उल्लेख 'आदायश्येनो······अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः' (ऋ० वे० ४-२६-७) पूर्वोद्धृत ऋचा में आया है जिसको पुराणों ने मोहिनी के वाक् के अवतार

---

* अतिव्याधी नाम सोम ब्रह्म का है और राष्ट्र नाम आसन्दी का भी है (श० प० ब्रा० १२-८-३-६)

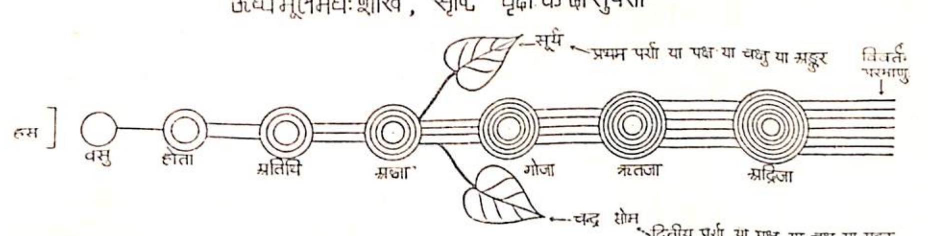
के रूप में ग्रहण किया है और जिसे यजुः (१४-५) 'कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः' नाम से भी पुकारता है। यह स्त्री गायत्री के समान सोम लाने वाली या रूप को धारण करने में सर्वप्रथम तथा प्रिया भावुका सुरूपिणी (मोहिनी) रूप में प्रस्तुत होने की आकांक्षा सूचित करता है; अतः लिखा है "पुरन्धिर्योषेति योषित्येव रूपं दधाति तस्मात् रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका"। ध्यान रहे सृष्टि के दो रूप है मूर्त और अमूर्त। अमूर्त तो रूपहीन आध्यात्मिक त्रिपादामृतीय सृष्टि है, मूर्त सृष्टि को 'रूप' नाम से पुकारते हैं। यह उत्तरार्द्धीय चन्द्र इन्दु से रूप को या भौतिक शरीर को पाती हैं जिसे सर्व प्रथम पुरन्धिगायत्री ने सोम प्राप्तिद्वारा सर्व प्रथम पाया। 'जिष्णु रथेष्ठा' की व्याख्या में लिखा है 'राजन्य एव जैत्र महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यो जिष्णुर्जज्ञे' कि राजन्य ही सर्वप्रथम जेता की महिमा को धारण करता है, अतः पहिले राजन्य ही जिष्णुरूप में उत्पन्न हुआ। यह राजन्य राजा सोम है 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' तथा 'सोमो राजा राजपतिः राज्यमस्मिन्यज्ञे दधातु' (११-४-३-३)। वही जिष्णु और दार्शनिक रथारूढ़ बने, दार्शनिक रथ देवरथ है; देवरथ देखें। 'सभेयो युवा' पद के अर्थ में 'एष वै सभेयो युवा यः प्रथमवयसी तस्मात्प्रथम वयसी स्त्रीणां प्रियो भावुकः' लिखा है। यह युवा चन्द्र नामक सौम्य भाग है जो प्रथमवयः में सबको प्रिय लगता है। 'आऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्' यजमान यज्ञपुरुष के वीर रूप प्राप्ति की कामना की गई है। यजमान सदा यज्ञपुरुष होता है जैसे 'पुरुषो वै यज्ञः' 'परोक्षं वै देवा परोक्षं यज्ञः' (श० प० ब्रा० ३-१-२-२५) 'यत्पुरुषेण हविषा देवा' 'अवध्नन्पुरुषं पशुम्' (पु० सू०)। यहाँ यही पुरुषपशु रूप वीर है। अतः लिखा है "यजमानस्यैव प्रजायां वीर्यं दधाति तस्मात्पुरा ईजानस्य वीरो जज्ञे" यह ईजान यजमान या विकासमान पुरुष ही है 'स्वयं यजस्व पृथिवीमुतद्याम्' ('यज्ञ' देखें)। 'निकामे निकामे नः पर्जन्योः वर्षतु' का भाव सीधा है, यह पर्जन्य इन्दु की बूँद-बूँद वृष्टि का पर्जन्य है 'सोमात्पर्जन्यः' (मुण्डक २)। सृष्टि का भौतिकावरणीय आत्मा समय-समय पर अभीष्ट काल में प्रस्तुत हो या पर्जन्य रूप में बरसे। 'फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्' पुनः ओषधि रूप सोम के फलवती बनने की आकांक्षा की गई है जिससे हम सबका आरोग्यता से 'योगः क्षेमः' कल्पन्ताम् या सिद्ध हो। अतः लिखा है 'यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते क्लृप्तः प्रजानां योग क्षेमो भवति'। श० प० ब्रा० की यह व्याख्या प्रस्तुत यज्ञ कर्ताओं की चर्चा नहीं करता, वरन् सर्वत्र 'पुरा जज्ञे' या सृष्टिकाल में उत्पन्न हुए कहती है। अतः यह आशीर्वादीय मन्त्र नहीं वरन् पूर्वयुग या योगानुभूति का विवरण देने वाला मन्त्र है जिसमें आशीः की प्रतिध्वनि अजागलस्तनवत् व्यर्थ में लटकी है, पर लोगों ने उसीको मुह में लगाकर सचमुच में दूध पीने का भयंकर ढोंग रच रखा है।

१५—योग और सुपर्ण

सृष्टि वृक्ष पर दार्शनिक सरणि में एकदैवत्य सोम का व्याख्यान सुपर्ण रूप में किया गया है। सुपर्ण दो हैं एक अश्नन् सुपर्ण दूसरा अनश्नन्। इन दोनों को 'सूर्या चन्द्रमसौ' कहते हैं। इन दोनों को दो सुपर्ण नाम से दो पक्षी रूप में भी वर्णित किया गया

है। पर सुपर्ण नाम सोम पक्ष में वृक्षवादी शब्द है, सुकोमल पर्ण या पत्ते का अर्थ रखता हैं। सृष्टि वृक्ष पूर्वार्द्ध में अभौतिक या आध्यात्मिक रूप में त्रिधा होते हुए भी 'एक' ही तने के रूप में उगता है। इसमें ये सुकोमल दो पत्ते तभी आते हैं जब यह उत्तरार्द्ध की प्रथम दो सीढ़ियों में उतरता है, क्योंकि सृष्टि वृक्ष उलटा है 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' या 'तिर्यग्विलश्चमस उर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्' इत्यादि। प्रथम सुपर्ण सूर्य है द्वितीय चन्द्र या सोम। जब सूर्य को 'चक्षुर्मित्रस्यवरुणस्याग्नेः' कहते हैं तब भी इस 'चक्षुः' शब्द का अर्थ सृष्टि वृक्ष की टहनी में पहिली आँख या अङ्कुर ही होता है। यह 'चक्षुः' नाम अब भी कली की प्रथमावस्था के रूप में 'आँख' या अङ्कुर कहलाता है। इससे भौतिक सृष्टि प्रथमवार दिखलाई पड़ी तब भी यह 'येन चक्ष्यते तच्चक्षुः' कहलाता है। इसमें त्रिपादामृत की पूर्ण ज्योति है अतः भौतिकात्मा को पूर्ण रूप से देखने समझने जानने में समर्थ है और इसलिए भी 'यः चक्षते स चक्षुः' कहलाता है "मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन् रमते।" (छान्दोग्य ८-१२)। दूसरी चक्षुः सोम है जो फूटी आँख सम है। उसी से सारी भौतिक सृष्टि होती है। इसके प्रामाणिक उद्धरण पहिले दिए जा चुके हैं। सूर्य का नाम पक्षी सुपर्णवाद में श्येन है और सविता रूप सोम का गरुत्मान्। ये दोनों प्रजापति भी कहलाते हैं। सोम का नाम घृतमत्कुलायी सुपर्ण भी है (ऋचे त्वा रुचे त्वा मन्त्र देखें)। ऋग्वेद में वृक्षवादी सृष्टि का संकेत निम्न ऋचा दो बार करती है, "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावाभूमिं निष्टतक्षुः॥" (१०-३१-७; १०-८१-४) 'ब्रह्म वनं ब्रह्म वृक्ष आस' (तै० ब्रा०)। इसका चित्र इस प्रकार दिया जाता है* यह वृक्षवाद, दूर्वावाद या धूर्वावाद या ध्रुववाद है (श० प०

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं, सृष्टि वृक्ष के दो सुपर्णा



ब्रा० ७-३-२-१२) में जिसकी व्याख्या

"काण्डात् काण्डात्प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च॥
या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्॥" (यजुः १३-२०,२१)

---

* श० प० ब्रा० ९-३-१-२४ में अरण्यों या बनों की संख्या सात या सात सप्तक दे रखी है, तथा ९-३-२-४ में इन अररण्य को अनूच्य वाक् नाम से पुकारा गया जिससे स्पष्ट है कि ये अररण्य या बन दर्शन के सात सप्तकों के सूचक हैं।

से की जाती है। श० प० ब्रा० (७-३-२-१४,१५) ने इसके अर्थ में लिखा है 'एषा पर्वणः पर्वणः प्ररोहति' 'सहस्रेण एषा प्रतनोति, सहस्रेण विरोहसि'। यह वृक्ष पर्व पर्व या तत्त्व तत्त्व में प्ररोहण करता है हजारों या अनन्त संख्या में विरोहण या पुनः पुनः जड़ें लगाकर नये नये रूप में उगता ही रहता है। सोम रूप वृक्ष का यह महा महत्त्व है कि इसका प्रत्येक अंग बीज है, प्रत्येक एक एक सबीज और स्वतन्त्र सत्ता में होते हुए भी सब सम्मिलित रूप से भी रहता है जैसे वृक्ष का फल तो बीज है ही पर उसकी एक एक जड़ या जड़ का टुकड़ा या प्रत्येक पत्ता या टहनी या टहनी का टुकड़ा सब बीज रूप हैं प्रत्येक से नवीन वृक्ष फिर उत्पन्न हो जाता है। यही बात सभी जीवों और जड़ों में भी है। प्रत्येक प्राणी अनन्त प्राण रूप प्राणियों का एक ठोस पिण्ड है। प्रत्येक स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों हैं। इनका वंश भी इसी काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती वाद से उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, पिछला परिवर्त्तित होता रहता है। जड़ रूप पितरों के परिवर्तन होने पर भी अगला सन्तान का पौधा मरता नहीं वह स्वतन्त्र विभु जीव है, जीवित रहता है।

अथर्व वेद ने (२-४-२५; ३-४-१८; ३-१-५; ३-३-१२; ३-४-१७; ३-५-२२; ३-६-३०; ४-३-९; ४-३-१०; ४-४-१७,१८,१९ में) क्रमशः उक्त सोम की व्याख्या प्रश्निपर्ण सहमाना, पर्णः, पर्णमणि, मणिः, शाला, सीता, हस्ति, समानी-प्रपा, अञ्जन, शंख, अपामार्ग और कृत्या के नाम से नाना रूपों में दी है। इनमें पर्णः मणिः और शंखः बहुत प्रख्यात तथा अति रुचिर हैं। प्रश्निपर्णी तो स्फटिक रूप पर्ण है। इन सबका वर्णन लौकिक ओषधियों के रूप में करके सोम के रहस्य का वर्णन किया है। यहाँ पर वस्तुवादी श्लेष है। ऋग्वेद ने अपने ढंग का इससे अधिक चमत्कारक श्लेष दिया है। सुपर्ण माने नव-नव पल्लव तथा दो पक्ष का पक्षी। वेदों में कई स्थलों में 'शं द्विपदे चतुष्पदे' पद एक साथ आता है वहाँ इसी सुपर्ण या पक्षी का जो द्विपद है, पर चतुष्पाद् ब्रह्म का विवेचन देते हुए वर्णन देता है। मनुष्य के मस्तक में, हाथी के शिर में, और सर्प के मूर्धन्य में, जिस मणि की चर्चा पुराणों में आती है वह यही सोम मणि का आख्यान देते हैं, मनुष्य, हाथी और सर्प ये सब चतुर्थ सप्तक के, या सोम सप्तक के नाम हैं जिसे नृषद् अब्जा या समुद्र भी कहते हैं। 'शम्' भी इसी का नाम है। इसी सोम रूप समुद्र में शम् रूप (शन्नो देवीः····आपो भवन्तु पीतये) जल है, और उसी शं रूप जल से उत्पन्न शंख नामक चक्र है, शंखासुर इसकी आसुरी प्रवृत्ति या आसुरी भौतिकात्मा है, अतः उसे पुराणों में कहीं शंखासुर कहते हैं, कहीं सर्प व्याख्या में वृत्रासुर आदि भी। चन्द्रमा और शंख सोम के सौम्य भाग हैं, शंखासुर वृत्रासुर आसुर्य। पूजा-पाठ में सर्वप्रथम 'शंख ध्वनि' करना इसी सोम ब्रह्म की प्रथम घोषणा करता हैं कि इस शंख रूप सोम से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड विकसित हुआ। इसीलिए देवताओं के हाथ में इस शंख को अवश्य माना जाता है। चक्र तो अष्टचक्रों का (सात सप्तक और ब्रह्म), अखिल ब्रह्माण्ड रूप शरीर के "अष्टचक्रा नवद्वारा देवानापूरयोध्या" के आठ चक्रों के एक सामूहिक रूप का एक चक्र है। अखिल,

१६—अथर्ववेद में सोम व्याख्या

ब्रह्माण्ड के, और प्रत्येक के दिव्य शरीर का मूल स्वरूप कुछ इसी शंख या चक्र के आकार का समझा जाता है। सोम तो सबका दिव्य शरीर है। यह विभु व्यापक प्रमाण परिमाण से हीन है। इसे आजकल के कुछ वैज्ञानिक 'ऐस्ट्रल बॉडी' कहने लगे हैं। पारमाणविक भौतिकात्मा का परिमाण 'एक सेर चार तोला' के लगभग तोला गया है क्योंकि तुरन्त मृत्यु के वाद इतना भार कम हो जाता है। सोम तथा त्रिपदामृत सबके सब विभुः व्यापक होने से नापे तौले ही नहीं जा सकते, भौतिक शास्त्र की गति इन विषयों में नहीं चल सकती। पञ्चात्मायें तो अखिल ब्रह्माण्ड की अणोरणीयान् महतोमहीयान् विभु व्यापक आत्मायें हैं।

१७—सोम सम्बन्धी श्रुतियाँ

सोम की व्याख्या अनेक ब्राह्मणों ने अनेक प्रकार से दे रखी है जैसे—सोम नाम सत्य और श्री का है (श० प० ५-१-२-१०); यही उसका राज्य है (श० प० ११-४-३-३)। यह गय या प्राण रूप में चन्द्रमा बनकर सर्व लोक संचारी होता है (गो० पू० ५-१४)। पितृ लोक ही सोम है और सोम पितृ दैवत्य है (श० प० २-४-२-१२, कौ० १६-५)। संवत्सर सोम ही पितृमान् है (तै० १-६-८-२)। ऋतुयें सोम के भाई हैं (ऐ० १-१३), सोम प्रजापति है, (श० प० ५-१-३-७), यह श्येन है (गो० पू० ५-१२), यह सर्वा देवता वाचक है। सोम वैष्णव राजा है, अप्सरायें इसकी प्रजा हैं (श० प० १३-४-३-८)। विष्णु ही सोम है (श० प० ३-३-४-२१, ३-६-३-१९)। सोम पवमान है (श० प० २-२-३-२२)। वायु रूप में यह सम्राट् है (गो० पू० ५-१३) क्योंकि यह सर्वा देवता है (ऐ० २-३, श० प० १-६-३-२१)। सोम रात्रि है (श० प० ३-४-४-१५) सोम संवृत् है (गो० उ० २-२४)। यह चतुर्होता और पर्ण भी है (तै० २-३-१-१; श० प० ६-५-१-१); पलाश भी है (कौ० २-२)। दूर्वा और न्यग्रोध भी सोम है (ऐ० ७-३१, श० प० ४-५-१०-५)। सोम प्रत्यक्ष पशु है (श० प० ५-१-३-७; कौ० १२-६, तै० १-४-७-६)। सोम दधि है (कौ० ८-९)। सोम स्वर है (गो० पू० ५-१४)। सोम द्यावा पृथिवी का गर्भ है (ऐ० १-२६)। सोम भ्राट् है (श० प० ३-२-४-९)

सोम यश है (ऐ० १-१३, श० प० ४-२-४-९)। सोम अन्न है (कौ० ९-६, श० प० ३-३-४-२८)। यह अन्न चन्द्रमा है (श० प० १-६-४-५), यही देवताओं की हवि है 'हविर्वै देवानां सोमः' (श० प० ३-५-३-२)। सोम प्राण है वाजपेय है (श० प० ७-३-१-२, तै० १-३-२-९)। सोम रेतः है (कौ० १३-७ तै० २-७-४-१, और श० ३-३-२-१)। सोम ही वृषण अश्व का रेत है (तै० ३-९-५-५)। सोम के अंशु कई हैं जैसे 'प्रत्न, तृप्त, ब्रीहिवृष, शुक्र, पयः (जीवांशु) पशु हिरण्य ऋगंशु यजुरंशु सामांशु (कुल दस) (कौ० १३-४)। सोम के अभिषवण से जो तनु उतरी उसे तनूनपात् कहते हैं (तै १-४-७-४,५)

सोम का नाम वभ्रु भी है (यजुः १२-७५), गन्ध भी है, रेत भी (ताड्य १-२-३-९; श० प० ७-२-४-२६; ७-३-१-३)। सोम सब -तत्त्व हैं श० प० ५-५-४-

११)। सोम अन्तरिक्ष दैवत्य है (गो० उ० २-४)। सोम गिरिवासी है (श० प० ३-३-४-७), इसका नक्षत्र मृगशीर्षा है (तै० ३-१-१-२)। इसका चरु श्यामाक है (तै० १-६-१-११)। सोम वीरुधों (लताओं) का पति है (तै० ३-११-४-१)। सोम अकृष्ट-पच्या और ओषधिओं का राजा और अधिराजा है (तै० १-६-१-११; गो० उ० १-१७; कौ० ४-१२), यह ब्राह्मणों का सखा सभासाह और राजा है (ऋ० वे० १०-७१-१० ऐ० १-१३)। सोम ब्राह्मण है (ताड्य २३-१६-५)। इसके वस्त्र शोभन हैं (तै० १-६-१-११)।

सोम राजा की पत्नी दीक्षा है, सूर्य ने अपनी दुहिता सूर्या सोम को दी (गो० उ० २-९ ऐ० ४-७)। सोम पुरुष है, सुर स्त्री है (तै० १-३-३-४)। सोम पयः या आपः है (श० प० १२-७-३-१३, ७-१-१-२२)। वरुण ने जब सोम पिया तो वह अश्व बन गया (श० प० ४-२-१-११)। सोम देवता रूप में पुरुष है (तै० १-७-८-३)। ओषधियों का नाम सोमराज्ञी है (मं० २-८-३-४)। सोम वैराज और अनुष्टुभीय है (कौ ९-६, श० प० ३-३-२-१७)। जो आर्द्र हैं वही सौम्य है (श० प० ३-२-३-१०)। सोम की सब दिशायें हैं (ऐ० १-८, श० ३-२-३-१७, तै० ३-११-५-२)।

चन्द्र सविता और हिरण्य है (जै० उ० ४-२७-१३; तै० १-७-६-३ श० प० ३-३-३-६)। चन्द्रमा आपः हैं (तै० १-७-६-३)। सोम राजा चन्द्रमा है (कौ० १६-५)। वृत्र ही चन्द्रमा है (श० प० १-६-४-१३,१८)। चन्द्रमा मन्त्री और वरेण्य है (जै० उ० ४-२८-१)। चन्द्रमा पञ्चदश या २६ वाँ तत्त्व (पक्षान्त) है (श० प० ८-४-१-१०)। षोडश-कल (ब्रह्म) चन्द्रमा ही है (ष० ४-६)। चन्द्रमा असु है (तै० ३-९-५-१)। नक्षत्र चन्द्रमा में श्रित है, चन्द्रमा आदित्य में स्थित है (तै० ३-११-१-१२)। जो मन है वही चन्द्रमा है (तै० ३-१०-८-५, जै० उ० २-२-२, श० प० १०-३-३-७)। चन्द्रमा अन्न है (श० ८-३-३-११, जै० उ० १-३-४)। चन्द्रमा प्राण है (जै० उ० ४-२२-११)। चन्द्रमा कृष्ण ब्रह्म है (यजुः २३-१३ श० प० १३-२-७-७)। चन्द्रमा द्वार पिधान है, रात्रि है उड़ान है (श० प० ११-१-१-१; १२-४-५-७ जै० उ० ४-२२-२)। चन्द्रमा अमावास्या में उदित होता है (२६ वें तत्त्व में) (श० प० १-६-४-१८, १९२-८-२८) और दक्षिण में है (ष० २-४)। चन्द्रमा तो मनुष्य लोक है (जै० उ० २-१३-१२)। चन्द्रमा वाक् है (जै० उ० ३-१३-१२) चन्द्रमा का नाम हन्त (कार) है सूर्य का नाम ॐ है (जै० उ० ३-६-२)। चण्द्रमा हिंकार और प्रतिहार है यज्ञियायज्ञिय है (जै० उ० १-२-४-५,९; श० प० २-१-२-३९)। चन्द्रमा भर्ग और भृगु वंशी है (जै० उ० ४-२८-२; गो० पू० २-८), वायु आपः भी भृगु वंशी है (वहीं)। चन्द्रमा सब कुछ है 'चन्द्रमा एव सर्वम्' (गो० पू० ५-१५)। चन्द्रमा उदान है (जै० उ० ४-२२-९)

१८—चन्द्रमा पर श्रुतियाँ

सोमलता की उत्पत्ति मूजवान् या मौजवत पर्वत में बतलाई गई है। यह सम्भवतः वह पर्वत माला है जहाँ लम्बी रेशे वाली घास—जिसकी रस्सियाँ बनती हैं

और जिसको पर्वतीय (कुमाऊँ) देशों में बाफिला भाफिला
१९—सोमलता नामों से पुकारा जाता है जो लगभग एक गज से दो गज तक
लम्बी रेशे या केश जैसी घास होती है—उत्पन्न होती है।

मूजवान् की व्युत्पत्ति में यास्क ने लिखा है "मौजवतो मूजवति जातो मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत् इषीकया इषीकेशते गतिकर्मण इयमपीतरेपीकै तस्मा-देव ।।" (निरुक्त ९-१-८)। मैदानों में मूज नाम की घास इसी घास की एक जाति है जिससे रस्सियाँ और चारपाइयाँ बुनी जाती हैं। मध्य एशिया में एक जड़ी बूटी पाई जाती है जिसमें अनेक औषधियों के गुण हैं। वह अमृत सम है। कुछ लोग उसी को सोमलता समझते हैं।

सोमलता, एक महायोगी के कथनानुसार लगभग एक बालिस्त भर ऊँची, चने के से पत्तियों वाली और रंग में लाल (पत्ती वाली) लता होती है। यह बहुत नशीली होती है, योगियों के योगाभ्यास में बड़ी सहायक बतलाई जाती है। इसकी पत्तियों का रस निचोड़ कर ताँबे के धातु के ऊपर डाला जाय तो ताँबा सोने में परिणत हो जाता है।

तक्मान् जिसका वर्णन अथर्व ने दिया है, जिसका उद्भव मूजवान् अंग मगध और गान्धार देशों में बतलाया गया है, सोमलता के न मिलने पर उसके स्थान में
प्रयोग में लाई जाती रही। अथर्ववेद के युग में यह लता उक्त
२०—तक्मा देशों में सुलभ थी। इसकी ऊँचाई सोमलसा से कुछ दो चार
अंगुल अधिक, सपड़ी घास के समान पत्तियाँ और पत्तियों
का रंग पीला बतलाया गया है। यह भी नशीली ही वस्तु है। योगियों को योग में सहायक बताई गई है। इसका प्रयोग अथर्व के अनुसार शीतकाल में शीत को दूर करने तथा उष्णकाल में उष्णता दूर भगाने के लिए शरीर में सदा समतल वातावरण रखने के लिए किया जाता रहा। अब इन दोनों लताओं की उपलब्धि नहीं होती। अतः लोग इनके अभाव में विजया (भंग) की ठंडाई घोट कर केवल नशा मात्र करते हैं, इसका सम्बन्ध योग से स्वयं स्वभावतः हट गया है।

उक्त दोनों के प्रयोग के पश्चात् 'खेचरी मुद्रा' का प्रयोग किया जाता रहा जिसमें जिह्वा के मुखाग्रभाग को तालु के मध्यबिन्दु से सटा कर, शरीर के मौलिक
रस को मेरुदण्ड से चूस कर हृदय या मस्तिष्क तक लगातार
२१—खेचरी मुद्रा पहुँचाया जाता रहा जिस क्रिया से अखण्ड समाधि लग कर
वह त्रिकालदर्शी स्वयं सिद्ध हो जाता रहा।

मूजवान् पर्वत का जैसा सम्बन्ध सोम से है वैसा ही रुद्र से भी है। दोनों सर्वा देवता हैं। अतः दोनों की सरणियाँ एक सी हैं। रुद्र से प्रार्थना की गई है कि वसन्त ऋतु (प्रथम सप्तक) से तुम मूजवान् पर्वत से निकल आवो, धनुष बाण तान कर, कृत्ति वस्त्र पहिन कर (कृत्तिका में अग्न्याधान माने कृत्तिका आवास करना) वही पिता के वाम है स्वर्गवास है, अहि रूप को धारण कर निकल आओ !! जैसे "एतत्ते

रुद्रावसन्तेन परो मूजवतोतीहि। अवततधन्वा पिनाकवसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥ (यजुः ३-६१)

योगियों की योग दृष्टि के सूर्य और सोम दो ही चक्षु हैं। चन्द्र दृष्टि वाला योगी धूमिल दृष्टि का सीमित क्षेत्र का देखने वाला होता है पर एक के पूरे जीवन और इस गोल की सब बातें जान सकता है। सूर्य दृष्टि वाले योगी को अखिल ब्रह्माण्ड हस्तामलकवत् दृश्यमान होता है, त्रिकाल-सर्वकाल दर्शी होता है। इसके आगे अत्रि की चक्षु रूप ॐ ज्योति है उसे पाकर कोई भी योगी ४५ दिन से अधिक नहीं जी सकता। वह मोक्ष मार्ग को जाता है। गीता का 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' श्लोक इसी मोक्ष योगी अत्रि चक्षु के ॐ कारी दृष्टि की बात कहता है।

२२—योगियों में सूर्य और सोम

———

अध्याय ७०

एकः सुपर्णः, त्रिसुपर्णम् और सप्तसुपर्णाः

श्येन तार्क्ष्य, मरुत्मान् ("गायत्री सुपर्णोभूत्वा सोममाजहार")

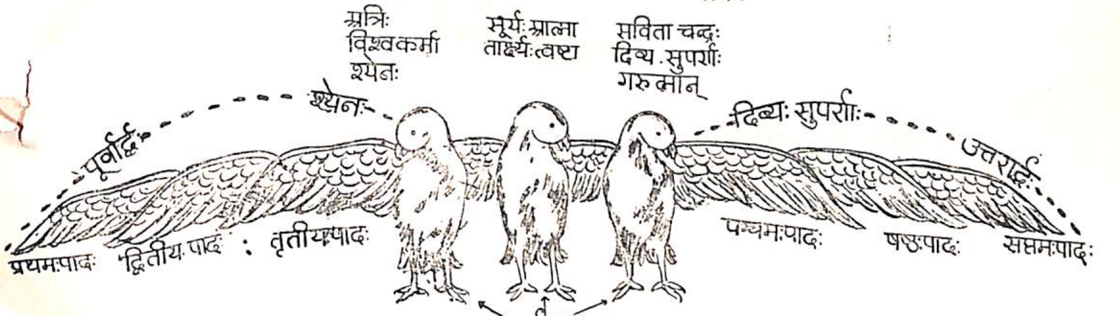
सुपर्ण या सुपर्णा की कल्पना छन्दों से की गई है। गायत्री ही सुपर्ण है। त्रिष्टुप् जगती आदि तो सोम नहीं ला सकीं। अतः सुपर्ण नहीं बन सकीं। छदाः छन्दाः पक्षा येषां तानि छन्दांसि सुपर्णाः। छन्दतो वाक् (गायत्री) से उत्पन्न हुए। यह लिखा भो है 'वाचः प्रजातानि छन्दांसि' (श० प० ३-४-२-१)। गीता ने भी लिखा है 'छन्दांसि यस्य पर्णानि'।

१—सुपर्ण या सुपर्णा

इनमें से सोम सुपर्ण की व्याख्या 'सोम' शीर्षक के अन्त में सचित्र दी जा चुकी है। वह वेदवृक्ष या सृष्टिवृक्ष के सुपर्ण की व्याख्या देता है। सुपर्ण शब्द जब पक्षी वाचक होता है तब वह हिरण्यगर्भ नामक सृष्टि के पूर्वार्द्धीय अंडे से उत्पन्न वाक् या गायत्री नामक पक्षी रूप भौतिक सृष्टि (उत्तरार्द्धीय) की व्याख्या देता है। इस पक्षी के तीन क्रमिक विकासों को तीन पृथक् नामों से पुकारा गया है। २४ वाँ अत्रि नामक तत्त्व श्येन है, चतुर्थ सप्तक के अन्य सात तत्त्वों को गृद्ध कहा गया है 'श्येनो गृद्धाणां'। २४ वें तत्त्व के पक्षी वाचक सुपर्ण का नाम तार्क्ष्य (त्वष्टा) है (ऋ० वे० १०-१७१-१,३)। श० प० ब्रा० ने स्पष्ट कहा है 'गरुत्मानेष सविता' (१०-२-२-४)। सविता सोम का ही प्रतिनिधि है। अतः २६ वें तत्त्व सोम को गरुत्मान् सुपर्ण के नाम से पुकारा गया है, वेदों के विः, कपिञ्जल, शकुनि, आदि पक्षी इसी सुपर्ण के प्रतिनिधि हैं। भुज्यु नामक असुर भी सुपर्ण ही है, यह यजुर्वेद और श० प० ब्रा० ने स्पष्टतः कहा है।

त्रिसुपर्णम्

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधिविष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्टा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥
अथर्व- १८- ४-१-४



"द्वासुपर्णासयुजा सखायः" के दो सुपर्ण, एक ही के दो रूप हैं, दैवी तत्त्व का सुपर्ण सोम, आसुरी तत्त्व का सुपर्ण भुज्यु या वृत्र। इसीलिए

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुमथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्"

ऋचा में सुपर्ण और गरुत्मान् का भेद दिखलाने के लिए इनका नाम पृथक् पृथक् दिया। सोम वाची सुपर्ण को 'दिव्यः सुपर्णः' इस ऋचा में भी कहा है, अन्यत्र भी जैसे 'दिव्यः सुपर्णोऽव चक्ष सोम' इत्यादि (ऋ० वे० ९-९७-३३) इत्यादि। 'त्रिसुपर्ण' नाम सबसे पहिले अथर्ववेद १८-४-१-४ में निम्न मन्त्र द्वारा मिलता है

"त्रयः सुपर्णा उपरस्यमायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्टा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥"

इसके पश्चात् इनका त्रिसुपर्ण नाम नारायणोपनिषद् ने ३९, ४० में इन्हीं तीनों की चर्चा करते हुए लिखा है। श० प० ब्रा० ने सूर्य और चन्द्रमा (२५ वें और २६ वें तत्त्वों) को 'सुपर्णौ' कहा है 'सुपर्णौ सूर्या चन्द्रमसौ' (७-१-२-७)। गायत्री ब्रह्म देखें (१०-२-२-४)।

श्येन के सम्बन्ध में इस प्रकार की ऋचायें मिलती हैं :—

(१) उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥
(ऋ० वे० ४-३८-५)

सङ्ग्रामों में पशु रूप झुण्ड के समान ऊपर से नीचे (पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध) को उतरते हुए जसुरि या भूखे के समान, श्येन को वस्त्रचोर चोर के समान कोसते हैं, यद्यपि वह प्रशंसनीय है (श्रवश्चाच्छा)।

(२) भरद्यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि।
तूयं ययौ मधुना सोम्यनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र॥

(३) ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम्।
भरद्वाद्दहाणो देवावान्दिनो अमुष्मादुत्तरादाय॥

(४) आदाय श्येनोऽभरत्सोमं सहस्रं सवां अयुतञ्च साकम्।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः॥
(ऋ० वे० ४-२७-५,६,७)

इन मन्त्रों में भी श्येन को दिव, उत्तरादादाय और परावत शब्दों द्वारा उत्तरार्द्ध का पक्षी कहा है। इसका नाम श्येन तो कहा ही है पर साथ में 'शकुन' नाम से भी पुकारा है, यही सोम को असंख्य मात्रा में लाया जिसको (अमूर) अमृत सोम से युक्त पुरन्धि या मोहिनी अवतार की स्त्री ने (मूढ) शत्रु रूप असुरों को नष्ट कर दिया वे मर्त्यधर्मा रह गये, क्योंकि वे मद में मस्त हो गये उन्हें मर्त्यधर्मा नामक सुरा धोखे से दे दी गई। यह गायत्री रूप श्येन सुपर्ण है। इस श्येन को सुपर्ण का पिता

बतलाया है जैसे 'यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्। शतचक्रं यो ह्यो वर्तनिः (ऋ० वे० १०-१४४-४)

त्यमू षु वाजिनं देव जूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
२—तार्क्ष्य अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥
सद्याश्चिद्यः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रशा शतशा अस्य रंहि न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम् ॥
(ऋ० वे० १०-१७८-१,६)

अर्थ—हम उस दिव्य शरीरी दैवी शक्ति सम्पन्न, अरिष्टनेमि युद्धविजेता तीव्रगामी, रथों को (भौतिकात्माओं को) तारने वाले तार्क्ष्य का आह्वान कल्याण के लिए करते हैं॥ जिसने शीघ्र ही अपने जल से (चतुर्थ सप्तकीय) जलों को सूर्य की किरणों की तरह व्याप्तिरूप में बिछा डाला, जिसका वेग सौ हजार गुना है, जिसकी गति को युवतियों के कटाक्षवाण की तरह रोका ही नहीं जा सकता, उस तार्क्ष्य की प्रार्थना करते हैं। यह सूर्य रूप सुपर्ण है।

सुपर्णोमरुत्मान्—(यजुः १७-७२) 'सुपर्णोऽसि मरुत्मान्' (श० प० ब्रा० ९-२-३-३४)। यह सविता या चन्द्र रूप सुपर्ण है।

"चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
३—सुपर्ण-मरुत्मान् तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥
एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्॥
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादशः॥"
(ऋ० वे० १०-११४-३,४,५)

अर्थ—एक ऐसी स्त्री या युवती है जिसकी चार जटा या योनियाँ (भग) है (कपर्दा=कपर्दिका=कौड़ी या जटा)। वह घृत योनि है और उत्तम वस्त्र रूप दिव्य शरीरों को बुनती रहती है, उसमें सुपर्ण वृषण रूप में रहते हैं उसी से देवता अपना अपना भाग पाते हैं अर्थात् प्रत्येक देवता दिव्य शरीर रूप भौतिक शरीर का भाग प्राप्त करता है॥ सुपर्ण तो एक ही है जब वह (चतुर्थ सप्तकीय जलों के) समुद्र में प्रवेश कर गया, तब उसने अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का निर्माण किया। जब वह सुपक्वरूप से पुष्ट होकर तैयार हो गया, अण्डे को फोड़कर बाहर निकल आया तो माता (भौतिक वाग्ब्रह्माणी) उसे अपनी जिह्वा से चाटती है (प्यार से) और सुपर्ण भी अपनी माता को प्यार से चाटता है॥ यद्यपि वैदिक विद्वानों ने सुपर्ण को नाना प्रकार से वर्णित किया है, नान रूपों में विभाजित तथा संज्ञित किया है परन्तु सुपर्ण तो एक ही है, उसी एक की बहुधा कल्पना (समझाने के लिए) की गई है। विकासों को दिखलाने के लिए सोम रूप सुपर्ण को १२ ग्रहों के रूप में वर्णित किया गया है, ये बारह ग्रह केवल एक सुपर्ण सोम का ही वर्णन देते हैं इत्यादि। १०-११४-६,७ भी

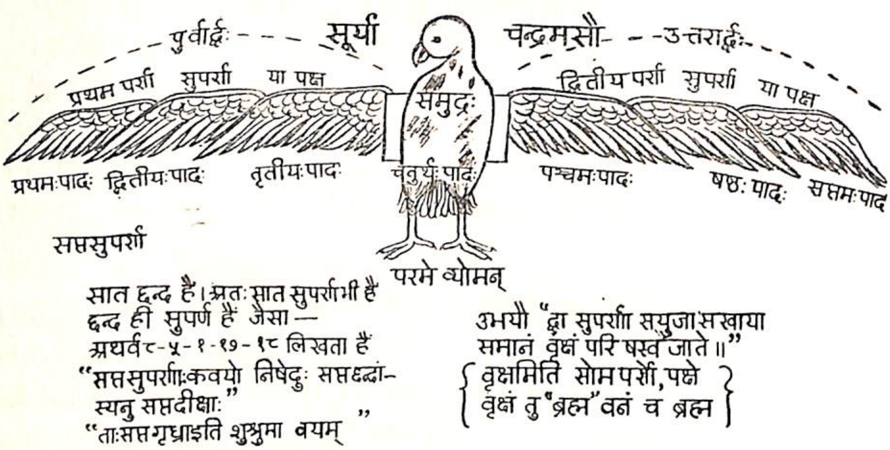
देखें जिसमें कहा गया है कि कोई इसे १४ प्रकार से वर्णित करते हैं कोई सात प्रकार से, इसकी गाथा को कोई पूरी नहीं गा सकता इत्यादि। उत्तरार्द्धीय सुपर्ण को श्येन का पुत्र तथा परावत या दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध का तत्त्व बतलाया है जैसे

"यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्।
शतचक्रं यो ह्यो वर्तनिः ॥"

(ऋ० वे० १०-१४४-४)

इन सुपर्णों की कथा गायत्री ब्रह्म में देखें। वास्तव में त्रिसुपर्ण का एक ही सुपर्ण है, पूर्वार्द्ध एक पर्ण या पक्ष है, उत्तरार्द्ध द्वितीय पर्ण या पक्ष, येही 'दो द्वा सुपर्णा' हैं। मध्य में सूर्य आत्मा रूप शरीर है। इसी को 'चत्वारि आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि' कहा गया है। यही चतुष्पाद्‌ब्रह्म है। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन प्रत्येक की विशेषता बतलाने की दृष्टि से किया गया है। इसका चित्र पूर्व चित्र के समान ही होगा। यह एक सुपर्ण संवत्सर नामक महा सुपर्ण है, और संवत्सर रूप गायत्री ही महासुपर्ण है (श० प० १२-२-३-४)

मध्ये एकः सुपर्णः, विषुवान्



अध्याय ७१

वृत्र

वैदिक साहित्य में वृत्र एक ऐसी पहेली है जिसको अब तक के भाष्य टीका आलोचनाकार सुलझाने में सर्वतः असमर्थ रहे हैं। उपनिषद्कारों ने इस वृत्र की कहीं भी कोई चर्चा नहीं कर दी है जिससे यह पहेली अधिक पेचीदा हो गई है। उपनिषद्कारों ने ऐसा क्यों किया ? इसका एक कारण समझ में आता है। वृत्र नाम ऐतिहासिक प्रतीक होता है*। इसे यास्क ने "त्वाष्ट्रो असुरः इति ऐतिहासिकाः" कहा है। ऐतिहासिक व्यक्ति को दर्शन के तत्त्वों में सम्मिलित करना उन्हें अच्छा न लगा, उन्होंने इसके बदले अन्य प्राचीन वैदिक नामों से ही काम चला लिया। वृत्र यदि ऐतिहासिक व्यक्ति है तो वह असुर या शूद्र जाति का आर्य था। असुर या शूद्र जाति आर्यों की ही जाति थी इसके प्रमाण 'दासं वर्णं मधरं गुहाकः' (ऋ० वे० २-१२-२)

१—वृत्र और उसका इतिहास

"यया दासान्यार्याणि वृत्राकरो वज्रि सुतुका नाहुषाणि ॥"

(ऋ० वे० ६-२२-१०)

"साह्याम दासमार्यं त्वया युजा" (ऋ० वे० १०-८-४-१) और

'हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती ।
हतो विश्वा अप द्विषः ॥"

(ऋ० वे० ६-६०-६)

"अयमेमि विचाक शद्विचिन्वन्दासमार्यम्"

(ऋ० वे० १०-८६-१९)

इत्यादि वेद मन्त्र स्वयं है। वैसे वेदों में असुर नाम देवताओं का है 'महद्देवा नामसुरत्वमेकम्' सभी देवताओं का है। अतः इन्द्रवृत्र युद्ध से आर्य अनार्य युद्ध की कल्पना निराधार हो जाती है, प्रत्युत आर्यों में ही वशिष्ठ विश्वामित्र की तरह दो प्रबल दलों का स्थायी रूप से रहना अधिक सुसंगत मत प्रतीत होता है‡। वैदिकों ने वृत्र का वर्णन केवल असुरत्व और दासत्व को प्रधानता देकर किया है। उसका युद्ध तात्त्विक रूप में अधिक रूप में किया गया है। ऐतिहासिक तथ्य केवल तात्त्विक रहस्य के आधार मात्र के लिए स्वीकृत किया गया है। और तात्त्विक इन्द्र वृत्र का तत्त्व रूप में कभी कहीं भी युद्ध नहीं हुआ, यह केवल तत्त्वों की विकास क्रम वर्णना को रोचक आकर्षक और सजीव सा बनने के लिए किया गया है। अतः ऋग्वेद ने स्वयं इस बात का स्पष्टीकरण देने के लिए इन्द्र व्याख्या में दिए गये उद्धरणों को लिखा है, शतपथ ब्राह्मण ने उसीको दुहरा कर इसकी पुष्टि भी कर दी है। इतिहास में किसी इन्द्र नामक व्यक्ति का वृत्र नामक व्यक्ति से युद्ध अवश्य हुआ होगा (इन्द्र देखें)।

वृत्र तत्त्व – वृत्र के बारे में यास्क ने लिखा है "तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः अपां च ज्योतिषश्च मिश्री भाव कर्मणो वर्ष कर्म जायते… अहि वत्तु खलु मन्त्र वर्णा ब्राह्मण वादाश्च विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिरे आपः।" (निरुक्त २-५-१६)

निरुक्तकारों को वैदिक पर्जन्य शब्द ने बहुत बड़ा धोखा दिया है। वेदों और ब्राह्मण उपनिषदों में पर्जन्य शब्द पारिभाषिक है, तात्त्विक है और रहस्यमय है तथा दार्शनिक और वैज्ञानिक व्याख्या का मूल स्रोत है। इन्होंने पर्जन्य के पर्यायवाची 'मेघ' शब्द द्वारा वृत्र की व्याख्या की है।

अतः इस सम्बन्ध में नये लोगों को नाना मतों—आँधी, उषा, सूर्य मेघ, तारक पूजा, सूर्यचन्द्रोपासना, ऋतूपासना, वीरपूजा, आदि–की स्थापना करने का दुःसाहस भी प्रदान किया। पर तथ्य कुछ और ही है। यह बात निम्नलिखित विशिष्ट विश्लेषण से स्वयं स्पष्ट हो जावेगी।

सबसे पहिले यह जानना आवश्यक है कि ऐतिहासिक वृत्र चाहे कोई भी व्यक्ति हुआ करे, वह रहस्य का आधार मात्र है कोई भी प्रतिद्वन्दी हो सकता है।

२—वृत्र की गाथा का रहस्य

पर इस वृत्र का आक्षेप जिस रहस्यमय तत्त्व के लिए किया गया है वह वैदिक दर्शन का एक सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अभौतिक तत्त्वों में जितना महत्त्व शुद्ध बुद्ध ब्रह्म या आदि ब्रह्म का है उतना ही या उससे अधिक महत्त्व है इस वृत्र संकेतित भौतिक सृष्टि के प्रथम अणु के अभ्युदय रूप तत्त्व का—क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड भौतिक है, उसका मूल स्रोत, प्रथम स्रोत यही वृत्र संकेतित सत्, सोम, आसुर्य या वृत्र नामक भौतिक अणु है।

वेदों या ब्राह्मणों या उपनिषदों में जिन नामों कथाओं या गाथाओं को रहस्य का आधार बनाया गया है उनका वास्तविक वैदिक दर्शन से कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। देवताओं के नाम तत्त्वों के नाम हैं। तत्त्वों की व्याख्या देवताओं की गाथाओं या कथाओं से की गई है। इन गाथाओं कथाओं या नामों का दर्शन के वास्तविक विवरण से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि ये उस-उस तत्त्व की विशिष्टता का एक वैदिक व्यावहारिक वातावरणीय गाथा रूप नाम रूप खोल या पर्दा पहिने हुए हैं। जैसे इन्द्र वृत्र युद्ध का वर्णन वेदों में हजारों सूक्तों और हजारों ब्राह्मणों में मिलता है। पर वेद मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों ने बड़ी कृपा करके यह साफ लिख दिया है कि तत्त्व रूप में इन दोनों का कभी भी युद्ध हुआ ही नहीं। जो ऐसा समझते हैं वे गलती में हैं (इन्द्र देखें)। इसी प्रकार सोम को जो मदिरा या ओषधि समझते हैं उनकी भी हँसी उड़ाई है (सोम देखें)। इसी प्रकार वसु रुद्र आदित्य विष्णु गायत्री आदि नाम भी केवल वैदिक दर्शन के ढाँचे को गाथा रूप में, कथा रूप में, काव्य रूप में, कल्पना रूप में, वर्णन करने के लिए अलीक साधन या रहस्य का आधार बनाये गये हैं।

"यावानर्थः उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २)

कि अनन्त समुद्र सम जल में पहुँचकर, प्यासे को चुल्लू भर पानी से मतलब होता है, शेष को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार वेदों में उक्त कथाओं गाथाओं या नामों में जो अनन्त विस्तार है, उसे विस्तार मात्र समझें, उनका असली रहस्य है चुल्लूभर पानी जिसमें सभी डूब गये हैं। वह है वैदिक दर्शन के अमृत की एक घूँट। बड़ी-बड़ी कथाओं में एक-एक बूँद या घूँट मिलेगी।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि वार्णनिक या गाथा रूप वृत्र ऐतिहासिक होते हुए तात्त्विक वर्णना में केवल पशु या तत्त्व वर्णना का आधारभूत संकेत मात्र है।

३—वृत्रतत्त्व वर्णन

वृत्र से संकेतित आधार भूत तत्त्व इस अखिल ब्रह्माण्ड का मौलिक भौतिक अणु का प्रतिनिधित्व करता है। वैदिक दर्शन के दो अर्द्ध हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। इन दोनों के प्रथम विन्दुओं या तत्त्वों को 'चत्वारिश्रृङ्गा-रोरवीति' में 'द्वे शीर्षे' दो सिर कहा है। वृत्र भौतिक द्वितीय शिर उत्तरार्द्ध का प्रथम तत्त्व है शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म पूर्वार्द्ध का प्रथम तत्त्व प्रथम आध्यात्मिक शिर। वृत्र नामक भौतिक द्वितीय शिर के दो स्वरूप हैं सूक्ष्म और स्थूल या आसुरी प्रवृत्ति मूलक भौतिक शरीर। सूक्ष्म भौतिक शिर का नाम सोम चन्द्र शुक्र है तो आसुरी वृत्ति मूलक स्थूल का नाम वृत्र, असुर, तमः दानव। सोम नामी भौतिक शिर या शरीर, इस अखिल ब्रह्माण्ड का भौतिक दिव्य शरीर या विभु व्यापक और चतुर्थ आत्मा रूप शरीर है। जब इन्द्र ने बृत्र का बध करना चाहा तो वृत्र ने उत्तर दिया, भाई मुझे न मारो, मेरे मरने से तुम स्वयं मर जावोगे। तात्पर्य यह है कि इन्द्र का सोम पान इन्द्र का भौतिकात्मा को धारण करना है। भौतिक तत्त्व को नष्ट करके वह अपनी ही भौतिकात्मा दिव्यशरीर का बध कर डालता अपनी ही आत्म हत्या हो जाती। अतः इन्द्र ने वृत्र रूप शरीर के दो भाग किये एक सौम्य या चान्द्रमस, दूसरा आसुर्य। सोम भाग दैविक या आत्मा रूप दिव्य शरीर रूप तत्त्व है, आसुर्य वृत्र आसुरी प्रवृत्ति प्रवृद्ध भौतिक शरीर। हमारी समस्त सृष्टि या स्थूल सृष्टि सब आसुरी या दानवी या वृत्र की ही है (श० प० ब्रा० १-५-२-१ से १७ तक, और ५-४-६-२ से ८ तक देखें)। सोम नामी दिव्य शरीर 'अन्न' अन्नं ब्रह्म कहलाता है वृत्र 'अन्नाद'। 'अन्नं सोमो अन्नादश्च इदं सर्वमन्नं च' (श० प० ब्रा० ११-१-६-१६)। इसीलिए पुरुष सूक्त लिखता है 'यदन्नेनाति रोहति' कि वह पुरुष इस अन्न रूपी सोम से वृद्धि को प्राप्त होता है या शरीर या दिव्य शरीर को धारण करके वृत्र रूप स्थूल शरीर को प्राप्त होता है। इसीलिए वृत्र को कहीं-कहीं सोम या चन्द्रमा नाम से पुकारा गया है। क्योंकि दोनों अन्नमय या भौतिकात्मा के दो रूप हैं, हैं एक ही। जैसे 'वृत्रो वै सोम आसीद्' (श० प० ब्रा० ४-१-४-७)। 'देवो वै सोम, दिवि वै सोंम, तस्यैतच्छरीरं यद्‌गिरयो यदश्मान तदेषो आशानामोषधिर्जायते' (श० प० ब्रा० ३-३-४-१३)। पर्व विद्या के कई पर्वत हैं। इनमें से

चतुर्थ पर्वत इसी वृत्र के शरीर या सोम के वर्धित शरीर रूप वृत्र का ही नाम है। पर्वत प्रजापति के सबसे ज्येष्ठ पुत्र हैं (मै० सं० १-१०-१३)। "वृत्रो यश्चन्द्रमा सो अस्यैव भ्रातृव्य जन्मेव तस्माद्यद्यपि पुरा विदूरमिवोदितो अस्य एन मेता तां रात्रिमुपैव न्याप्लावते सोऽस्य व्यात्तमापद्यते।" (श० प० ब्र० १-५-३-१८)। सोम तो दिव्य शरीर होने से विभुः व्यापक है ही, यह वृत्र भी व्यपक ही है, यह आसुरी प्रवृत्ति मात्र की स्थूलता रखता है भौतिकता की प्रवृत्ति रखता है। यही इसकी स्थूलता है, बहुत स्थूल नहीं है, आसुरी या दानवी प्रवृत्ति परायणता वाला, सोम से कुछ अधिक विवृद्ध है, विपरीत भाव भरा है।

४—वृत्र स्वरूप

सोम या चन्द्र या वृत्र का जन्म सूर्य नामक २५ वें तत्त्व से चतुर्थ सप्तक के विषुवद्रेखा में होता है। "आदित्या द्वै चन्द्रमा जायते चन्द्रतो वृष्टिः वृष्टिर्वै विद्युत्" (ऐ० ब्रा० ७- अन्तिम पञ्चिका-ब्रह्मणः परिमरः) "प्राणेन वा अग्निर्दीप्यते अग्निना वायुर्वायुनादित्यमादित्येन चन्द्रमा चन्द्रमसा नक्षत्राणि नक्षत्रैर्विद्युदेतावती वै दिप्तिः अस्मिंश्च लोकेऽमुस्मिंश्च सर्वां ँ हैतान्दीप्तिंन्दीप्यते ऽस्मिंश्चलोकेऽमुस्मिंश्च य एवं वेद।" (श० प० ब्रा० १०-६-२-११) "सोमात्पर्जन्यः पर्जन्याद्वृष्टिः" (मुण्डक); ऋग्वेद भी लिखता है, सविता देवता—"विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् चन्द्रम् द्विपदे चतुष्पदे" (५-८०-२) 'भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि' (९-६९-१०) 'वृष्टिं दिवः पवस्व रीतिमपां जिन्व गविष्ठये धिया' (९-१०८-१०) 'सहस्रधारं वृषभं धियो वृध प्रियं देवाय जन्मने।" (९-१०८-८)। जिसको यहाँ पर्जन्य या वृष्टि नाम से पुकारा गया है वही वृत्र है। वह जलमय है। चतुर्थ सप्तक जलमय ही था। वह नग्मय सृष्टि कहलाती है। मनु ने भी 'आपो नारा इति प्रोक्ता ··नारायणः" वाक्य इसी की पुष्टि में लिखा है। विष्णु नारायण या जलशायी कहलाता है या समुद्र शायी कहलाता है। वह जल या समुद्र यही सप्तक है विष्णु सोम का प्रतिनिधि है। ऋग्वेद १-३२-१०,११ में वृत्र के इसी पर्जन्य या वृष्टि रूप का वर्णन देते हुए लिखा है—

"अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आ शयदिन्द्रशत्रुः॥
दासपत्नी रहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥"

इस ऋचा में व्याख्यात वृत्र की व्याख्या देते हुए से श० प० ब्रा० ने वृत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है "वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिष्ये, यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी, स इदं सर्वं वृत्वा शिष्ये, तस्याद्वृत्रो नाम। तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापः प्रसुस्राव, सर्वत एव ह्ययं समुद्रः। तस्मादु हैका आपो वीभत्सां चक्रिरे ता उपर्युपरि प्रुप्रुविरे ते दर्भाः।" (१-१-३-३ से ५ तक) 'स यद्वर्तमानः समभवत् तस्माद्वृत्रो नाम (श० प० ब्रा० १-५-२-१ से १७ तक और ५-४-६-२ से ८ तक)। वृत्र की व्याख्या में यास्कदि से अब तक के विद्वानों ने वृत्र शब्द को या

वृत्र की व्याख्या को यास्क के मेघ नाम के कारण बहुत हल्के ढंग से लिया है। वैदिकों ने तो लिखा है 'इदं सर्वं वृत्वा शिष्ये' यहाँ 'इदं सर्वं' माने 'अखिल ब्रह्माण्ड' ही है। और वह 'काष्ठानामध्ये निहितं शरीरम्' था, दिशा का साक्षात्सम्बन्ध भौतिक तत्त्व से है। पूर्वार्द्ध में आत्मायें (त्रिपादामृत) हैं, उनमें व्याप्ति है, दिशा नहीं। अतः सृष्टि पुरुष के पाद रूप चतुर्थ सप्तक से ही दिशाओं का उद्भव पुरुष सूक्त भी मानता है 'पद्भ्यां ँ भूमि र्दिशः श्रोत्रा त्तथा लोकानकल्पयत्'। यह चतुर्थ सप्तक भौतिक है, अतः शुद्ध अस्पृश्य भी कहा गया है। 'पद्भ्यां ँ शूद्रो अजायत' (पु० सू०)। यह जल सप्तक है। अतः ऋग्वेद इस वृत्र को अन्यत्र भी जलमध्य स्थित बतलाते हुए लिखता है 'अपां मध्ये तस्थिवांसम्' (७:८९-४)। क्योंकि यहाँ से सत् या भौतिक ब्रह्माण्ड का आरम्भ होता है। अतः उसे 'वर्तमानः' नाम से पुकारा गया है, यहीं से सत्ता, वर्तमान रूप में स्थिति रूप में, व्यापक भौतिक रूप में आरम्भ होती है; सूर्य इसका जनक या पूर्व रूप हैं। अतः उसे भी 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानः' अथवा ईषत् कृष्णपिंगल स्वरूपी रजः या भौतिकता के आभास या पूर्वाभास रूप में वर्तमान (व्याप्त) रूप में विद्यमान कहा गया है। उक्त जलों से जो पूति गन्धि आने लगी। वह जलों के उपरी तह में दर्भ रूप में जागृत हुई, जल का समुद्रः (चतुर्थ सप्तक) बना। दर्भ भौतिक ओषधियों में सर्वप्रथम जन्मा है। अतः उक्त पूति गन्धीय दर्भों को 'पवित्र' रूप में बनाकर उससे शिर में शुद्धि के लिए जल छिड़कते हुए कहते हैं "पवित्रे स्थौ वैष्णव्यौ पुनाम्यछिद्रेण पवित्रेण'। इसकी पुष्टि में लिखा है 'यदेता वृत्रः पूतिभिः प्रास्त्रावत् तदेतासा मेताभ्यां पवित्राभ्यां अपहन्ति। अथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति।" (श० प० ब्रा० १-१-३-३ से ५ तक)। ब्रह्म रूप जल के सामने वृत्र रूप जल अशुद्ध है, भौतिक होने से, अतः पुनः शुद्ध-बुद्ध ब्राह्म जल से शुद्धि की जाती है।

उक्त वृत्र रूप जल, वास्तव से हमारे आजकल के जल के समान या आकाश की वृष्टि के जल के समान नहीं और कदापि नहीं है। ये जल तो केवल व्याप्ति आवरण और प्रवाह रूप मात्र की व्याख्या देने वाले पशु हैं, कल्पनायें हैं। वृत्र रूप जल तो 'रजः' रूप अणु या कण रूप विद्युदग्नि है। वेदों में जल माने विद्युत् ही होता है जैसे 'वज्रो वै आपः'

५—वृत्र और आपः

(श० प० ब्रा० १-१-१-१७,१८ और १-२-३-२०)। इन जलों का नाम सत् है जैसे 'पयः एव सत्' (श० प० ब्रा० १-५-२-८) कि चतुर्थ सप्तकीय जल ही सत् या भौतिक तत्त्व है। और इन जलों का दूसरा प्रसिद्ध नाम है वाग्ब्रह्म शब्द ब्रह्म वाक इत्यादि जैसे—"सो अपोऽसृज्यत वाच एव लोकात् वाचो वास्य सासृज्यत। सेदं सर्वमाप्नो-द्यदिदं किं च, यदाप्नोत्तस्मादापः यदवृणोत्तस्माद्वाः।" (श० प० ब्रा० ६-१-१-९)। सोः माने प्राणों से जलों की सृष्टि हुई। ये जल, वाणी के नाम हैं, जल के नहीं, शब्द की उत्पत्ति हुई। क्योंकि इस जल रूप वाणी ने अखिल ब्रह्माण्डीय ब्रह्म को व्याप्त कर लिया या प्राप्त कर लिया। अतः इस वाणी को 'आपः' नाम से पुकारते हैं, जब यह वाणी ब्रह्म को चारों ओर से घेर लेती है या आवृत कर लेती है तब उसे ही वाः वारि (जल)

नाम से पुकारते हैं। ध्यान रहे वृत्र की भी यही व्युत्पत्ति है जो पिछले परिच्छेद में दी जा चुकी है जैसे यास्क ने भी ब्राह्मणों को उतारा है, वृणोतेर्वा वर्धतेर्वा वर्धयतेर्वा, यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं, यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वं, यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्।" इसीलिए वृत्र को भी जलमय कहा गया है, केवल उसकी व्याप्ति या आवरणता को लक्ष में रखकर, कि इस लिए नहीं कि सचमुच में वृत्र जल का नाम है। वेदों में आपः शब्द जहाँ कहीं भी प्रयुक्त हुआ है उसका अभिप्राय यही व्याप्ति रूप आवरण रूप वाणी या विद्युत् हैं। बृहदारण्यक ने आदि में इन्ही आपः की व्याख्या देते हुए लिखा है "आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत् तस्याम-श्रामत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो निरवर्तताग्निः।" यहाँ आपः को 'अपांशरः' नाम से पुकार कर इसका संकेत विद्युत् के शर (या चार्जेज) से किया गया है। ब्राह्म अपां-शर पुरुष रूप (नेगेटिव चार्ज) है और भौतिक अपांशर प्रकृति रूप या (पोजिटिव चार्ज) होता है। प्रथम से आध्यात्मिक अग्नि या जीवनीय अग्नि या चैतन्यता का प्रादुर्भाव होता है, द्वितीय से भौतिक अणु रूप बीजाणु रूप प्राणाग्नि का। इन भौतिक बीजाणुरूप विद्युदग्नि के प्राकृतेय (नेगेटिव चार्ज या) शर को अन्यत्र 'अपां सङ्गमे' शब्द से तथा सूर्य पुत्र (रूप वृत्र) नाम से पुकारते हुए लिखा है

"अयं वेनश्चोदयति प्रश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपाॅंसङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीरिहन्ति ॥"
(ऋ० वे० १०-१२३-१ यजुः ७-१६ तै० सं० १-४-८-१)

क्योंकि इन जलरूप या विद्युद् स्वरूप वृत्र से अभौतिक ब्रह्म भौतिक ब्रह्माण्ड में परिणत और परिवृद्ध होता है, अतः इसे 'ऋतावृधा' नाम से पुकारा गया हैं

"अयं वा मित्रावरुणा श्रुतसोम ऋतावृधा।
ममेदिह श्रुतं हवं उपयाम गृहीतोऽसि ॥"

(यजुः ७-९)

यह प्राकृतेय शर या पोजिटिव चार्ज अन्धकारमय होता है और नेगेटिव से उद्दीप्त होता है। अतः इसे 'तमः' (वृत्र) नाम से पुकारा है। इसी अन्धकार की व्याप्ति रूपकता के कारण इसे पर्जन्य भी कहा जाता है और रजः कणमय होने से वृष्टिमय। जब यह पुरुष (या नेगेटिव) शर से उद्दीप्त किया जाता है या हो जाता है तब इसे वैश्वानराग्नि नाम से पुकारते हैं। श० प० ब्राह्मण ने लिखा है जब इन्द्र ने वृत्र को मारा तो उसका दाह इसी वैश्वानराग्नि की चिता में किया। "यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहँऽस्तमग्निना वैश्वानरेण समदहत्तदस्य सर्वं पाप्मानं समदहत्।" ११-१-५-८)। यह वैश्वानराग्निः सोम या इन्द्राग्नि है। अतः इसे व्यात्त या व्याप्त कहा गया है "व्यात्तमग्नि वैश्वानरः संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य" (श० प० ब्रा० १-५-३-१ से ५, ६ और १०-६-४-१)। इसी वैश्वानर का नाम अग्नीषोमो भी है। यही भौतिक वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म है। "इन्द्रो अग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीदनेन वाङ्कामप्रेण यज्ञेन याजयानि। अन्नं सोमो अन्नादश्च इदं सर्वं अन्नं च" (११-१-

६-१६)। यही ऐन्द्रवायव ग्रह भी कहलाता है जिसे यह सूचना देने के लिए कि 'वृत्र का बध हो गया है' ऐन्द्रवायव की पदवी दी गई। यह ऐन्द्रवायव भी शब्द ब्रह्म का ही स्वरूप है। सूचना ही शब्द ब्रह्म की संकेतिका है। अतः लिखा है "वाग्घ्य वा अस्येन्द्रवायवः" ४-१-३ पूरा)। इसी चतुर्थ सप्तक के तृतीय तीर्थ में सरस्वती वृत्रघ्नी भी कहलाती है (ऋ० वे० ६-६१)। सरस्वती वाग्ब्रह्म है, भौतिक वाग्ब्रह्म है जिसका पूर्वाभास पूषा नामक २४ वें (अत्रिदक्षक्रतू मित्रावरुण) से होता है। इसीलिए सरस्वती का नाम 'पूष्णा' भी है (ऋ०वे० ६-६१)। यह भौतिक स्वरूप धारण करके 'चत्वारिशृंगाः˙˙˙वृषभोरोरवीति' से 'अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः' बाणी का सर्वप्रथम रोरवण करती है (तै० उप० श० प० ब्रा० १-५-२-१७)। अतः यह वृत्र तो हमारा भौतिक आसुरी शब्द ब्रह्म है। (सोम देखें)।

६—वृत्र और चतुष्पाद् ब्रह्म

सोम या वृत्र या चन्द्र अकेला तत्त्व नहीं है। यह चतुष्पाद् ब्रह्म या अन्नं ब्रह्म है। इसके चार भाग हैं। प्रथम तीन भाग त्रिपादामृत कहलाते हैं। ये सूक्ष्म भौतिक आत्मायें हैं। चौथा यह सोम चन्द्र या वृत्र पूर्ण भौतिक सूक्ष्म या सदात्मा है। 'यथेह पुरुषो सद्' में जो कामना पुरुष के सद् में परिणत होने की की गई है वह सोम चन्द्र या वृत्र के उदय होने ही से पूर्ण होती है। दिये हुए चित्र में संख्या १ अक्षर ब्रह्म या शब्द ब्रह्म या आकाश ब्रह्म या ऋत ब्रह्म या संवत्सर ब्रह्म का सूचक है, संख्या २ जीवात्मा रूप रुद्रात्मा या वायवीयात्मा का, संख्या ३ तैजसात्मा या इन्द्रात्मा या व्यानात्मा मातरिश्वात्मा का, संख्या ४ सोम या चन्द्र का या दैवी प्रवृत्ति मूलक अखिल ब्रह्माण्ड के दिव्यशरीरी भौतिक अणु का, संख्या ५ उसी संख्या चार की आसुरी प्रवृत्ति मूलक पर अखिल ब्रह्माण्ड के दृश्य भौतिक सृष्टि का मूल कारण वृत्र का। प्रथम तीन का नाम अपांशर मध्ये 'ऋतशर' है, चतुर्थ पञ्चम का नाम 'सत्य शर' है। दोनों का वीजगर्भीय रूप वैद्युतीय है। (वृष्टिर्विद्युत्)। जब ऋतशरीय इन्द्र का सत्यशरीय सोम या वृत्र से संयोग होता है तब दोनों तारों के संयोग से प्रकाश आने के समान उन दोनों के मेल से एकदम प्रकाश या ज्ञान का भौतिक स्वरूप सामने आ जाता है। इस प्रकाशित ऋतसत्यशरों को वैश्वानराग्निः या वृत्रवध कहते हैं। वृत्र की उद्दीप्ति ही वृत्र का वध है, वृत्र के अन्धकारमय तमोमय स्वरूप की हत्या ही वृत्र की हत्या है। सत् तत्त्व रूप वृत्र की हत्या हो जाय तो अखिल ब्रह्माण्ड नष्टभ्रष्ट हो विला जाय। समस्त दृश्यादृश्य सृष्टि वृत्र की या आसुरी या अन्धकार या तमोमय है, उसमें जो कुछ उक्त ऋतसत्यशरीय संयोगीय प्रकाश है वही ब्रह्म का विकास प्रकाश ज्ञान या बुद्धि है। उक्त प्रथम चारों का संयोग ही विष्णुः, सोमः, सविता, महोदेवः, वृषभः, पर्जन्यः, वृष्टिः, रसः, ऊर्णनाभि, कुलाल, ब्रह्म, इन्द्रः आदि प्रसिद्ध नामों से पुकारा जाता है। विष्णुः, या केशव अदिति का अष्टम पुत्र मार्ताण्ड या पुरुष पशु या विवस्वान् अथवा अष्टम आदित्य (अदितेः पुत्रः आदित्यः) है। गीता भी कहती है "आदित्यानामहं विष्णुः" (१०-)। यह विष्णु वही मार्ताण्ड या अदिति (या देवकी) का अष्टम पुत्र है। छान्दोग्य इसीलिए

लिखता है 'कृष्णाय देवकी पुत्राय'। यहाँ कृष्ण नाम विष्णुः या सोम का है, देवकी अदिति का। ये सब सूर्य नामक कामब्रह्म सूचक २५ वें तत्त्व के पुत्र हैं और सूर्य को अत्रि (२४ वें) की चक्षु या अंकुर कहा जाता है। प्रथम त्रिधात्मा नाम अमृत है या अमर है पर वृत्रादि भौतिक होने से मृत्युधर्मा या परिवर्तन परिवर्धनशील है। इस सत् तत्त्व के उदय के साथ-साथ लौकिक मृत्यु का भी उदय होता है। इसीलिए सविता के मन्त्र में 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' से सूर्य से अमृत अमर और मृत्युपरक दोनों की सृष्टि का आरम्भ बताया गया है। वास्तव में मृत्यु किसी की नहीं होती, मृत्यु खोल की या गर्भ की होती है, सद् ही खोल या गर्भ है, इसमें परिवर्तन या परिवर्धन हो जाता है। नचिकेता का यम से जिस मृत्यु के ज्ञान का प्रश्न है वह प्रलय रूप ब्रह्म नामक मृत्यु के ज्ञान का प्रश्न है। जैसे "स एष एव मृत्युः। य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो······हैतस्य हृदये पादावतिहतौ तौ हैतदाछिद्यो-त्क्रामति यदोत्क्रामति अथ हैतत्पुरुषो म्रियते तस्मादुहैतत्प्रेतमाहुराछेद्यस्येति॥" (श० प० ब्रा० १०-५-२-१३, २ अथर्व ८-५-५) इसीलिए अन्यत्र कहा है 'नैवेह किंचनाग्रआसीद् मृत्युनैवेदमावृतमासीद्' (श० प० ब्रा० १०-६-५-१)। यह मृत्यु या अन्तक संवत्सर ब्रह्म कहता है (संवत्सर ब्रह्म देखें)।

७—वृत्र का स्थान; वह शत्रु क्यों है ?

जिन्हें उक्त परिच्छेद में चतुष्पाद् ब्रह्म कहा गया है उनमें से "अस्य वामस्य पलितस्य होतुः भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥" ऋ० वे० १-१६४-१) ने प्रथम तीन को भ्राता का नाम दिया है। अर्थात् पूर्वार्द्ध या वाम या त्रिपादामृत के तीन भाई हैं। १ पलित, २ होता, ३ घृतपृष्ठ विश्पति (अतिथि जात-वेदा तनूनपात्)। चौथा भाई है मध्यम (अश्नन्)। सोम का पुत्र है वृत्र। यजुर्वेद ने इन भाइयों के दूसरे नाम दिये हैं वे हैं:—१ बन्धु, २ सुबन्धु, ३ प्रियबन्धु, ४ विश्वबन्धुः, और कहा है कि प्रथम तीनों ने मिलकर चौथे को मारा। यहाँ विश्वबन्धु नाम वृत्र का है क्योंकि 'विश्व' विशेषण सदा भौतिक तत्त्वों के आसुरी भाग के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'विश्वेदेवता' शीर्षक देखें। क्योंकि वृत्र, सोम नामक चतुर्थ भ्राता का पुत्र है, अतः वृत्र को समस्त वैदिक साहित्य में 'भ्रातृव्य' शब्द से या नाम से उचित रूप में लौकिक रूप में पुकारा गया है। पर जहाँ यह 'भ्रातृव्य' शब्द भतीजा अर्थ में ठीक प्रयुक्त है वहाँ इस भ्रातृव्य शब्द में एक दूसरी ध्वनि भरी है, वह है भ्रातृव्य माने शत्रुः। देखना यह है कि यह भ्रातृव्य शब्द शत्रु अर्थ का आक्षेपक क्यों हो पड़ा। आजकल वैदिक संस्कृत में भी इसका यह अर्थ विद्यमान है ही। इसका क्या कारण है ? बात यह है। उक्त चार भाई तो अमृत हैं अमर हैं विभु हैं व्यापक हैं अखिल ब्रह्माण्ड की आत्मायें हैं। परन्तु जब इनसे सत् नामक आसुरी प्रवृत्ति मूलक भौतिक सत् तत्त्व का उदय हुआ तो उक्त चारों आत्माओं को अब एक-एक ऐसा भौतिक खोल मिल पड़ा जिसके अन्दर चारों के चारों पृथक्-पृथक् थैलियों में जैसे बँध गये। अतः भौतिक सृष्टि के उदय के साथ-साथ चतुष्पाद् ब्रह्म के बन्धन का प्रबन्ध हो पड़ा। अब इन्हें अमृत अमर होते हुए मृत या मर्त्य खोल

या बन्धन स्वीकार करना पड़ा। क्योंकि ये इस खोल में बाँधे गये, और इस भौतिक तत्त्व ने इन्हें बाँधकर शत्रु का सा काम किया। अतः यह भ्रातृव्य भौतिक तत्त्व भ्रातृव्य होते हुए 'शत्रु' समझा जाने लगा, और तब से यह भ्रातृव्य शब्द 'शत्रुता' का बोधक होने में प्रसिद्धि पाकर अबतक उसी भाव में प्रयुक्त किया जा रहा है।

भौतिकता में प्रत्येक तत्त्व अपादहस्त या सूक्ष्म कीटाणु या बीजाणु रूप में गर्भ-मय या गर्भीय बीज होता है। अतः वृत्र को अहि नाम से पुकारने लगे। इसका जीवन आसुरी प्रवृत्ति या असुमय या अन्नाद रूप हो गया। अतः इसे असुर कहने लगे, यह पार्थक्य पा गया अतः इसे दानव, खण्डन से नव-नव रूपी कहने लगे, या खण्डन से नूतन रूप पाने वाला कहने लगे। इन भावों को व्यक्त करने के लिए विभिन्न प्रकार की पशु रूप कथायें प्रचलित की गई। इसका नाम 'विश्व' या सत् तत्त्व है यह शत्रु नाम से पुकारे जाते हुए भी अपने पूर्वज त्रिपादामृत का ध्यान न रखकर खाने पीने में ही मस्त रहता है। तथा इसके वर्णन में दिया है कि इसीका दैवी स्वरूप त्रिपादामृत पाने का मार्ग भी है।

८—वृत्र के नामों की व्याख्या

"विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो नाजगाम।
जक्षीयाद्धाना उत सोमं पपीयात्स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥"
(ऋ० वे० १०-२८-१)

कि मुझे विश्व नामक या भौतिकता का खोल रूपी यह शत्रु तो मिल गया मेरे पास आ गया, पर श्वसुर या सु+असु=श्वसू एव श्वसुरः 'को नाम प्रजापतिः' श्वसुरः (ऐ० ब्रा० १-२-२२) संरक्षक प्रजापति नहीं मिला नहीं आया। यह खीलें खाता, मदिरा पीता और खूब खा पीकर बेहोश हो जाता है सो जाता है इसका दूसरा अर्थ यह है कि यद्यपि मेरा शरीर शत्रु रूप में सर्वतो सम्पन्न है, पर मुझे स्वसुर या ज्ञान की आवश्यकता है जो नहीं आया है, इसके लिए इस भौतिक शरीर रूप खीलों को चूर्ण कर, उसे फिर सोम में सोमात्मा में परिणत करके इस सोमात्मा को सूर्य रूप २५ वें तत्त्व में परिणत कर पुनः उस सूर्यात्मा का अस्त २४ वें ॐकार ब्रह्म सागर में कर देना चाहिए। तब त्रिपादामृत की अनुभूति होगी। इसीलिए हमारे वैदिक गायत्री ब्रह्म से सविता का जप और ध्यानकर योग द्वारा ज्ञान प्राप्त करते थे।

अध्याय ७२

सविता

चन्द्रमा देवता ही आदित्य रूप में सविता कहलाता है। यह अष्टम आदित्य है। यही गायत्री ब्रह्म है जिस पर एक स्वतन्त्र अध्याय लिखा जा चुका है। यही सोम है, यही विष्णु है, यही मुख्य यज्ञ है, यह सब उक्त गायत्री नामक अध्याय में बताया जा चुका है। यह सविता, सूर्य देवता का विकास है। वैश्वानर पुत्र है तो विश्वानर या सूर्य पिता। यह वैश्वानर नाम सविता का ही है पर अग्नि की विकास श्रेणी में पूषा सूर्य का पिता है, पूषा के पिता अश्विनी हैं (ऋ० वे० १०-८५-१?)। अतः सूर्य वैश्वानर का पितामह है तो पूषा प्रपितामह। सविता वैश्वानर का पुत्र है जैसे—"देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण" (आश्वलायन श्रौ० सू० १-३-२३)। यह सविता २७ वाँ तत्त्व है। गायत्री से इसी की उपासना की जाती है। इसका वही स्थान है जो सोम और विष्णु का, जैसे "विष्णुः सोमः सविता सोमः" (श० प० ब्रा० ३-५-२-१९;। यजुः ५-३९ में सम्बोधन करती है कि 'एतत्त्वं देव सोम'। यह चन्द्रमा ज्ञानमय दैवी प्रकाश का प्रतीक है, अतः यह बृहस्पति या बृहती का पुत्र भी कहलाता है, वैश्वानर को 'बुध' ग्रह नामक अग्नि कहते हैं। अतः चन्द्रमा को ग्रहों में बुध का पुत्र वैज्ञानिक रीति से माना जाता है। पर इस तथ्य को छिपाने के हेतु बुध के गुरु-तल्पग की कथा गढ़ ली गई है। ऐसी अनहोनी कोई घटना तो सत्ता में नहीं है पर बृहती से बृहस्पति क्षेत्र से इस सोम या चन्द्रमा का विकास स्वाभाविक रूप में होता है।

इस सविता को अखिल भौतिक सृष्टि का प्रसविता कहते हैं, यह गायत्री के मन्त्रों की दी गई व्याख्या से स्पष्ट किया जा चुका है। इसका सप्तक चतुर्थ है जिसे आपोमय भौतिक समुद्र भी कहते हैं, जहाँ से पृथिवी नामक उत्तरार्द्ध का भी आरम्भ होता है। पर इसका आरम्भ, प्रथम तत्त्व से हो जाता है इसीलिए यह द्यावा पृथिवी दोनों का विकास कारक मुख्य तत्त्व है। यही भाव निम्न ऋचायें देती हैं।

"सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कभने सविता द्यामदृंहत्।
अश्व मिवाधुक्षद्धुनि मन्तरिक्ष मतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥"
(ऋ० वे० १०-१४९-१)

सविता ने अनारम्भण (अस्कभने) काल में द्यावा का विकास प्रारम्भ किया, विकास पूरा होने पर, पृथिवी को रमणीय रूप देते हुए उससे द्यावा का स्तम्भन भी किया। पृथिवी तल में जो समुद्र निबद्ध था अप्रगट विद्युत्स्वरूपी था उसे प्राण रूप में बँधे घोड़े की तरह तुरन्त युक्त करके उसके जलों की नदियों (धुनिम्) को तत्कालीन ब्रह्माण्ड में प्रवाहित कर दिया (तत्कालीन विद्युल्लहरियाँ नदियों की भाँति सवेग

प्रवाहित होने लगीं)"। वह सविता हिरण्य या ब्रह्म का स्तूप सा प्रतीत होने लगा; अब अङ्गिरसादि चतुर्थ सप्तक के सप्त ऋषि तुम्हारा आह्वान करके यज्ञ पूरा करने लगे। मैं भी अपनी सुरक्षित जीवनी के लिए तुम्हारी अर्चना करते हुए तुम्हें सोम का सा दिव्यशरीर समझ कर जाग्रत रहता हूँ (मैं जानता हूँ कि तुम सोम रूप अमृत के दिव्वशरीर वाले हो)। जैसे

"हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥"
(ऋ० वे० १०-१४९-५)

सविता का स्वरूप कवि रूप या सृष्टि कर्ता रूप या बुद्धि रूप होता है। वेदों में जहाँ जहाँ जिस जिस देवता के लिए कवि या कारु शब्द का प्रयोग आता है वहाँ वह उसके बुद्धि स्वरूप या सृष्टि कर्ता रूप या सोमात्मा या एकमेवाद्वितीयं भौतिकात्मा रूप का प्रतीक होता है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' गायत्री मन्त्र इसका अकाट्य प्रमाण है। यहां बुद्धि या धी या धियः सब शब्दों का अभिप्राय यह है कि ये पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत को धारण करते हैं। इससे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की नाना रूपता का सूत्रपात होने लग जाता है। यह आवरणीय या व्याप्ति धर्मा एकात्मीय भी या ही होता है और इसका उदय उषा से होने लगता है तथा नक्तोषा में यह पूर्ण परिपक्व हो जाता है। ठीक यही भाव यही निम्न ऋचा दे रही है

"विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥"
(ऋ० वे० ५-८१-२)

इसमें द्विपद् शब्द द्वितीय पाद के जीवात्मा तथा चतुष्पद् शब्द चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों के लिए आया है जिनसे प्रथम और तृतीय पादों का भी स्वयं अध्याहार हो जाता है। तृतीय पाद का सूचक शब्द 'नाक' (दिव्) शब्द तो है ही। सविता को जब पशुवाद के ब्राह्मणों में 'अधोरामः सावित्र्यः' कहते हैं तो यहाँ अधः शब्द दर्शन के दक्षिणार्द्ध का सूचक है क्योंकि सविता का उदय दक्षिणार्द्ध या अधोभाग में होता है। इसी प्रकार जब 'कृकवाकुः सावित्र्यः' कहते हैं तो यह काल का सूचक है। पूर्वार्द्धीय कालात्मा तो अखण्ड ब्रह्म है, पर उत्तरार्द्ध में वही अखण्ड काल, खण्डशः या कला मे क्षण क्षण में विकास पाता हुआ एक स्थूल काल या तत्त्व का बोधक बनता है। सविता देवता सर्वा देवता है। यह अग्नि प्रजापति वरुण, विद्युत् वायु, चन्द्रमा, यज्ञ, वेद, दिन, पुरुष, पशु, प्राण, मनः राष्ट्र आदि का वाचक है*।

---

* जै० उ० ४-२७-१, ताड्य १६-५-१७; जै० उ० ४-२७-३, गो० पू० १-३३; जै० उ० ४-२७-१, ऐ० १-१९, श० प० ६-३-१-१३, तै० २-५-७-४; श० ३-२-३-१३ इत्यादि।

अध्याय ७३

वेनः (भी 'सोमः' 'सूर्यस्य शिशुः' या चन्द्रमा देवता है)

यह 'वेनः' वैदिक देवता है, एक तत्त्व है, परन्तु पुराणों में इसका वर्णन एक ऐसे राजा के रूप में किया गया है जिसने पृथिवी को काम धेनु स्वरूप में दुहा और अनेक रत्नों को प्राप्त किया। ऐ० ब्रा० (१०४-२०) ने ऋ० वे० १०-१२३-१ मन्त्र को उद्धृत करते हुए 'वेनः' शब्द के माने 'प्राणा' लिखा है जैसे "वेनः प्राणा ऊर्ध्वा, अन्ये प्राणा वेनन्त्यवाञ्चोऽन्ये तस्माद् वेनः प्राणाः" कि वेन नाम ऊर्ध्व प्राणों का है, उसे अन्य प्राण नीचे को खींचते हैं अतः इसे वेन कहते हैं। वेन माने नीचे को खींचने वाले प्राण होता है। यास्क महोदय को ऐ० ब्रा० के इस उल्लेख का पता ही नहीं हैं अतः वे

"अयं वेनश्चोदयति प्रश्निगर्भा ज्योति र्जरायू रजसो विमाने।
इममपांऀसङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीरिहन्ति॥"
(ऋ० वे० १०-१२३-१)

का अर्थ अपनी वेतुकी शैली से कल्पना के कनकौवे उड़ाते हुए कुछ का कुछ लिख गये हैं। भाग्य वश इस ऋचा का अर्थ तो बृहदारण्यक उपनिषद् ने ही (१-२-१) स्पष्ट दे दिया है, उसे भी यास्क ने देखने का कष्ट नहीं किया है। इस मन्त्र का अर्थ उक्त अवतरणों के अनुसार इस प्रकार बैठता है। यह ऊर्ध्व प्राण स्वरूप वेन तत्त्व, प्रश्निगर्भा या नाना रूपाकारों का वीज रूप गर्भ धारण करने वाला तत्त्व है। इस गर्भ का स्वरूप ज्योतिर्मय है। इस ज्योतिर्मयता का कार्य ऊर्ध्वप्राणों को अधोऽधो को क्रमशः खींचकर सृष्टि या जीवन के लिए प्रेरणा देना है। पर यह प्रेरणा और इसकी ज्योतिर्मयता जरा और आयु दोनों से सीमित है, क्योंकि इसकी ज्योतिर्मयता का निर्माण रजसः या भौतिकता से हुआ है (विमाने शब्द 'जरायू' शब्द का विशेषण है)। यह ज्योतिर्मयता आपोमय चतुर्थ सप्तक के समुद्र की लहरों के संगम या संघर्ष से उत्पन्न होती है। अतः यह आपो मय रूप ज्योतिर्मयता वास्तव में सूर्य नामक २५ वें तत्त्व के शिशु समान (बृह० उप० १-२-१) तथा नये प्रथम उत्पन्न पुत्र के समान (शिशुं जातमिव शिशुरि व एषः प्रथमो जातः ऐ० ब्रा० १-४-१०) है, ऐसा हमारे वैदिक दार्शनिकों (विप्राः) ने अपनी अपनी विचार धाराओं से प्रस्तुत किया है, या विकास बतलाया है या पूजन या स्तवन किया है।" सीधी सी बात है कि वेन नामक तत्त्व सोम राजा का प्रतिनिधि है। उसी की ज्योतिर्मयता आपोमयता जरायुता रजस्ता प्रश्निगर्भता और सूर्यशिशुता का वर्णन किया गया है।

वेन सूक्त (१०-१२३) के अग्रिम शेष ७ मन्त्रों में उक्त आशय को पूर्ण समर्थन प्राप्त है। लिखा है वेन (चतुर्थ सप्तक के) समुद्र में उर्मियों को उत्पन्न करता है, वह भोजों के समान पृष्ठ भाग में ऋत को देखता है, उसी ऋतु के सानु या ऋतरूप

पर्वत के मध्य में, या ऋत रूप वृक्ष में वह समान रूप से योनि में जैसे आवृत होकर रहता है। उसी विन्दु पर सनीला डेरा घोंसला वाली मातरः या कृष्णपक्षीय या उत्तरार्द्धीय आपोरूप मातरः उसी सानु में अमृतरूप वाणी के मधु का आस्वादन करती हैं। उसके रूपों को जानते हुए भी ऋषियों ने उसे मृग या महिष के घोष का स्वरूप माना। वे ऋत रूप से खोजते हुए सिन्धु रूप चतुर्थ सप्तक में उसे अमृत नाम से युक्त गन्धर्व रूप में जान पाये। आपोमय चतुर्थ सप्तक की आपोमय अप्सरायें अपने प्रिय ऋत की सेवा शुश्रुषा में लगी हुई स्त्रियों के समान, आदि ब्रह्म से लेकर प्रत्येक विकासीय तत्त्व रूप ब्रह्म का प्रियानुष्ठान करती हुई, पूर्वार्द्ध के शुक्ल पक्ष के अन्त में हिरण्यमय पुरुष को प्राप्त हुईं। वही वेन हैं। वही वेन है जिसे दिवः (तृतीय सप्तक से उत्पन्न) सुपर्ण कहते हैं, वही हृदय या ह्रद है जिसमें पूर्वार्द्ध के प्राणरूप तत्त्व या आनम्र होकर सुरक्षित होते हैं, उसके पक्ष हिरण्य (ब्रह्म) के हैं वही वरुण का अग्रदूत है, उसीसे यम की योनि में पृथक्-पृथक् शकुन (जीव-स्त्री-पुरुष) हो जाते हैं। यह वेन ऊर्ध्व गन्धर्व है। वह पहिले पूर्वार्द्ध में था, और धीरे-धीरे आयुध या आयु धारण करने वाले तत्त्वों को स्वीकार करके नाना रूपता की सृष्टि की रचना का नायक बनता है। इसके वस्त्र आपः देवता है, वही सुरभि या (ब्रह्म) या कामधेनु (पृथिवी भौतिक तत्त्व) है इस पृथिवी या भौतिक तत्त्व का नाम स्वर्ण रुक्म या हिरण्य है (ये नाम भी सार्थकता से उत्पन्न किये गये हैं)। उस ब्रह्म रूप समुद्र से प्रादुर्भूत होते हुए वह गृद्ध या श्येन या सूर्य के नेत्र से देखने लगा। यह तत्त्व आध्यात्मिक पूर्वार्द्ध का विधर्मा या पृथक् धर्म का (भौतिकतामय) था। यह कार्य-क्रम सूर्य के उदय होते ही हुआ जिसका प्रारम्भ तृतीय चक्र या सप्तक से हुआ और इससे प्रिय भौतिक तत्त्व का श्रीगणेश भी हुआ ॥" भौतिक सृष्टि या उत्तरार्द्धीय सृष्टि प्रेयः या प्रेयसी या स्त्री है, अभौतिक या आध्यात्मिक या पूर्वार्द्धीय सृष्टि श्रेयः श्रेयस्वती या पुरुष है।

अध्याय ७४

ऋतम्

ऋत तत्त्व वेदों का परम पुनीत तत्त्व या देवता है। यह ऐसा गहन तत्त्व है जिसके अनुगमन करने का आग्रह तैत्तिरीय उपनिषद् ने दीक्षा काल में स्नातकों से सबसे पहिले करते हुए लिखा है

'ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च, सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च'
(८-१)

ऋतं—

कि ऋत और सत्य नामक तत्त्वों का ज्ञान निरन्तर स्वाध्याय और प्रवचनों के अभ्यास द्वारा सदा बना रहे। यह ऋत तत्त्व किस तत्त्व का संकेतक है इसका निर्णय श० प० ब्रा० ने (४-१-४-१० में।) 'राया वयं...... ऋतायुभ्यां त्वा' (यजु० ७-१०) की व्याख्या करते हुए स्वयं कर दिया है कि ऋत नाम ब्रह्म का है जैसे

"यदाहर्तायुभ्यां त्वेति–ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः।
संवत्सरो हि वरुणः संवत्सरः आयुस्तस्मादाहैषते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति॥"

यही बात मै० सं० ४-५-८; तै० सं० ६-४-८ का० सं० २७-४, कपि० सं० ४२-४ और का० श० ५-१-४ में भी मिलती है। वस्तु स्थिति यह है। वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्धीय आध्यात्मिक तत्त्वों का नाम ऋत है, उन्हीं को सत्तात्मकतया सत्य नाम से भी पुकारा जाता है जैसा कि ऋ० वे० १-१०५-१२ में 'ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यः' मन्त्र से स्पष्ट है परन्तु सत्य नाम पूर्वार्द्ध ही का है, इसीलिए

'हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'

कहते हैं। हिरण्मय पात्र विश्वेदेवता रूप भौतिकात्मा सहित हिरण्यगर्भ हैं। गर्भ नामक तत्त्व आपोब्रह्म का चतुर्थ सप्तकीय भौतिक स्वरूप है उसीसे सत्य या ऋत नामक पूर्वार्द्ध के तत्त्वों का मुख या स्वरूप ढका हुआ या प्रच्छन्न है। इसीलिए श० प० ब्रा० ने पूर्वार्द्ध की सृष्टि को सत्य तथा उत्तरार्द्ध का नाम अनृत नाम दिया है जिसे ऋ० वे० ने सत्यानृत नाम दिया है (वरुण देखें)। इसी सत्यानृत को हम 'ऋतानृत' भी कह सकते हैं। यह बात ऋ० वे० १-१०५-५ के 'कद्व ऋतकद्-नृतं' इत्यादि से संपुष्ट होती है। अनृत माने जो 'ऋत नहीं है', है। ऋत पूर्वार्द्ध है तो अनृत उत्तरार्द्ध। एक आध्यात्मिक सृष्टि है, दूसरी भौतिक। भौतिक सृष्टि निरन्तर परिवर्तनशील है अतः उसे सार्थकतया अनृत या मिथ्या या एक रूप में न रहने वाली सृष्टि कहते हैं। अनृत सृष्टि की सीमा आयु से सीमित होती है। क्योंकि परि-वर्तन समय की आवश्यकता रखता है। इसीलिए यजुर्वेद का उक्त मन्त्र भी 'ऋतायुभ्यां त्वा' वाक्य से उक्त भाव का समर्थन करता है, श० प० ब्रा० उसकी सर्वथा उचित व्याख्या देता है। मित्र नामक तत्त्व पूर्वार्द्ध का अन्तिम तत्त्व है अतः

उसे भी ऋत नाम से पुकारा गया है। वरुण से भौतिकता का आभास या पूर्वरूप प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए उसे आयु नाम से सम्बोधित किया गया है। इन दो तत्त्वों के पूर्ण बोध से स्नातक सदा ज्ञान के प्रकाश से युक्त रह सकता है। अतः तै० उप० का यह आग्रह है।

वेदों में ऋृत तत्त्व की चर्चा प्रायः सर्वत्र आई है। प्रत्येक देवता का सम्बन्ध ऋत से जोड़ा गया है। बृहस्पति को 'ऋृतप्रजात' और उषा को ऋतपा ऋृतजा (१-११३-१२) कहा गया है। जब देवता अनृत रूप भौतिकात्मा का आवरण स्वीकार कर लेता है तब वह विश्वेदेवता या पूर्णदेव का स्वरूप प्राप्त कर लेता है। विना भौतिकात्मा प्राप्त किये किसी देवता का महत्त्व ही नहीं है। ऋत का अनृत में प्रवेश या अनृत का खोल यह अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड हैं। यहाँ पर दो चार सूक्तों के कुछ मन्त्रों को दे दिया जाता है जिससे ऋत तत्त्व की महिमा पर पूर्ण प्रकाश पड़ जावेगा।

१— ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वी ऋृतस्य धीति वृंजिनानि हन्ति।
ऋृतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋ० वे० ४-२३-८

२— ऋतस्य दृल्हा धरुणानि सन्ति पूरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋृतेन दीर्घ मिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥
ऋृ० वे० ४-२३-९

३— ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते॥
ऋ० वे० ४-२३-१०

४— ऋृतेन ऋतं नियतमील आ गोरामा सचा मधुत्पक्वमग्ने।
कृष्णा सती रुशतां धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥
ऋ० वे० ४-३-९

५— ऋृतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे प्रश्निरूधः॥
ऋ० वे० ४-३-१०

६— ऋतेनाद्रिं व्यसन्भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नर परिषदन्नुषास माविः स्वरभवज्जाते अग्नौ॥
ऋ० वे० ४-३-११

७— ऋृतेन देवी अमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित्स्रवितवे दधन्युः॥
ऋ० वे० ४-३-१२

८— क ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी।
ऋृ० वे० १-१०५-४

९— अमी ये देवाः स्थन त्रिष्वा रोचने दिवः।
कद्व ऋतं कदनृतं क प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं में अस्य रोदसी ॥
ऋ० वे० १-१०५-५

१०— कद्व ऋतस्य धर्णसि कद्वरुणस्य चक्षणम्।
कदर्यम्णो महस्पथाति क्रामेम दूढ्यो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥
ऋ० वे० १-१०५-६

११— अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानिचिद्।
तं मा व्यंत्याध्योऽवृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी ॥
ऋ० वे० १-१०५-७

१२— नव्यं तदुक्थयं हितं देवासः सुप्रवाचनम्।
ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥
ऋ० वे० १-१०५-१२

उक्त तीनों सूक्तों के ऋत विषयक उद्धृत मन्त्र प्रायः एक सा भाव रखते हैं। उदाहरण के लिए ऋत को पूर्वार्द्धीय कहने के लिए प्रथम और अष्टम मन्त्र 'पूर्वी' और पूर्व्यं शब्द का प्रयोग करते हैं। शतपथ ब्राह्मण की पूर्वोद्धृत व्याख्यानुकूल दशम मन्त्र अर्यमा और वरुण का सम्बन्ध ऋत से जोड़ रहा है इत्यादि। ऋत तत्त्व पूर्वार्द्धीय होने से केवल एक तत्त्व का तो वाची है पर उस एक में तीन तत्त्व व्याप्ति रूप से 'एकं सदेतत्त्रयम्' (बृह० उप० त्रयं वा इदं नाम रूपं च कर्म) वाक्य के अनुसार समाये हुए हैं। उन तीनों का दूसरा नाम त्रिपादामृत है (त्रिपादस्यामृतं दिवि–पु० सू०)। ये त्रिपाद्–क्रम से (१) ब्रह्म (२) जीवात्मा (३) तैजसात्मा (इन्द्र या जातवेदा, धी, कवि, कारु आदि) हैं। मित्र में तीनों हैं; वह त्रिपादामृत है अतः मित्र रूप ब्रह्म त्रिपादामृत स्वरूपी ब्रह्म है, केवल ब्रह्म नहीं। त्रिपाद् को यहाँ 'त्रिषु रोचने' (९) कहा है। इसमें ऋ० वे० (१०-१९०-३) के 'ऋतं सत्यं चाभद्धात्तपस' इत्यादि का भाव भी जोड़ ले। इसका अर्थ धाता विधाता शीर्षक में दिया मिलेगा। ऋत शब्द या तत्त्व का अक्षर ब्रह्म परक अर्थ 'ऋ' से 'त' तक ४० अक्षरों का विराट् ब्रह्म भी है। वह विराट् पुरुष ४० अक्षर रूप तत्त्वों का है।

अध्याय ७८

विष्णुः

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति 'विशतीति विष्णुः' है जो भौतिक पांसव या रजः में प्रविष्ट होता है, दिव्य शरीर धारण करता है वह विष्णु है, अथवा जो भौतिकता का आनन्द लेता है 'व्यश्नोतिति विष्णुः' वह विष्णु है या जो विषवत् है, काला है वह विष्णु है 'यो विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति' या 'यो विषुवान् स विष्णुः' विषुवद्रेखा वाला विष्णु है।

१—विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति

विष्णु तत्त्व वैदिकों का सर्वा देवता तत्त्व है। विष्णु की उपासना से सब देवताओं की उपासना हो जाती हैं, विष्णु के विकास के ज्ञान से सब देवताओं के विकास का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अतः ऐ० ब्रा० सबसे आदि में लिखता है "अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुर्वै सर्वा देवता।" (१-१-१) और इसी प्रकरण में ऐ० ब्रा० ने आगे चलकर लिखा है कि अग्नि रूप देवताओं में विष्णु अन्तिम है जैसे "विष्णुर्वै देवानां द्वारपः" (ऐ० ब्रा० १-५-३०) 'यत्श्रोत्रं तद्विष्णुः' (गो० उ० ४-११)। अतः विष्णु सर्वा देवता होते हुए व्यक्ति गत देवता रूप में सब देवताओं से कनिष्ठ है। पर इसे सब देवताओं में श्रेष्ठ कहा है 'विष्णुर्देवानां श्रेष्ठः' (श० प० १४-१-१-५)। इसका स्थान स्वभावतः इसी लिए उत्तरार्द्ध (दक्षिणायन) होना चाहिए। अतः श० प० ब्रा० (३-१-३-१ से ५ तक) ने 'अष्टौ पुत्रासो अदिते···मार्ताण्डमाभरत् ऋ० वे० १०-७२-८,९' की व्याख्या करते समय विष्णु को पराद्धर्य या दक्षिणायन का ही मानते हुए लिखा है "अग्निर्वै यज्ञास्यावराद्धर्यो विष्णुः पराद्धर्यः"। अतः यह तत्त्व हमारे पुरुष सूक्त के पुरुष पशु का समानान्तर देवता है और अदिति का अष्टम पुत्र मार्ताण्ड नामक आदित्य है। बेडौल मार्ताण्ड की काट छाँट से जो शेष रह गया था वह विवस्वान् आदित्य बना था "यामुह तद्विचक्रुः स विवस्वानादित्यः तस्येमा प्रजाः" (श० प० ब्रा० ३-१-३-५)। इसका समर्थन गीता से होता है। गीता में विष्णु नामक कृष्ण कहते हैं कि मैंने यह ज्ञान विवस्वान् को दिया विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को' जैसे

२—विष्णु सर्वदेवता

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तावाहनमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥" (४-१)

कृष्ण को देवकी का अष्टम पुत्र कहा जाता है, वह भी अदिति के अष्टम पुत्र कहने के बदले कहा है। छान्दोग्य ने 'कृष्णाय देवकी पुत्राय' वाक्य लिखा है। कृष्ण वैदिक तत्त्व है। श० प० ब्रा० (१-१-४-१) ने कृष्ण नाम के रहस्य के बारे में लिखा है कि कृष्ण यज्ञ का नाम है। वह मृग होकर भग गया। तब ऋषि कृष्णाजिन को स्वीकार करके काम चलाने लगे जैसे "अथ कृष्णाजिन मादत्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञो

ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छाया जहुः।" फलतः कृष्ण और विष्णु एक ही तत्त्व है जिसको महाभारत में दूसरा रूप दिया गया है। देवकी के सात पुत्रों के मरने और अदिति के सात पुत्रों के विकृत होने की समानता भी यहाँ नहीं भुलाई जा सकती। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण भगवान् का 'आदित्याना महं विष्णुः' (गीता १०-१०) वाक्य भी कम महत्त्व का नहीं समझा जा सकता। यदि श्रीकृष्ण, विष्णु रूप आदित्य हैं तो वे निश्चय रूप से अदिति के अष्टम पुत्र रूप मार्ताण्ड नामक आदित्य ही ठहरते हैं। उत्तरार्द्ध के आदित्यों में यही संदर्भ बैठ सकेगा। क्योंकि प्रथम चार आदित्य तो पूर्वार्द्ध में हैं और ये चार तथा अन्य तीन कुल सात के तो मरने की कथा दी गई है। दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि कृष्ण के कृष्णजिन को अदिति की त्वचा कहा है जैसे 'अदित्या त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्तु' (श० प० ब्रा० १-१-४-५) और इस सन्दर्भ की अदिति को पृथिवी या चतुर्थ सप्तक भौतिक सप्तक भी कहा है जैसे "अदित्यै रास्नासीतीयं वै पृथिवी अदितिः सेयं देवानां पत्नी एषा वा एतस्य पत्नी भवति" (श० प० ब्रा० १-२-४-१५)। इन सब क्रमिक कोटियों से उक्त वक्तव्य क्रमशः दृढ़ता पूर्वक पुष्ट परि-पुष्ट होता जाता है। और अन्त में इसी अदिति नामक पृथिवी की प्राप्ति के लिए जब देवता और असुरों में होड़ लगी तब विष्णु ने वामन के अवतार द्वारा देवताओं को इस पृथिवी या वेदि को दिलवाया जिसके बारे में श० प० ब्रा० भूमिका बाँधते हुए कहता है (मन्त्रों में वामन की चर्चा नहीं आ सकी है) 'वामनो ह विष्णुरास, तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नो दुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति' (श० प० ब्रा० १-२-३-५)। तब इस वामन* रूप विष्णु ने

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाँसुरे स्वाहा॥"
(ऋ० वे० १-२२-१७)

ऋचा के अनुसार अपने तीन पदों से भूर्भुवः स्वः तीनों लोकों को व्याप्त कर लिया और ये तीन पाद उसके चतुर्थ पाद के पांसुल रजोमयता में अदृश्य से हो गये। ये तीन लोक पृथिवी अन्तरिक्ष स्वर्ग नहीं हैं ये तो लौकिक लोक हैं। भूर्भुवस्वः क्रम से प्रथम तीन सप्तक है। इनके हस्तगत हो जाने से चतुर्थ सप्तक की पृथिवी नामक वेदि या सप्तक या भौतिकात्मा देवताओं के हाथ लग गई। अतः लिखा है। "तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त, तद् येनेमां सर्वां समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम; तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी।" (श० प० ब्रा० १-२-३-७ से १० तक)। उस वामन ने बृहत् शरीर से चार पादों से चतुष्पाद्ब्रह्म रूप से पूर्वार्द्ध के त्रिपाद का अतिक्रमण करके चतुर्थ को अपना लिया।

---

* यह वामन मध्यम प्राण भौतिकामृत युक्त है जिसका उल्लेख कठ० उप० (५-३) ने इस प्रकार दिया है "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामन-मासीनं विश्वेदेवा उपासते।"

इसको पूर्वार्द्ध के ३६० दिन रूप अंशों को चार समकोणीय ९०° अंशों में विभक्त करते हुए लिखा है "चतुर्भि साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीरवीविपत्। बृहच्छ रीरोविमिमान ऋक्कभि र्युवा कुमारः प्रत्येत्याहवम्॥" (ऋ० वे० १-१५५-६)। इस पृथिवी या वेदि को किस क्रम से प्राप्त किया गया इसका वर्णन "गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि, जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि" (श० प० ब्रा० १-२-३-६) वाक्य द्वारा उक्त समस्त कार्यावाही को छान्दस दर्शनानुरूप ढाल दिया है। गायत्री ब्रह्म में बिस्तार पूर्वक लिखित सौपर्ण आख्यान या कथा में ऐ० ब्रा० (३-३-२५) और श० प० ब्रा० ६-३-१४ ने 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाहरत्' नामक शीर्षक से, छन्दों के अनुसार सोम लाने के लिए पहिले त्रिष्टुप जगती आदि गईं पर वे न ला सकीं, पर अन्त में गायत्री सफल हुई। इस वेदि या पृथिवी को गायत्री के तीन पाद रूप २४ तत्त्वों के अतिक्रमण करके, त्रिष्टुभ् के ३३ तत्त्वों का अतिक्रमण करके, जगती के ४८ तत्त्वों का अतिक्रमण करके प्राप्त किया। अतः वेदि या पृथिवी भी एक नहीं, कई हैं। जितने तत्त्वों को (उत्तरार्द्ध के भौतिकों में) एक साथ छन्दानुसार कहा जाय उसी को वेदि कहा है 'यावत् वेत्ति तावत वेदिः' जितने को समझ कर कहा गया उतनी बड़ी वेदि है। और्णवाभ ने जिस 'गया' को इन पादों का सिर या प्रथम पाद कहा है वह विहार प्रान्त की गया नहीं है वरन्, 'गयाँ प्राणाँ स्त्रायते गायत्री' के प्राण रूप गया है प्रत्येक पाद गया है, गायत्री ही शिर है, तीनों पाद शिर है 'गायत्रीवैं यज्ञस्य शिरः' (श० प० १०-३-२-१)।

विष्णु का नाम केशव है। के 'आपोमयब्रह्मणि चतुर्थ सप्तके स्वपतीति केशवः'। यह केशव नामक विष्णु श० प० ब्रा० (५-३-३-२) के अनुसार न तो स्त्री है न पुरुष है, न लोहा है न हिरण्य, न क्रिमि है न दन्दशूक, यह लोहायस या लोहित दन्दशूक सा केशव पुरुष है जैसे "केशवस्य पुरुषस्य न वा एष स्त्री न पुमान् केशवः पुरुषो यदह पुमाँस्तेन न स्त्री यदु केशव तेनो न पुमान्नैतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसं नेंते क्रिमयो नाक्रिमयो यद्दन्दशूका अथ यल्लोहायसं भवति लोहिता इव दन्दशूकाः तस्मात्केशवस्य पुरुषस्य॥"। अथर्ववेद (१०-४-८-२७) ने भी इसका वर्णन कुछ इसी प्रकार का देते हुए लिखा है

३—केशव नामक विष्णु

"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥"

वास्तव में विष्णु सोमात्मा है

"यो वै विष्णुः सोमः स हविर्वा एष देवानां भवति।"

(श० प० ब्रा० ३-५-२-१९)

और यह सोम स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्तात्मा है जिसका विशद् वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् (१-४-३) ने इस प्रकार दिया है "स वा नै रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत् पतिश्च पत्नीश्चाभवताम्।" यही विष्णु जब 'यज्ञ' नाम से पुकारा जाता है तब

इसे पुरुषपशु का प्रतिनिधि बनाया जाता है। और यही सविता का भी प्रतिनिधि है "पशवो वै सविता पशवो वै यज्ञः" (श० प० ब्रा० ३-२-२-११)। इसी को पादत्रयी यज्ञ या ऋग्यजुसाम भेदी पादों का यज्ञ पुरुष (ब्रह्मा) भी कहा है "सैषा त्रयी विद्या यज्ञः" (श० प० ब्रा० १-१-४-३) जिसका सन्दर्भ कृष्ण या कृष्णजिन के साथ—जिसके बारे में पहिले लिखा जा चुका है—दिया गया है। अतः वैदिकों के अन्तस्तल में विष्णु नामक देवता का वहुत व्यापक प्रभाव स्वयं (अभिगत और अभिमत) सिद्ध हो जाता है। पंक्ति विष्णु की पत्नी कही गई है (गो० उ० २-९) उत्तरार्द्धीय यजुः भी विष्णु कहलाता है 'यजूंसि विष्णुः' (श० प० ४-६-७-३)

ऋग्वेद में विष्णु के कई सूक्त हैं, दो चार आवश्यक ऋचाओं के भाव—जिसमें विष्णु तत्त्व के विवरण अधिक स्पष्टता से प्राप्त हो सकते हैं—यहाँ दे दिये जाते हैं। प्रत्येक सूक्त ने विष्णु का वर्णन सर्वा देवता के रूप में किया है। क्योंकि सब ने इनके तीन पादों से तीन लोकों को व्याप्त करने की अन्तर्कथा को छोड़ना उचित नहीं समझा है। तीन पादों में पूरा पूर्वार्द्ध आ जाता है और उत्तरार्द्ध की मुख्य भूमि चतुर्थ सप्तक के बिना उक्त अन्तर्कथा व्यर्थ हो जाती है। ऋ० वे० १-२२ और १-१५४ में विष्णु के त्रिपाद क्रमण की व्याख्या विशेषतः दी गई है, कई ढंग से कही गई है। विष्णु को इन पाद रूप पर्वतों में भयंकर मृग (सिंह) की तरह रहने वाला और इन पाद रूप पर्वतों को मधुओं का मूल भण्डार (उत्स) तथा स्वधावान् बतलाया है। इन तीन पादों को त्रिधातु भी कहा है। अन्त में कहा है कि ये तीन पाद विष्णु के परम पद, उच्चतम स्थान है जिसके हम उन महलों में निवास करना चाहते हैं जहाँ अनन्त शृङ्ग वाली धेनुयें निरन्तर मधु रूप दुग्ध को दुहती रहती है वही हमें सबसे अधिक प्रिय परम पद प्रतीत होता है। यह है चतुर्थ सप्तक का रसमय आपोमय आदित्यमय (गावः) सोममय विष्णुपद जैसे

४—ऋग्वेद में विष्णु

"तां वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥"
(ऋ० वे० १-१५४-६)

जिनको पर्वविद्या के पर्वतों का भ्रम अब भी नहीं छोड़ता वे विष्णु के त्रिपादों के २४ पर्वतों की पूर्ण व्याख्या यहाँ देखकर उसे मिटा सकते हैं। वेदों में पर्व या पर्वत गिरि या गिरिष्ठा सब शब्द पूर्वार्द्ध के प्रत्येक तत्त्व का संकेत करता है, प्रत्येक तत्त्व एक पर्व या ग्रन्थि या पर्वत, या गिरि या शब्द ब्रह्म का एक रूप है। ऋ० वे० १-१५५-१ में पुनः इस विष्णु को उक्त पर्वतों के सानुओं या अधित्यकाओं में रहने वाला बताया है; इस सूक्त में विष्णु के तीन पादों को पार्थिव और पौस्य (पूषा के) बतलाया है, इसलिए कि प्रथम तीन पाद, जब विकसित होते हैं तो चतुर्थ भौतिक सप्तक रूप पूषा या पोषणशील भूतात्मा या पार्थिवात्मा या रजस्तत्वात्मा बन जाते हैं। अन्त में कहा है कि इसके दो क्रमण या पाद रूप तत्त्वों के भार ही से ब्रह्माण्ड कुचला जा रहा था, तीसरे पाद रूप तत्त्वों के विकास से उस सृष्टि वृक्ष की

टहनियाँ ऐसे हिलने लग गई जैसे हलकी टहनी में एक बड़ा श्येन पक्षी बैठ जाय। ऋ० वे० १-१५६ में लिखा है कि इस विष्णु की अर्चना में राजा वरुण, अश्विनी कुमार, मरुतः वेधाः, लगे थे, उसने दक्ष, और व्रज को धारण किया, वह दिनों (पूर्वार्द्ध) का ज्ञाता है और सखिवान् है तथा इन्द्र देवता से अधिक सुकृत कर्मा है। यहाँ पर दक्ष और व्रज को धारण करने की बात एक नई है। येही नाम वैष्णवों के गो लोक, व्रज गोप आदि की भूमिका के मूल स्रोत हैं। दक्ष २४ वाँ तत्त्व है, उसके पश्चात् सूर्योदय होता है। विष्णु का सम्बन्ध गायों और व्रज से अभिन्न रूप से है। गौवें, आदित्यों की ज्योतियाँ या वाग्ब्रह्माणियाँ हैं, येही गोपियाँ भी हैं ये सब सोम ज्योति या भौतिक दिव्य शरीर की प्रतीक हैं। यह आदित्य नामक विष्णु भी है। विष्णु का भौतिक शरीर पाना या सोम ज्योति बखेरना ही गायों की प्राप्ति या गोपियों की रासलीला या योग द्वारा विष्णु ज्योति प्राप्ति का आनन्द है। व्रज चतुर्थ सप्तक का आपोमय रसमय सप्तकीय महः लोक है। उक्त सूक्तों और विष्णु देवता की योग परक व्याख्या मेरे 'वैदिक योग सूत्र' में देखें।

—— × ——

अध्याय ७६

भगः (या आर्यों का भगवान् नामक देवता)

भारतीयों का भगवान् 'भगः' देवता है, त्रिपादामृत के सब देवता अखण्ड परिपूर्ण और असीम देव हैं, सब आध्यात्मिक भी हैं, सूर्य सोम इन्दु चन्द्र (वृत्र) विष्णु रुद्र वैश्वानर पूषा अश्विनी आदि भी सब स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त या अर्द्धनारीश्वर हैं। इन सब में सर्व प्रथम विभाजन, विभाग, भाग, भाग्य, भजन, भाजनता, आदि लाने वाला सर्व प्रथम तत्त्व है 'भगः'। इसीलिए ऋ० वे० ३-४९-४; ५-४६-६ में इसे विभक्ता देवता कहा है जैसे 'विभक्ता भागं' और 'भगो विभक्ता'। प्रथम उल्लेख में तो इसे भागों में भाग्यों में विभाजन करने वाला स्पष्ट कहा है। पुराणकारों ने इसीलिए प्रत्येक देवता को अर्द्धनारीश्वर रूप में वर्णित न करके विभक्त रूप भगवान् रूप में वर्णित किया है। इसीलिए वे विष्णु लक्ष्मी, ब्रह्मा सरस्वती, रुद्र पार्वती, को भगवान् भगवती आदि नामों से पुकारते हैं। इनका वैदिक स्त्रीपुमान्सम्परिस्वक्त अर्द्धनारीश्वरीय स्वरूप केवल रुद्र में ही कहा गया है। शेष देवताओं के बारे में वे वैदिक भावना को भुला बैठे हैं। इसीलिए वेदों ने भगः देवता को ही वास्तविक भगवान् कहा है जैसे

१—भगः और भगवान्

"भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥"

(ऋ० वे० ७-४१-५ अथर्व ३-१६-५, तै० सं० २-५-५-१, ८-९-८ और वा० सं० ३४-३८)

यह मन्त्र वशिष्ठ ऋषि के भग सूक्त का है जिसे सभी वेदों ने अपना लिया है। जिसका अर्थ यह है :—भग देवता ही हमारा वास्तविक भगवान् है, देवताओं का भी भगवान् है, इससे हम और देवता भाग्यवान् बनें। हे भग हम तुम्हारा आह्वान और हवन करते हैं, और तुम यहाँ हमारे सामने उपस्थित हो जाने की कृपा करो।

"विभिद्वा चरत एकया सह प्रवासेव वसतः"

(ऋ० वे० ८-२९-८)

कि जिसने एक वास में रहने वालों को दो भागों में विभक्त कर दिया वह भग है। प्रत्येक पुरुष अपनी होने वाली स्त्री से इसी के द्वारा विभक्त होता है। जो इस विभाजन से उत्पन्न होती है वही उसकी जाया है, ततः जायते इति जाया उसी से उत्पन्न उसकी जाया होती है, (यम यमी देखें)।

भगः विश्वे देवता है। इसका स्थान अतः दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध है जिसका सन्देहहीन प्रमाण स्वयं ऋग्वेद इस प्रकार उपस्थित करता है

"अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥"

२—विश्वेदेवता भगः (ऋ० वे० ७-४१-६)

कि अर्वाचीन या दक्षिणापथ के वासी वसुसंविद् भग देवता को अन्नमय प्राण अश्व बन कर रथ की तरह (विकास की ओर) बहन करें या खींचते चलें। यह भगवान् भग देवता अदिति का पुत्र है, स्वभाव में उग्र है, पर पूर्वार्द्ध की अदिति (त्रिपादामृत) को विशिष्ट रूप से धारण करने वाला है, बड़ा धनी है, पर वैसे दरिद्र यम राजा ने ऐसे माननीय भग से कहा कि हे भग तुम यज्ञ चरु को खाओ। जैसे

"प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥"
(ऋ० वे० ७-४१-२)

इस खाने के बारे में श० प० ब्रा० (१-६-२ पूरा) ने एक कथा दी है कि प्रजापति अपनी दुहिता से पापाचार से युक्त हुआ तो रुद्र उसके पीछे दौड़े, तब प्रजापति का रेतः स्खलित हुआ; वह अग्निमारुत का उक्थ्य बना, तब देवताओं का क्रोध शान्त हुआ। यह प्रजापति यज्ञ था। अब उसकी आहुति कनीय हो गई तो उसे खाने के लिए भग को दिया गया, भग ने उसकी अवेक्षा की; अतः उसकी आँखें फूट गईं। इसीलिए भगः को अन्धा कहा जाता हैं। भग देवता सबका प्रणेता सत्याराधक, धीमान्, है वह गो (दीप्ति रसमयता) अश्व (प्राणमयता) नर (भौतिकता) से सबको नर-नारायण का रूप देता है जैसे

"भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुद वा ददन्त।
भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥"
(ऋ० वे० ७-४१-३)

इसीलिए अधिकांश विश्वेदेवता सूक्तों में भग देवता का आह्वान प्रायः किसी न किसी रूप में आ जाता है। जैसे भग को उत्तरार्द्ध या कृष्ण पक्ष या रात्रि में बतलाने वाली ऋचा एक और है जो कहती है

"स क्षपावान् स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम्।"
(ऋ० वे० ३-५५-१७)

कि भग देवता राजा है क्षपावान् या रात्रि में उत्पन्न होता है। रात्रि दर्शन का उत्तरार्द्ध है, वह भग राजा देवता, देवताओं के असुरत्व की एकता की महत्ता सूचित करता है। यह 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' टेक वाला सूक्त विश्वामित्र का है और विश्वेदेवताओं की सबसे अच्छी व्याख्या देता है। इसी अन्तिम मन्त्र के पूर्वार्द्ध में भग के बारे में लिखा है कि वृषभ तो अन्य स्त्रियों पर रोरवण करता है (प्यार करता है) पर यह भग अन्य स्त्रियों में रेतः धारण करता है जैसे

"यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः।"
(३-५५-१७ पूर्वार्द्ध)

इसका समर्थन अन्यत्र ऋ० वे० ३-५४-१४ से होता है जिसमें लिखा है

"विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन् ।
उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वी र्न मर्धन्ति युवतयो जनित्रीः ॥"

इत्यादि । भग शब्द के निम्नलिखित अर्थ है 'भगं श्रीकाम माहात्म्य वीर्य यत्नार्ककीर्तिषु" (अम्मर ३ नानार्थ २६)

भग के अन्धे कहे जाने का कारण यह है । सब वैदिक देवता ऋत सत्यशर युक्त मधुवैधुतीय हैं । इनके इन दो शरों को सन्धान प्रत्यवधान या समञ्चन प्रसारणशील प्राण कहते हैं । जब तक ये दोनों साथ रहते हैं तब तक नेगेटिव पोजीटिव चार्जों के योग के समान ये प्रकाशित रहते हैं । भग ने इन्हें विभक्त करके अलग-अलग कर दिया तो स्वयं ही वे दोनों भाग प्रकाशहीन या अन्धे या अन्धकार-मय हो गए । ज्ञान या प्रकाश के लिए दो का योग आवश्यक है । अतः प्राणों के योग से ध्यान चिन्तन प्रकाश, प्राणवान् योग से रसानुभूति, दो जनों के परामर्श से ज्ञान ज्योति, दो जनों के बुरे योग में पापाचार आसुरी भाव कर्मादि भी होते हैं । प्रकाश दैवी तत्त्वों का ही है ।

अध्याय ७७

पूषा

पूषा की उत्पत्ति के बारे में पहिले चतुष्पाद्ब्रह्म नामक शीर्षक में लिखा जा चुका है। इस पूषा नामक शब्द की व्याख्या 'पुष्यतीति पोषयतीति पूषा' है, जिसका अर्थ है जो तत्त्व पुष्ट है या पोषण करता है वह पूषा है।

१—पूषा का स्थान

यह शूद्र तत्त्व है (बृह० उप०)। अतः चतुर्थपाद या सप्तक है, जो आदित्यों में आता है। पूषा पञ्चम आदित्य से बारहवें आदित्य तक सब के तत्त्व हैं, परिपुष्ट पूषा अन्तिम अज नामक पशु तत्त्व या ३१ वाँ तत्त्व है। इसीलिए अश्विनी को इस पूषा का पितर कहा है 'पुत्रः पितरा ववृणीत पूषा' ऋ० वे० १०-८५-१४) और इसी भाव को

"पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
सत्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्नि देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥"

ऋचा (ऋ० वे० १०-१७-३) पुष्ट करती हुई कहती है कि भुवनों का संरक्षक विद्वान् अनष्ट पशु अग्नि रूप पूषा, सुन्दरदानी देवताओं और पितरों को अपना पोषण दे।' यहाँ पर यास्क ने तृतीय पाद को संशय युक्त बतलाया है, उनकी समझ में 'पितर' शब्द का समन्वय नहीं आया जो पूर्वोक्त संदर्भ की अपेक्षा रखता है। सम्भवतः वह यास्क जी की दृष्टिपथ में न आया हो, पूषा को करम्भ या लप्सी प्यारी हैं। यह अदन्तक है रजो रूप है अतः इनको पिष्ट का पुरोडाश दिया जाता है (तै० १-५-११-३)।

'पूषा' पर कई स्वतन्त्र सूक्त हैं, कई मन्त्र विश्वेदेवता या मिश्रित देवता सूक्तों में मिलते हैं। पूषा प्रथम भौतिकता का उदय करता है। अतः दिशाओं का उद्भव और पितरों की पथ्या का सृजन इसी तत्त्व से प्रारम्भ होता है,

२—तूषा के सूक्त

जिसका वर्णन निम्न दो मन्त्र करते हैं

"पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन्॥
प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिव प्रपथे पृथिव्याः।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्॥"
(ऋ० वे० १०-१७-५,६)

और पृथिवी तत्त्व—जिसका पूर्व पक्ष द्यावा है,—का उद्भव भी पूषा से ही प्रारम्भ होता है, अतः यही तत्त्व द्यावापृथिवी को पूर्णता देता है। पृथिवी के माने भौतिकात्मा स्वरूप जलीय या वैद्युतीय दिव्यशरीरी अखिल ब्रह्माण्ड है, द्यावा उसकी ब्राह्म आत्मा, त्रिपादामृत है। पूषा के पथस्पति होने की बात की पुष्टि "वयमुत्वा

पथस्पते रथं न वाज सातये। धिये पूषन्नयुज्महि ॥" (ऋ० वे० ६-५३-१) मन्त्र करता है; साथ में यह पूषा को बुद्धि रूप मानता है। चतुर्थ सप्तक के सब देवता तो बुद्धि (धी) रूप के ही होते हैं। पूषा के अज में परिपाक की पुष्टि निम्न ऋचा करती हुई उसे 'अजाश्वः' कहती है जैसे

"अजाश्वः पशुपा वाजस्पत्यो धियञ्जिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः ॥"

(ऋ० वे० ६-५८-२)

पूषा का एक नाम 'अष्ट्रा' भी है, यह अन्तिम ऋचा के उत्तरार्द्ध में तथा कई अन्य स्थलों में इसके लिए आया है जैसे

"अष्ट्रा पूषा शिथिरामुद्वरीवृजत्सञ्चक्षाणो भुवना देव ईयते ॥" (वहीं)

और ६-५३-९ में इस अष्ट्रा को पशुसाधनी गो ओपशाघृणे नाम से पुकारा है। पर इसे पूषा का ही बताया है। इनके साथ ऋ० वे० ६-५८-१ और ६-४०-८ मन्त्रों को भी पढ़ कर देख लें, उनमें भी प्रायः यही भाव हैं। पूषा सूर्य का वह रूप है जिस पर भौतिकात्मीय तत्त्व का पर्दा लगा है। वह भौतिकात्मा भी व्यापक और विभु है।

पूषा का कोष है जो कभी घटता नहीं, चक्र है, जो कभी घिसता नहीं, वज्र है जो कभी व्यर्थ नहीं जाता है "पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽवपद्यते। नो अस्य व्यथते पविः ॥" (ऋ० वे० ३-५४-३) पूषा की हिरण्ययी नाव है जिससे वह चतुर्थ सप्तकीय समुद्र के अन्दर पनडुब्बी की तरह, ऊपर नाव की तरह और अन्तरिक्ष में विमान की तरह इच्छानुसार आ जा सकता है (अर्थात् पूषा व्यापक तत्त्व है)

३—पूषा का वर्णन

"यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्मयी रन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः ॥"

(ऋ० वे० ६-५८-३)

पूषा का नाम मघवा सुबन्धु, इलास्पति, भी है, जैसे

"पूषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इलस्पति र्मघवा दस्मवर्चाः।
यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम् ॥"

(ऋ० वे० ३-५८-४)

पूषा को देवताओं ने सूर्या को अर्पित किया है, उसे सूर्या का पुत्र बना दिया। पूषा ने अश्विनी को पिता रूप में स्वीकार किया (सबसे प्रथम उद्धरण १०-८५-१४ देखें) पूषा का रेवती नक्षत्र है (तै० १-५-१-५)। यह विशां विश्पति है (तै० २-५-७-४)। इसकी स्त्री सरस्वती है (श० प० २-५-१-११)।

पूषा ऋत का रथी या सारथि है, इसे विमुचो नपात् नाम से भी पुकारा जाता है। रथ भौतिक तत्त्व का होता है। अतः पूषा वास्तविक रथी है और ऋत या आध्यात्मिक त्रिपादामृतों का रथ या सारथि है। चतुर्थ सप्तक पर्जन्य का भी है वृष्टि का भी और विद्युत् का भी, अतः इसे विमुचो नपात् भी कहा जाता है। आश्चर्य

करने की बात नहीं है कि इसको स्वसुर्जार (बहिन का यार) भी कहते हैं। उषा का स्थान और पूषा के उद्भव का स्थान प्रायः एक ही है। अतः ये दोनों भाई बहिन भी कहलाते हैं, पर पूषा को जब प्रजापति कहते हैं तब वह उषा रूप वाणी के संगम को प्राप्त होने से 'स्वसुर्यो जार उच्यते' कहते हैं। साथ में इसे 'मातुर्दिधिषुः' नाम से भी पुकारा है। इसे इन्द्र का भाई भी कहा गया हैं। अन्त में इस पूषा को 'कपर्दी' या जटाजूटधारी ईशान (रुद्र) महः (चतुर्थ सप्तक) नाम से भी कई स्थलों में पुकारा गया है। जैसे

"एहि वां विमुचो नपादघृणे सं सचावहै।
रथी ऋतस्य नो भव ॥"
"रथीतमं कपर्दिनमीशानं राधसो महः।
स्वसुर्यो जार उच्यते ॥"
"मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः।
भ्रातेन्द्रस्य सखा मम ॥"
(ऋ० वे० ६-५५-१ से ५ तक)

इस सूक्त के लेखक भरद्वाज वार्हस्पत्य ऋषि हैं जो पूषा को अपना सखा रूप इष्ट मानते हैं। पूषण को 'करम्भ'* (लप्सी) बहुत प्यारे हैं। इनके दाँत नहीं हैं। जिस कथा में भग की आखें फूटी थी, उसी में लिखा है कि यज्ञ का चरु जब पूषा को खाने को दिया गया तो इनके दाँत गल गये। अतः पूषा को अदन्तक कहते हैं। इनको पिष्ट का चरु पुवे लप्सी (करम्भ) इत्यादि इसीलिए दिये जाते हैं (भगः देखें) ईशावास्य उपनिषद इसी ईशान ईश का है।

———

* य एवमादिदेशति करम्भादिति पूषणम्। न तेन देव आदिशे ॥ (ऋ० वे० ६-५६-१)

अध्याय ७८

त्रयः केशिनः

केशी अग्नि (आत्मा) को धारण करता है, केशी विष (भौतिक तत्त्व) को भी धारण करता है, इस प्रकार केशी द्यावा पृथिवी या रोदसी को भी धारण करता है। ये तीन केशी तीन मुनियों के समान हैं जिन पर वायु तत्त्व की डोरी बँधी हुई है। इनके वस्त्र कुछ-कुछ पीले (पिशिङ्ग) रंग के मटमैले से हैं, ये वात की गति से जाते हैं, ऐसा देवताओं ने देखा या कहा है। वायुओं में ही ये उन्मत्त होकर रहते हैं। अन्तरिक्ष से चलते हुए इन्होंने अखिल ब्रह्माण्ड की रचना कर दी। ये देवताओं के मुनि हैं, देवताओं की सुकृति और सखा भाव के लिए सब कुछ करते हैं। वायु इनका अश्व है, वायु के सखा हैं, देवताओं के अभीष्ट मुनि हैं। प्रथम और अन्तिम दोनों केशी समुद्र (चतुर्थ सप्तक) तक आने वाले हैं। इनका विकास अप्सराओं गन्धर्वों मृगों के अनुसार होता है, केशी केत का विद्वान् (चतुर्थ सप्तकीय भौतिक तत्त्व का ज्ञाता) है। वह सबका सखा स्वादु और शान्तस्वभाव का है, वायु ने इसके लिए उस समुद्र का मन्थन किया जिससे विष (भौतिक तत्त्व) निकला उसे केशी ने रुद्र के साथ पी लिया, दूसरे शब्दों में भौतिकता को स्वीकार कर लिया। क्योंकि केशी तो विश्व का वह स्वरूप है जो सूर्य रूप में उदित हुआ था या उसकी ज्योति रूप में उदित हुआ था जैसे "केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योति रुच्यते।" (ऋ० वे० १०-१३६-१)। शेष भाव निम्न ऋचाओं का दिया गया है।

१—केशी की व्याख्या

"केश्यग्निं केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी।
मुनयो वातरशना पिशिङ्गा वसते मला॥
वातस्यानु ध्राजिं (गतिं) यन्ति यद्देवासो अविक्षत।
उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आतस्थिमाँ वयम्॥
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ।
अन्तरिक्षेण पतति विश्वारूपावचाकशत्॥
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।
वातस्याश्वो वायोः सखा थ देवेषितो मुनिः॥
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्चपूर्व उतापरः।
अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्॥
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मन्दिन्तमः।
वायुरस्मा उपामन्थतपिनष्टिस्मा कुनन्नमा॥
केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणा पिवत्सह॥"

(ऋ० वे० १०-१३६-१ से ७ तक)

ये तीन केशी या तीन जटाधारी कौन हैं ? यह प्रश्न सबके मन में उठेगा। नीचे दी जाने वाली ऋचा से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जावेगा कि ये तीन केशी या तीन जटाधारी तत्त्व वही हैं जिन्हें बृहदारण्यक उपनिषद् ने 'त्रयं वा इदं नाम रूपं च कर्म' नाम से पुकारा है। पर इन तीन केशियों का संबन्ध संवत्सर ब्रह्म से जोड़ा गया है। नाम का उक्थ वाणी है, कर्म का आत्मा, रूप का चक्षुः। इस प्रकार ये तीन केशी उक्त तीन 'वाक्प्राण मनोरूप' के त्रिवृत् त्रिजटा या त्रिवेणी रूप हैं। जिनका विकास संवत्सरब्रह्म विकास प्रणाली में ऋतुशः या सप्तक क्रम से होता है। यही बात निम्न ऋचा कह रही है जैसे

२—त्रयः केशिनः की व्याख्या

"त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभि र्ध्राजि रेकस्य ददृशे न रूपम्॥"

(ऋ० वे० १-१६४-४४)

कि तीनों केशी ऋतुओं या सप्तकों के क्रम से विकास को प्राप्त होते हैं (विचक्षते)। इनमें से वाक् प्रथम केशी संवत्सर के प्रारम्भ में सृष्टि का बीज बोती है; इसका विकास प्रथम सप्तक में वसु रूप में मूलधन रूप में बीज रूप में होता है। यह वसन्त ऋतु है; द्वितीय केशी का विकास ग्रीष्म ऋतु में या द्वितीय सप्तक में होता है, इसका रूप नहीं दिखाई पड़ता, यह गति (ध्राजिः) से ज्ञात होता है, यह वायव्य तैजसात्मा है मनोरूप है। यह रुद्रों या जीवात्मा रूप में विकसित होता है। तृतीय केशी वर्षा ऋतु में तृतीय चतुर्थ सप्तक में विकसित होता है, यह आदित्य रूप में विकसित होता है, और अखिल ब्रह्माण्ड को भौतिकात्मा के रूप में प्रस्तुत करता है। यह रूपवान् सृष्टि करता है, जिसका आभास आपोमय नृमय पशुमय शूद्र सप्तक चतुर्थ में चक्षु रूप सूर्य से प्रारम्भ होता है। यह रजोमय तमोमय विद्युन्मय ब्रह्माण्ड का एक अखण्ड पटल या पिण्ड है जिसे सांख्य वाले बुद्धि और वैदिक 'धीः' तत्त्व कहते हैं। इन तीनों का क्रमिक विकास तो होता है, पर वाक् और मनः के केशी भी रूप के केशी के साथ-साथ रहते हैं पूर्व-पूर्व के केशियों के बिना उत्तर-उत्तर का केशी रह भी नहीं सकता, अन्त में तीनों केशी, एक सजीव सब्रह्म सभौतिक ब्रह्माण्ड को प्रस्तुत करते हैं। अतः 'त्रयः केशिनः' व्यक्त ब्रह्माण्ड में सदा साथ-साथ रहते हैं।इन्हीं को त्रयः केशिनः कहते भी हैं। इन सब बातों का समर्थन ऋ० वे० १०-१३६ सूक्त के मन्त्रों से भी होता है। इसका पहिला और अन्तिम मन्त्र तो इसकी कुञ्जी सी है; प्रथम मन्त्र में केशी को सूर्य रूप आँख का भौतिक स्वरूप बताया है, अन्तिम में, 'केशी ने रुद्र के साथ विष पान किया' कहकर द्वितीय केशी को रुद्र माना है। इन्हें जटाधारी मुनि तो पञ्चपर्वाविद्या के अनुसार माना गया है, त्रिजटा, पञ्चजटा मध्ये हैं, दस-दस की एक जटा या केशी या मुनि या तत्त्व है।

अध्याय ७९

अजएक-पात्

'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'
"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुघ्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्"
(अथर्व और बृह० उप०)

अज एकपात् नामक देवता तो सृष्टि वृक्ष है। वह एकपात् या एक मूल का पूर्वोक्त वर्णना सम है। बसन्त ऋतु अज से उत्पन्न, होने से आज्य कहलाता है, वैसे अज तत्त्व दो प्रकार का है (१) अज एकपात् (२) अज चतुष्पात्। द्वितीय अज, पञ्च पशुओं—पुरुषपशु, अश्व, गौः, अविः अज-मध्ये अन्तिम और चतुर्थ सप्तक का अन्तिम या ३१ वाँ तत्त्व है, अज चतुष्पात् एक दैवत्य और सर्वा देवता है। (चित्र देखें)। पर अज एकपात् सर्वा देवता और आदि तत्त्व है, वह उक्त से भिन्न है। पादीय विकास के बारे लिखा है:—

"एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन्पङ्क्ती रुपतिष्ठमानः॥"
(ऋ० वे० १०-११७-८ अथर्व १३-२-३७; ३-२-५)

कि सबसे पहिले एकपात् का विकास होता है उससे फिर द्विपात् का, उनसे त्रिपात् का, तीनों से चतुष्पात् का। बात यह है कि वही प्रथम तत्त्व रूप अज एक पात् भी क्रमिक विकास से अज चतुष्पात् भी बनता है। अतः उसे विश्वे देवताओं में सम्मिलित किया गया है। पर यह नित्य ही एकपाद् रहता और कहलाता है क्योंकि यह अज नाम का सृष्टि वृक्ष है चतुष्पात् रूप में विकसित होने पर भी एकपात् ही रहता है। अतः इसको यहाँ सर्वादेवता के रूप में आहूत किया गया है। इस अज एकपाद् के बारे में निम्न मन्त्र मिलते हैं:—

(१) "कथा कविस्तुवीरवान्कयागिरा बृहस्पतिर्वावृधते सुवृक्तिभिः।
अज एकपात् सुहवेभिर्ऋक्भि रहिः शृणोतु बुध्न्यो हवीमनि॥"
(ऋ० वे० १०-६४-४)

(२) "पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।
विश्वेदेवासः शृणुवन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्याः॥"
(ऋ० वे० १०-६५-१३)

(३) "समुद्रः सिन्धूरजो अन्तरिक्षमजएकपात्तनयित्नुरर्णवः।
अहिर्बुध्न्यः शृणुवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम॥"
(ऋ० वे० १०-६६-११)

(४) "उत नो ऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात् पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु॥"
(ऋ० वे० ६-५०-१४ यजुः ३४-५६)

"शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नो ऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।"
(ऋ० वे० ७-३५-१३)

इन सब मन्त्रों में अज एकपाद देवता का समाह्वान अकेले नहीं वरन् अन्य देवताओं के साथ-साथ है, जैसे बृहस्पति, इन्द्र (पावीरवी) अहिर्बुध्न्यः, सिन्धु आपः, सरस्वती अन्तरिक्ष अर्णव इत्यादि। इनसे अज एकपाद् नामक अज देवता पर कम प्रकाश पड़ता है, पर अथर्ववेद ११-७-४-२१ में अज एकपात् के बारे में स्पष्ट विवरण दिया मिलता है। इसमें लिखा है कि प्रलय काल में जब न तो आज था न कल, न रात थी न दिन, जो कुछ था उसका कहीं अन्त नहीं था। उस स्थिति में जब जो कुछ था वह सलिलमय सरिरमय शरीरमय या शरमय या विद्युन्मय था उससे हंस रूप आत्मा ने उस शरमय वैद्युतीय आपोमय समुद्र से उठकर एकपात् 'अज नामक वृक्ष' को आरोपित किया, तब तक दोनों पाद या चारों पाद या सब पाद कर्कट मुद्रा में संकुचित थे। सर्व प्रथम एकपात् का विकास आरम्भ किया गया। जैसे

"एकं पादं नोत्खिदति सलिताद्धंस उच्चरन्,
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री
नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन॥"

इसका अग्रिम विकास क्रम ऋ० वे० १०-११७-८ और अथर्व १३-२-२७, १३-३-२५) के पूर्व उद्धृत मन्त्रों में स्पष्ट दिया ही गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने

"अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥"
(४-५)

मन्त्र में भी दो अजों की चर्चा की है। एक अज भोगलिप्त हैं पञ्चपशुमध्ये अन्तिम या ३१ वाँ तत्त्व है, दूसरा तत्त्व भुक्तभोग और त्यक्त अजा है, यह प्रथम अज या अज एकपात् है। अज एकपात् की उचित व्याख्या 'अञ्जति एकेन पादेनेतिअज एकपात्' है कि जो केवल एक पाद होकर ही विकास को प्राप्त होता है वह अज एकपात् है या ऐसा ब्रह्म अज (अजन्मा) सृष्टि का वृक्ष है, इसी की व्याख्या में कहा जा सकता है कि "एकेन पादेन पिबतीति, एकेन पादेन पातीति, एको वाऽस्य पाद इति"—कि अज एकपात् वह है जो एक पाद से पीता है (एक पाद एक जड़ के समान) एक मूल से पीता रहता है; या जिसका एक मूल है। और जब अज शब्द अज् अद् भक्षणे धातु से बनता है तो अज एकपात् वह है जो एकपाद से पीता या खाता है या विकसित होता है। यही रक्षा है, यही एकपादता है, क्योंकि यह अन्नाद है। इसका अतिरोहण या विकास, अन्नाद या आध्यात्मिक भौतिकता के अजन या भक्षण या पान से होता है, वह भी एक पादादि के क्रम से।

'यदन्नेनाति रोहति'

(पुरुष सूक्त) । ऐसे हीं अज के लिए यजु० १७-३० लिखता है

"अजस्य नाभावध्येकमर्पितम्"

कि अज की नाभि में अर्पित है, और ऋग्वेद १-१६४-६ लिखता है

"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वियस्तस्तम्भ षलिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥"

कि कर्तृत्वहीन प्रलय कालीन अज जब सृष्टि करना चाहता था उस समय उसने छह रजसों (षडष्टकों) का स्तम्भन या अपने में संरक्षण कर रखा था उसका एक ही रूप था, उसके बारे में जानकारी के लिए मैं विद्वानों से पूछता हूँ। यह अज अजर है; अजर ही अज है, अर्थात् इसमें कभी परिवर्तन नहीं होता, सदा एक सा रहता है । अतः अज या अजर कहलाता है । यही बात सिद्ध करने के लिए श० प० ब्रा० ६-१-१-११ में लिखा है अज वह है जो लिप्त या व्याप्त है 'लिप्तो रसो अजः' । इस अज के वारे में अथर्ववेद ९-३-१ पूरा सूक्त है जिसमें लिखा है कि अज तमः को दूर करके तृतीय नाक या शुचिषद् (हंसः शुचिषद्) में रहता है, यह पञ्चौदन है कामधेनु है, इसीसे सब ऋतुयें संवत्सर ब्रह्म सब देवता आदि क्रम से उत्पन्न होते हैं इत्यादि । उद्धरण वहीं वेद में पढ़े । ऐसे महत्वपूर्ण 'अजएकपात्, या अज या अजा को जो लोग बकरा बकरी कहते हैं वे कैसे विद्वान् हैं यह अब आप ही सोचें ।

———

अध्याय ८०

अहिः, बुध्नः, बुध्न्य और अहिर्बुध्न्यः

अहि पूजा या नाग पूजा तो प्राण पूजा है पर आजकल की शताब्दी के वैदिक विद्वान् विगत कुछ शताब्दियों के ऐसे पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा में बह कर— जिन्होंने वेदों के सर्वसमीपी भाष्य रूप ब्राह्मणोपनिषदों को (इनके मूल रहस्यों को न जान सकने और समझने से) प्रामाणिकता की भूमि से ही हटा डाला है—यह कहने के अभ्यस्त से हो गये हैं कि आर्यों ने अहि पूजा तथा इसके सदृश सैकड़ों अन्य पूजाओं को अनार्यों से नकल करके अपनाया। इसके बराबर बड़ी भूल दूसरी नहीं हो सकती। किसी एक काम को समझ-बूझ कर भी चलाया जाता है और योंही एक लकीर की तरह भी। द्वितीय कोटि में नासमझी का मुख्य हाथ रहता है जिसका बोल-बाला भयभीत जंगली या असभ्य जातियों में रहता है। वेदों वाले वैदिक आर्य अपने दर्शनमय वैदिक साहित्य युक्त थे, सभ्य थे, निर्भीक ज्ञान पुञ्ज रूप ज्ञान ज्योतिष्मान् थे, वे असभ्यों की तरह किसी प्रथा को चलाने वाले कदापि न तो रहे, न थे। उनका अहिवाद दार्शनिक पृष्ठभूमि से पुष्ट है जिसकी ऐतिहासिक मूल भित्ति अहि या नाग नामक अवैदिक या अदेवयू जाति के आर्य प्रजा ही है। यह प्रजा आसुर्य प्रधान थी, अतः इनका सार्थक चित्रण और अभिनय आसुर्य या भौतिकता प्रधान स्वरूप में—दूसरे शब्दों में देव रूप या दैवी गुण प्रधान वैदिक आर्यों के भ्रातृव्य या विरादर या द्रोही या भौतिकता रूप शत्रु रूप में किया गया है। वेदों ब्राह्मणों आरण्यकों और उपनिषदों में तो कहीं भी लौकिक अहि या सर्प या नाग की पूजा का विधान नहीं मिलता। प्रत्युत इन्हें तथा वैदिकों के आसुरी अहि आदि को भी भ्रातृव्य द्विट् और शत्रु नाम से पुकारा गया है। परन्तु जब इस आसुरी प्रवृत्ति, शत्रु पदवाच्य भौतिकात्मा को विजित कर वश में कर लिया जाता है तो फिर वह आसुरी प्रवृत्तिहीन होकर देवात्मा हो जाता है। तब उसे वैदिकों ने विश्वे-देवताओं में से एक देवता मान लिया है। वास्तव में नाग या अहि नाम प्राण का है। प्राण दो प्रकार का है एक आध्यात्मिक दूसरा भौतिक। भौतिक प्राण का नाम कई उपनिषदों में नाग नाम से पुकारा है। अतः अहिर्बुध्न्य और वृत्र तो प्राण रूप नाग हैं जिस प्रकार नाग पादहीन सारे शरीर के वेग से चलता है वैसे ही प्राण भी नाग की तरह पादहीन से सारे शरीर से चलते हैं। ये प्राण द्विमुख हैं। अतः ऊपर नीचे दोनों ओर बराबर चलते हैं। इसलिए द्विमुख नाग प्राणोदान है। नाग पूजा प्राण-पूजा है। यह दर्शन की वैज्ञानिक व्याख्या देता है। इसी भाव के विकास रूप में पुराणों के शेष नाग से नाग पूजा का संकेत, विष्णु के आसन या वाहन रूप से प्रारम्भ समझी जा सकती है, यह समझ में आने वाली बात है, पर प्राण रूप में ?

१—अहि पूजा या नाग पूजा

तब जब भौतिकात्मा को हम देवताओं (त्रिपादामृत) का आसन वाहन या दास बना लेते हैं या जीत लेते हैं। जित भूतात्मा तो देवात्मा रूप बन जाता है। तब उस शेष नागादि की पूजा का विधान देवात्मा भूतात्मा या या प्राण रूप में किया जाता है तो कितना अच्छा है। गीता के 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' वाक्य में आत्मा शब्द का प्रयोग इसी अजित भूतात्मा (रिपुः) और जित भूतात्मा (बन्धु) के लिए निश्चित रूप से आया है। इस स्वरूप में नागपत्नी या नाग कन्यायें भौतिक वाक् ब्रह्माणी हैं, इनके भी वही अजित और जित दो ही रूप हैं। जिन नाग कन्याओं के विवाह की चर्चा ऋषि मुनियों के साथ की गई है वे हैं जित भूतवाग्ब्रह्माणी। इतिहास में तो इन नाग, अहि वंश वाले अवैदिक अदेवयू आर्यों से वैदिक आर्यो का परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होता ही रहा, पर लगभग उन्हीं से जो लगभग वैदिक आर्यों की तरह ही रहन-सहन और संस्कृति में होते जाते थे। इसीलिए श० प० ब्रा० (७-३-१-२५) ने लिखा है कि सर्प या अहि शब्द इस भौतिक ब्रह्माण्ड या भौतिकता का प्रतिनिधि है जो क्रम से विकास को प्राप्त हो जाते हैं जैसे "इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यदग्निस्ते देवा एतमात्मानमुपधायाबिभयुर्यद्वै त इमे लोका अनेनात्मना न सर्पेयुरिति।" देवतागण सर्प को इसलिए धारण करते हैं कि ये सर्प उनके शरीर के प्राण हैं।

२—वेदों का अहिवाद

अस्तु वेदों में 'अहि' नाम अयन से चलने वालों को दिया गया है। वैदिक दर्शनों में दो प्रसिद्ध अयन हे। उत्तरायण (पूर्वार्द्ध) दक्षिणायन (उत्तरार्द्ध)। अहि का जन्म उत्तरायण से होता है। जैनी लोग तो दोनों को सर्पिणी नाम से पुकारते हैं, वे पूर्वार्द्ध को उत्सर्पिणी नाम से पुकारते हैं और उत्तरार्द्ध को अधो सर्पिणी। परन्तु ये लोग इन दो शब्दों से प्रलय और सृष्टि इन दो का संकेत करने लगे हैं, और ये लोग इन शब्दों की मौलिक भावना को समूल भुला बैठे हैं या उन्हें रूपान्तर दे चुके हैं। इनकी यह धारणा पौराणिक युग के अहोरात्र वाद से मिलती है जिसमें दिन सृष्टि है और रात प्रलय; पर वैदिक दर्शन में दिन आध्यात्मिक सृष्टि है रात्रि भौतिक सृष्टि। दोनों अहोरात्र या दोनों अयन, सृष्टि के ही रूप हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है जैनियों ने वेदों के इस मत को पौराणिक युग में वैदिक भाषा में पौराणिक स्वरूप में अपनाया।

३—अहि रूप वृत्र

वेदों के सबसे छोटे और सबसे बड़े (अणोरणीयान् महतो महीयान्) भौतिकता रूप अहि का नाम वृत्रासुर है। यह वृत्र सर्व प्रथम भौतिकात्मा स्वरूप अणु है, सर्वव्यापी अणु है, अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मूल बीज यही अहि रूप वृत्र है। यह अहि या वृत्र, इन्द्र या त्रिपादामृत का जित या दास या वशंगत तत्त्व है और बिना इस अहि रूप भौतिकात्मा के यह दृश्यमान भौतिक सृष्टि सत्ता में भी नहीं आ सकती, स्वरूप पाने की चर्चा दूर की बात रही। पर नव-नव निर्मित सृष्टि में इस भौतिकात्मा को

जीतते रहने के प्रयास में लगे रहने को धर्म समाज या राज्य आदि नामों से पुकारते हैं। जो जीत नहीं सकता वह उलटे इसका दास बनकर अधर्मी असमाजी अराजक (असभ्य जंगली अपठित) बन जाता है। यह महत्त्व पूर्ण बात है। प्रत्येक पीढ़ी को सावधान रहना चाहिए। इसके भी दो स्वरूप हैं सौम्य और आसुर्य, सौम्य भाग इसकी भौतिकात्मा दिव्यशरीर सोम है, आसुरी भाग परिवर्द्धित विकारपूर्ण विकास। इसी आसुरी भाग की ओर सतर्कता और सावधानी रखनी चाहिए। सोम और वृत्र दोनों को जब एक नाम से पुकारते हैं तब इसे पृथिवी कहते हैं। जब पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों को एक साथ कहते हैं तो इसे द्यावापृथिवी कहते हैं जिनमें से द्यौः पिता है पृथिवी माता कहलाती है। 'समातु योना परिवीतो' 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' और 'मम योनि र्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्' आदि वाक्य उक्त दोनों को पिता माता, योनि दुहिता नाम से पुकारते चले आये हैं। अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त इसी पृथिवी माता का है। 'अहि' की व्याख्या में श० प० ब्रा० (१-५-२-९) ने लिखा है कि वृत्र का नाम अहि इसलिए पड़ा कि वह अपाद् था या चरण हीन प्राण हीन था और सर्प की तरह चतुर्थ सप्तक के आपोरूप विद्युत्तरंगमय भौतिकात्मा स्वरूप में वेग से गतिमान् था और दनु तथा दनायु ने उसे पिता माता की तरह स्वीकार किया, अतः उसे दानव भी कहने लगे। दनु दनायू और दानव शब्दों का सीधा अर्थ 'दानी' होता है, इस तत्त्व के समान दानी दाता तत्त्व इस ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। रुद्र भी दैवी भौतिकता बहुल है, अतः उसे भी अवढर दानी कहा जाता है और इन असुरों या दानवों का इष्ट देवता भी। क्योंकि वह वर्तमान या व्याप्तिमान् स्वरूप का था इस लिए (वृणोतीति) वृत्र कहलाया। वृत्र के सम्बन्ध में शेष बातें 'वृत्र' नामक शीर्षक में देखने का कष्ट किया जाय। वहाँ पर इतना अवश्य दुहराना आवश्यक है कि स्थूलतया सोम चन्द्र या वृत्र एक ही तत्त्व हैं। इसी तत्त्व से हमारा अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड उद्भूत हुआ है। इसका पक्का प्रमाण श० प० ब्रा० ३-३-४-१३ का यह वाक्य है "देवो वै सोमो दिवि वै सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैत्तच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानस्तदेषोऽशानामोषधिर्जायते।" इत्यादि। यह तो जड़ जगत् की प्रतिष्ठा करता है और निम्न वाक्य चेतन जगत् के मूल बीज को भी वृत्र ही को ठहराता हुआ लिखता है "स (वृत्रः) हो वाच। मातु मे प्रहार्षीस्त्वं वै तदेतर्ह्यसि यदहं व्येव मा कुरु सामुयाभूवमिति। स वै मेऽन्नमेधीति तथेति तं द्वेधान्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्यमास तेनेमाः प्रजाः उदेरणाविध्यत्तस्मादाहुर्वृत्र एव तर्ह्यनाद आसीद् ॥" (श० प० ब्रा० १-५-२-१७)

वेदों में विशेषकर ऋग्वेद में वृत्र के लिए 'अहि' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे "यो हत्वाऽहिमरिणात्सप्तसिन्धून् यो गा उदजादपधा बलस्य" (ऋ० वे० २-१२-३) कि जिस इन्द्र ने अहि नामक वृत्र का हनन करके सप्त नदियों को प्रस्रावित किया। यही बात ऋ० वे० १-३२-११ ने

४—वेदों में अहि

"दास पत्नी रहि गोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥"

'अहि' (वृत्र) के सम्बन्ध में स्पष्टतया दुहराई है। इस ऋचा की दास पत्नियाँ चतुर्थ दास (भौतिक) सप्तक की (भौतिक) वाग्ब्रह्माणियाँ हैं जिनकी शक्ति रूपता में भौतिकात्मा की अहिरूपता, वैद्युतीय तरंगमयता या आपोमयता में निरुद्ध थी, इन्द्र रूप त्रिपादामृत ने उसे ऋतशर देकर जाज्वल्यमान कर दिया, वैद्युतीय तरंगमयता नदी रूप में सर्वतोमुखी होकर प्रवाहित होने लगीं। इन सबका वर्णन वृत्र शीर्षक में किया जा चुका है। अहिवाद का मौलिक सम्बन्ध कीटाणु बीजाणु या जीवाणुवाद से भी है। प्रत्येक कीटाणु आदि का मूल स्वरूप भी सूक्ष्म अहि के सदृश ही होता है।

'अहिः पन्थां विसर्पति' (यजु २३-५६)

अतः शेषनाग या रुद्र के सर्प सब इन्हीं कीटाणु जीवाणु या बीजाणु रूप भौतिक तत्त्व की वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं

'अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्' (यजुः १६-५)

इनके लौकिक नाग रूप वर्णना तो पशुवाद या साहित्यिक सौन्दर्य और तत्कालीन सर्प बहुल जगत का परिचय देते हैं। और नाग नाम के अवैदिक आर्यों का भी रहस्यात्मकतया इतिहास दिया गया है। इसीलिए 'अहि' के इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व होने के कारण वैदिकों ने इसे विश्वेदेवताओं में गिना है और इसकी विश्वेदेवता रूप में प्रार्थना की है जैसे

"अब्जामुक्थै रहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजः सु सीदन् ।"
(ऋ० वे० ७-३४-१६)

कि हम उस अहि नामक विश्वेदेवता का गान करते हैं जो जलों (चतुर्थ सप्तकीय जलों) के स्रोतों (उक्थैः) से उत्पन्न हुआ, जो पञ्चपर्वा विद्याओं में सप्तनदियों का मूल उद्गम (बुध्न) है; और जो रजः नामक भौतिक ज्योति तत्त्व में निवास करता है अर्थात् जो स्वयं भौतिक ज्योतिस् तत्त्वमय (रजोमय) है। यास्कादि ने बुध्न माने अन्तरिक्ष, रजः माने उदक लिखा है। वेदों में अन्तरिक्ष शब्द पारिभाषिक है जो उनकी समझ में नहीं आ सका, रजः माने उदक तब ठीक है जब इसे चतुर्थ सप्तकीय आपः मानें नहीं तो रजः माने पीने का उदक कदापि नहीं हो सकता, यह स्वयं स्पष्ट है।

जिसका नाम अहि है उसी का नाम बुध्न्य भी है, अतः इसको अहिर्बुध्न्य नाम से भी पुकारते हैं। बुध्न नाम बुद्धि सप्तक या चतुर्थ (जातवेदसोद्भव) सप्तक का है, उसमें उत्पत्ति पाने वाला तत्त्व बुध्न्य या अहिर्बुध्न्य कहलाता है जिसका अर्थ अहि रूप बुध्न्य होता है इसीलिए यजुर्वेद लिखता है

५—अहिर्बुध्न्य

"अहिं बुध्न्यमनुरीयमाणाः" (१०-१९)

और

"अहि रसि बुध्न्यः" (५-३३)

इसी नाम के आधार पर अहिर्बुध्न्य को विश्वेदेवता रूप में वर्णित करते हुए ऋ० वे० ७-३४-१७ लिखता है

"मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः।"

कि वह अहिर्बुध्न्य नामक विश्वेदेवता अप्रसन्नता के लिए न दौड़े, और यज्ञ की उखा (अँगीठी शरीर) भ्रष्ट न हो, क्योंकि हम यज्ञ या विकास की कामना करते हैं।

"ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्चयोनिमसतश्च विवः॥"

मन्त्र के बुध्न्य शब्द का अर्थ भी वही है जो यहाँ दिया गया है। प्रायः कई विश्वेदेवता सूक्तों में अहि और अहिर्बुध्न्य की प्रार्थना की गई है जैसे "शं नो अज एकपादेवो अस्तु शं नो ऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।" (ऋ० वे० ७-३५-१३) और

"उत नो ऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्यज एकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वेदेवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु॥"

(ऋ० वे० ६-५०-१४)

इस मन्त्र में तो अहिर्बुध्न्य आदि उक्त सब देवताओं को स्पष्टतया नामतः 'विश्वेदेवता' नाम से ही पुकार रक्खा है। इससे अहि, बुध्न्य और अहिर्बुध्न्य के विश्वेदेवता होने का कोई संशय नहीं रह जाता। अन्य मन्त्र ये हैं :—

"अज एकपाद् सुहवेभिर्ऋकभि रहिः शृणोतु बुध्न्यो हवीमनि॥"

(ऋ० वे० १०-६४-४)

"अहिर्बुध्न्यः शृणवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम।"

(ऋ० वे० १०-६६-११)

अध्याय ८१

वेदों में 'नपात्' तत्त्व

अखिल भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने के पश्चात् भारतीय नेताओं ने बड़े जाश फरोश के साथ भारतीय दर्शनों के उद्धार का कार्य कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के द्वारा करने का प्रयास तो किया था पर नपात् के बारे में वे लिख गये हैं कि 'नपात्' तत्त्व उनकी समझ में बिल्कुल नहीं आता।

अस्तु वेदों में 'नपात्' तत्त्व 'पञ्चपर्वा' विद्या का एक प्रधान अंग है जिसका स्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषत् ने 'पञ्चस्रोतोम्बु···पञ्चपर्वामधीमः' प्रथम मन्त्र में किया है।

वेदों में केवल एक ही 'अपांनपात्' तत्त्व ही नहीं है, नपात् नामक कई अन्य तत्त्व भी हैं। 'अपांनपात्' को तो देवता रूप में घोषित किया गया है, अन्यों की विविध स्थलों में विशेषण रूप में चर्चा की गई है। वे नपात् ये हैं १–अपांनपात्, २–तनूनपात्, ३–मनोनपात्, ४–शवसोनपात्, ५–गोषणोनपात्, ६–ऊर्जोनपात्, ७–दिवोनपात्, ८–विमुचोनपात्, ९–मिहोनपात्, १०–स्वंनपात्, ११–आनपात्, १२–अह्नी नपात्, १३–दुर्गहस्य नपात्, १४–पितुर्नपात्, १५–श्रृंगवृषो नपात्, १६–सहसो नपात्, १७–विष्णो विक्रमणं नपात्। इन सत्रहों नपातों को निम्नलिखित रीति से प्रस्तुत किया जा सकता है। नपात् शब्द का अर्थ नाती होता है; 'आपो नप्ते' 'वर्द्धते नप्तुरपाम्' (ऋ० वे० २-२५-१४, ११)। आपः नाम आपोब्रह्म या आदि ब्रह्म का है उसका पुत्र वसुअग्नि है। इस वसुअग्नि के पुत्र ही ये 'अपां नपात्' हैं, जिसका अर्थ आपोब्रह्म का नाती होता है और ये द्वितीय सप्तक के मरुताग्नियों का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। इसी सप्तक में अग्नि का अंगारक विस्फुलिंग रूप में प्रथम प्रादुर्भाव होता है। इन्हें विस्फुलिंगों के पर्वत सागर नदी या वृक्ष या प्राण नाम से पुकारा जाता है "अपाँनपात् यो वसुभिः सहप्रियो होता पृथिव्यां न्यसीदद्वत्वियः। स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवत्मातरिश्वने" (१-१४३) 'अपांनपात् मातृरजनयन्नपः' (ऋ० वे० १-१४३-१-३,३-१०)। आपः को प्रथम सृष्टि बतलाने वाले मन्त्र ये हैं। 'अपां कियत्या प्रथमः सर्गः आसाम्' (ऋ० वे० २-३०) 'कं स्विद गर्भं प्रथमं दध्र आपः' (१०-८१-५,६) 'आप एवेदमग्र आसीद' (वृह० उप० १-१-१)। 'देवानां माने (आपः) प्रथमा आसन्' (ऋ० वे० १०-२९-२३)। इत्त्यादि* इन्हीं के ये नाती हैं। फलतः अपांनपात् ब्रह्म के नाती हैं, वाग्ब्रह्म के नाती हैं, द्वितीय सप्तक–होता–वेदि–मरुतों के प्रतिनिधि तत्त्व हैं। 'तनूनपात्' तृतीय सप्तक का प्रतिनिधि है, वस्वग्नि का नाती है, इसका दूसरा नाम गर्भ भी है 'तनूनपादुच्यते गर्भः' (ऋ० वे० ३-२९)। इस गर्भ की व्याख्या में आगे लिखा है "गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भः स्थातां गर्भः चरथाम्। अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न

विश्वो अमृतः स्वाधीः'' (ऋ० वे० १-७०-२)। वास्तव में यह गर्भ नाम उषा का है; उसका उद्भव इसी तृतीय सप्तक के अन्त में होता है 'उषा वै उल्वं' (श० प० ब्रा० ७-२-११)। मनोनपात् या शवसोनपात् दोनों नाम ऋभु नाम के देवों के प्रतीक हैं। ये गिनती में तीन हैं, मनः नामक या श्वास नामक तत्त्व पञ्चम सप्तक के आदिम तत्त्व हैं, उनके ये नाती हैं, इनके शीर्षक देखें, इनका वर्णन ऋ० वे० (१-१६१; ३-६०, ४-३४, ४-३) में देखें। ऊर्जोनपात् सहस्वान् अग्नि का नाम हैं। इन्हें सहसोनपात् भी कहते हैं, या 'नप्ते सहस्वते' भी, जिनका व्याख्यान ऋ० वे० ५-७; ५-१७; ६-८; ७-१६; ७-१७ इत्यादि में किया गया है। ऊर्जः नाम मरुतों का है (४-४०), उनके ये नाती हैं। ये तृतीय सप्तक की उन अग्नियों की प्रतिनिधियाँ हैं जिन्हें 'मातरिश्वा' नाम से भी पुकारा जाता है 'मातरिश्वा भवति यन्मातरि वातस्य सर्गः' (३-२९), मरुत और मातरिश्वा में यही अन्तर है। मातरिश्वा प्राणाग्नियों का नाम है; मरुत् जीवात्मा रूप प्राणों का, या रुद्र रूप प्राणों का या प्राणोदान का। दिवोनपात् नाम अश्विनी का है। वह २६ वां तत्त्व है। दिव नाम तृतीय सप्तक का है उसका यह नाती है इसका वर्णन ऋ० वे० १-१८२; १-१८४, ४-४५ इत्यादि में देखें। दिव का पुत्र अत्रि (वाक्) २४ वाँ तत्त्व है, उसकी परम्परा में यह २६ वाँ दिव का नाती हुआ। विमुचो नपात् नाम पूषा का है। यह २४ वाँ तत्त्व है, पाचवाँ आदित्य है। आदित्यों की उत्पत्ति से बुद्धि में परिपकता या प्रकाश की अभीष्ट सिद्धि या ज्ञानमार्ग का द्वार खुल जाता है जिससे इनके पूर्व के अस्पष्ट ज्योति या धुँधली ज्योति या तादृश अन्धकार से मुक्ति मिलती है। अतः इसे विमुचोनपात् कहते हैं। पूषा ॐ का, पूर्ण गायत्री का प्रतिनिधि है जो अज्ञान से मुक्ति देता है। यहाँ से बन्धन का प्रबन्ध भी होने लगता है। शेष गोषणोनपात्, मिहो नपात्, स्वं नपात्, आ नपात्, दुर्गहस्यनपात्, अहनी नपात् और शृंगवृषो नपात् नाम सब एक इन्द्र के नाना विकासों से सम्बन्ध रखते हैं। इन्द्र तत्त्व जब हरिवो या हारियोजन ग्रह कहलाता है तब वह १७ वें से लेकर २८ तक के १२ तत्त्वों का प्रतिनिधि रहता है। 'इद्रं मित्रं वरुणं·· अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः' नामक (ऋ० वे० १-१६४-४६) ऋचा में 'एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति' वाक्य इन्द्र के नाना नाम देती है, न कि ब्रह्म के। केवल इन्द्र तो १७ वाँ तत्त्व है, उस इन्द्र के उक्त गोषणोनपात् आदि नाती है। २० वें तत्त्व से आदित्यों को 'गावः' नाम से पुकारा जाता है उन्हीं के आपोमय शरीरों को मातरः कहते हैं, उन्हीं के ये सब पृथक्-पृथक् आदित्य रूप 'गायों' के पुत्र हैं, अतः इन्द्र के नपात् हैं। मिहोनपात् में पर्जन्य सूचित है। अहनी नपात् में २६ वाँ तत्त्व सोमचन्द्र है। वृष वृषा या शृंगवृष नाम भी इन्द्र का ही है, उसका नपात् इन्द्र का नपात् है। दुर्गह नाम भी इन्द्र का ही है उसने नमुचि शम्बर चिमुरि वृत्र आदि के १०० दुर्गों को तोड़ा है, उसी का नपात् दुर्गहस्य नपात् कहा जाता है। इनकी नप्तृता वाक् रुपिणी गाव या मातर से उत्पत्ति होने के कारण मानी गई है। इनका वर्णन ऋ० वे० ५-३२, ६-५०, ४-५५, ६-२०, ८-६५-१२, ६-१७, ८-१७, ९-३२, ६-५५, १०-१५ इत्यादि में मिलेगा। अन्त में एक और नपात् मिलता है जिसे 'पितुर्नपात्' नाम से पुकारते हैं। पितुर्नपात् नाम यम यमी का

(ऋ० वे० १०-१०) है। पितर नाम चतुर्थ अन्न सप्तक का है। यम २८ वाँ तत्त्व है विवस्वान् तो पुरुषपशु २७ वाँ तत्त्व है। यम विवस्वान का पुत्र है। इन सबका विशद वर्णन इन तत्त्वों की व्याख्या अवसर पर तत्तत् स्थलों में किया जा चुका है। यहाँ इनके उस स्थान और सम्बन्ध का पूर्ण विवेचन मात्र कर दिया गया है जिसके कारण इनको 'नपात्' या 'नाती' कहा जाता है। दिवोनपात् का एक दूसरा नाम 'द्वे नप्तुर्देववतः' दिया है (७-१८-२२)। यहाँ पर सुदास के रथ का वर्णन है, रथ अश्विनी या दिवोनपात् या द्वेनप्तुर्देववतः का है जिसमें १०० बैल हैं, रथ भी दुहरा है। सुदास सोम का प्रतिनिधि है इन्द्र का नपात् भी। 'विष्णोर्विक्रमणं नपात्' विष्णु के तीन पाद त्रिपाद रूप तत्त्वों का संकेत करता है।

अध्याय ८२

अपां नपात् (और मातरिश्वा भृगु अथर्वण दध्यङ् आदि)

वेदों में कुल १७ नपात् तत्त्व हैं जिनका विवेचन पिछले अध्याय के एक पृथक् शीर्षक 'वेदों में नपात् तत्त्व' में किया जा चुका है। इनमें से अपां नपात् तत्त्व सबसे अधिक महत्त्व का है। यह विश्वेदेवता है, या यों कहना चाहिए कि इसका वर्णन सर्वादेवता (अग्नि) के स्वरूप में किया गया है। अपां नपात् का साक्षात्सम्बन्ध आपो ब्रह्म से है। आपो ब्रह्म की पुत्रियाँ आपो देवी हैं। इन आपो देवियों का यह अपां नपात् या आपो ब्रह्म का नाती है, नदियों का पुत्र है। अँग्रेज जर्मन अनुवादकारों ने 'नपात्' का अर्थ पौत्र नहीं, पुत्र लगाया है जिसकी पुष्टि में उन्होंने लैटिन नेपोस, नेपोटिस् और इंग्लिश 'नेफ्यू' शब्द दिये हैं। इन शब्दों के लिए वेदों का शब्द 'भ्रातृव्य' है यह उन्हें विदित ही नहीं; वेदों का भ्रातृव्य वृत्र रूप शत्रु या भौतिक देह है। 'नपात्' शब्द के बदले उनके यहाँ इस अर्थ का शब्द है ही नहीं। वेदों में या लौकिक संस्कृत में नपात् या नप्तृ शब्द लड़की के पुत्र के ही लिए प्रयुक्त है; लड़के के लड़के के लिए पौत्र शब्द का प्रयोग है। यदि पाश्चात्य भाषाओं के नेपोस नेपोटिस् नेफ्यू शब्द नपात् के समानान्तर हैं तो उनका अर्थ बदल गया है, इसका पुत्र अर्थ तो इन भाषाओं में भी नहीं है। अतः नपात् का अर्थ किसी भी दशा में पुत्र नहीं हो सकता। यदि इसका अर्थ पुत्र नहीं हो सकता तो इसके वास्तविक वैदिक अर्थ के लिए हम पाश्चात्य नेफ्यू आदि शब्दों की तुलना में अपने लौकिक संस्कृत के स्पष्ट भेदीय-भ्रातृव्य, नप्ता शब्दों को अधिक प्रामाणिकता देने को बाध्य हो जाते हैं। यद्यपि सायण ने अपां नपात् की नप्तृता की जो वंशावली - आपः→ओषधिः अग्निः→नपात् दी है वह भी ठीक नहीं है पर नप्ता का अर्थ सायण ने ठीक दिया है। क्योंकि अपां नपात् के वर्णन ऋ० वे० २-३५-१ में अपां नपात् को

१—नपात् शब्द की व्याख्या

"उपेमसृक्षि वाजयुर्वचस्यां चनो दधीत नाद्यो गिरो मे"

द्वारा नदी का विकास रूप शब्द ब्रह्म बतलाया है। नदी आपो देवी है। अतः अपां नपात् आपो ब्रह्म का नाती और आपो देवी का पुत्र है और अपां नपात् या आपोब्रह्म का नाती कहलाता है, पुत्र या पौत्र नहीं।

अपां नपात् का व्यक्त रूप चतुर्थ सप्तक या 'परमे व्योमनि' में बतलाया है जैसे—

'स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवत् मातरिश्वने'

(ऋ० वे० १-१४३-२)

२—अपां नपात् का वर्णन

अस्मिन्पदेपरमे तस्थिवांसम् (२-३५-१४) यह अग्नि रूप अपाम्

नपांत् मातरिश्वा के लिए उत्पन्न हुआ। मातरिश्वा नाम उस अग्नि रूप वायु का है जिसका जन्म मातर रूप आपो देवी से होता है जैसे

'मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणिः'

(ऋ० वे० ३-२९-११)

वेदों में माता नाम सर्वत्र पृथिवी–गाव और आपो देवियों के लिए आता है जैसे

'आपो अस्मान्मातरः'

(ऋ० वे० १०-१७-१०; अथर्व ६-५१-२, वा० सं० ४-२, तै० सं० १-२-१-१)

'आपो न देवी रुपयन्ति'

(ऋ० वे० १-८३-२ अथर्व २०-२५-२)

और 'आपोहिष्ठा'

(ऋ० वे० १०-९-१ साम १८-३७, अथर्व १-५-१, यजुः ११-५०; ३६-१४; तै० सं० ४-१-५-१; ५-६-१-४, ७-४-१९-४ तै० आ० ४-४२-४; १०-१-११)

'प्रतिगावो अरुषीर्यन्ति मातरः' (ऋ० वे० १-९२-१)

'अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुः नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः'

(ऋ० वे० ८-९६-१)

'द्वितीय मा सप्त शिवासु मातृषु' (ऋ० वे० १-१४१-२)

'देवी रापो मातरः सूदयित्वो' (ऋ० वे० १०-६४-९)

अतः इन आपो मातरों से ही उत्पन्न तत्त्व को अपां नपात् नाम से ऋ० वे० ७-४७-१,२ में पुकारा गया है जैसे 'आपो यं वः प्रथमं देवयन्तः'...

'तमूर्मिमापोमधुमत्तमं यो ऽपांनपादवत्वाशु हेमा'

इसीलिए इस अपां नपात् को वसुओं या प्रथम सप्तकीय देवताओं का साथी होना कहा भी गया है जैसे "अपां नपात् यो वसुभिः सह होता पृथिव्यां न्यसीद दृत्वियः" (ऋ० वे० १-१४३-१)। यहाँ पर पृथिवी शब्द चतुर्थ सप्तक का वाचक है जिसे भुवः भी कहते हैं जिसमें 'वात' का सर्ग मातरिश्वा रूप में होता है। चतुर्थ सर्ग तो समुद्र या आपोमय या तमोमय कहलाता ही है। इसीलिए इस अपां नपात् के क्रतु रूप विकास २४ वें तत्त्व से उसकी बलवती दीप्ति द्वारा द्यावापृथिवी (पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध) दोनों अत्यन्त प्रदीप्यमान शोचिष्मान् हो गए यह ऋ० वे० १-१४३-२ के उत्तरार्द्ध चरण में इस प्रकार कहा गया है

"अस्य क्रत्वा समिन्धानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचि पृथिवी अरोचयत्।"

सायण और पाश्चात्य टीकानुवादकारों ने इस मन्त्र के क्रतु शब्द के माने कर्म-काण्डी यज्ञ लगाकर सारे मन्त्र के अर्थ को नष्ट कर रखा है। दक्षक्रतू और मित्रा-वरुणौ दोनों आपस में एक हैं। यह मित्रवरुणौ के व्याख्यान में बताया जा चुका है, क्रतु नाम वरुण का है दक्ष नाम मित्र का। दोनों का स्थान २४ वाँ है। यहाँ 'क्रतुः'

वरुण का प्रतिनिधि है जहाँ से पृथिवी नामक उत्तरार्द्ध (दक्षिणायन) का प्रारम्भ होता है और यहाँ पर अपां नपात् के वैश्वानराग्नि के प्रतिरूप में उदीप्त हो जाने से दोनों भाग द्यावापृथिवी शोचिष्मान् ज्योतिष्मान् स्वयं हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय से लौकिक द्यावापृथिवी। इसीलिए आगे १-१४३-४ में लिखा है कि यह अपां नपात् अकेले वरुण के समान प्रदीप्त होकर शोभा देता है जैसे 'य एको वस्वो वरुणो न राजति"। वरुण ही की तरह नहीं वरन् यह अपांनपात् मित्र की तरह भी भासमान होता है, यह बात १-१४३ के सातवें मन्त्र में स्पष्ट लिखी है जैसे 'घृत प्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदग्निं मित्रं न समिन्धान ऋञ्जते'। अतः यहाँ पर इस सूक्त में अपांनपात् का २४ वें तत्त्व में मित्रावरुणौ या दक्षक्रतू रूप में विकसित होना स्पष्टतः दृष्टिपथ में रखा गया है।

३—अपां नपात् और पञ्चपर्वा

अपां नपात् का सम्बन्ध आपोब्रह्म से होने के कारण यह तत्त्व पञ्चपर्वा विद्याओं में पञ्चनद्यः 'पञ्चसागरा' का मुख्य प्रतिनिधि भी है। अतः ऋ० वे० २'३५-१,३ और १-१४३-३ में इसे अग्नि की नदियों के रूप में वर्णित किया गया है जैसे 'दधीत नाद्यो गिरो में' और 'सिन्धवो ऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः'। 'समान मूर्वं नद्यः पृणन्ति'। ये अग्नि की नदियाँ वाग्ब्रह्माणी के स्वरूप की हैं यह प्रथम उद्धरण से स्पष्ट है। यह वाग्ब्रह्माणी रात्रिपक्षीया या दक्षिणायन की है और जहाँ इसकी कान्ति अमृतात्मा रूप की है जो इसके दिव्य (सुन्दर) स्वरूप से रमणीय, और व्यापक ज्योति में मधुमती है और ये कान्तियाँ दक्षिणायन में नदियों की तरह सतत प्रवाह में अमृत रूप में बहती है। ये भौतिकात्मामयी ज्योतियाँ हैं। जैसे

"अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवो अग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः॥"
(ऋ० वे० १-१४३-३)

इस अपां नपात् ने अपने लिए एक ह्रद का (चतुर्थ सप्तक का) निर्माण किया जिससे वह अखिल ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है जैसे

"इयं स्वस्यै ह्रद आ सुतष्ट मन्त्रं वोचेम कुविदस्य वेदत्।
अपां नपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान॥"
(ऋ० वे० ३-३५-२)

इसी ह्रद से समस्त सृष्टि की नाना रूपिणी नदियाँ बहने लगती है जिनका वस्त्र विद्युत् है वर्ण हिरण्यम् का है उनमें वह पूर्वार्द्ध के अमृतों को सुरक्षित रखता है जैसे

"अपां नपादा ह्यस्थादुपस्थं (ह्रदं) जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः।
तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्ती र्हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः॥"
"कृवा इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम्॥"
(ऋ० वे० २-३५-९,५)

"वया इदन्या भुवनान्यस्य प्र जायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः" (८)

इसी ह्रद से अश्व या प्राण या भौतिक प्राण तथा गावः या धेनु या आदित्यों की सृष्टि होती है। जैसे

'अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो' 'स्व आ दमे सुदुधा यस्य धेनुः'

(६, ७ वहीं)

ये धेनुवें 'वाचं धेनुमुपासीत' वाली वाग्ब्रह्माणी रूप धेनुवें हैं। सम्पूर्ण अपां नपात् इस प्रकार निम्नप्रकार का स्वरूप पाता है। वह हिरण्यरूप है, हिरण्य के समान चक्षु सूर्य वाला है, उसका वर्ण भी हिरण्य समान है, वह हिरण्य योनि या चतुर्थ सप्तक का वासी (हिरण्यगर्भ) है और हिरण्य देने वाला या आध्यात्मिक आत्माओं का तक्षा भौतिकात्मा और अन्न को देने वाला है जैसे

"हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्मयात्परियोनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥"

(ऋ० वे० २-३५-१०)

यह अपांनपात् तत्त्व विश्वव्यापी विभु 'एक' अद्वितीय तत्त्व है। इसकी मुख्य नाभि पृथिवी या चतुर्थ सप्तक है जहां यह मित्रावरुणौ की तरह शोभा पाता है या देदीव्यमान रहता है जिसको भृगु आथर्वण और मातरिश्वा ने चतुर्थ सप्तक की पृथिवी की नाभि में मुख्य रूप से सर्वप्रथम प्राप्त किया। यह भाव निम्न ऋचा स्वयं स्पष्ट कर रही है जैसे

"यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं (विभुं) नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
* अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति॥"

(१-१४३-४ ऋ० वे०)

वह ऐसे सर्वव्याप्त एकमेवाद्वितीय अपने सप्तक में वरुण के समान विराजमान रहता है। चतुर्थ सप्तक में यह गर्भ रूप में वृणीत होकर अन्य स्वरूप सा धारण करता है या भौतिक शरीरी हो जाता है "य ईं वृषा जनयत्तासु (आसु) गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति। सो अपां नपादनभिम्लातवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष॥" (२-३५-१३)। इसे घृतप्रतीक पायुः और धियः नाम से पुकार कर इसे प्राण रूप, अपानरूप और ज्ञानरूप भौतिकात्मा कहा गया है (वहीं); शेष उक्त दो सूक्तों में विस्तार पूर्वक देखने का कष्ट करें। संक्षेप में अपांनपात् का मूल स्थान आपोब्रह्म रूप आदिब्रह्म है जिसका द्वितीय सप्तक में विद्युत्स्वरूप में जीवात्मा रुद्र रूप में उदय होता है, तृतीय सप्तक में प्राणाग्नि या मातरिश्वा रूप में अभ्युदय होता है और फिर मित्रावरुण का सा स्वरूप धारण कर वैश्वानराग्नि रूप भौतिकात्मा की नदियों में परिणत होते हुए अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की नाना नामरूपता का मूल बीज भूत वैद्युतीय तत्त्व बन जाता है जहां यह एक नवीन शरीर में प्रस्तुत हो जाता है जिसका अभ्युदय तिस्रोदेव्य यह्वयः या पूर्वार्द्ध के त्रिपदा गायत्री ब्रह्मरूप गुहा से ही होता है (ऋ० वे० २-३५-४,५)। ठीक इसी प्रकार का वर्णन ऋ० वे० १०-३० के

अपांनपात् देवता के सूक्त में मिलता है जिसमें आपोदेवी को रेवती और अध्वर्यु कहा गया है, अरुण और सुपर्ण का निर्माता और इन्द्र का परिवर्द्धक भी इसी अपांनपात् को बताया है। सोम भी इसी से मोदित हर्षित होता है और कल्याणी युवतियाँ जिन्हें सम्भवतः षोडश मातृका कहते हैं उनसे भी यह मनुष्य लीला करता है। आपः का स्वरूप बुद्धि या धी या धिषणा (सांख्य तत्व सम) है। इस अपां नपात् को नदियों का गर्भ और उनके मधु का उत्स या उद्गम कहा है। नदियाँ इस त्रिवृत् या त्रितन्तु या त्रिपादामृत को उत्स के समान चारों ओर से घेरे रहती हैं। ये आपः ऋषि को जन्म देने वाली भुवन की पत्नी के समान हैं। आपः वाणी हैं, अतः पुरुष रूप ब्रह्माण्ड की वाणीरूप पत्नी हैं 'यदपोऽसृज्यत वागेव सासृज्यत (श० प० ब्रा०)। ये आपो रूप रेवती क्रतु रूप अमृत को धारण करती है। सरस्वती इन आपों में एक पत्नी है। ये आपः, घृत रूप प्राण या जल सिर में धारण करती हैं और इन्द्र को सोम से भरपूर भरती हैं। इन आपों को बर्हिरूप वेदि उत्तरार्द्ध की भौतिक शिला में रखो जिसको अपां नपात् भलीभांति जानता है। ये आपः अपां नपात् सहित उक्त बर्हि में आगये हैं, अब इन्द्र के लिए सोम को प्रस्तुत करो जिससे यह यज्ञ रूप सृष्टि शक्ति पूर्ण होकर देवताओं को सफल कर सके।

४—अग्नि और अपां नपात्

अपां नपात् का सम्बन्ध भृगु अथर्वाण और मातरिश्वा से बतलाया गया है। इनका यह सम्बन्ध अपां नपात् के अग्नि स्वरूप से है। भृगु अथर्वाण और मातरिश्वा क्रम से चतुर्थ सप्तक के तत्त्व हैं। क्योंकि पिछले परिच्छेद में अपां नपात् को वरुण और मित्र या मित्रावरुण या क्रतु का प्रतिनिध बताया जा चुका है। और ऐतरेय ब्राह्मण (३-३-३४) में लिखा है कि जब उक्त अग्नि (अपां नपात्) को मरुतों के बृन्द ने फूँक दी, धुनन किया उससे वैश्वानराग्नि हुई। तब तक वह (अपां नपात्) जातवेदा रूप में मित्रावरुण या क्रतुरूप में था, उस वैश्वानराग्नि को पुनः जब मरुतों ने फूँक दी तो उससे आदित्य (सूर्य बना) उससे द्वितीय तत्त्व जो उत्पन्न हुआ वह भृगु कहलाया। भृगु को वरुण ने अपना लिया; अतः भृगु को वारुण नाम से पुकारते हैं। इसके बाद क्रमशः अन्य अङ्गिरस आदित्य और बृहस्पति निकले इत्यादि॥" जैसे "तदग्निना पर्यदधुस्तन्मरुतो धून्वँस्तदग्निं प्राच्यावत्तदग्निना वैश्वानरेण पर्यदधुस्तन्मरुतो धून्वँस्तदग्निं वैश्वानरः प्राच्यावयत्तस्य यद्रेतः प्रथमं उददीप्यत तदसावदित्योऽभवद्यद्द्वितीयमासीत्तद्भृगुरभवत्तं वरुणो न्यग्रहीत्तस्मात्स भृगुर्वारुणि रथ यत्तृतीय मदीदेदिवत आदित्या अभवन्ये अङ्गारा आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत् इत्यादि॥" इस कथानक में सत्यता यह है कि उक्त भृगुप्रभृति सब तत्त्व चतुर्थ सप्तक के हैं और उसमें इनका विकास उक्त क्रम से हुआ। भृगु का सम्बन्ध मातरिश्वा से है और मातरिश्वा का सम्बन्ध अपां नपात् से तथा उस भरत नामक अग्नि से है जिसे मातरिश्वा का पुत्र भी कहा है; इसका स्थान विट् तृतीय सप्तक है और द्रविणोदाग्नि भी कहलाता है जैसे

"स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातुं तनयाय (भरताय) स्वर्विद् ।
विशां गोपा जनिता रोदस्यो र्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥"
(ऋ० वे० १-९६-४)

इस मातरिश्वा को आपो देवी मातरों या गावो मातरों से उत्पन्न अग्नि ऋ० वे० ३-२९-११ में बतलाया गया है, उद्धरण पिछले परिच्छेद में दिया जा चुका है। ऋ० वे० १०-११४-१ में इस मातरिश्वा को त्रिवृद् रूपेण सर्वत्र व्याप्त बतलाते हुए यह कहा है कि उसकी सह्य उष्णता को देखकर देवताओं को यह तुष्टि होने लगी कि यह तो अर्क है जैसे

"धर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयो र्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम ।
दिवस्पतयो दिधिषाणा अवेषन् विदुर्देवाः सहसमानमर्कम् ॥"

यह मातरिश्वा यज्ञ रूप (विदथस्य) २४ वें तत्त्व क्रतु के केतुरूप भौतिक तत्त्व की अग्नि को सृष्टि के प्रथम दूत रूप में प्रशस्त धन के समान उस प्रवणशील द्विजन्मा (दो अरणियों से उद्भूत अग्नि) को भृगु के लिए तुरन्त लाया। जैसे

"वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्यो अर्थम् ।
द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं भरद्भृगवे मातरिश्वा ॥"
(ऋ० वे० १-६०-१)

इसी आशय को पुनः ऋ० वे० १-९३-६ और ३-२-१३ ने दुहराया है; और ऋ० ३-५-१० में तो उक्त ऋचा को फिर दूसरे ढंग से कहते हुए लिखा है कि अग्नि स्वर्गलोक में अवरुद्ध हो गई, वह वहीं के समिधों में (तत्त्वों में) उत्तमता का अनुभव करती हुई वहीं रह गई। तब मातरिश्वा उस नाक रूप गुहा पूर्वार्द्ध से उस हव्यवाड् अग्नि को भृगुओं के लिए ले आया जैसे

"उदस्तम्भीत्समिधा नाकमृष्वोऽग्नि भवन्नुत्तमो रोचमानाम् ।
यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे ॥"

और आगे चलकर एक स्थल पर उक्त अग्नि के बारे में कहा गया है कि उक्त अपांनपातीय अग्नि को भृगु जी मनुष्यों या चतुर्थ नृषद् के नर तत्त्वों के लिए लाये। जैसे

"दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारु सुहवं जनेभ्यः ।
होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने ॥"
(ऋ० वे० १-५८-६)

५—अग्नि का प्रथम उदय

यह ऋचा बड़ी महत्त्व पूर्ण बात कहती है कि भृगु समुदाय उक्त अपांनपातीय अग्नि को उत्तम हवि (चारु) रूप में चतुर्थ सप्तक के नर तत्त्वों के लिए लाये जो पहिले द्वितीय सप्तक में होता रूप में थी फिर अतिथि रूप में (तृतीय सप्तक में) परिणत हुई, तदनन्तर वरेण्य या वारुणी रूप को और मित्र रूप को (२४ वें तत्त्व) में प्राप्त हुई और अन्त में दिव्यशरीर को प्रस्तुत करने के लिए सुन्दर रूप वाली जैसी २६ वें तत्त्व में सोम रूप अग्नि रूप में प्रस्तुत हुई। इसी दिव्याय जन्मने दिव्य-

शरीर प्राप्त कराने वाली अग्नि को ऋ० वे० १-६० १ में द्विजन्मानं कहा है। यहाँ द्विजन्मा माने दो अरणियों से उद्‌भूत या पूर्वार्द्ध परार्द्ध से उत्पन्न या आध्यात्मिक और भौतिक सृष्टि से उद्‌भूत दिव्यशरीरिणी अपांनपातीय सोमाग्नि ही हैं। इसी लिए अग्नि का एक नाम भृगवाणः या भृगुपुत्र भी है। ऋ० वे० ६-१६-१२,१३ में यह भी कहा है कि उक्त अपांनपातीय अग्नि को जिसे भृगु लाये थे उसे विश्व के मूर्ध्न रूप सूर्य से जो पुष्कर नामक चतुर्थ सप्तक का प्रथम तत्त्व है जहाँ वह बाधित थी, उससे अथर्वण ऋषि ने निर्मथित किया और दध्यङ् ऋषि अथर्वण के पुत्र ने उसे प्रज्वलित किया जैसे

"त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।
तमुत्वा दध्यङ् ऋषि पुत्रईधे अथर्वण वृत्रहणं पुरंन्दरम्॥"

इसी अग्नि से इन्द्र ने वृत्र का वध किया था। पुनः वहीं पर कहा गया है कि उक्त अग्नि को अङ्गिरा ऋषि ने अपने समिध रूप प्राणों से (अङ्गानां प्राणानां रसो अङ्गिरा) परिवर्द्धित किया तब वह अत्यन्त तीव्र ज्वाला वाली बन गई।

"तं त्वा समिद्भि रङ्गिरो वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्यः॥"

(ऋ० वे० ६-१६-११)

श० प० ब्रा० १-३-५-३,४ में इन अग्नियों की प्राण उदान व्यान और अपान रूप में व्याख्या दी है। अपां नपात् के वर्णन में भी अपान का वर्णन आया है, पिछले परिच्छेद में देखें। जैसे १-१४३-८ में

'पायुभिः पाहि शग्मैः' से 'पायुभिः'

शब्द 'अपानैः' का अर्थ रखता है। इसी अग्नि को मनु नाम से पुकारा गया है जैसे

"त्वं होता मनुर्हितो वह्निरास विदुष्टरः।
अग्नेः यक्षि दिवो विशः॥"

(ऋ० वे० ६-१६-९)

अतः जब मनुस्मृति में यह कहा गया है कि भृगु इस मनुस्मृति के ज्ञान का भूलोक में प्रचार करेंगे तो वह श्लोक वेदों की उक्त ज्ञानाग्नि का नर लोक चतुर्थ सप्तक में प्रादुर्भूत होने के रहस्य को लौकिक रूप में वर्णित करता हुआ स्पष्ट झलकता है। अन्यथा इसका कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि ज्ञानदाता अन्य अनेक ज्येष्ठ ऋषि वशिष्ठ्यादि भी हैं। उक्त वर्णन का आशय तत्त्व रूप में क्रमबद्ध किया जाय तो वह इस प्रकार बैठेगा। मनु-अथर्वण-दध्यङ्-अङ्गिरा-भृगुः- ये सब चतुर्थ सप्तक के तत्त्व हैं पुष्कर चतुर्थ सप्तक है, विश्वमुख सूर्य है, वही 'मनवे सूर्य चक्षसे'—सूर्य रूप चक्षु रूप मनु है—उससे अथर्वण ने मन्थन किया दध्यङ् ने प्रज्वलित किया अङ्गिरा ने परिवर्द्धित किया और भृगु ने उसे अपना कर आगे बढ़ाया। चक्षु रूप मनु को मातरिश्वा ने अग्नि दी। भृगु वारुणि हैं यह चतुर्थ सप्तकीय सिद्धान्त की पुष्टि करता है तथा ऋ० वे० ६-१६-१६,१७ में उक्त अग्नि को

'इन्दुभिः' सोमों या चन्द्रों या भौतिकात्मा से परिवर्द्धित होने की बात कही गई है और दक्ष को मनः नाम से पुकारा है। इसी मनः से उत्पन्न मनु रूप चक्षुः सूर्य है।

"ए ह्यू षु ब्रवाणि ने ऽग्न इत्थेतरा गिरः एभिर्वर्धास इन्दुभिः।
यत्र क च ते मनो दक्षं दधस इन्द्र सूरीन्दिवि च स्मैधि पार्ये न इन्द्र।।"

एक विचित्र और वैज्ञानिक बात यह है कि अथर्वण ऋषि की बहिन का नाम ऋ० वे० १०-१२०-९ में मातरिश्वरी दिया है। जिससे मातरिश्वा और अथर्वण का साम्य मिलता है जैसे

"एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वा वोचत्स्वां तन्व मिन्द्रमेव।
स्वसारो मातरिभ्वरी ररिप्रा हिन्वन्ति च शवसा वर्धयन्ति च।।"

इसमें यह भी कहा गया है कि अथर्वा का शरीर ही इन्द्र है, उसकी बहिनें मातरिभ्वरी हैं जो शत्रुओं को जीतकर बढ़ती जाती है। यहाँ हिन्वन्ति का प्रयोग है हिन्वन्ति का प्रयोग वाक् के लिए होता है 'गीर्भिर्हिनुहि' (ऋ०वे० १-१४३-४)। अतः मातरिभ्वरी भौतिकात्मीय वाग्ब्रह्माणी हैं जिनका विकास यहाँ पर वृद्धि को पाता है कहा गया है।

अन्त में अपांनपात् के बारे में यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि इसको विष्णु और वास्तोष्पति की तरह (नदियों के) मधु का उत्स या उद्गम कहा है (ऋ० वे० १०-३०-८,९) और उनके आपों (जलों) को मधुमती ऊर्मिमती बतलाया है (१०-३०-२,३,४,७-८,१३)। तथा इन मधुमती आपों से मधुमान् सोम की सृष्टि करने वाला तथा इन आपों को ओषधी नाम से भी पुकारा है (१०-३०-३,५)। इन आपों का प्रवाह दोनों दलों (पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध) में बतलाते हुए लिखा है कि ये क्रमशः अधो भाग की ओर जाती हुई द्विधारों में बहती हैं जैसे

६—अपांनपात् और उत्स

"तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्र पानमूर्मि प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युतमौशानं नभोजां परित्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्॥
आवर्वृततो रध नु द्विधारा गोषुयुधो···

(१०-३०-९,१०)

और इस अपांनपात् का अपना ह्रद है, वही उसका उत्स है जिससे वह अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है (ऋ० वे० २-३४-२) 'इमं स्वस्मै ह्रद आ तष्टं' इत्यादि। यही ह्रद या सरोवर अपां नपात् का मुख्य स्थान है। अतः यह विष्णु वस्ताष्पति की तरह सर्वादेवता और विश्वेदेवता है। विश्वेदेवताओं में इसका नाम रेवती है "स्वस्ति पथ्या रेवतीः"

अध्याय ८३

ऋभवो देवता

सुधन्वन अङ्गिरस के तीन पुत्र

ऋभु, विभ्वा और वाज—(ऋतु दर्शन के देवता या तत्त्व)

'ऋभु' शब्द की उचित व्युत्पत्ति 'ऋतेन ऋतुना वा भवन्तीति' या 'उरु भवन्तीति' है, पर निरुक्तकारों ने 'ऋतेन भान्तीति' व्युत्पत्ति भी दे रखी है। ऋत तत्त्व वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध को कहते हैं, उत्तरार्द्ध के लिए इसका समानान्तर शब्द 'सत्यम्' (या भौतिकम्) है; क्योंकि पूर्वार्द्ध शुद्ध आध्यात्मिक त्रिपादामृत है, उसीसे ऋभुओं का विकास होता है।

१—ऋभु शब्द की व्याख्या

ऋभु नामक देवता संख्या में तीन हैं इनके दो और नाम हैं वे है 'शवसो-नपातः' और 'मनसो नपातः' जैसे

"इहोपयात शवसो नपातः सौधन्वना ऋभवो माप भूत ॥"

इत्यादि (ऋ० वे० ४-३५-१)

२—ऋभु की संख्या और नाम

"इन्द्रस्य सख्यमृभवः समानशुर्मनो नपातो अपसो दधन्विरे।"

(ऋ० वे० ३-६०-३)

शवसो नपात माने शची या शक्ति के नाती और मनसो नपात माने कामायिनी के नाती होता है। इन्होंने सब काम शची या शक्ति से किये है जैसे

"शच्या कर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्।
शच्याहरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहा वृषभो वाजरत्नाः॥"

(ऋ० वे० ४-३५-५)

इन्द्र को ऋभुमान् तथा ऋभुओं को इन्द्रवन्त कहा गया है जिससे इन दोनों का अन्योन्याश्रयी पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित होता है जैसे

"इन्द्र ऋभुमान् वाजवान्मत्स्वेह नो अस्मिन्त्सवने शच्या पुरुष्टुतः॥"

(ऋ० वे० ३-६०-६)

और

"आ नपातः शवसो यातनोपेमं यज्ञं मनसा हूयमानाः।
सजोषसः सूरयो यस्य च स्थ मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः॥"

(ऋ० वे० ४-३४।६)

"इन्द्रस्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम्" (ऋ० वे० ४-३७-५)

परन्तु निम्न ऋचा उक्त ऋभु देवताओं को इन्द्र का पुत्र बतलाती है जैसे

"पीवो अश्वा शुचद्रथा हि भूतायः शिप्रा वाजिनः सुनिष्काः ।
इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातोऽनुवश्चेत्यग्रियं मदाय ।।"

(ऋ० वे० ४-३७-४)

ये सुधन्वन् अङ्गिरस के पुत्र भी कहे गये हैं (आगे देखें) । इन तीनों के नाम क्रम से ऋभु, विभ्वा और वाज हैं, पर बड़े भाई के नाम से ऋभव कहलाते हैं । "ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो" (ऋ० वे० ४-३४-१)

ऋभु नामक देवताओं या तत्त्वों के बारे में दो मुख्य बातें याद रहनी चाहिए । (१) ऋभु नामक देवता वैदिक दर्शन के ऋतु भागीय पक्ष से मुख्य सम्बन्ध रखते हैं । अतः ये 'ऋतुना ऋतेन भवन्तीति' ऋभव कहलाते हैं (२) दूसरी मुख्य बात यह है कि रत्नवादी दर्शन का प्रारम्भ भी यही ऋभु देवता करते हैं । इनका रत्न वाज या अन्न या सोम है । इस बात की पुष्टि निम्न ऋचा करती है ।

३ - ऋतुवादी ऋभु

"विदानासो जन्मनो वाजरत्ना उत ऋतुभिर्ऋभवो मादयध्वम्"

(ऋ० वे० ४-३४-२)

कर्मकाण्ड में इनकी शरद ऋतु में पूजा की जाती है, शरद में इनका पूर्ण विकास हो जाता है जैसे

"शारदेन ऋतुना देवा एक त्रिꣳश ऋभव स्तुताः ।
वैराजेन श्रिया श्रियꣳहविरिन्द्रे वयो दधुः ॥

(शु० यजुः २१-२६)

इस मन्त्र की व्याख्या में महीधर ने "ऋभवः ऋतुसंज्ञा देवा" स्पष्ट लिखा है । उव्वट या यास्क इस विषय में मौन हैं । ऋग्वेद ने अन्यत्र इनको 'ऋतुपाः' की संज्ञा दी है जैसे

"सजोषा इन्द्र वरुणेन सोमं..................
अग्रेपाभिर्ऋतुपाभिः सजोषा ग्नास्पत्नीभी रत्नधामिः सजोषाः ।।"

(ऋ० वे० ३-३४-७)

'अग्रेपा' नाम ऋभुओं का ही है यह इस ऋचा से जानें "त अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च रातिं गृणन्ति ।" (४-३४-१०)

(२) रत्नवादी दर्शन की आधार शिला भी ऋभु नामक देवता ही रखते हैं जैसे

"ऋभुतो रयिः प्रथमश्रवस्तमो वाजश्रुतासो यमजीजनन्नरः ।
विभ्वतष्टो विदथेषु प्रवाच्योऽयं देवासोऽवथा स विचर्षणिः।।"

४—रत्नवादी ऋभु

(ऋ० वे० ४-३६-५)

और

"आगन्नृभूणा मिह रत्नधेयमभूत्सोमस्य सुषुतस्य पीतिः ।।"

(ऋ० वे० ४-३५-२)

"अभूदु वो विधते रत्नधेयमिदा नरो दाशुषे मर्त्याय"

(४'३४-४)

प्रथम मन्त्र कहता है कि रयि या रत्न ऋभु से ही सर्वप्रथम सुने या जाने गये, जिसको नरः नामक सप्तक (चतुर्थ) ने सोम रूप में उत्पन्न किया। द्वितीय ऋचा कहती है कि ऋभुओं की रत्नधेयता ही नवजात (सुषुतस्य) सोम की पीति या पान बना। ऋभु केवल रत्नधा ही नहीं वरन् कई अन्य धनों से भी युक्त हैं जैसे

"ये गोमन्तं वाजवन्तं सुवीरं रयिं धत्त वसुमन्तं पुरुक्षम्।
ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च रातिं गृणन्ति ।।"

(ऋ० वे० ४-३४-१०)

ऋभुओं का मुख्य सम्बन्ध पञ्चपर्वा के समुद्रों से है 'समुद्रैर्युष्माँ इच्छन्त शवसो नपातः (ऋ० वे० १-१६१-१४)

ऋतु दर्शन से सम्बन्ध रखने के कारण ऋभुओं का संवत्सरब्रह्म से सीधा सम्बन्ध है, अतः कहा है

५—संवत्सरीय ऋभु

"सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।
श्वानं बस्तो बोधयितार मब्रवीत्संवत्सर इदमद्या व्यख्यत ।।"

(ऋ० वे० १-१६१-१३)

सोये हुए ऋभुओं की जब निद्रा खुली तो उन्होंने अगोह्य से पूछा हमें किसने जगा दिया ? तब दिन के बोधयिता श्वान (प्राणों) ने सूचित किया कि अब संवत्सर (ब्रह्म के विकास) का समय प्रस्तुत है। इनके सोने के १२ दिन १२ आदित्यों के हैं।

"द्वादशद्यून् यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।
सुक्षेत्रा कृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ।।"

(ऋ० वे० ४-३३-७)

ऋभु देवता अगोह्य आदित्य के अतिथि थे, वहीं सो गये थे। अगोह्य आदित्यों का प्रतिनिधि है। जैसे

"उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः।
अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ ।।"

(ऋ० वे० १-१६१-११)

अगोह्य नाम आदित्य का है। अतः वे इन १२ आदित्यों २०-३१ तत्त्वों तक सुषुप्त रहे। इनका उद्भव पञ्चम सप्तक में ३३ वें तत्त्व में हुआ। २६ वें से अङ्गिरस ऋषि तत्त्व आते हैं, और इन्द्र पूरे चतुर्थ सप्तक में रहता है। अतः इन्हें सौधन्वनः (अङ्गिरस पुत्र) तथा इन्द्र पुत्र कहा जाता है। चतुर्थ सप्तक में ही शरद ऋतु होती है, अतः इन्हें शरद ऋतु प्रदान की गई है।

ऋभु नामक देवताओं का सम्बन्ध आपोदेवता नदी देवता तथा विशेषकर समुद्र तत्त्व से है। इसी लिए लिखा है कि ऋभु नामक देवता समुद्र से जाने के अभ्यस्त हैं जैसे

६—ऋभु और समुद्र तत्त्व

"दिवा यान्ति मरुतो भूम्याग्नि रयं वातो अन्तरिक्षेण याति।
अद्भिर्याति वरुणः समुद्रैर्युष्माँ इच्छन्तः शवसो नपानः॥"
(ऋ० वे० १-१६१-१४)

कि मरुतों का विकास रूप दिव रूप में अग्नि का षड्भूमि रूप में वायु का विकास 'अन्तरिक्ष' (प्रथम सप्तक) के रूप में, वरुण का विकास आपो ब्रह्म रूप में (विद्युत् रूप में) तथा ऋभुओं का विकास समुद्र रूप में अर्थात् पञ्चपर्वा या सप्त- पर्वा के अनुसार पञ्चसागर सप्तसागर रूप में होता है। अतः अन्यत्र लिखा है

"ततं मे अपस्तदु तायते पुनः स्वादिष्ठा धीति रुचथाय शस्यते।
अयं समुद्र इह विश्वदेव्यः स्वाहाकृतस्य समुतृप्णुत ऋभवः॥"
(ऋ० वे० १-११०-१)

कि पहिले इन्होंने आपः की रचना की फिर स्वादिष्ट धीति नदियों की, तदनन्तर समुद्र की जो विश्व की रचना का मूल स्रोत है। इसका समर्थन कई अन्य ऋचायें भी करती हैं

"सुक्षेत्रा कृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वा तिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः।"
(ऋ० वे० ४-३३-७)

"सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः" (४-३३-८)

इत्यादि। प्रथम ऋचा का 'सुक्षेत्रा' शब्द सप्त दिव षडुर्वी सप्तनद्यः पञ्च-सागरा आदि का सूचक है। इन्हें 'सौधन्वना' शब्द द्वारा कई बार सम्बोधित किया गया है (१-११०-४, १-१६१-८)। सुधन्वन नाम अङ्गिरस ऋषि का है उनके तीन पुत्र थे, निम्न परिच्छेद में तीन ही ऋभुओं का नाम आया है ज्येष्ठ कनीयान् और कनिष्ठ। अतः ये अङ्गिरस के ही पुत्र हैं।

ऋभु नामक देवताओं के चारों चमस मिलकर चतुष्पाद् ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसीलिए इन्हें विश्वेदेवताओं में सम्मिलित किया गया है। जैसे

७—ऋभु और चतुष्पाद्ब्रह्म

"विश्वेदेवा नो अद्यास्वस्तये देवा अवन्त्वृभवः।
स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥"
(ऋ० वे० ५-५१-१३)

पहिले दर्शन का एक ही चमस या रूप था उसके उन्होंने चार भाग कर दिये जैसे

"सुकृत्यया यत् स्वपस्यया चँ एकं विचक्र चमसं चतुर्धा।"
(ऋ० वे० ४-३५-२)

पहिले जब चमस एक था उसका नाम केवल 'चँ' था; उसको चतुर्धा करके 'चमसम्' बना दिया। इसको चतुर्धा बनाने की भी कथा इस प्रकार दी है

"ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन्कृणवामेत्याह ।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः ॥"
(ऋ० वे० ४-३३-५)

सबसे बड़े भाई ने कहा चमस के दो भाग करो, मध्यम ने कहा तीन करो अन्तिम ने कहा चार करो, त्वष्टा ने इनकी बात मान कर यही चार भाग कर दिये। परन्तु त्वष्टा ने ये चार भाग जल्दी नहीं कर दिये, वे बहुत नाराज हुए और कहने लगे कि इन ऋभुओं ने एक चमस रूप देवपान (देवताओं के सोम के पात्र) की निन्दा की है, सबके साथ नहीं पीना चाहते, तीन अपने लिए. चौथा देवताओं के लिए (अलग अलग पात्र बनाकर पीना चाहते हैं), अतः मैं इनको मार देता हूँ। कोई ऋभुओं को कुछ भद्दे नामों से पुकारने लगे।' कोई लड़कियों के नामों द्वारा चिढ़ाने लगे जैसे

"हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चामसं ये देवपानमनिन्दिषुः ।
अन्या नामानि कृण्वते सुते सचाँ अन्यै रेनान्कन्या नामभिःस्परत् ॥"
(ऋ० वे० १-१६१-५)

देवताओं और ऋभुवों के बीच की वार्ता का संदेशहरदूत अग्नि थी
"अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः ।
धेनुः कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भ्रातरनु वः कृत्व्येमसि ॥"
"ऋ० वे० १-१६१-३)

हे भाई! ये अश्व (प्राण या रथ रूप दर्शन के अश्व) रथ रूप दर्शन, इनके उद्गम रूप धेनु (प्रश्नि) तथा दो अन्य अश्विनी कुमारों को युवा बना के, हम तुमसे मिलने आते हैं यह बात ऋभुओं ने अग्नि से कही।

इन्हें 'विभु नरः' व्यापाकात्मा कहा है (४-३४-९ इत्यादि) और
"ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि"
(ऋ० वे० ७-४८-२)

ऋभु नामक देवताओं का जन्म 'अनश्व' रूप में (प्राणहीन रूप में या सुषुप्त-प्राण रूप में) होता है, तथा अनभीशु या ज्योतिहीन प्रलयकालीन ब्रह्म सम रूप में होता है पर ये सबके उक्थ्य या उद्गम हैं, इनका रथ त्रिचक्र है जिसके चारों ओर रजः या भौतिकात्मा व्याप्त है, इन देवताओं की बहुत बड़ी महिमा है कि ये द्यावापृथिवी दोनों का पोषण या विकास करते हैं जैसे

८—ऋभु जन्म

"अनश्वो जातो अनभीशु रुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः ।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥"
(ऋ० वे० ४-३६-१)

इनका विशद वर्णन ऋ० वे० ४-३३-२,३,४ में और ४-३४-९, ४-३५-५ इत्यादि में दिया गया है, पढ़लें।

इनका मुख्य सवन माध्यन्दिन है, पर इनके पान का सवन तृतीय सवन में बतलाया है जैसे

"प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते"

९—ऋभु सवन (ऋ० वे० ४-३५-७) और

"पिबत वाजा ऋभवो ददे वो महि तृतीयं सवनं मदाय।"

(४-३४-४ १-१६१-८)

"ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन् सवने दधात"

(४-३३-११) इत्यादि।

इनको देवयान तथा स्वधा से भी सम्बद्ध किया है (४-३७-१; ४-३३-६)। इन्द्र पुत्र होने से इनका वैश्वदेवीय स्थान पञ्चम सप्तक होता है शरद् ऋतु इसी सप्तक में पड़ती है। यहीं ये तीन भाई बनते हैं जिनमें से ऋभु इन्द्र का, विभ्वा वरुण का और वाज देवताओं का प्रिय कर्मा बना (ऋ० वे० ४-३३-९)।

———

अध्याय ८४

सरस्वान्

सरस्वान् तत्त्व पञ्चपर्वा विद्या का एक मुख्य अंग है। पञ्चपर्वा विद्या में पञ्चार्णव या पञ्च समुद्र हैं। इस समुद्रमय ब्रह्म में एक हृद या हृदय या मानस हृद या अन्तर्हृद है। इस हृद का उल्लेख पिछले अपांनपात् तत्त्व के वर्णन में आ चुका है। नासदीय सूक्त में भी अर्णवमय समुद्रमय आपो ब्रह्म की चर्चा की गई है

१—सरस्वान्

"तम आसीत् तमसा गूढ मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्व मा इदम्।"

(ऋ० वे० १०-१२९-३)

विश्वकर्मा सूक्त में भी यही बात मिलती है

"कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो" "तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो"

(ऋ० वे० १०-८२-५,६)

इसी प्रकार ऋ० वे० १०-७२-६,७ में भी उक्त समुद्रमय जलों का उल्लेख इस प्रकार दिया है

"यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणु रपायत॥"
"यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूल्हमा सूर्यमभजर्तन॥"

शेष पञ्चपर्वा विद्या के शीर्षक में दिये ऋ० वे० ९-६२-२६; ऐ० उप० १-१; ऋ० वे० १-१६४-४२; बृह० उप० २-५-८-९, छान्दोग्य उप० ६-९; तै० ब्रा० उप० १०-१९० इत्यादि को पढ़ लें।

'मनो वै सरस्वान्' 'पौर्णमासः सरस्वान्'

(श० प० ७-५-१-११, तै० उ० १-१२)

ये मध्यवर्ती तत्त्व हैं।

अब सरस्वान् या हृद के स्थान का निर्णय करने में निम्न ऋचा स्पष्ट विवेचन देती है।

२—सरस्वान् का स्थान और वर्णन

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा विचष्टे।
सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः॥"

(ऋ० वे० १०-५-१)

अपांनपात् शीर्षक से विदित है कि यह हृद मधुमय है। पञ्चामृतों में मधु-सागर तृतीय है, प्रथम पयः सागर, द्वितीय दधि सागर है, यह 'पञ्चामृत' शीर्षक में बताया जा चुका है। उक्त ऋचा में इस हृद का स्थान उपस्थ या उत्स के मध्य में

बतलाया है। उत्स सम्पूर्ण दर्शन है, प्रत्येक तत्त्व अगले तत्त्व का उत्स या उक्थ है। उसके मध्य में उपस्थ है, जहाँ वेः या सुपर्ण का स्थान निहित है। इसी उपस्थ में अदिति से दक्ष का जन्म होता है जैसे

"असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्नि र्ह न प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥"

(ऋ० वे० १०-५-७)

यह समुद्र तो अग्नि का है, प्रथमजा है और पूर्वार्द्ध में यह वृषभ और धेनु रूप में वर्णित किया गया है। इसी आशय का समर्थन निम्न दो ऋचायें करती हैं।

"समानं नीलं वृषणो वसानाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः।
ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि॥"
"ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतु र्वर्धयन्ती।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः॥"

कि वृषण रूप तत्त्व (वर्षणशील तत्त्व) एक ही घोंसले या नीड में बसते (तमोरूप तत्त्व) धारण करते हुए अर्वती या अश्वीयों के साथ महिषाग्नि रूप में प्रवृत्त होते हैं। ऋत के क्रमिक पदों या स्थानों को योगी दार्शनिक लोग समझते हैं, कोई उन्हें गुहा नाम से (पूर्वार्द्ध को) पुकारते हैं। इस पूर्वार्द्ध रूप गुहा से जो ऋतायनी ऋत की पत्नी-सम है मायिनी या दैवीमाया है वह शिशु नामक सोम या तोकं तनयं या भौतिकाणु को उत्पन्न करके विकसित करती है। वही (ह्रद रूप या सरस्वान् रूप होते हुए) इस ध्रुव अखिल ब्रह्माण्ड की मूल भौतिक नाभि है जिसके तन्तुओं से माया इस भौतिक ब्रह्माण्ड के जाल को बुनती जाती है। ऋत ब्रह्म की वर्तनय या पथ्या रोदसी या द्यावापृथिवी हैं जो उसके मधुओं के घृत और अन्न अर्थात् प्राण और भौतिकाणु से परिवर्द्धित होती है जैसे

"ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातमिषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते।
अधीवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम्॥"

(ऋ० वे० १०-५-४)

वे मार्ग भौतिकाणु सोमज्योति प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं (वाजाय सचन्ते)। यह समुद्र रूप ब्रह्म सात बहिनों सप्तनदियों को उत्पन्न करता है तब मधुधारा को सूर्य के लिए उत्पन्न करता है। और उस मधु से रूप या भौतिकात्मा (वव्रि) के लिए वह पूषण को उत्पन्न करता है जो भौतिकाणु को क्रमशः पुष्ट करता है। कवियों या दार्शनिकों ने दर्शन की सात मर्यादायें बनाई हैं जिन्हें सप्त सप्तक या सप्त परिधियाँ कहते हैं। उनमें से एक मध्यवर्ती हैं जिसे अहं वान् भौतिक तत्त्व कहते हैं, वह लौहस्तम्भ के समान उसे दो नीडों या के (पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के) मध्य में आधार रूप में स्थित है वही मुख्य भौतिक उत्स है 'सप्तमर्यादा कवयोस्तेषामेकोऽभ्यंहुरोगात्' (ऋ० वे० १०-५-५,६)। अतः यह सरस्वान् दर्शन के तत्त्वों का मध्यवर्ती ह्रद हृदय या समुद्र है भौतिक है मधुमय है नाना रूपाकार की सृष्टि करने में समर्थ (भूरि

जन्मा विचष्टे) है। मधु शब्द के माने केवल तृतीय मधुसागर ही नहीं होता वरन् अमृत और मीठा भी होता है जैसे 'मध्व उत्सः' में मधु शब्द अमृत रूप मिष्ट या मिष्ट रूप आदि ब्रह्म का है जैसे 'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः……… मधु द्यौरस्तु नः पिता।" इत्यादि मन्त्रों में और अपांनपातादि तत्त्वों के मूल स्वरूपीय 'मध्व उत्सः' 'मधुमानूर्मिमन्तः' में तथा बृहदारण्यक से समस्त मधुवादी ब्राह्मणों में और छान्दोग्य के मधुवादी भागों में। अथर्ववेद ने उक्त बातों का समर्थन करते हुए इसे चतुर्थ सप्तक के समुद्र रूप में वर्णित किया है जैसे

"यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः।
यस्य व्रते पुष्टपति र्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे॥
आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम्।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम्॥"

(अथर्व ७-४-२ पूरा)

अतः सरस्वान् की प्रार्थना में कहा गया है कि जिसने उग्र सुदानव देवताओं और असुरों दोनों को पुत्र रूप में जनन किया या उत्पन्न किया उसका हम आवाहन करते हैं। हे सरस्वान् तुम्हारी जो उर्मियाँ घृतों या प्राणों को चुवाने वाली हैं, और मधुमती हैं उनसे हमारी सुरक्षा करो। हे सरस्वान् तुमने विश्वदर्शत या चक्षुरूप सूर्य के, जो स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त है स्तन को पिया है और हम भी उस प्रजा रूप स्तन के अभिष या दूध को पी सकें या सोमात्मा भौतिकात्मा से सदा युक्त रह सकें जैसे—

"जनीयन्तोन्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः। सरस्वन्तं हवामहे॥"
"ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः। तेभिर्नो ऽविता भवः॥"
"पीपिवासं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः। भक्षीमहि प्रजामिषम्॥"

(ऋ० वे० ७-९६-४,५,६)

उक्त कथन का समर्थन यजुर्वेद १३-३८,३९ और १७-८९ तथा नारायणोपनिषद् ५-४० निम्न प्रकार से करते हुए सरस्वान् को अन्तर्ह्रद या मानस ह्रद नाम से पुकारते हैं और कहते हैं कि उसमें घृतमत्कुलायी सुपर्ण (सोम) रहता है। इस वर्णन से सरस्वान् की स्थिति पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि यह सरस्वान् सरोवर या अन्तर्ह्रद या ह्रद या मानसह्रद या मानस सरोवर उत्तरार्द्ध के २५ वें २६ वें तत्त्व तत्त्व के मध्यवर्ती तत्त्व है जैसे

"समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ ३ उदारदु पांशुना सममृतत्त्वमानट्।
घृतमस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥

(१७-८९)

"अन्तर्ह्रदा मनसा पूयमाना घृतस्य धारा अभिचाकशामि।
हिरण्मयो वेतसो मध्ये अग्ने॥ (१३-३८)
तस्मिन्सुपर्णो मधुकृत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः॥"
"तस्यासते हरयः सप्त तीरे स्वधा दुहानाममृतस्य धाराम्॥"

(ना० उप० ५-४०)

"ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेनाः" (यजुः १३-३९)
'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे'

मन्त्र के दो शिरों में प्रथमशिर ब्रह्म है द्वितीय यही सरस्वान् रूप सूर्य सोमादि। ऋ० वे० १०-६६-५ में सरस्वान् की 'धी' रूप या बुद्धि रूप या सोम या भौतिकात्मा रूप बतलाते हुए लिखा है "सरस्वान्धीभिर्वरुणो धृतव्रतः" इत्यादि। तथा ऋ० वे० १-१६४-५२ में सरस्वान् को दिव्य सुपर्ण वायस आपों के बृहत् गर्भ और ओषधियों का दर्शक, तथा वृष्टि से सर्वतः तर्पयिता कहा है जैसे

'दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि॥"

अध्याय ८९

(१) नदी रूपिणी सरस्वती

सरस्वती वाग्ब्रह्माणी है। इसका वर्णन देवता रूप और नदी रूप दोनों प्रकार से दिया है। देवता रूप में यह पावक रूप अन्न रूप सोम की प्रतिनिधि है तो नदी रूप में पञ्चपर्वा विद्या की मुख्याङ्गभूत तृतीय पर्वणी नदी। जब यह पञ्चपर्वाविद्यानुसार नदी रूप में वर्णित की जाती है तो पञ्चपर्वा विद्या के पर्वत रूप पञ्चपर्वों से भी इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है जिससे इसका वर्णन कुछ लौकिक सा लगने लगता है। पर जैसा नदी देवताओं के शीर्षक में बतलाया जा चुका है कि ऋ० वे० १०-७५-८ के अनुसार सब वैदिक नदियाँ तो सुन्दर अश्वों (प्राणों) वाली, सुन्दर धुनन करने वाली (वाग्ब्रह्माणी) सुन्दर रथ (दिव्य शरीर) वाली, सुन्दर वस्त्र (भौतिक शरीर) वाली हिरण्यमय (ब्रह्म मय) सुशीला (दैवी) अन्नवती (सोमवती) ऊर्णावती (ऊर्णनाभि सम) सदा युवती, और जीवन युद्ध में निरन्तर संघर्ष करने वाली (वृत्रादि आसुरी शक्तियों को नष्ट करती) हैं। यही नहीं ये तो भूलोक में चलती ही नहीं, ये सदा अश्विनी के रथ में ही चलती हैं। और युद्ध भी करती है, वृत्र का वध भी करती हैं (ऋ० वे० १०-७५-९ और ६-६१-७)। यह सरस्वती वाग्ब्रह्माणी नदी रूप में अपने बल से पर्वतों के सानुओं को पर्वतविद्या के विभागों शत्रुओं की तरह अपने बल से और अपनी उर्मियों की शक्ति से कुचलती हुई, उत्तरार्द्ध के (वृत्र की) भौतिक वृद्धि के अन्धकार से ब्रह्म ज्ञान की रक्षा करने के लिए (सदा प्रवृत्त रहती है), उस सरस्वती की हम सुन्दर शब्दावली की स्तुतियाँ करते हैं। जैसे

१—सरस्वती

"इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥"

(ऋ० वे० ६-६१-२)

यद्यपि सरस्वती का उदय तो पूषा नामक २४ वें तत्त्व से होता है और उदय होने के तीसरे तीर्थ २६ वें तत्त्व में यह वृत्रघ्नी कहलाती है

'वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्' (ऋ० वे० ६-६१-७)

इसका उदय २४ वें तत्त्व में होने का प्रमाण यजु० वे० ४-७
'सरस्वत्यै पूषणेऽग्नये स्वाहा' और (ऋ० वे० ६-६१-६)

'रदा पूषेव न सनिम्' मन्त्रों से होता है, पर इसका निर्माण आदि ब्रह्म ही से होने लगता है अतः इसे

'त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्चजाता वर्द्धयन्ती'

(ऋ० वे० ६-६१-१२)

कहा है कि यह तीन लोक वासी सप्त लोक गमन करने वाली पाँचसप्तकों में पुष्ट करने वाली है। सबसे पहिले गङ्गा का अभ्युदय होता है। वह द्वितीय रुद्रसप्तक से १९ वें तत्त्व तक रुद्र जटा रूप ११ तत्त्वों में रहती है, फिर २० वें से आदित्यों के उदय के साथ साथ यमुना का उदय होता है, २४ वें से सरस्वती का; तीनों की त्रिवेणी २६ वें में होती है जहाँ पर वृत्र का वध होता है। अतः सरस्वती की गङ्गा यमुना आदि सात बहिनें कही गई है 'उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा' (ऋ० वे० ६-६१-१०)। सरस्वती आर्यों को सब नदियों अधिक प्रिय है पर इसी मन्त्र में लिखा है। आपो रूप में सरस्वती भैषज्य भी है

"सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामि"

(यजु- २०-३)

इस सरस्वती का जल बुद्धि रूप है, अतः इसे बुद्धियों (भौतिकात्माओं) की संरक्षिका और सोमात्मा बतलाया है

"प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती धीनामवित्र्यवतु॥"

(ऋ० वे० ६-६१-४)

यह सरस्वती भौतिकाणु को सम्पादन करने वाली है इसका प्रमाण भी ऋ० वे० ६-६१-११ इस प्रकार देता है

"आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु॥"

और फिर भी यह उस पार्थिव रजः के अन्धकार को दूर करती है "द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा" (ऋ० वे० ६-६१-१३)

(२) देवता रूपिणी सरस्वती

यह ध्यान रहे सरस्वती चाहे नदी स्वरूपिणी हो या देवता स्वरूपिणी, दोनों अवस्थाओं में यह भौतिक शब्द ब्रह्मणी है, यह परा वाक् है यह अह्व्यवाङ् वाक् है जिसके कारण श० प० ब्रा० के 'मनसोवाचश्च' के द्वन्द्व में इस वाणी को परा वाक् कह देने से उसका गर्भपात हो गया। जहाँ गर्भपात हुआ उसका नाम 'अत्र त्यादिति अत्रिः' पड़ गया (अत्रि शीर्षक देखें)। इस सरस्वती को देवता रूप में अग्नि (जातवेदा) और अन्न या वाज या वाजिनी या वाजिनीवती अर्थात् सोमवती बतलाया है। जैसे

'सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा' (यजुः ४-७)

यही सरस्वती वाणी रूप में भी वर्णित है जैसे

"सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि" (यजुः ९-३०)

और 'सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक्' (यजुः २४-३३)। इसी सरस्वती को भौतिक ब्रह्माण्ड के बीजभूत यशः की भगिनी भी बतलाया है जैसे "सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा', (यजुः २-२०), इसीलिए ऋ० वे० १०-१७-८ में सरस्वती को बर्हिः में आसन जमाने की बात कहता है और साथ में इसका सम्बन्ध पितरों से जोड़कर

स्वधा से स्वस्थ और आनन्दित रहने की प्रार्थना करता है। अतः इस सरस्वती का दक्षिणार्द्ध की बासिनी होने का भी संकेत दिया गया है जैसे

"आसद्यास्मिन्वर्हिषि मादयस्वाऽनमीवा इष आधेह्यस्मे।
सरस्वती यां पितरो हवन्ते दणिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः॥"
(ऋ० वे० १०-१७-८,९)

इन बातों की पुष्टि सरस्वती देवता सूक्त ऋ० वे० १-३ से भी होती है जिसमें लिखा है

"पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धिया वसु॥"
"महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति॥"
(ऋ० वे० १-३-१०,१२)

कि सरस्वती अग्नि (जातवेदा) रूपिणी है, और सोम से सोमवती है, वह यज्ञमयी २४ वें तत्त्व (ऋतुमयी) है और बुद्धि रूप धन वाली या भौतिकात्मा की धनवती है। यह सरस्वती महसां तेजसां सागर के समान है और केतु नामक भौतिक तत्त्व से चेतयति या प्रबुद्ध करती है कि अब भौतिक ब्रह्माण्ड का आरम्भ हो गया, या वह भौतिक वाग्ब्रह्माणी है जिसका स्वरूप बुद्धि रूप या सोम रूप है; उसीसे वह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्ति रूप से विराजमान है। सरस्वती वाक् है, अमावास्या पूर्वार्द्धान्त उत्तरार्द्धादि तत्त्व है (गो० उ० १-१२) सरस्वती गौ है (श० प० १४-२-१-७) इसकी ऋतु वर्षा शरद है पुष्टिपत्नी (पूषापत्नी) है (श० प० १२-४-२-२३; तै० २-४-७-४) इसके लिए दधि को पुरोडाश में दिया जाता है (श० प० ४-२-४-२२) यह वज्र रूपिणी है (कौ० १२-२)।

———

अध्याय ८९

वाक्, वाग्धेनु, धेनु और गौरी (वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म)

सरस्वती तो चतुष्पाद् ब्रह्म की ब्राह्मणी या ब्राह्मी या पुत्री या चतुर्मुख ब्रह्म को पुत्री या पत्नी है पर जिसे त्रिषधस्था सप्तधातु पञ्चजना नाम से पुकारा गया है वह सरस्वती की माता नानी परनानी आदि हैं। यह वाक् या वाग्ब्रह्म या आत्मीय वाक् या आध्यात्मिक शब्द ब्रह्म है। इसका वर्णन ऋ० वे० ८-१००-९-१० में इस प्रकार दिया मिलता है।

१—वाक्

"यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्वस्विदस्याः परमं जगाम ॥ ९ ॥
देवीं वाच मजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ १० ॥"

द्वितीय मन्त्र का अर्थ तो बृहदारण्यक ने साफ लिख दिया 'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वास्तनाः स्वाहाकारो स्वधाकारो हन्तकारो* वषट्कारश्च इत्यादि' इसके माने स्पष्ट है वाग्धेनु के चार स्तन चार पादों के प्रतिनिधि हैं। इसके प्रथम तीन पादों में मन्द्र या तूष्णीं अंशु उपांशु ध्वनि की शक्तियों का दुहन करती है पर चतुर्थ सप्तक के पशु तत्त्व 'पुरुषपशु गोरश्व अवि अजा' इसकी ध्वनि को भौतिकता में स्फुट ध्वनि में व्यक्त ध्वनि में व्यञ्जन ध्वनि में प्रयुक्त करने में समर्थ होते हैं। ऐसी वाग्धेनु हमसे सुन्दरतया प्रस्तूयमान होती हुई या प्रस्तुत की जाती हुई हमें उपलब्ध हो या हमारे पास आवें। इसी प्रकार प्रथम मन्त्र का अर्थ भी इसी सरणि में रचा गया है कि जिस वाणी का प्रयोग बोलने में किया जाता है वह प्रथम (तीन पादों में) अविज्ञात (अविचेतनानि) रहती है अर्थात् तूष्णीं अंशु उपांशु रूप में मन्द्र या आनन्द रूप में मग्न रूप में रहती है। वह दैवी रूप में देवताओं की राष्ट्री रूप में सृष्टि की मूल आधार भूत बनकर बैठी रहती है। वह चार प्रकार की शक्तियों का दुहन करती है। ये चार शक्तियाँ चतुष्पादीय शक्तियों को दूध की तरह दुहती रहती है। कौन ऐसा है जो इस वाक् ब्रह्मणी रूप धेनु की परम स्थिति या वास्तविक स्थिति का ठीक ठीक पता लगा सके ? यह तो स्वयं शब्द ब्रह्म है। गीता ने ब्रह्म की सत्ता के बारे में जो ये दो श्लोक कहे हैं

"उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वापि गुणान्वितम्।
विमूढा नानु पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः ॥

---

* हन्त नाम चन्द्रमा का है 'हन्तेति चन्द्रमा' और वषड् औषड् वौषड् नाम षड् ऋतुओं का है। सोम देखें।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यत्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥"
(गीता १५-१०,११)

वे ठीक ऋ० वे० की निम्न दो ऋचाओं के रूपान्तर हैं जैसे

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहु नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययेष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥"
(ऋ० वे० १०-७१-४,५)

दोनों ग्रन्थों के पाठों में अन्तर इतना है कि गीता उसे ब्रह्म या पुरुष या अहं पद से कहती है तो ऋग्वेद उसे वाक् या वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म के नाम से पुकारता है। ऋग्वेद कहता है कि कोई उस वाग्ब्रह्म को देखते हुए भी नहीं देखता सुनते हुए भी नहीं सुनता। जो उसकी खोज में लगन में रहता है उसके सामने वह वाग्ब्रह्माणी पत्नी रूप में सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली कामुकी सी नग्न रूप में उपस्थित हो जाती है। जो व्यक्ति उस वाग्ब्रह्माणी की सख्यता को प्राप्त हो जाता है, उसे स्थिरपीत या प्राप्त प्राप्तव्य कहते हैं। जो वेदों में निहित वाग्ब्रह्म या वाग्ब्रह्माणी की व्याख्या रूप यज्ञ रूप विकासों को भी नहीं समझ पाते या समझ सकते, उनके लिए यह वाग्ब्रह्माणी या शब्द ब्रह्म वाग्धेनु या वाग्ब्रह्माणी रूप में प्रस्तुत न होकर, केवल माया रूप कर्म काण्ड के जाल की पूर्ति के लिए ही इति श्री समझने के कारण वाग्ब्रह्माणी वाग्धेनु का काम या आचरण न करती हुई, अधेनु रूप में केवल भाषा रूप में ऋचा रूप में प्रस्तुत होकर वह समस्त वाग्ब्रह्मणी की व्याख्या सम्बन्धी वैदिक ऋचाओं को (व्यर्थ में अनर्थ करने के लिए ही) फलहीन और पुष्पहीन रूप में सुनता है। गीता के श्लोकों का आशय भी कुछ इसी प्रकार का है, कहने का ढंग दूसरा है जैसे "इस पुरुष या ब्रह्म को शरीर से निकलते हुए, शरीर में स्थित रखते हुए, शरीर में भोग करते देखते हुए और गुणयुक्त देखते हुए भी मूर्ख ही नहीं देख पाते, ज्ञान चक्षु लोग ही देख पाते हैं" योगी लोग यत्न करते हुए योग से इसे अपनी देह में ही स्थित देख लेते हैं, पर अकृतात्मा, या अकुशल योगी यत्न करने पर भी उसे नहीं देख पाते, वे चेतना हीन हैं।

उक्त वाग्धेनु की खोज तथा वैदिक ऋचाओं का निर्माण हमारे ऋषियों और मुनियों ने तत्त्वों को और भाषा को चलनी से छानकर जैसे की। यह काम किसी एक ऋषि या मुनि का नहीं है। सदा सभाओं गोष्ठियों में ही इनका निर्णय और निर्माण हुआ है। अतः इन ऋषियों की वाणी रूप ऋचाओं में लक्ष्मी का निवास है अर्थात् इनमें वाग्ब्रह्म या वाग्धेनु के समस्त लक्षणों का विवेचन है जो सबको आजतक भद्रा या रमणीय लगती चली आ रही है। जैसे

२—दर्शन और वेद निर्माण

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधि वाचि ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-२)

जब वे ऋषि मुनि वृन्द आपस में वाद-विवाद तर्क-वितर्क करते हुए सभा में शास्त्रार्थ करते थे—तब वे ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण उक्त तत्त्वों के निर्णयों को ऐसी नपी तुली संयत सर्वाङ्ग ऋचाओं में करते थे कि वे ऋचायें उनकी प्रतिभा के बल से स्वयं हृदय के शुद्ध उद्गार रूप में निकलने लग जाती थीं, फिर भी एक दूसरे को टोकता रहा कि देखो तुमने यह भाव छोड़ दिया, उसने यह भाव; अन्य लोग उनके समाधान के लिए ओहब्राह्मण, या वैदिकों के निश्चित सिद्धान्तों और निश्चित निर्णयों वाली विद्याओं की चर्चा करते थे। अतः प्रत्येक तत्त्व निर्णय और प्रत्येक ऋचा के निर्माण में सारी सभा को माथा पच्ची करनी पड़ती रही। जैसे

"हृदा तष्टेषु मनसा जवेषु यद्ब्राह्मणा सं यजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-८)

वे सभासद ऋषि मुनि साधारण कोटि के व्यक्ति नहीं होते रहे। उनमें से प्रत्येक ज्ञानचक्षु वाला और बहुश्रुत होता रहा (अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः)। और वे प्रतिभा की उड़ान में एक दूसरे से असम या बढ़ बढ़ कर होते थे। उनमें से कोई तो मुख तक डूबे प्रतीत होते रहे, कोई उपकक्ष (पार्श्व) तक के कद के (ज्ञान में) और कोई कोई तो ऐसे खरे निखरे गम्भीर ज्ञानशील होते थे कि वे ज्ञानहृद से प्रतीत होते थे और कोई (ऐसे लगते थे मानो ऐसे ज्ञान हृद में) स्नान कर शुद्ध होकर आये हैं जैसे

"अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदध्नास उपकक्षास उ त्वे हृदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-७)

जब सभा में ब्रह्म विषयक कोई भी निर्णय हो जाता था तब सब के सब सभासद और उनके प्रधान कुलपति बड़े प्रसन्न हो जाते थे

"सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन (ब्रह्मज्ञानागमेन) सभासाहेन सख्या सखायः ।"
(ऋ० वे० १०-७१-१०)

और जो लोग उक्त सभा को छोड़ कर चले जाते थे, उनकी सम्मति को वेदों में स्थान नहीं दिया जाता रहा, न उनमें ब्रह्मज्ञान की गम्भीर चिन्तन ही समझा जाता रहा, यद्यपि उनकी सब बातें ध्यान पूर्वक सुनी जाती रहीं, उन्हें परीक्षा के लिए ही सुना जाता रहा, जिनके बारे में सभा यह निर्णय भी साथ में देती थी कि ऐसे लोग ब्रह्मज्ञान के पुण्य पुनीत मार्ग को नहीं जानते। जैसे

"यस्तित्याज सचिविदं सखाय न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्र वेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥"
(ऋ० वे० १०-७१-६)

इस ब्रह्मज्ञान विषयक वाणी के विलास को या शब्दब्रह्म की व्याख्यामय वेदों को, कोई तो ऋचाओं का भण्डार समझता है, कोई शक्करी छन्दों के गीतों में गायत्री के पति रूप 'पुरुषः' की स्तुतियाँ गाता है, कोई उनमें सब विद्याओं के भण्डार ब्रह्म-ज्ञान का सागर है कहता है, और कोई उनके मन्त्रों के द्वारा यज्ञ के विधान में जुट-कर उसमें ब्रह्म से सृष्टि विकास के ज्ञान के अभिनय का पूर्ण आनन्द लेते हुए मानसिक और आत्मीय दोनों प्रकार की श्रेयः प्रेयः की सिद्धि करता है जैसे

"ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥"

(ऋ० वे० १०-७१-११)

इस प्रकार वाक् और वेद दोनों भारतीय आर्यों के अभिन्न तत्त्व हैं। ये दोनों ही हमारी कामधेनु हैं। वाग्धेनु के चारस्तन स्वाहास्वधा हन्तकारवषट्कार तो हैं वेदों के चार स्तन ऋग्यजुः सामाथर्व। एक के बिना दूसरे का ज्ञान हमें असम्भव है। इसी लिए पिछले परिच्छेद की बाल की खाल के समान सूक्ष्म छानबीन और भरी सभा के निर्णय रूप वेद मन्त्रों को हमारे शास्त्रकारों ने 'आप्तवाक्यं शब्दः' 'शब्दो वेदः' कहा है। यजुर्वेद ने तो साफ लिख दिया है कि ब्रह्म तो वेद ही है जैसे

३—वाक् और वेद की अभिन्नता

"वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यं वेदो भूयाः ॥"

(यजुः २-२१)

उसी वेद से ब्रह्मज्ञान सम्भव है, उसी वेद से देवरूप तत्त्व ब्रह्मज्ञान के आधार बने, उसी वेद की वाक् में वैदिक वाग्धेनु और ब्राह्मी वाग्धेनु दोनों तादात्म्य से विद्यमान हैं। देवता तत्त्वों में सर्वप्रथम वाग्ब्रह्माणी रूप वाग्धेनु का विकास बृहस्पति रूप शब्द ब्रह्म में होता है जो सब देवताओं का गुरु या श्रेष्ठ है और गुहा का वासी (पूर्वार्द्ध का) है जैसे

"बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥"

(ऋ० वे० १०-७१-१)

वाग्ब्रह्माणी या वाग्धेनु का सूक्त इसी मन्त्र से प्रारम्भ होता है, बृहस्पति के माने ही 'बृहतां वाचां पतिः बृहस्पतिः' होता है। उसी रूप में वह सर्व प्रथम 'नाम' मात्र में तूष्णीम् ध्वनि का रूप धारण कर प्रादुर्भूत हुई, वह सर्वोच्च श्रेणी है। अतः सर्व सूक्ष्मतम या श्रेष्ठ है। वह अन्तिम पराकाष्ठा है। वह गुहा में पुरुष को रख लेती है। वाक् को इसीलिए प्रजापति कहा गया है "वाग्वै प्रजापतिः प्रजापति वै वाक्" (श० प० ब्रा० ४-१-५-६)। अतः इसके बारे में (ऋ० वे० १०-११४-८) में लिखा है कि इसके १५ हजार उक्थ हैं जितनी द्यावा पृथिवी है उतनी ही विस्तृत वाक् है, जहाँ जहाँ ब्रह्म का प्रवेश या सत्ता है वहाँ वहाँ सर्वत्र वाक् की लाखों गुना सत्ता है जैसे

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ।।"

इसका समर्थन वागम्भृणी सूक्त कर देता है जिसमें वाक् का सब देवताओं तत्त्वों कर्मों के साथ तादात्म्य किया है और कहा गया है कि इनके सब कार्य वाक् के ही कार्य हैं, वही ब्रह्माण्ड का आरम्भण प्रलय कारी है, पर परा और महिमा वाली है (ऋ० वे० १०-१२५ पूरा सूक्त देखें) । वाग्रूपी धेनु के चार स्तनों का वर्णन और सोम वर्णन में 'तिस्रो वाचो ईरयन्ती' आदि तथा आदित्य रूप गायों की वर्णना सब वाग्रूपी वर्णना है (ऋ० वे० ८-१००-१०,११; ९-९७-३४,३५; ८-७६-१२; १०-१०८ पूरा; और ६-२८ पूरा देखें' । ऋ० वे० १-१६४ सूक्त में वाक्, वाग्धेनु गौ और धेनु के बारे में कई महत्त्व पूर्ण मन्त्रों को दिया है । १-१६४-१० में लिखा है कि अभौतिक या आध्यात्मिक वाक् की पीठ पर यह भौतिक ब्रह्माण्ड है जो तीन माताओं और तीन पिताओं को या त्रिपादामृतों को अकेले अपने ऊपर धारण करती हुए उन्हें नहीं गिरने या खिसकने देती हुई ऊपर ही स्थित रहती है और तब दिव के (तत्त्व रूप) देव मन्त्रणा करते हुए कहते हैं कि यह भौतिक ब्रह्माण्ड उसकी पीठ पर है वह वाणी तो अविश्वमिन्वा या अभौतिक शब्द ब्रह्म या शब्द ब्रह्माणी है । जैसे

"तिस्रो मातॄँ स्त्रीन्पितॄन् विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ।।"

(ऐ० ब्रा० ८-५ देखें)

यहाँ तीन मातायें और पिता प्रथम त्रिपादों के ब्रह्म और ब्रह्माणी (वाक्) है । इस वाणी के 'गायत्री, अर्क, साम, त्रैष्टुप्, वाक, द्विपदा चतुष्पदा ये सप्तवाणी रूप भेद हैं, ये सातों सप्तकों की व्याख्या हैं

"गायत्रेण प्रति मिमीते अर्क मर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ।
वाकेन वाकं द्विपदाचतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्तवाणीः ।।"

(१-१६४-२४)

इसी सप्तवाणी समूह को 'गवां सप्त' कहा है और रथाधिपति को सप्तब्रह्म, सप्त प्राणों को सप्ताश्व और सात ज्ञान रूप ब्रह्म की नदियों को 'सप्त स्वासारः' जैसे

"इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ।।"

(१-१६४-२)

और आगे चलकर कहा है कि "कोई ऐसा व्यक्ति, जो इस ब्रह्म या वाग्ब्रह्म के बारे में जानता है, हमें यह बतलाने का कष्ट करे कि वाम नामक सुपर्ण का स्थान कहाँ पर है जिसके पालन पोषण के लिए गायें इसे रूप के (भौतिकाणु के) वस्त्र पहिनाकर उसके लिए शिर से आदि स्थान से प्रथम थन से फिर क्रमशः द्वितीय

तृतीय चतुर्थ थन से) दूध को दुहती रहती हैं और अन्त में पद क्रम या पाद क्रम से उदक या चतुर्थ सप्तक या पाद के रूप को प्राप्त हो जाती है" जैसे

"इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥"

(१·१६४-७)

यह वही वाग्धेनु है जिसके स्वाहा स्वधा आदि चार स्तन हैं, वेः सुपर्ण है उसका वस्त्र रूप या भौतिकाणु है। फिर कहा है कि "यह वाग्धेनुः सुदुधा या दुहने में बड़ी सीधी है, उसे मंगलमय कारों से (चतुष्पाद् ब्रह्म के चार पाद रूप कारों से) और दुहने की रीति में निपुणता से, दुहो। यह धेनु हमें सर्वश्रेष्ट सवन रूप दूध को सविता रूप में प्रस्तुत करती है, यह सविता रूप सवन या दोहन विषुवत् रेखा (२६ वें तत्त्व) से अत्यन्त समिद्ध होकर उष्ण रूप में (गर्म दूध रूप) में या वैश्वानराग्नि रूप में—वह अग्नि जो नर रूप भौतिक जगत् की चेतना रूप ज्योति को प्रकाशित या जीवित रखने में समर्थ होती है—प्रस्तुत होती है उसी के बारे में मैं यहाँ चर्चा कर रहा हूं, उसी को मैं स्तुति भी कर रहा हूँ (साधारण गाय की सम्भवतः नहीं)"। जैसे—

उप ह्वये सुदुघां धेनु मेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता सविषन् नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम् ॥

(ऋ० वे० १-१६४-२६)

जब उक्त वाग्धेनु को भौतिकाणु रूप वत्स के साथ वर्णित किया जाता है तब उसे गौ या अध्न्या नाम से पुकारते हैं। अध्न्या के माने अहन्तव्या तो व्युत्पत्ति से ठीक जचता है पर इसका वास्तविक अर्थ 'अहिंसिका' अमर धेनु है, यह त्रिपादामृत स्वरूपी है, सर्वभूतहित रत तत्त्व है, इसीलिए अहिंसक का नाम 'गौ' है भी। लोग कहते हैं वह तो 'गोः' है, बहुत सीधा सरल सज्जन (आत्मा के समान) है। हाँ यज्ञ बलि में इसे अध्न्या के माने अहन्तव्या ही होगा। ऐसी गौः के बारे में कहते हैं कि उस गाय का अनुसरण अनुकरण या स्तवन करो जो भौतिकाणु रूप वत्स को अपनी ओर देखते हुए देखकर उसके सिर को हिलाती हुई माता के समान मनाती हुई मुख से चाटती हुई शब्द करती हुई अपने उष्ण स्तन से उसे दूध पिलाती है—वह धेनु अपने द्वितीय सिर रूप भौतिकाणु रूप वत्स को पुत्र समान प्यार करती है और उस अणु रूप वत्स की वैश्वानराग्नि को शान्त करने के लिए शब्द रूप पयो रूप अन्न देकर उसे अन्नाद बनाती है। जैसे

४—वाक् और अध्न्या

"गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्ङ्कृण्णोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमति मायुं पयते पयोभिः ॥"

(ऋ० वे० १-१६४-२८ अथर्व ९-२७-६)

जब यह भौतिक ब्रह्माण्ड भौतिक शब्द ब्रह्म रूप में रोरवण करता है (शिङ्क्ते) तो उसे वाग्धेनु की वाणी की ध्वनि की प्रतिध्वनि समझना चाहिये। वाग्धेनु की

ध्वनि की अवधि तो ध्वंसन की अवधि या वाग्धेनु के गर्भ से भौतिक शब्द ब्रह्म रूप वत्स की उत्पत्ति के समय तक की है जिसे पर्जन्य कहा जाता है (मेघ नहीं–यास्क गलत कहते हैं)। वह वाग्धेनु तो पञ्चचित्तियों पञ्चपादों के द्वारा इस मर्त्य रूप भौतिक शब्द ब्रह्म की सृष्टि करती है और जब वह भौतिक वाग्ब्रह्म रूप में उपस्थित होती है तो वह पूर्ण रूप से वैद्युतीय स्वरूप को धारण कर लेती है। अर्थात् भौतिक शब्द ब्रह्म वव्रि या व्याप्तिधर्मा वैद्युतीय शरीरी है (वृणोतीतिः वव्रिः)। जिसे आज कल के वैज्ञानिक (मेगनेटिक वेभ्ज़) आकर्षण तरंग कहने लगे हैं उससे भी वह अत्यन्त सूक्ष्मतम सोमात्मा स्वरूप है। जैसे

"अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं (शब्दं) ध्वंसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥"
(ऋ० वे० १-१६४-२९)

भौतिक शब्द ब्रह्म के दो रूप हैं, मर्त्य और अमर्त्य या अमृत। सोमात्मा या चन्द्रात्मा (दैवी) अमृत है और वृत्रात्मा आसुरी मर्त्य है 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' उक्त ऋचा के आशय को कहने में वैदिक आर्य थकते से नहीं लगते; समझते हैं कि किसी को सन्देह न रह जाय। अतः उक्त आशय को दूसरे ढंग से कहते हैं कि वह अघ्न्या गौ वसुओं की पत्नी है। वसु प्रथम सप्तक या पाद के तत्त्व हैं। वह उन वसुओं से सन्तान प्राप्ति की कामना मन ही मन चक्षु सूर्य रूप मन से करके तदनुरूप व्यापार में प्रवृत्त हुई (हिङ्कृण्वती) मनाने लगी। कुछ दिनों में उसके जुड़वाँ पुत्र 'अश्विनौ' (दो अश्विनी कुमार) २५ वें तत्त्व प्रथम भौतिकाणु के प्रतिनिधि (नक्षत्र-वाद या गन्धर्ववाद सरणि में) प्राप्त हुए और उन्हें प्रेम से दूध पिलाने लग गई। ऐसी अघ्न्या गाय बड़े सौभाग्य के लिए वृद्धि को प्राप्त होती रहे जैसे

"हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥"
(ऋ० वे० १-१६४-२७)

"सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमिरजायत।
पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानु जायते॥"
(ऋ० वे० ६-४८-२२)

इसका एक ही बार जन्म होता है। अस्तु उक्त अघ्न्या गौरी को कहा गया है कि तुम अपने आप चरती हुई या स्वयं आचरण या विकास या चरण रूप पाद रूप विकास पाती हुई शुद्धोदकों को पीने वाली और उन तृण रूप ओषधियों को (जो स्वयं जल के स्वरूप वाले होते हुए) इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना कर देने वाले हैं; खाओ या प्राप्त करो या अन्नाद बनो तथा उससे पुष्ट होकर तुम सुन्दर यव रूप सोम को या सु=प्राण रूप यवों को उत्पन्न करके सौभाग्यवती हो सको (भगवती=पुत्र से सौभाग्यवती) और जिससे पुनः हम भी सौभाग्यवान् या पुत्र-वान् बन सकें। जैसे

"सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४०)

पूर्वार्द्ध का नाम गोधूम या व्रीहि या गेहूँ है, उत्तरार्द्ध या सोम का नाम यव है। इसीलिए 'विश्वदानीं तृणमद्धि' भौतिक(विश्व)ब्रह्माण्ड को देने वाली तृण(या ओषधि या सोम)को खाओ कहा गया है, स्वयं शुद्ध उदक स्वरूपिणी है उसीसे उसका विकास प्रकाश भी होता है। ये जल या उदक या सलिल क्या और कैसे हैं ? यह गौरी के निम्नवर्णन से स्पष्ट हो जावेगा। निम्न मन्त्र उक्त मन्त्रों के ठीक बाद में यह बताने के लिए दिये भी गये हैं कि ये दोनों प्रकार के मन्त्र एक ही तत्त्व की नाना रूपों में व्याख्या देते हैं। अतः इन्हें एक असम्बद्ध रूप में देने से इनकी भिन्नता से भ्रम को दूर करने का अभिप्राय मन में रखा गया है। यहाँ पर विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि शुक्ल यजुर्वेद को इसी अघ्न्या की सर्वप्रथम प्रार्थना या वर्णना ही आरम्भ किया गया है, जिससे यजुर्वेद के निर्माता की दृष्टि में उक्त अघ्न्या रूप तत्त्व का सर्वोच्च महत्त्व है, इस आशय को किसी भी प्रकार मना नहीं किया जा सकता। अतः यह धेनु वैदिकों की सर्वमान्य तत्त्व है।

वाग्ब्रह्म

वैदिकों ने उक्त वाक् वाग्धेनु गौ और गौरी की विवेचना वाग्ब्रह्म की विशद और सरल व्याख्या के लिए दी है। उक्त शीर्षकों द्वारा उन्होंने वाग्ब्रह्म के विकास स्तम्भों को प्रकाशस्तम्भ सा बनाया है। उन्होंने वाक् का वर्णन शब्द ब्रह्म स्वरूप में स्पष्टतः नहीं, अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत किया है। अतः उन्होंने स्थान स्थान पर निम्न उद्गार निकाले हैं। वाग्वै गीः (यजुः १२-६८)। वाग्वै धेनुः (गो० पू० २-२१)। वाग्वै शबली (कामधेनुः), (ताड्य २१-३-१), वाग्सरस्वती (ऐ० ३-१)। वाग्वै समुद्रः (ताण्ड्य ७-७-९)। वाग्वै सरस्वती पावीरवी (ऐ० ३-३७)। वाग्वै सरिरं छन्दः (यजुः १५-४)। वाग्वै सोमक्रयणी (श० प० ३-२-४-१०)। वाग्वै सिनीवाली (यजुः ११-१५)। वाग्सावित्री (गो० पू० १-३३)। वाक्सर्पराज्ञी (कौ० २७-४)। वागेव सुपर्णी (श० प० ३-६-२-२)। वाग्वाव शतपदी (ष० १-४) वाग्वै रेवती (श० प० ३-८-१-१२)। वागषाढा (श० प० ०-४-२-३४)। वाग्वै पथ्या स्वस्ति (कौ० ७-६ श० प० ३-२-३-८)। जू रसि जूः इत्येतत् (वाचः) अस्या नाम (यजुः ४-१७ श० प० ३-२-७-४)। वाचे वेकुरा नामासि (ताण्ड्य ६-७-६)। वाग्वै धिषणा (यजु ११-६१)। वाग्वै मतिः (यजु १३-५८)। वाग्वै बृहती (श० प० १४-४-१-२२)। बृहस्पतिः वाचां सुवते (तै० १-७-४-१)। वाग्वै राष्ट्री (ऐ० १-१९)। इयं (पृथिवी)। वाग् अदो मनः (ऐ० ५-३२)। वागन्तरिक्षं वागिति द्यौ (जै० उ० ४-२२-११) वाग्वै लोकंपृणा (श० प० ८-७-२-७)। वाग्वैविराट् (श० प० ३-५-१-३४)। वाग्वै विश्वामित्रः (कौ० १०-५)। वाग्वै विश्वकमर्षिः (यजुः १३-५८)। वागेव सँस्तुप्छन्दः (यजुः १५-५)। वाग्वाऽनुष्टुप् (ऐ० १-२८)। महिषी हि वाक् (श० प० ६-५-३-४)। वागित्यक् (जै० उ० ४-२३-

५—वाग्ब्र की महिमा की श्रुतियाँ

४)। वागेवर्चश्च सामानि च मन एव यजूंसि (श० प० ४-६-७-५)। वाग्ब्रह्म (गो० पू० २-१०)। वाग्घि ब्रह्म (ऐ० २-१५, ४-२१)। वाग्वै ब्रह्म (ऐ० ६-३ श० प० २-१-४-१०; १४-४-१-२३; १४-६-१०-५)। वागिति तद्ब्रह्म (जै० उ० २-९-६)। सा या सा वाग्ब्रह्मैव-तत् (जै० उ० २-१३-२)। ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम (तै० ३-९-५-५)। वाग्वैब्रह्म सुब्रह्म चेति (ऐ० ६-३)। वाग्वै सुब्रह्मण्या (ऐ० ६-३)। वागुक्थम् (ष० १-५)। वाग्घि शस्त्रम् (ऐ० ३-४४)। वाग्शंसः (ऐ० २-४)। वाग्वै रथन्तरम् (ऐ० ४-२८)। वाग्वै त्वष्टा वाग्घीयं सर्वं ताष्टीव (ऐ० २-४)। वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः (यजुः ११-३३)। वाग्वै अर्बुदम् (तै० ३-८-१६-३)। वाग्वै भर्गः (श० प० १२-३-४-१०, गो० पू० ५-१५)। वाग्वा उत्तर नाभिः (श० प० १४-३-१-१६)। वाग्वामभृत् (श० प० ७-४-२-३५)। वाग्वै शर्म (ऋ० वे० ३-१३-४ ऐ० २-४०)। वाग्वादाभ्यः (ग्रहः) (श० प० ११-५-९-१)। वाग्वै सीता-समरः (श ७-२-३-३)। वागिति श्रोत्रम् (जै० उ० ४-२२-११)। वाग्वा इन्द्रः (कौ० २-७-१३) वाग्घ्यैन्द्री (ऐ० २-२६)। ऐन्द्राग्न्योः प्रियं धाम वाक् (ऐ० ६-६) या वाक् सोऽग्निः (जै० उ० १-२८-३; १-२-१, गो० ३-४-११, श० प० ३-२-२-३)। प्रजापति र्हि वाक् (तै० १-३-४-५, श० प० १-६-३-१७)। (प्रजापतेः) वाक् स्वमासीद्वाग् द्वितीया (ताड्य २०-१४-२)। वाग्वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः (श० प० ६-३-१-१९) वाग्वा-तस्य पत्नी (गो० उ० २-९)। वाग्वै वायुः (तै० १-८-८-१)। सर्वेप्राणाः वाचि स्थिताः (श० प० १२-८-२-२८)। वाग्च मनश्च देवतानां मिथुनम् (८-५-२३) (मनसः) एषा कुल्या वाक् (जै० उ० १-२८-३)। वाग्देवत्यं साम वाचो मनो देवता (जै० उ० १-२९-१४)। अपरिमिततरमिव मनः परिमिततरेव वाक् (श० प० १-४-४-७)। वाक्च मनश्च हविर्धाने (कौ० ९-३)। वागिति मनः (जै० उ० ४-२२-११)। वाग् आदित्यः वाक् चन्द्रमाः (श० प० १०-४-१-४, जै० उ० ३-१३-१२)। वाग्वै यज्ञः (ऐ० ५-४)। वाचोरसो यज्ञियायज्ञियम् (ताड्य ५-३-७)। वाग्घोता (गो० उ० ५-४)। वागध्यात्मम् वाग्वै हविष्कृत् (श० प० १२-१-१-४, ११)। वाक् सर्व ऋत्विजः (गो० उ० ३-८)। त्रेधा विहिता वाग् – ऋचो यजूंषि सामानि (श० प० ६-५-३-४)। वागिति सर्वे देवाः (जै० उ० १-९-२)। वज्र एव वाक् (ऐ० २-२१) वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः (ऐ० ३-८)। वागु हि रेतः (श० प० १-५-२-७)। वाग्योनिः (ऐ० २-३८) 'वागु सर्वं भेषजम्' (श० प० ७-२-४-२८)। वाग्संवत्सरः (ताण्ड्य १०-२२-७)। परमा वा एषा वाग्या दुन्दुभी (तै० १-३-६-२)। वाचो वाव द्यौस्तनौ सत्यानृते (ऐ० ४-१) यो वा हि वाक् (श० प० १-४-४-४)। वाको वाक्यं क्षीरोदनं मांसौदनौ हैव तौ एतद्वाचः छिद्रं यदनृतम् (ताण्ड्य ८-६-१३)। प्रजापतिर्वै वाग्पतिः यावद्ब्रह्म तावती वाक् (श० प० ११-५-७-५)। वाक् सर्वताधावति (श०प० ३-१-३-२२)।

इस प्रकार वाग्ब्रह्म शब्द ब्रह्म है, सर्वा देवता है, सब देवता वाक् रूपी हैं, सबका वर्णन वाक् के विकासों का ही वाङ्मय है, सब वेद वाङ्मय हैं, ब्रह्म वाङ्मय है, अखिल ब्रह्माण्ड वाङ्मय है, सब कुछ वाङ्मय या वाक् है, वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म है।

इतना कह चुकने के पश्चात् भी वाक् के वास्तविक स्वरूप के बारे में अभी

तक विद्वानों में एक बहुत बड़ा भ्रम है कि जो वाग्ब्रह्म है वही शब्दब्रह्म भी है। ऐसा नहीं है। वाक् नाम केवल प्रकाशमय प्रवाह या व्याप्ति का है। यह अग्नि नामक देवता या ब्रह्म या आदि ब्रह्म का प्रकाशमय शरीर या पत्नी है। अग्नि इस वाक् रूप सर्वतः प्रवाहमय प्रकाश शरीर की जाज्वल्यमान या प्रदीप्त आत्मा है। ये दोनों एक अभिन्नात्मा होकर इस अखिल अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के मूल बीज विन्दु हैं। जिस प्रकार 'अग्निः सर्वादेवता' है उसी प्रकार यह वाक् भी सर्वादेवता स्वयं है, क्योंकि ये दोनों नित्य अभिन्न सहचर या एकात्म्यवान् हैं। वाक् का नाम मुख भी है, यही सब देवताओं का मुख है। अन्य देवताओं के पास मुख है ही नहीं। वे सब इसी वाक् के मुख से हविः पाते हैं। इसी वाङ्मुख के अखिल परिणामों की सृष्टि होती है, इसी में सबका आह्वान या हवन होता है, उस आह्वान या हवन को अग्निरात्मा परिपाक या पाचन देकर नित नित नवीन रूपाकारों की रचना करता है। ये दोनों ही इस सृष्टि के मूल और मुख्य कर्णधार हैं। विकासान्तरों में यही वाक् कभी अदिति या अन्न या अन्नाद का रूप लेती है तो कभी आपः नामक शुक्लात्मा का। यह वाक् इसीलिए त्रिवृत् कहलाती है। अग्नि भी त्रिविध या त्रिवृत् है, लोहित शुक्ल कृष्ण वर्ण रूप अग्नियों का त्रिवृत् है जिनसे वाक् के संयोग या मिथुन द्वारा अदितिमय अन्नं मनः और आपोमय प्राण तथा तेजोमयी लोहित वर्णा वाक् का उदय होता है। इस प्रकार इसी वाक् और इसके पति अग्नि में ही मौलिक प्राण और मौलिक मनः या ज्ञान भी रहते हैं। ये दोनों इस सृष्टि के मूल आधार स्तम्भ या भूर्भूमि या पृथिवी हैं जिनमें सृष्टि वृक्ष उगता है।

शब्द ब्रह्म दूसरी वस्तु है। जब आदि ब्रह्म विकसित होकर उत्तरार्द्ध के श्रोत्र रूप में अथवा आकाश नामक हृदय रूप में प्रस्तुत होता है तब इन दोनों के मेल को शब्द ब्रह्म कहते हैं। 'श्रोत्रम्' के माने 'श्रवणशक्ति रूपम्' है, जो तत्त्व सर्वतः श्रवण शक्ति रूप है उसका नाम श्रोत्र है। इस श्रवण शक्ति रूप तत्त्व के शरीर में दिक् या सर्वदिग्प्रवाही शब्द रूप आत्मा का निवास होता है। इसका आयतन मौलिक आत्मा रूप आकाश होता है श्रोत्र इसका लोक है, 'श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः' इसका शरीर है, अध्यात्म शरीर है और दिशायें इसकी अमृत हैं (बृह० उप० ३-९)। शब्द की उत्पत्ति आकाश आत्मा या हृदय में स्थित स्तनयित्नु या विद्युत् के संघर्ष से होती है। अतः स्तनयित्नु में विद्युत् रूप तेजोमय अमृतमय पुरुष रहता है उसका अध्यात्म शरीर 'शाब्दः' 'सौवरः' (स्वरमयः) है। और दिशायें सब भूतों की मधु हैं, इन दिशाओं में जो तेजमय अमृतमय पुरुष रहता है उसको श्रौत्रः (श्रुतिमयः) प्रातिश्रुत्कः (प्रतिश्रवणीयः सर्वश्रवणीयः) कहते हैं। (बृह० उप० २-५)। उत्तरार्द्ध में वाक् तो पृथिवी वैश्वानर अग्नि और अपान रूप में परिणत होती है, पर श्रोत्र तत्त्व चन्द्रमा दिशा और व्यान रूप से शब्द रूप में प्रतिश्रुत होता है या सौवरः या स्वरमय रूप में। शब्द ब्रह्म का प्राचीन औपनिषदिक नाम 'सौवरः प्रातिश्रुत्कः' है जिसे आदि भौतिकात्मीय सृष्टियों में चौथी या पांचवी श्रेणी मिलती है।

अध्याय ८७

गौरी

गौरी नाम महिषी का है, अग्नि का और सोम का नाम महिष है। गौरी इनकी महिषी है (अग्नि और सोम को देखें)। गौरी गोरी है। गुरु (बृहस्पति ब्रह्मण-स्पति और इनके प्रतीक हेमाद्रि) की पुत्री ही यह गौरी है।

१—गौरी 'महसि चतुर्थे सप्तके जाता' या 'महीषु षड्वींषु षद्तीति' 'महिषस्तस्य-पत्नी महिषी' यह इस महिषी की व्युत्पत्ति है। यह गौरी सलिलों को या आपोब्रह्म का निर्माण करती हैं। उन सलिलों में अखिल ब्रह्माण्ड के निखिल तत्त्वों या सत्त्वों के मूलभूत असंख्य बीज ८६४००० जातियों में एक साथ एक सलिल सागर रूप गौरी धेनु का स्वरूप धारण करते हैं। इस प्रकार की गौरी शुक्लवर्णा आदि वाग्ब्रह्माणी रूप गौरी कामधेनु का निवास 'परमे व्योमन्' या मध्य स्थान पर है। यहाँ पर 'एकपदी द्विपदी' का योग अभीष्ट है इसीलिए द्विपदी शब्द के बाद 'सा' शब्द का प्रयोग है, तक्षति का अर्थ एकीकरण है योग है। उस योग को 'सा' नाम से पुकारा गया है। शेष को परस्पर 'बभूवुषी' शब्द से गुणा करना बतलाता है। यह (१+२=) ३×४×८×९×१००=८६४००० अक्षरमयी अव्यय तत्त्व मयी वाग्ब्रह्माणी रूप गौरी काम धेनु है। जैसे

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४१)

इस मन्त्र का अर्थ यास्क जैसे खुरुक निरुक्तकार को नहीं लग सका। इसमें वैदिक ज्योतिष के ज्ञान की आवश्यकता है। उक्त आकड़ों का समर्थन संवत्सर ब्रह्म के 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन' मन्त्र के '३६०×३०×८०'=८६४००० से हो जाता है शेष 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक में देखें। इस गौरी रूप अघ्न्या धेन् के बारे में पुनः लिखा है कि इस प्रकार की सलिलाक्षरमयी उस गौरी कामधेनु से ही पञ्चसागर (पञ्चपर्वाविद्या में) या सप्तसागर (सप्तकीय विभाजन में) क्षरित या विक्षरित विकसित होते हैं, उसी विकास क्रम से दर्शन के वृत्ताकार स्वरूप के चतुदिक्वासी तत्त्व अपनी—अपनी सत्ता पाते या जीवित होते या अवतारणा प्राप्त करते हैं। वहीं से अक्षरों का सर्वजातसत्त्वों की जातियों के मूलबीज रूप शब्दब्रह्ममय अक्षर (और उस अक्षरों से क्षरित होने वाले सब भूत तत्त्व) सत्ता में आते हैं, उन्हीं से यह अखिल ब्रह्माण्ड (भौतिक) पनपता रहता है या जीवित है (क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते (गीता)। यह कूट हेमाद्रिके नाना कूटों का सामूहिक भाव वाला कूट शब्द है, कूट=चोटी जैसे

"तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥"
(ऋ० वे० १-१६४-४२)

यास्कादि ने यहाँ भी गत्ता खाया है। वे पञ्चपर्वाविद्या या सप्तक विद्या से परिचित ही नहीं है; अतः समुद्रा माने मेघाः और क्षरति माने वर्षन्ति अपने मन का अर्थ लिख गये हैं। वैसे उक्त गौरी को उन्होंने कई स्थलों में माध्यमिका वाक् कहा है। सम्भवतः वे उसे अपना अन्तरिक्ष मध्यवर्ती स्थान कह रहे हैं, परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी की मध्यमा भी सम्भवतः नहीं। यद्यपि यह तो उत्तरार्द्धीय परा वाक् की परदादी है। क्योंकि परा वाणी की तीन माताओं और तीन पिताओं का उल्लेख तो पिछले परिच्छेदों में किया जा चुका है। परा वाणी प्रथम भौतिकाणु रूप भौतिक शब्दब्रह्म है, पश्यन्ती आदि इसी के उत्तरोत्तर विकास हैं, पूर्व के नहीं।

अथर्व वेद (८-५-२५) में कहा है कि 'गौ' तत्त्व केवल एक है, ऋषि भी एक ही है, एक ही धाम है, एक ही आशिष है, एक ही यक्ष है और एक ही ऋतु है अधिक नहीं हैं जैसे

२—अथर्ववेद में गौ

"एको गौ रेक एक ऋषि रेकं धामैकधाशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नातिरिच्यते ॥"

वही एक गौ, पञ्चदोहा गौओं को पञ्चपर्वा विद्या के अनुसार विकसित करता है जैसे

"पञ्चव्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवो नु पञ्च।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एक मूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥"
(अथर्व ८-५-१५)

इस मन्त्र में पाँच व्युष्टियाँ, पाँच दोध्नी धेनु, पाँच ऋतुयें पाँच दिशायें, क्रम से १०, १० के भागों या तत्त्वों में (पञ्च दशेन) विकसित होते हैं, परन्तु इनके मूर्द्धा में शिर में आदि में केवल एक ही गौः, एक ही ऋतु एक ही दिशा आदि है, यह स्पष्ट कहा है। अतः वेदों का धेनु वाद वैदिक दर्शन की व्याख्या की एक शाखा या सरणि है. यह स्वयं स्पष्ट है। अथर्व ने यह भी लिखा है कि गृष्टि नामक धेनु ने केवल इन्द्र के लिए पीयूष दुहा जिसको देव मनुष्य असुर और ऋषि चार भागों में विभाजित किया।

"केवलीन्द्राय दुदहे हि गृष्टि र्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ असुरानुत ऋषीन् ॥
(८-५-२४)

और ऋ० वे० ८-१०१-१५ में अदिति को गौ नाम से पुकारते हुए उसे बध या बंधित बद्ध न किये जाने का आदेश दिया है। इसी गौ को, वसुओं की दुहिता (पुत्री) रुद्रों की माता, और आदित्यों की स्वसा तथा अमृत की नाभि बतलाते हुए लिखा है

"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥"

ठीक इसी प्रकार का भाव अथर्ववेद ९-१-१-४ में मधुकशा के बारे में इस प्रकार दिया है

"मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥"

(शेष अदिति शीर्षक में आगे देखे) अत्रोषधि सूर्या के बारे में भी कुछ इसी प्रकार की एक ऋचा मिलती है जैसे

"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादिति स्वसा ।
अदृष्टा विश्वदृष्टा तिष्ठतेलयतासुकम् ॥"

अध्याय ८८

वैश्वानरः

अग्निर्वैश्वानर का मूल शब्द विश्वानर है। विश्वानर सूर्य या सूर्य से युक्त भौतिकात्मा रूप सोम है। इसको आ० श्रौ० (१-३-२३) में सविता का पिता बताया है (सविता देखें), क्योंकि यह प्रसविता है। विश्वानर में दो शब्द विश्व और नर हैं, दोनों परिभाषिक हैं, विश्व माने भौतिक होता है. नर माने नृषद् चतुर्थ सप्तक का तत्त्व, नार या आपोमय रसमय। अतः विश्वानर माने वह सर्व प्रथम भौतिकात्मा रूप ब्रह्म जिसका उदय चतुर्थ सप्तक में रसमय प्राणरूप में होता है। इस रसमय प्राणरूप भौतिकात्मा की दिव्य ज्योतिष्मत्ता का नाम वैश्वानरीय अग्नि या अग्निर्वैश्वानर है इनके निम्न प्रमाण हैं।

१—वैश्वानर की व्युत्पत्ति

"विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥"

(ऋ० वे० ८-६८-४)

"उदु ज्योति रमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥"

(ऋ० वे० ७-७६-१)

"प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥"

(ऋ० वे० १०-५०-१)

इसमें विश्वानर शब्द सूर्य के लिए आया है जिससे सर्वप्रथम भौतिकात्मा का प्रसवन होता है, अतः इसे सविता कहते हैं, पर सविता सोम नाम का आदित्य या चन्द्र+वृत्र नामक तत्त्व का है जो सूर्य के आवरण रूप भौतिकात्मा के दो भाग दैवी तथा आसुरी करके दोनों प्रकार की सृष्टियों का विकास साथ साथ करने लगता है। सृष्टि क्रम वास्तव में यहीं से चलता है। अतः इसे सविता या प्रसविता कहते हैं सूर्य तो मौलिक भूतात्मा का, एक का प्रसविता मात्र सूर्य (मौलिक अर्थ का सविता) है। सूर्य से विश्व या भौतिक तत्त्व का प्रथमाभास आच्छादन रूप में प्रकट होता है।

वैश्वानर का सुन्दर वर्णन निम्न ऋचाओं में मिलता है।

वैश्वानर का वर्णन

"गीर्णं भुवनं तमसाऽपगूळ्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ।
तस्य देवा पृथिवीं द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य॥

यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहवुर्भुवनानि विश्वा।
सोऽर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा॥
विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्॥
वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नमिनचरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्॥
वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः।
यो महिम्ना परि बभूवोर्वी उताऽवस्तादुत देवः परस्तात्॥
द्वे स्मृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्यो कतरो नौ विवेद।
आशेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत्॥"

(ऋ० वे० १०-८८-२,९,१२,१३,१४,१५,१६)

इस वैश्वानर अग्नि का जन्म, सूर्य के चारों ओर घिरे भौतिकावरण के उद्दीप्त होने से हुआ, इसीलिए लिखा है कि इसमें द्यावा पृथिवी को प्रकाशित कर दिया या सब लोकों के मौलिक बीजों का हवन सा कर दिया। यह अग्नि पूर्वार्द्ध में दूसरे रूप में थी, अब दूसरे रूप में आगई। पूर्वार्द्ध दैवाग्नि का उत्तरार्द्ध पितरों (बीजों) और मनुष्यों (रसमय बीजों या तत्त्वों) का है। इन्हीं से अखिल सृष्टि होती है। अहोरात्रवादी प्रसिद्ध ऋचा

"अहश्चकृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥"

में इन्हीं दो भागों का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में वैश्वानराग्नि अपनी ज्वालाओं से तमः को पार कर लेता है। यह तमः स्वर्भानु कहलाता है (सूर्य देखें)। वैश्वानर का पिता संवत्सर ब्रह्म है (श० प० ब्रा० १-४-२-१६)।

वैश्वानर का जो स्थान अग्नि रूप में है वही स्थान इस ब्रह्म रूप में सोम का है, वही स्थान प्रकाश रूप में चन्द्रमा का है, वही स्थान पुरुष या गायत्री पुरुष रूप में सविता का है, वही स्थान पूषा के रूप में तृतीय पशु का है। वही स्थान विष्णु के सात्विक स्वरूप और रुद्र के रौद्र रूप, और विश्वेदेवताओं के भौतिक शरीर का है, वैश्वानर स्वयं सूर्य से उत्पन्न होता है। अतः वैश्वानर की स्तुति उक्त सब देवताओं के माध्यम से सीधा सम्बन्ध रखने के कारण इनके साथ या इनके रूप में की गई है। यास्क इन ऐसे व्याख्यानों को 'वैश्वानरीयाः प्रवादाः' कह गए हैं (निरुक्त ७-६-२३)। यह वैश्वानरः द्वादशादित्यों में सविता आदित्य का प्रतिनिधि है। यह संवत्सर ब्रह्म, पृथिवी (भौतिकात्मा) मातरिश्वा आदि सब इसी तत्त्व स्थान से प्रारम्भ करते हैं। इसीलिए इसे राजा कहते हैं

२—वैश्वानर का स्थान

"वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥"
(ऋ० वे० १-९८-१)

इसमें वैश्वानर से अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति बतलाई है। इसीको आसुरी भौतिक तत्त्व का दमन और शमन कर्ता या वृत्र और शम्बर का हन्ता और दिशा रूप भौतिकता का विस्तारक बतलाती ऋचा यह है

"प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्यु (आसुरं) मग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥"
(ऋ० वे० १-५९-६)

यहीं इसे रुद्र इन्द्र बृहस्पति सोम विष्णु की तरह वृषभ कहा है। यास्क जी इस वृषभ के माने लौकिक मेघ समझते हैं। प्राचीन याज्ञिक इसे आदित्य कहते हैं 'असावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः' शाकपूणि का मत 'अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः' है। वेदों में लौकिक विद्युत् की कहीं चर्चा नहीं है, जहाँ भी है वह वैदिक या वैदिक दर्शन के मौलिक तत्त्व रूप विद्युत् का* वर्णन है। यास्क ने विचार किया है कि 'सौर्य वैश्वानराग्नि सूर्य से किस प्रकार उत्पन्न होती है'? वेकहते हैं—जैसे काँच या मणि को सूर्य किरण के सामने लगाने से उसके द्वारा जो सूर्य किरणें सूखी कंडी या गोहरी में पड़ती है तो वह सूखी कंडी या गोहरी जलने लगती है वही वैश्वानराग्नि हो गई। हाँ इसकी पुष्टि में वे

'वैश्वानरो यतते सूर्येण' (ऋ० वे० १-९८-१)

मन्त्र भी दे गये हैं। वैश्वानर तो इस अखिल ब्रह्माण्ड की देहात्मा रूप भौतिकात्मा रूप व्याप्त आत्मा है, यही हमारी देहात्मा की भी अग्नि रूप आत्मा है। जिसे चन्द्र कहते समय स्वयं प्रकाशित और सूर्य तत्त्व से (त्रिपाद्ब्रह्म से) प्रकाशित स्फटिक मणि समान मानते हैं या सोम कहते समय रसमय ब्रह्म कहते हैं उसीको अग्नि रूप आत्मा कहते समय वैश्वानर कहते हैं। गीता ने भी तो झख नहीं मारी है। लिखा है

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणपानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

यहाँ चतुर्विध अन्न आकाशीय वायवीय तैजसीय और पार्थिव हैं, रसात्मक वह स्वयं है। इसी बात को ऋ० वे० १०-८८-१० में "स्तोमेन हि दिवि ·····। तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्व रूपाः ॥" ऋचा स्पष्ट शब्दों में कहती है। यह ऐसी आत्मीय ब्रह्माण्डीय विभु व्यापक विश्व रूप अग्नि है, बिजली और

* प्रत्येक तत्त्व विद्युदग्नि रूप मौलिक विद्युत्स्वरूपी है, ५० तत्त्व सब विद्युद्रूप हैं। वैसे ८६४००००००० अक्षर रूप अग्नियाँ हैं। जिसका कुछ वर्णन ऋ० वे० १०-५२ तथा १-१६४-४१, ४२ में दिया गया है।

कंडी की आग नहीं। यजुर्वेद ने इसका स्थान निर्धारित करते हुए लिखा है कि वैश्वानर का नाम 'दिविपृष्ठ' है अर्थात् द्यु स्थान उसकी पीठ या पीछे की ओर है। उसका वास्तविक स्थान स्वयं नृषद् चतुर्थ सप्तक हो जाता है

'दिवि पृष्ठो अरोचत' (३३-९२)

इसीको ऋ० वे० १०-८८ में हविष्पान्तीय सौर्य वैश्वानर सूक्त कहता है कि यह वैश्वानर सूर्य का अगला विकास है। ब्राह्मणों ने भी यही दुहराया है 'आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' इत्यादि। यहाँ आदित्य सूर्य नामक आदित्य का संकेतक पूर्व संदर्भ से स्पष्ट है। जब शा० श्रो० ८-२२-१ यह कहता है

आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्'

तब यह इस वैश्वानराग्नि को अखिलब्रह्माण्ड की देहात्मा या दिव्य शरीर या भौतिकात्मा विभुव्यापक स्वयं स्पष्ट रूप से कहता है। इसीलिए अन्य ब्राह्मणों ने तत्तद् स्थलों में सन्दर्भानुसार लिखा है "पृथिवी वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानरः" इत्यादि। अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड ही सौर्य वैश्वानर का विकास या निवास है वही सबकी देहात्मा या आग्नेयात्मा है। हविष्पान्तीय सूक्त ऋ० वे० १०-८८ में

'जमदग्निभिराहुतः'

का अर्थ इस भौतिकात्मा रूप वैश्वानर नामक अग्नि की भयंकर चिता है जिसमें 'वृत्र' को जलाने की कथा दी गई है (श० प० ब्रा० ११-१-५-८)। इसी वैश्वानराग्नि की चिता में वृत्र या आसुरी पाप्मात्व को स्वाहा कर उसके दैवी ब्रह्माण्ड की वर्तमान दिव्य ब्रह्माण्ड की रचना की गई। जमदग्नि माने जमदग्नि रूप चक्षु या सूर्य तत्त्व की भयंकर रूप से प्रज्वलित अग्नि होता है (श० प० ब्रा० ९-१-१-८-१-२)। यास्क ने यहाँ भी ब्राह्मण ग्रन्थों से श्रद्धा उठाने का वाक्य लिखा है 'बहुभक्ति वादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति'। बात ऐसी नहीं है, ब्राह्मण ग्रन्थों में वैज्ञानिक विश्लेषण हैं।

३—वैश्वानर और सोम

वैश्वानर तो सोम का जोड़ीदार है। अतः जिस प्रकार सोम से विवस्वान् आदित्य उत्पन्न होता है कहा गया है उसी प्रकार इससे भी विवस्वान् के उत्पन्न होने की बात ठीक लिखी है "अपामुपस्थे······। आ दूतो अग्नि मभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः।" (ऋ० वे० ६-८-४)। यहाँ जलों के मध्य में माने वृत्र से निकले जलों के मध्य में (विद्युद् में) है। वहाँ से वैश्वानर से विवस्वान् (पुरुषपशु) मार्ताण्ड नामक आदित्य का उदय होता है जिसको प्राण रूप में परावत या दक्षिणार्द्ध के 'मातरिश्वा' कहते हैं। मातरिश्वा माने वे प्राणवायु हैं जिनका अभ्युदय माता या गौ नामक आदित्यों से २० वें तत्त्व से होता है ३१ वें तक रहता है।

"मातरिश्वा यन्मातरि वातस्य सर्गः" (ऋ० वे० ३-२९)

यास्क ने यहाँ भी गत्ता खाया है उन्होंने मातरि माने अन्तरिक्ष लिखकर चौपट कर दिया है। माता नाम आपः और आदित्य रूप गौ का ही है दोनों के स्थान यहीं हैं जैसे 'आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु' और 'आपो हिष्ठा ...... उशतीरिव मातरः'। हविष्पान्तीय सौर्य वैश्वानरीय सूक्त ऋ० वे० १०-८८-६ में वैदिकों ने सूर्य के स्थान का निर्धारण करते हुए उसे दक्षिणार्द्ध में रखा है। वैदिक दर्शन दो भागों में विभक्त है, रात और दिन अथवा उत्तरायण और दक्षिणायन। और निम्न ऋचा रात्रि को भौतिक भाग उत्तरार्द्ध मूर्द्धा या शिर मानती है। उसमें अग्नि नामक वैश्वानर तत्त्व का जन्म होता है, तब इससे दक्षिणायन का आरम्भ प्रातः काल होते ही सूर्य का जन्म होता है। वैदिकों ने इसे 'मायाम्' या रहस्य नाम दिया है जैसे "मूर्द्धा भुवो भवति नक्त मग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्। मायामूषु ...॥ (ऋ० वे० १०-८८-६)। इस मन्त्र में भुवो नाम उत्तरार्द्ध या भौतिक ब्रह्माण्ड का है जैसे

"देवानांयुगेप्रथमेऽसतःसद जायत। तदाशा अन्व जायन्त तदुत्तानपदस्परि।
भूर्जज्ञ उत्तानपदोर्भुव आशाअजायन्त। अर्दितेर्दक्षो अजायत दक्षद्वितिःपरि॥"
(ऋ० वे० १०-७२-५,२)

जो सोम है वही सविता है, सोमः और सविता की अग्निः वैश्वानराग्नि है, नहीं नहीं सोम और सविता की अग्नि का जनक वैश्वानराग्नि है। अतः आ० श्रौ० १-३-२३ ने स्पष्ट शब्दों में वैश्वानराग्नि को सविता का पिता कहते हुए लिखा है

४—वैश्वानर और सविता

"देव सवित रेतं वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण॥"

अन्त में इतना अवश्य ध्यान में रखा जाय कि हम लोग प्राणी को तभी तक जीवित समझते हैं जब तक यह वैश्वानराग्नि उसके देह में किसी तापमान में विद्यमान रहता है; इसके अभाव में प्राणी को निर्जीव समझा जाता है। इस प्रकार वैश्वानराग्निः हमारी अनुभूत तापमानीय सतत प्रज्वलित आहवनीया अग्नि के समान भौतिक आत्मा के रूप में जीवन पर्य्यन्त एक या अनेक रूपों में अटूट सम्बन्ध से हमें चैतन्य, ज्ञान, स्फूर्ति, प्रकाश देती हुई वैयक्तिक तथा सार्वजनीन कार्यों में प्रवृत्त करने वाली एक ही शक्ति है। हमारी समस्त ब्राह्म रौद्र और ऐन्द्र त्रिपादामृत शक्तियाँ इसीको सूर्य की तरह प्रकाशित करती हैं, हमारे सम्पूर्ण जीवन-जीवनी का मूल आधार यही वैश्वानराग्निः है। लकड़ी तेल घी से जलने वाली आग पार्थिव पारमाणविक है। पर वैश्वानरीय अग्नि अपारमाणविक अव्यक्त और व्यापक दिव्य शरीरी आत्मा ही है। इसका इस प्रकार का वर्णन ऋ० वे० ७-५;७-६ सूक्तों में प्रशस्त रूप में दिया गया है जिसमें वैश्वानर को अमृतों त्रिपादों के उपस्थ या अन्त में या पूर्ण दर्शन के मध्य भाग में, जागृत हुआ, मानुषी नृषद् की सृष्टि का कारण, घुटी पीठ वाला या भौतिकामृताधार वाल, इन्द्र के समान आसुरों का सम्राट्, त्रिधातु या त्रिपादामृत, वाग्ब्रह्मरूप, मित्र क्रतु का विकास रूप अयज्यु और पणियों का हन्ता, नहुष का नाशक, सूर्य के उदित होने पर, बुध्न या मूल सूर्य से उत्पन्न होने वाला, समुद्र में विचरण करने वाला, दैवी मति बुद्धि वाला बतलाया गया है। इससे

वैश्वानर का विषय सन्देहहीन हो जाता है। इससे वैश्वानर की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या छा० उप० (५-१२ से १८ तक) ने निम्न प्रकार से दे रखी है। "तस्य ह एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथक् वर्त्मा सन्देह बहुला वस्ति रप एव रयिः पृथिव्यैव पादौ उत्तरवेदिर्लोमानि बर्हिः हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमानहवनीयः" इत्यादि।

बुद्धियोग भगवद्गीता ने भी इसका उत्तम विवेचन दिया है —

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥" (१५-१३)

अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में इस वैश्वानर के बारे में निम्न उद्धरण भी उपलब्ध हैं:—इमे लोका इयं पृथिवी विश्वमग्निर्नरोऽन्तरिक्षं विश्वं वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः (श० प० ब्रा० ९-३-१-३)। एष वै रयिर्वैश्वानरः (श० प० ब्रा० १०-६-१-५)। अस्यै आदित्योः वैश्वानरः (श० प० ब्रा० ९-३-१-२५)। स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः (श० प० ब्रा० १०-६-१-११)। वैश्वानरो वै सर्वेऽग्नयः (श० प० ब्रा० ६-२-१-३५)। संवत्सरोऽग्निर्वैश्वानरः (ऐ० ब्रा० ३-४-१)। संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः (श० प० ब्रा० १-४-१-११)। मेरौ वै वैश्वानरः (श० प० ब्रा० ९-३-१-७)। वैश्वानरो वै देवतया रथः (तै० ब्रा० सं० २-२-५-३)। वज्रो वै वैश्वानरीयम् (ऐ० ब्रा० ३-१५)। वैश्वानर इति वा अग्नेः प्रियं धाम (ताण्ड्य १४-२-३)। चक्षुष्त्वा एतद्वैश्वानरस्य (श० प० ब्रा० १०-५-१-८)। प्राणास्त्वा एव वैश्वानरस्य यद्वायुः (श० प० ब्रा० १०-६-१-७) इत्यादि।

——×——

अध्याय ८६

देवरथः (वनस्पतिः और द्रविणोदा सहित)

देव रथ अनेक प्रकार से वर्णित है। यह योग दर्शन का रथ है, योग के तत्त्वों का रथ है। सबका विषय तो एक ही है, पर एक ही वस्तु रूप वैदिक दर्शन के तत्त्वों की वर्णना अनेक मुख्य शैलियों में की गई है। पहिले देव रथ को लीजिये। इसका वर्णन निम्न लिखित ऋचायें बड़ी स्पष्टता से करती हैं :—

सप्तवादी रथ

(१) सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा।
त्रिनाभि चक्र मजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः॥
(१-१६४-२)

,, (२) इमं रथ मधि ये सप्त तस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि संनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥
(१-१६४-३)

संवत्सर ब्रह्म रथ

(३) द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परियामृतस्य।
आ पुत्रा अग्नेर्मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
(१-१६४-११)

(४) द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥
(१-१६४-४८)

पञ्चपर्वा रथ

(५) पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षडर आहु रर्पितम्॥
(१-१६४-१२)

,, (६) पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वाः।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते स नाभिः॥
(१-१६४-१३)

,, (७) सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दशयुक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वाः॥
(१-१६४-१४)

उक्त ऋचायें देव रथ के चक्रों की संख्यायें विभिन्न योग विद्याओं की सरणियों से भिन्न-भिन्न दे रही हैं। प्रत्येक के सब चक्र मिलकर ५० तत्त्वों की व्याख्या करते

हैं। प्रथम द्वितीय मन्त्र सप्तवाद या अष्ट चक्रों की विद्या से देव रथ का वर्णन करता है, चतुर्थ का अन्तिम चरण भी इसी विद्या को सरणि देता है। तृतीय सप्तक और चतुर्थ मन्त्र संवत्सरब्रह्म विद्या की सरणि से देव रथ का वर्णन कर रहे हैं। चतुर्थ का प्रथम पाद पञ्चम और षष्ठ मन्त्र पञ्चपर्वा विद्या की सरणि से देवरथ की व्याख्या कर रहे हैं श्वेताश्वतर ने इन सब विद्याओं का निचोड़ सम्मिश्रित शैली से केवल एक मन्त्र से दे रखा है जैसे

(८) "तमेक नेमिं त्रिवृत्तं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशति प्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्ग भेदं द्विर्निमित्तैकमोहं ॥
पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादि मूलाम्।
पञ्चावेगां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥"
(श्वे० श्वे० १-४-५; नारा० उप० ९-३)

अब इनकी व्याख्या एक-एक करके लीजिए :—

(१) वैदिक दर्शन के ५० तत्त्वों का एक योग रथ है और उस योग रथ में चक्र भी एक ही है, उस एक चक्री योग रथ में सात (महर्षि, ब्रह्म, प्रजापति संसद, सदः आदि सप्तवादी तत्त्व, या सप्तकों के प्रथम या मुख्य तत्त्व) साथ साथ मिले हैं, उसे उन्हीं सात नामों अश्व या सोम या दधिक्रा अथवा भौतिक सत् तत्त्व वहन धारण या कर्षण करता है, पर इस चक्र की तीन नाभियाँ हैं, ये प्रथम तीन पादों के तीन मुख्य ब्रह्म हैं। ये त्रिपादामृतीय नाभि वाले चक्र अजर, अनश्वर हैं, इन्हीं में समस्त भौतिक सृष्टि के मूल बीज (त्रिधात्मा) सन्निहित रहते हैं।

(२) उक्त एक चक्री रथ में जो सात (महर्षि प्रभृत्ति) रहते हैं वे भी सात चक्र ही हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक में सात सात तत्त्व हैं। इन सात चक्रों को भी सात अश्व तीन आध्यात्मिक और चार भौतिक आत्मायें (सप्तपदी) वहन धारण या कर्षण करती है। इनके साथ सात सात वाग्ब्रह्माणी रूप वाग्धेनुयें भी रहती हैं जो इनकी बहिनों के समान हैं, और इस एक चक्री रथ के सात (महर्षि प्रभृति) को वाग्धेनु की सप्ति या सात की एक जोड़ी भी कहते हैं जैसे "आयं गौः प्रश्निरक्रमी दसन्मातरं पुरः। पितरं प्रयत्स्वः ॥" (ऋ० वे० १०-१८९-१; साम ६३०, १३७६ अथर्व ६-३१-१; २०-४८-४; वा० सं० ३-६; तै० सं० १-५-३-१) और

"सकृद्ध द्यौ रजायत सकृद्भूमि रजायत।
प्रश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानुजायते ॥"
(ऋ० वे० ६-४८-२२)

द्यौर्भूमि दोनों मिलकर प्रश्नि है उनका पयः या वैद्युतीय आत्मा स्वरूप भी एक ही बार उत्पन्न होता है द्यावा भूमि भी एक ही बार उत्पन्न होती है अग्न्यादि प्रतिदिन प्रतिमास उत्पन्न होते हैं जैसे

"अयं होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥"
(ऋ० वे० १०-५२-३)

(३) ऋत या ब्रह्म का या संवत्सर ब्रह्म का चक्र स्वर्गीय है या योग का दार्शनिक चक्र है, इसके बारह मास रूप बारह आरा या विभागीय लकड़ियाँ हैं, वे अजर या अमृत हैं, ये अग्नि रूप हैं, जिनके मिथुन या जोड़ी रूप या अहोरात्र रूप ७२० दिन रात रूप पुत्र हैं। दर्शन चक्र के पूर्वार्द्ध में अर्द्ध समय के दिन पक्ष मास (३६० २४, १२) होते हैं उत्तरार्द्ध में भी इतने ही राते पक्ष और मास होते हैं। पूर्वार्द्ध शुक्ल पक्ष है उत्तरार्द्ध कृष्ण पक्ष। यही उत्तरायण दक्षिणायन भी कहलाते हैं।

(४) यह मन्त्र, मन्त्र संख्या ३ के अनुकूल संवत्सर ब्रह्म रूप रथ या चक्र का वर्णन देता है। इसमें १२ मास रूप १२ प्रधियाँ या आरे हैं, जिसके पूर्वार्द्ध भाग में तीन नाभि रूप त्रिपादामृत हैं जिनमें तीन ऋतुयें हैं, उत्तरार्द्ध में शेष तीन ऋतुयें हैं। उत्तरार्द्ध की ऋतुयें भौतिक और मर्त्य हैं। इसे कौन अच्छी तरह समझ सकता है ? इसमें तो एक साथ ३००+६०=३६०×२=७२० शंकु या दिन रात समर्पित या एकत्रित हैं, प्रत्येक दिन रात में ६० चला (घटी) और ६०×६० अचला या विपला हैं। यहाँ दिन रातों का वर्णन मन्त्र संख्या २ के अनुसार ही समझना चाहिए।

(५) कोई-कोई अर्थात् पञ्चपर्वा विद्या वाले उक्त योगरथ को पञ्चपदी पिता के नाम से पुकारते हैं जिनके अनुसार प्रत्येक पर्व में १०,१० तत्त्व होते हैं, यही 'पञ्चर्तवः संवत्सरः' नामक ब्रह्म कहलाता है दूसरे लोग संख्या ३ के मन्त्र के अनुसार इसमें १२ आकृतियाँ या मास मानते हैं इनके उत्तरार्द्ध के तत्त्वों को पुरीषी या पुरुष नामक भौतिक तत्त्व वाची कहते हैं, योग दर्शन चक्र के नाम दिव, व्योमन् द्यौ द्यां इत्यादि भी हैं। और अन्य विचक्षण मनीषी विद्वान् इस योगरथ के सात चक्र (मन्त्र संख्या २ के समान) मानते हैं, कोई अष्ट चक्री कहते हैं। इस अष्ट चक्री रथ के प्रत्येक चक्र में छह छह आरे लगे हैं जा कुल मिलाकर ४८ तत्त्व बनाते हैं। इनमें ब्रह्म और सूर्य दो को जोड़कर कुल ५० हो जाते हैं।

(६) इसमें रथ को पञ्चार चक्र मंत्र संख्या ६ के अनुकूल पञ्चपर्वा की सरणि से कहा गया है। इस पञ्चपर्वीय पञ्चार चक्र में अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड सन्निहित है। इसका अक्ष या धुरी इतना बहुत बड़ा भार वाला होने पर भी कभी नहीं बिगड़ता न गलता है न सड़ता है। और यह सनातन काल से अपरिवर्तनीय है, अपनी नाभि में सदा अडिग रहता है।

(७) यह मन्त्र भी पञ्चपर्वा विद्या की सरणि में योग रथ का वर्णन देता है। यह अजर अमर चक्र या रथ, नेमि या वृत्त युक्त है। यह उत्तान रूप वृत्त है, इसके पञ्च चक्रों में से प्रत्येक चक्र में दश-दश तत्त्व रूप आरे हैं। इसके मध्यवर्ती तत्त्व चक्षु नामक सूर्य से रजस या भौतिक तत्त्व (सद्) का उदय होता है जिससे यह सम्पूर्ण रथ आवृत या व्याप्त हो जाता है, इसी भौतिक तत्त्व में समस्त भुवनों विश्वों या गोलों की सत्ता दृढ़ रूप से सन्नद्ध या सम्बद्ध (अर्पिता) है। इसमें भी कुल ५० ही तत्त्व हैं।

इस देव रथ को ऐ० ब्रा० (२-५-३७) ने यज्ञ नाम से पुकारते हुए लिखा है 'देवरथो वा एष यद्यज्ञः'

श्वेताश्वतर के मन्त्र की व्याख्या—

(८) यह एक नेमि चक्र है, योगदर्शन के तत्त्वों का रथ या चक्र है, यह 'मनोवाग्प्राणानां' त्रिवृत् है या त्रिपादामृत का त्रिवृत् है, यह सोलह-सोलह तिथियों की कला वाला है पूर्वार्द्ध में शुक्ल पक्ष उत्तरार्द्ध में कृष्ण पक्ष है इसमें कुल ५० आरे या तत्त्व हैं; बीस (बृहती के ३६ × २०) =७२० प्रत्यरा हैं- इसको अष्ट षट्क में या षडष्टक में भी विभाजित करते हैं; ८×६=४८ +ब्रह्म+सूर्य=५०; इस अष्टषट्क को विश्व रूपी पाश या बन्धन कहते हैं, पूर्ण दर्शन के पचासों तत्त्व सृष्टि बन्धन के पास या रस्सियाँ हैं। इसके तीन मार्ग हैं (१) त्रिपादामृत या दैवी (२) भौतिकात्मा सृष्टि (वरुण सूर्य सोम) या माणुषी (३) आसुरी भौतिक स्थूल विद्युत्सृष्टि। इसमें अन्तिम दो के कारण मोह अज्ञान या तमः का प्रभाव रहता है। इसको पञ्चपर्वा विद्या में पाँच भागों में विभक्त करते हैं। पञ्चस्रोतोम्बु=पञ्चनद्यः; पञ्चयोनि रौद्रमार्गीय उग्रवक्रा पञ्चपशवः; पञ्चप्राणोर्मि=पञ्चसागरा पञ्चप्राणाः; पञ्चबुद्ध्यः=पञ्च पर्वताः, पञ्चवृक्षाः: पञ्चावेगा=पञ्च वायवीया; पञ्चदुःखौघवेगां=पञ्चभौतिक सृष्टिं; ये सब मिलकर कुल ५०, ५० तत्त्वों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक पञ्चक में दश-दश तत्त्व होते हैं। यह बतलाया जा चुका है इसी भाग को ऋ० वे० ६-४७-२२,२३,२४ के तीन मन्त्र दूसरे ढंग से कहते हैं जैसे

"प्रस्तोक इन्नु राधसस्त इन्द्र दशकोशयी दशवाजिनोऽदात्।
दिवोदासा दातिथिग्वस्य राधः शम्बरं वसु प्रत्यग्र भीष्म॥
दशाश्वान् दशकोशान् दश तस्मादधि भोजना।
दशो हिरण्यभ्यः पिण्डां दिवोदासादसानिषं॥

दशरथान्प्रष्टिमतः शतं गा अथर्वभ्यः अश्वथः पायवेदात्।

वनस्पति रथ या इन्द्र रथ या द्रविणोदा रथ—

इस देव रथ या योग के दार्शनिक रथ का वर्णन इस प्रकार भी दिया है यह इन्द्र का योग रथ है :—

(१) "वनस्पते वीड्वलङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥

(२) दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।
अपामोज्मानं परिगोभि रावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज॥

(३) इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमा नो हव्यदातिं जुषाणो देवरथ प्रतिहव्या गृभाय॥"

(ऋ० वे० ६-४७-२६,२७,२८)

ब्राह्मण ग्रन्थों में 'इयं (पृथिवी-चतुर्थ सप्तक) देवरथः' (ताड्य ७-७-१४) कहकर चतुर्थ सप्तक को देवरथ कहा है, तथा 'देवरथो वै रथन्तरं' (ताड्य ७-७-

१३) से रथन्तरं छन्द को भी देवरथ बतलाया है। इसी प्रकार निम्न दो वाक्यों से यज्ञ और अग्नि को भी देवरथ कहा है जैसे 'देवरथो वा एष यद्यज्ञः' (कौ० ७-७ ऐ० २-३७) देवरथो वा अग्नयः (कौ० ५-१०)

(१) इस इन्द्र रथ या देव रथ का नाम वनस्पति या सोम या भौतिकात्मा भी है; इस नाम से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम दृढ़ शरीर या अंग के बनो जिससे हमारा सखा तैजसात्मा इन्द्र, इस सृष्टि भूमि के सागर को पार करके वीर कहला सके, तुम गोभि गायों से या बैलों से सन्नद्ध हो अर्थात् आदित्यों और वाग्धे-नुओं से युक्त हो या इनके तेजः से सम्पन्न हो, अतः दृढ़तम बनो, और तुम्हारे ऊपर बैठकर या तुम्हारा भौतिक स्वरूप स्वीकार करके इन्द्र जैतव्य कार्यों में विजयी बने, आसुर और आसुरी सम्पदा को वश में कर सके।

(२) यही देवरथ, इन्द्र का वज्र है, यही वज्र इन्द्र है। इस रथ या वज्र या इन्द्र में दिव स्थान स्वः और पृथिवी स्थान (भूः भुवः) के समस्त ओज एकत्रित है, और इसमें सोम की सहिष्णुता कूट कूट कर भरी गई है, इसमें आपो ब्रह्मों के समस्त स्वयमावर्तीय शक्ति (ओज्मानं) व्याप्त है, तथा वाग्धेनुओं की शक्तियाँ (विद्युत्) से आवृत है, अतः तुम अपने स्वभाव द्वारा (हविषा) उक्त समस्त शक्तियों के एकत्र समाहार द्वारा विकास को (यज) प्राप्त होओ।

(३) हे देवरथ तुम इन्द्र के तो वज्र कहलाते हो, मरुतों के पुञ्ज या गण, मित्र के गर्भ और वरुण की नाभिः। अतः हमारी दी गई इन आहुतियों का आस्वादन करते हुए, इस प्रकार उत्तेजित किए जाते हुए या इस प्रकार जागृत किये जाते हुए (जुषाणो), हमारी प्रत्येक भावना को अक्षरशः गृहण करो—जैसी जैसी भावना हम कर रहे हैं तदनुरूप शक्ति स्फूर्ति तेजस्वी रूप में प्रस्तुत हो जाओ। ध्यान रहे इस मन्त्र के प्रथम दो पादों में रथ की जो व्याख्या दी गई है वह इस देव रथ को साक्षात् रूप से योग का दार्शनिक या तात्त्विक रथ (भौतिकात्मा) सिद्ध करके सबकी भ्रम ग्रन्थियों को खोल देती है।

कठोपनिषद् का प्रसिद्ध रथ—

(१) "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥"

(ऋ० वे० १-३-३,४)

पाठकों को कुछ अजीब सा लगेगा। यह बात सच्ची बताई जा रही है कि इस मन्त्र के 'शरीर' शब्द का अर्थ हमारा आपका सा यह स्थूल शरीर नहीं है। यहाँ 'शरीर' शब्द के माने भौतिकात्मा दिव्य शरीर है। इसी को क्षेत्र नाम से भी पुकारा जाता है जैसे

"इममसपत्नं महते क्षेत्राय महते ज्येष्ठायः वै महते जानराज्याय।
इन्द्रस्येंद्रियमिममुष्य पुत्र…सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳪराजा ॥"

और

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥"

(गीता १२-१) में भी शरीर शब्द के माने यही भौतिकात्मा सोम या दिव्यशरीर है। यहाँ 'शरीर' शब्द 'दिव्यशरीर' का संक्षेप के साथ अर्थान्तर का भी वाची है। हमारा पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर इस 'दिव्य शरीर' बीज का परम वृद्धि प्राप्त महा-महा विशाल काय रूप है। यह 'क्षेत्रविद्' नामक शब्द दार्शनिकों का पारिभाषिक शब्द है जैसा कि गीता के उक्त श्लोक में 'इति तद्विदः='क्षेत्रविदः' शब्द से स्वयं स्पष्ट किया है। शरीर शब्द दिव्य शरीर शब्द का संक्षेप तो है पर इन दोनों में बड़ा भेद भी है। भौतिकात्मा या दिव्य शरीर दो प्रकार का होता है एक दैवी शरीर, दूसरा आसुरी, दैवी शरीर का नाम सोम चन्द्र इन्द्र है तो आसुरी भौतिकात्मा को वृत्र आसुर या केवल 'शरीर' नाम से पुकारते हैं यह गर्भोपनिषद् तथा श० प० ब्रा० ६-१-१-२,३ से स्वयं स्पष्ट है, सोमादि दिव्यशरीर है, वृत्रादि शरीर। समस्त ब्रह्माण्ड आसुर या वार्त्र या शरीरी है। यही क्षेत्र भी है। इन दोनों में भौतिकता एक सी है पर सोमादि में निवृत्ति है, वृत्रादि में प्रवृत्ति है, इतना ही इनमें अन्तर है। अतः दिव्य शरीर और शरीर शब्द तत्त्वतः एक ही तत्त्व का संकेत करते हैं, परन्तु वृत्तितः इनमें आकाश पाताल का अन्तर है, एकदम एक दूसरे के परस्पर विरोधी धर्म वाले हैं। इस दिव्य शरीर या शरीर को ही योग का रथ कहते हैं। इस योग रथ का रथी तो आत्मा या ब्रह्म है, और सारथि बुद्धि या जीवात्मा ब्रह्म है तथा तैजसात्मा इन्द्र इस सारथि के हाथ में लगी या बँधी या कसी लगाम हैं, जो मनस्तत्व (तैजसात्मा का प्रतिनिधि) है और इसे मनस्वान् नाम से पुकारते भी हैं जैसे "यो जात एव प्रथमो मनस्वान्" (ऋ० वे० २-१२-१)। इसके घोड़े आसुरी भौतिकात्मा, इन्द्रिय या रसरूप सोम या वृत्र है 'अश्व' नामक शीर्षक और 'अश्वो वोढा'…'इन्दो इन्द्राय परिस्रव' मन्त्र देखें पीछे। इन्द्रिय नाम रस का है रसमय सोम का है। इसलिए सोम को इन्द्र की इन्द्रिय नाम से पुकारते हैं जैसे "इममसपत्नं……इन्द्रस्येन्द्रियाय…… सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳪराजा ॥"। 'सोम' शीर्षक में 'इन्द्रियं रसम्' की व्याख्या देखें। इस इन्द्रिय के विषय दो या तीन ही हो सकते हैं; ये हैं, दैवी आसुरी, मानवी या भौतिकी। अत कठ के उक्त मन्त्र में शरीर मन, रथ, रथी, बुद्धि, सारथि इन्द्रिय शरीर विषय आदि शब्दों के अर्थ वे नहीं हैं जिनको आज-कल के महामनीषी विद्वान् प्रचलित अपूर्ण सांख्य की परिपाटी से समझते चले आ रहे हैं। इस मन्त्र में शत-प्रतिशत वैदिकता है, वैदिक दर्शन के तत्त्वों को एक सुन्दर रूपक से, ऐसे रूपक से जिसका वेदों, ब्राह्मणों में अक्षरशः उल्लेख तथा सर्वत्र व्याख्यात और वर्णित है, एक सामूहिक स्वरूप में एकत्र प्रस्तुत करके वैदिक दर्शन के योग के रहस्य

को बहुत थोड़े शब्दों में प्रस्तुत कर अपनी मर्मज्ञता का परिचय दे देता है। वे वास्तव में सच्चे मनीषी योगी थे।

अथर्ववेद का देव रथ—

(१०) दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः।
द्यावा पृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम्॥
संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्।
इन्द्रः सव्यष्ठा चन्द्रमा सारथिः इतो जयेतो विजय सं जय जय स्वाहा॥
इमे जयन्तु परामी जयतां स्वाहैभ्यो दुराहारीभ्यः
नीललोहितेनामनभ्यवतनोमि॥
(अथर्व० ८-४-१-२२-२३,१४)

यह अथर्ववेद का वर्णित देवरथ, कठ के दिए रथ को वैदिक देवरथ सिद्ध कर देता है।

अश्विनी और अश्विनी रथ

११—अश्विनी रथ—का वर्णन ऋ० वे० १०-८५-९ से २६ तक के मन्त्र इस प्रकार करते हैं; अश्विनी का विवाह सूर्या से होता है। सूर्या अश्विनी के रथ में बैठ कर जाती है जैसे—

(१) सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्ती मनसा सविता ददात्॥९॥
(२) मनो अस्या अन आसीद्द्यौरासीदुत छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम्॥१०॥
(३) ऋग्सामाभ्यामभिहितौ गावौ सामनावितः।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः॥११॥
(४) शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम्॥१२॥
(५) सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥१३॥
(६) यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वेदेवा अनुतद्वामजानन् पुत्रः पितरावबृणीत पूषा॥१४॥
(७) यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
कैकं चक्रं वामासीत् क देष्ट्राय तस्थथुः॥१५॥
(८) द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥१६॥
(९) सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च।
ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः॥१७॥

(१०) पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीकन्तौ यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतू रन्यो विदधज्जायते पुनः ।।१८।।

(११) नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायनू प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ।।१९।।

(१२) सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णां सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ।।२०।।

(१३) पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ।।२६।।

(१४) प्रत्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वावध्नात्सविता सुशेवः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ।।२४।।

(१५) सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा ।।४०।।

(१६) सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये ।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ।।४१।।

(१७) साम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधिदेवृषु ।।४६।।

ऋ० वे० ७-१८-२२ :—

(१८) "द्वे नप्तुर्देववत शते गो द्वारथ वधूमन्ता सुदासः ।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन् ।।"

ऋ० वे० १-१८३-१

(१९) "तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिवन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः ।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः ।।"

ऋ० वे० १-१८२-६,७

(२०) "अवविद्धं तौग्र्यंमप्स्वन्त रनारम्भणे तमसि प्रविद्धम् ।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिता पारयन्ति ।।६।।"

(२१) "कः स्विद्वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसो यं तौग्र्यो
नाधितः पर्यषस्वजत् ।
पर्णामृगस्य पतरोरिवारभ उदश्विना ऊहथुः
श्रोमताय कम् ।।७।।

"अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे ।
यदश्विना ऊहथु र्भुज्युमस्तं शतरित्रां नाव मातस्थिवांसम् ।।"
ऋ० वे० १-११६-५

ऋ० वे० १-१८२-१

(२२) "अभूदिदं वयुनमो षु भूषता रथो वृषण्वान् मदता मनीषिणः।
धियञ्जिन्वा धिष्ण्या विश्पलावसू दिवोनपाता सुकृते शुचिव्रता॥

ऋ० वे० १-१८५-१,२

(२३) "कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभ्रतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥१॥

(२४) भूरिं द्वे अचरन्ती चरन्तं पद्वन्तं गर्भमपदी दधाते।
नित्यं न सूनुं पित्रो रुपस्थे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्यात्॥२॥"

ऋ० वे० ६-७०-१,२

(२५) "घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजिरे भूरिरेतसा॥१॥"

(२६) "असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते।
राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम्॥"

१२—अश्विनी का स्थान और स्वरूप

श० प० ब्रा० ४-१-५-१६

(२७) "तौ होचतुः। मुख्यौ वा आवां यज्ञस्य स्वो यावध्वर्यू इह नाविमं पुरस्ताद्ग्रहं पर्य्याहरताभिद्विदैवत्यानिति ताभ्यामेतं पुरस्ताद्ग्रहं पर्य्याजह्रुरभिद्विदैवत्यांस्तस्मादेष दशभो ग्रहो गृह्यते, तृतीय एव वषट्क्रियते अथ यदश्विनावितीमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमश्नुवातां पुष्करस्रजावित्यग्नि रेवास्यै पुष्कर मादित्योऽमुष्यै॥"

श० प० ब्रा० ४-१-५-१९

(२८) "तानि वा एतानि श्लक्ष्णानि पात्राणि भवन्ति रास्नावमेन्द्रा वायव पात्रं तत्तस्य द्वितीयं रूपं तेन द्विदेवत्यमजकावं मैत्रावरुण पात्रं तत्तस्य द्वितीयं रूपं तेन तद्द्विदैवत्यमौष्ठमाश्विनं पात्रं तत्तस्य द्वितीयं रूपं तेन तद्द्विदैवत्यं अथ यदश्विनाविति मुख्यौ वा अश्विनावौष्ठमिव वा इदं मुखं तस्मादौष्ठमाश्विनं पात्रं भवति॥"

१३—अश्विनी की महिमा

"सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू (भर्ता हन्तारौ) नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका (हन्तारौ)।
उदन्यजेव (उदकजेव) जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥"
(ऋ० वे० १०-१०६-६)

दो मार्ग हैं भर्ता और हन्ता, नेतोशके समान क्षिप्र हन्ता हो, चन्द्र समान जयमान मदनशील हो; हमारे मरणधर्मा शरीर को अजर अमर बनाओ।

उक्त मन्त्रों और परिच्छेदों से स्पष्ट है कि अश्विनी तत्त्व वैदिक दर्शन का एक

बहुत महत्त्व पूर्ण अंग है। इसका सम्बन्ध नक्षत्र विद्या या गन्धर्व विद्या से है। नक्षत्रों या गन्धर्वों का प्रथम तत्त्व अश्विनी है। "वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशति ॥" कि वात या मनः या गन्धर्व या नक्षत्र २७ हैं जिनमें अश्विनी सर्वप्रथम है। इनकी पत्नी सूर्या है जिनके बारे में ऋग्वेद १०-८५-३४,३५ में लिखा है "तृष्टमेतत्कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवै। सूर्यां यो ब्रह्मा विद्या स इद्वाधूयमर्हति ।।" "आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्। सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति।।" कि सूर्या को जानना कोई खेल नहीं है जो इसे जानता है वही वैवाहिक सम्बन्ध के योग्य है इसके फल रुखे कडुवे कषैले विषवत् और अभोज्य होते हैं। इसमें आशा निराशा के पाशों का निरन्तर विकर्तन होता रहता है, यह क्षण-क्षण में नव-नव रूप धारण करती है, उन्हें तो ब्रह्मा ही समझ सकता है। यह सूर्या आसुरी भौतिक तत्त्व है, अश्विनी दैवी भौतिक तत्त्व चन्द्र।

अश्विनी तत्त्व क्या है इस रहस्य का उद्घाटन श० प० ब्रा० ने सन्देहहीन भाषा में लिख दिया है कि अश्विनी साक्षात् वही तत्त्व है जिन्हें द्यावापृथिवी कहते हैं। द्यावापृथिवी नाम दर्शन के तत्त्वों के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के सम्मिलित रूप का है। द्यावा नाम पूर्वार्द्ध का है पृथिवी (भौतिक) उत्तरार्द्ध का। द्यावापृथिवी पूरे ५० तत्त्वों का नाम हुआ इसी प्रकार अश्विनी में दो अश्व हैं एक तो द्यावा का है दूसरा पृथिवी का, दोनों के एक जोड़े की अश्विनौ या अश्विनी कहते हैं, इसीलिए यह द्विदैवत्य कहलाता है। और रूप नामक सोम या चन्द्र से उलटे-सुलटे नक्षत्रों की गिनती की जाती है। पूर्वार्द्ध का नाम शिर है उत्तरार्द्ध का नाम रुण्ड, अश्विनी इस सिर के ओठ है यह अन्तिम उद्धरण से स्वयं स्पष्ट है। द्यावापृथिवी को घृतवती कहा जाता है घृतवती माने भी अश्ववती होता है। यह मधुमती सोमवती का नाम है। इसको भी अश्विनी की तरह पूर्वा और अपरा नाम के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के दो भागों में वर्णित किया है (१-१०५-१,२)। इसीलिए यास्क ने निरुक्त ६-१-१ में जब प्राचीन ऋषियों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है "तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रे इत्येके सूर्याचन्द्रमसा वित्येके, राजानौ पुण्यकृता वित्यैतिहासिका" तो बिलकुल ठीक लिखा है, ये द्यावापृथिवी अहोरात्र या सूर्य (पूर्वार्द्ध) चन्द्र (उत्तरार्द्ध) ही है। अब इनके रथ का वर्णन लीजिए* :—

* आश्विनौ को 'वसति' या भौतिक तत्त्व रूप २५ वें में रहने वाले और कृष्ण (रात्रि वासी) कहा है और फिर लिखा है कि तुम पापहीन अपने बल से विष्णु हो एक। यज्ञ का दूसरा आदित्य (सूर्य) का पुत्र है, इनका स्तवन प्रातः (सूर्योदय काल) २५ वें तत्त्व में दिया जाता है जब वे सोम पीते हैं या भौतिकात्मा पाते हैं। इनका पूजन प्रातः ही होता है, सायंकाल नहीं जो इनका यजन प्रातः करता या समझता है वह ज्ञानी है जो अन्य समय में करता या समझता है वह उतना ज्ञानी नहीं जैसे "वसतिपुस्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव। कोदमाश्विना युवमसि देवाँ अगन्धतम्।" ऋ० वे० १-१८-१-४, १-२८-१ और ५-७७-२ देखें। 'इहेवजाता'। प्रातर्युजाविवीधयाश्विना वेहगच्छतम्। अस्यसोमस्य पीतये।" प्रातर्यजध्वमाश्विना हिनोतन सायमस्मि न देवया अजुष्टम्।·········॥"

(१) अश्विनी का विवाह सूर्या से करने के लिए सोम ने वधू के पक्ष का काम किया, अश्विनी वर बने, सविता ने उसे मनः से अर्पित किया। सूर्या ने अश्विनी को मन से चुना।

(२) उसका मन ही रथ बना, द्यौ छत बनी, शुक्रामन्थिनौ ग्रह इसके बैल बने, तब सूर्या अपने पति के घर गई। शुक्रामन्थिनौ नाम सूर्याचन्द्रमसौ या चक्षुषी का है (श० प० ब्रा० ४-१-६-१)

(३) रथ के बैलों का संयमन ऋक् और सोम ने किया (पूर्वार्द्ध के तत्त्वों ने), उत्तरार्द्ध के तत्त्व (श्रोत) इनके चक्र बने।

(४) शुचि नाम की अग्नियाँ प्राण और उदान इसके चक्र बने, व्यान इनका अक्ष धुरी बना, रथ का ऊपरी भाग मनोमय बना, इसमें चढ़कर सूर्या पति के घर गई।

(५) जिस रथ का सृजन सविता ने सूर्या के वहन के लिए किया उसकी अर्जुनी गायें पूर्वार्द्ध के तत्त्वों का हनन किया गया अर्थात् उत्तरार्द्ध के तत्त्व रूप कृष्णा गायों या रातों की सृष्टि हो गई। दिन बीत गया अर्जुनीय शुक्ल पक्षीय दिन या गायें ढक गईं। अंधी आसुरी भौतिकी सृष्टि का समुभ्युदय हो चला।

(६) जब अश्विनी अपने तीन चक्र वाले रथ में बैठकर पूछते-पूछते चलते हुए सूर्या से विवाह करने चले तो विश्वेदेवता गण ने उनका स्वागत किया, किसी ने पुत्र मानकर साथ दिया, किसी ने उन्हें अपना पिता स्वीकार किया जैसे पूषा।

(७) प्रश्न—अपने स्वयंवर से प्राप्त सुन्दर पतियों के जोड़े को लेकर सूर्या जब पति के घर गई, तब उसके वाम भागीय दो चक्र कौन थे, एक चक्र (तीसरा) किसका था?

(८) उत्तर—उसके दो चक्र तो ऋतुओं की रेखा बनाने वाले (गर्व या विषुवद्रेखा वासी) सूर्य (चन्द्रमाः) थे, और तीसरा चक्र गुहा या ब्राह्म चक्र था। दो चक्र तो भौतिक आत्माओं के थे, तीसरा शुद्ध अभौतिक या ब्राह्म था।

(९) जिन्होंने सूर्या के लिए भौतिक तत्त्वों के इन चक्रों वाले रथ का निर्माण किया उन–मित्र वरुण प्रचेतस् को नमस्कार।

(१०) जब ये अश्विनी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों भागों में बच्चे की तरह मायावी ढंग से क्रीडा करते हुए से चलते-चलते यज्ञ पुरुष को (अत्रि को) प्राप्त हुए तब इन्होंने अन्य भौतिक भुवनों के निर्माण का काम किया और नवीन भौतिक स्वरूप में ऋतु को या सृष्टि को नवीन भौतिक रूप में जन्म दिया।

(११) उक्त नवीन रूप में उत्पन्न भौतिक तत्त्व चन्द्रमा नाम से प्रसिद्ध हुआ जो दिन प्रतिदिन नवीन-नवीन रूप में कला वृद्धि से प्रतीत होता है, यह भौतिक आत्माओं की ध्वजा सी है, और यह प्रत्येक देवता को दिव्यशरीर का समुचित स्वरूप वाली हवि या हवि भाग प्रदान करता है और देव रूप में दीर्घायु भी है। हवि

आह्वान या भाग का नाम है भौतिकात्मा के उदय होने पर सभी देवताओं को बुला कर उन्हें एक झंडी रूप दिव्यशरीर या हविर्भाग दिया गया।

(१२) यह दिव्यशरीर रूप रथ, हिरण्यवर्ण हिरण्यगर्भ, विश्वरूपगर्भ है, और सुन्दरतम या सूक्ष्मतम रेशम के वस्त्र के समान तानेवाने वाला है या शाल्मलि के फूलों की व्याप्त घटा के समान है, हे सूर्ये तुम इस रथ में चढ़ो और पति के अमृत लोक को जाने की तैयारी करो।

(१३) तुमसे पाणिग्रहण करके तुम्हें ले जाने वाले अश्विनी को पूषा रथ में बिठाकर लेजावे। तुम गृहपत्नी बन कर घर जाओ, वहाँ तुम उनके वैसे वशीभूत रहकर सबके मुख से यश के गीत गवाओ।

(१४) तुम्हें वरुण के पाशों से मुक्त करता हूँ। अब इन पाशों से सविता तुम्हें प्रेम पाश में रमणीय रूप से बाँधता हैं। तुमको ऋत ब्रह्म की योनि या गर्भ के जिसे सुकृत लोक कहते हैं—अरिष्टों या अशरीरी कष्टों से मुक्त करके—वरुणपाश से मुक्त करके—पति लोक या भौतिक शरीरी लोक में रखता हूँ।

(१५) तुम्हें सबसे पहिले सोम ने पाया, फिर गन्धर्व ने, फिर तुम्हारा तीसरा पति अग्नि बना और यह मनुष्यज या अश्विनी तुम्हारे चतुर्थ पति हैं (प्रत्येक देवता एक एक सप्तक का है)।

(१६) सोम ने तुम्हें गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को, अग्नि ने वित्त और पुत्र (सोमसुत) के साथ तुमको मुझ अश्विनी को प्रदान किया है।

(१७) तुम ब्रह्म या प्रजापति रूप श्वसुर की साम्राज्ञी बनो, और वाग्ब्रह्माणी रूप श्वश्रू की भी तुम साम्राज्ञी बनो, ननान्दा रूप आदित्य नामक गायों की भी तुम साम्राज्ञी बनो, और अपने देवर सोमसुतों की भी तुम साम्राज्ञी बनो। तुम्हारा सर्वत्र प्रेम का साम्राज्य बना रहे।

(१८) देवता के नाती अश्विनी के रथ में १०० बैल लगे हैं जिसमें सुदास सपत्नीक बैठकर बड़े आनन्द की बड़बड़ाहट के साथ घर गया और पैजवन होता के समान अग्नि के प्रातः काल सूर्योदय के समय अनन्त दान देने लगा।

(१९) उस त्रिधातु (त्रिपादामृतीय) पथ में जिसमें से होकर अश्विनी का रथ पक्षी के (सुपर्ण) के पर्णों या पक्षों की तरह उड़ते विमान की तरह गया, उस रथ का ध्यान करें जो मन के समान वेगवान्, तीन धुरी वाला और तीन चक्र वाला है।

(२०) भौतिक तत्त्व के उदय के समय जब कि आसुरी सृष्टि का आरम्भण भी नहीं हुआ था, जिसमें तौग्र्य (भुज्यु या सुपर्णः) जलमय अन्धकारमय पटल में फँसा पड़ा था, उसमें सौ सौ पतवार वाली पुरानी चार नावें पड़ी थीं जिनको लेकर अश्विनी ने उसे पार किया। भुज्यु या तौग्र्य नाम यज्ञ या सुपर्ण का है (श० प० ब्रा० ९-४-१-११)

(२१) उस गहन अन्धकारमय समुद्र में सृष्टि वृक्ष फँसा पड़ा था, तौग्र्य ने सहायता की पुकार की, अश्विनी ने उसे गले लगाकर, डूबते को तिनके के सहारे के समान कार्य कर, उसके उद्धार के कार्य को सफल बनाने के लिए कम् ब्रह्म की आराधना की और चन्द्रमा को सुपर्ण बनाकर उससे उसे पार लगा लिया।

(२२) दिवोनपात् अश्विनी का रथ बहुत ही कल्याणकारी, अनेक बैल वाला, बुद्धि तत्त्ववान् सुकृत लोकवासी, शुचिव्रत, बुद्धि देने वाला इत्यादि है।

(२३) द्यावापृथिवी भी अश्विनी ही हैं यह २७ वें उद्धरण से स्पष्ट है। इसे 'पूर्वा परा' नाम से भी पुकारते हैं। अतः प्रश्न है पूर्वा किसका द्योतक है, परा किसका; ये कैसे उत्पन्न हुए, कौन जानता है? ये अखिल ब्रह्माण्ड को अपनी आत्मा में धारण करती हैं, इनका चक्र अहोरात्र की तरह बराबर विवर्त को (विकास को) प्राप्त होता है। पूर्वा दिन है, परा रात है। पूर्वापरा अहोरात्र या द्यावापृथिवी या अश्विनी हैं।

(२४) इस प्रकार ये दो अचर (पूर्व) और चर (परा) के भेद पदों या पादों के अनुसार, माने जाते हैं। जब इसे हिरण्यगर्भिणी कहते हैं तब यह अपद्री है, यह द्यावापृथिवी इस अखिल ब्रह्माण्ड की जननी है और उसे अपनी गोद या गर्भ में पुत्र के समान लिए रहती है।

(२५-२६) यह द्यावापृथिवी अखिल ब्रह्माण्डों की प्राणमयी मूर्ति और श्री है जिससे इनके भौतिक शरीर का स्वरूप मधु रूप में बुनता जाता है, यह वरुण के संयोगकारी गुणों से इन सबको एकत्र एक सूत्र में स्तम्भित या आवद्ध किए रहती है, इतनी शक्ति है इसमें, इन लोकों को वह अपनी दुग्धधार घृत धार से पुण्यशील, पवित्र कार्य कर्ता बनाती हुई, इन लोकों में पृथक् पृथक् सी दीखती है। यह वह कार्य करती है जिससे मनु या मन के हित का कार्य हो (भौतिक सृष्टि बन जाय)।

(२७) उन दोनों ने (अध्वर्युओं ने) कहा। आप दोनों हमारे यज्ञ के मुख या मुख्य हैं, हम आप दोनों को पुरस्तात् उत्तरार्द्ध के आदि के तत्त्वों में द्विदैवत्य रूप में ग्रहण करेंगे। जब उन्हें इस प्रकार ग्रह रूप में ग्रहीत किया गया तो ये दशम ग्रह इन्द्र के दशम विकास कहे जाने लगे, इन्हें तृतीय वषट्कार इस लिए दिया जाता है कि ये अत्रि से तीसरे तत्त्व है। ये अश्विनी तो साक्षात् प्रत्यक्षरूप में द्यावापृथिवी नाम के ही तत्त्व हैं। इन्हें 'पुस्करस्रक्' पुष्करमाला धारी इसलिए कहा जाता है कि इसका प्रथम पुष्कर अग्नि है द्वितीय पुष्कर आदित्य। पुष्कर माने 'पूः सृष्टिं करोतीति पुष्करः (श० प० ब्रा०) होता है।

(२८) अभिनय में इनके पात्र विभिन्न हैं, ऐन्द्रवायव पात्र 'रात्स्नाव', मैत्रवरुण पात्र अजकाव; और आश्विन्य पात्र 'औष्ठ्य' होता है। अश्विनी सृष्टि चक्र के मुख या मुख्य देवता हैं और ये अश्विनी उस मुख के दो ओष्टों के समान हैं। ये तत्त्व चक्र के मध्यवर्ती हैं, द्विदैवत्य हैं दो ओठों के समान हैं। अतः अश्विनी और द्यावापृथिवी के पात्र ओठ के समान द्विदलीय बनाये जाते हैं। ये मुख या मुख्य या

ओष्ठ्य इसीलिए कहलाते हैं। इसी ओष्ठाकारीय मध्यस्थल को 'मातुर्योनिः' और अदिति का उपस्थ या गर्त कहते हैं (ऋ० वे० १०-४-७, १-१६४-३३) (आगे अहोरात्र और वरुण देखें)।

अश्विनौ के बारे में एक ऐतिहासिक कथा है। त्वष्टा की लड़की सरण्यू का विवाह विवस्वान् आदित्य से हुआ, उससे उसके दो यमल पुत्र हुए, तब सरण्यू ने अपनी जगह सवर्णा प्रतिनिधि स्त्री रखदी, स्वयं अश्वरूप धारण कर भाग गई। तब विवस्वान् ने भी अश्व का ही रूप धारण कर उसका पीछा किया और उस अश्वी रूप सरण्यू से विवस्वान् के अश्विनौ नामक दो पुत्र हुए और सवर्णा से मनु का जन्म हुआ। दुर्गा सप्तशती भी कहती है 'सावर्णिर्भविता मनुः' तथा ऋ० वे० १०-१७-१ का मन्त्र 'त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश' भी उक्त कथानक की पूर्ण पुष्टि करता है। स्पष्ट बात १०-१७-२ में दी है 'अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा' इत्यादि।

सभी वेद त्रिवादी सूक्तों या मन्त्रों से भरपूर भरे हैं जिनका अर्थ अभाग्य से अबतक अस्पष्ट चला आ रहा है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३४ वें सूक्त में सभी मन्त्र त्रिवादी हैं। यह भी अश्विनी का सूक्त है। इस सूक्त के मन्त्रों से पूर्वोक्त सभी बातों की पूर्ण पुष्टि हो जाती है। इसी प्रकार की भावनायें अन्य सभी देवताओं विश्वेदेवताओं के सूक्तों में भी मिलती हैं जिनमें से ऋ० वे० २-२७ और ऋ० वे० ३-५६ के सूक्त विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें सम्पूर्ण वैदिक दर्शन नाना प्रकार के त्रिवादीय नामों से व्याख्यात किया गया है। ये विभाग दर्शन के प्रकाश स्तम्भों के समान स्वयं स्पष्ट है। उद्धरण ७,८,९,१० आदि देखें

१४—अश्विनी का त्रिवादी रथ

अश्विनी सूक्त ऋ० वे० १-३४

"त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना।
युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससो अभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः ॥१॥
त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भास स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं यातस्त्रिर्वाश्विना दिवा ॥२॥
समाने अहन् त्रिरवद्य गोहना त्रिरद्य यज्ञं मधुना मिमिक्षतम्।
त्रिर्वाजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा अस्मभ्यमुषसश्च पिन्वतम् ॥३॥
त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते जने त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम्।
त्रिर्नान्द्यं वहत मश्विना युवं त्रिःपृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम् ॥४॥
त्रिर्नो रयिं वहत मश्विना युवं त्रिर्देवताता त्रिरुतावतं धियः।
त्रिःसौभगत्वं त्रिरुत श्रवांसि नस्त्रिष्ठं वां सूरे दुहितारुहद्रथम् ॥५॥
त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिःपार्थिवानि त्रिरुदत्तमद्भ्यः।
ओमानं शंयो ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पदम् ॥६॥

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवे दिवे परि त्रिधातु पृथिवी मशायतम् ।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥७॥
त्रिरश्विना सिन्धुभिः सप्तमातृभिस्त्रय आहावास्त्रेधा हविष्कृतम् ।
तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिर क्तुभिर्हितम् ॥८॥
क्व त्रीचक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व त्रयो बन्धुरो सनीला ।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः ॥९॥"

इत्यादि

आदित्य सूक्त ऋ० वे० २-२७

"तिस्रो भूमी धारयन् त्रीरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन्वरुण मित्र चारु ॥८॥
त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्यया शुचयो धारपूताः ।
अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥९॥"

विश्वेदेवाः सूक्त ऋ० वे० ३-५६

"षड्भाराँ एको अचरन् बिभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः ।
तिस्रो मही रुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका ॥२॥
त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान् ।
त्र्यनीकः पत्यते महिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम् ॥३॥
त्रीषधस्थाः सिन्धवस्त्रिः कवीनामुत त्रिमाता विदथेषु सम्राट् ।
ऋतावरी र्योषणास्तिस्रो अप्यास्त्रिरा दिवो विदथे पत्यमानाः ॥५॥
त्रिरा दिव सवितर्वार्याणि दिवे दिव आसुव त्रिर्नो अह्नः ।
त्रिधातु राय आसुवा वसूनि भग त्रातर्धिषणे सातये धाः ॥६॥
त्रिरा दिव सविता सोषवीति राजाना मित्रावरुणा सुपाणी ।
आपश्चिदस्य रोदसी चिदुर्वी रत्नं भिक्षन्त सवितुः सवाय ॥७॥
त्रिरुत्तमा दूणशा रोचनानि त्रयो राजन्त्यसुरस्य वीराः ।
ऋतावान इषिरा दूळभासस्त्रिरादिवो विदथे सन्तु देवाः ॥८॥"

इत्यादि

सविता देबता सूक्त ऋ० वे ४-५३

"त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना ।
तिस्रो दिवः पृथिवी तिस्र इन्वति त्रिभिर्व्रतै रभि नो रक्षति त्मना ॥५॥"

सूर्य रथ ऋ० वे० २-१८

"प्राता रथो नवो योजि सस्निः चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः ।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः सइष्टिभिर्मतिभी रंह्योऽभूत् ॥"

सोमापूषणावदिति देवताः ऋ० वे० २-४०

सोमा पूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम् ।
विषूवृतं (विषुवद्रेखावृतं) मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो
वृषणा पञ्चरश्मिम् (पञ्चप्राणम्) ।।३।।

दिव्यन्यः सदनं चक्र उच्चा पृथिव्यामन्यो अध्यन्तरिक्षे ।
तावस्मभ्यं पुरुवारं पुरुक्षुं रायस्पोषं विष्यतां नाभिमस्मे ।।४।।

सोमा पूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः ।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् ।।१।।

१५—बृहद्रथः

अहं स यो नव वास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम् ।
यद्वर्धयन्तं प्रथयन्तंमानुषग्दूरे पारे रजसो रोचनाकरम् ।।
(ऋ० वे० १०-४९-६)

अश्विनावध्वर्यू ऋ० वे० १०-५२-२

अहं होता न्यसीदं यजीयान् विश्वेदेवा मरुतो मा जुनन्ति ।
अहरहरश्विनाध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुति र्वाम् ।।

ऋ० वे० १०-३९, १०-४०, १०-४१ भी देखें ।

अथर्व में 'देवरथ' पृ० १६६ अष्टचक्र पृ० १४७ ; १२५

१६—कालमय घोडा रथ

अथर्ववेद १९-५३-१,२

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ।।१।।

सप्त चक्रान् वहति कालएष सप्तास्य नाभी रमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ।।२।।

अध्याय ९०

१७—द्रविणोदा अग्नि का योग दीप्ति रूप देवरथ

द्रविणोदा द्रविणासो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीलते ॥
(ऋ० वे० १-१५-७)

रायो बुध्न संगमनो वसूनां यज्ञस्य केतुं मन्म साधनो वेः (सूर्यस्य)
(ऋ० वे० १-९६-६)

सतश्च गोपां भवतश्च भूरे र्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्।
(ऋ० वे० १-९६-७)

'द्रविणोदाद्रविणसस्तुरसस्य द्रविणोदा सनरस्य प्र यंसत्।'
(ऋ० वे० १-९६-८)

भौतिक ब्रह्म या प्रथम भौतिक दिव्यशरीरी द्रविणोदा ने पूर्व ज्ञान से सब मनुओं सूर्य आदि की सृष्टि की यह बात निम्न ऋचा दे रही है "स पूर्वया निविदा काव्य तायो रिमाःप्रजा अजनयन्मनूनाम् । विवस्वता चक्षसा (सूर्येण) द्यामपश्च.....॥" (ऋ० वे० १-९६-२)। इस प्रकार यह द्रविणोदा सर्वप्रथम भौतिक तत्त्व है और भौतिक ब्रह्माण्ड की मणि रूप या तरलतम, प्रकाशमय स्फटिक शिला सम भौतिक आत्मा है। यह भौतिक है, अतः विश्वेदेवों में स्थान पाती है। और जितने विश्वेदेव हैं वे सब द्रविणदानी है जैसे

'बृहस्पति अति अदर्यो...... द्रविणं धेहि चित्रम्'

में बृहस्पति द्रविणोदा है। क्रौष्टुकि के मत से इन्द्र भी द्रविणोदा है क्योंकि द्रविण और इन्द्र को ओज का उक्थ्य कहा गया है

"ओजसो जात मुतमन्य एनम्" (ऋ० वे० १०-७३-१०)

इसी द्रविणोदा से चतुर्थ सप्तकीय सोम पीने की भी प्रार्थना की गई है

"तुरीयपात्रममृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्रविणोदसः"
(ऋ० वे० २-३७-४)

"सोमं पिब मदसानो गणश्रिभिः" (ऋ० वे० ५-६०-८)

प्राचीन निरुक्तकार शाकपूणि ने लिखा कि 'अयमेवाग्निर्द्रविणोदाः'। प्राचीन ग्रन्थों में अयं इदं एतत् तत् त्यत् शब्द सीधे आत्मा या ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं यह बृहदारण्य ने 'द्वावेव ब्रह्मणो रूपे सच्चासच्च' के प्रकरण में स्पष्ट कर रखा है। जब ऋ० वे० १-९६-१ 'देवा अग्निं धारयन्द्रविणादाम्' लिखता है तब वह विश्वेदेवों के द्रविण या भौतिक दिव्यशरीर धारण या स्वीकार या प्राप्त करने की सूचना देता है जैसा ऊपर कहा गया है। जब इसे रथ रूप में देखते हैं तब इसे 'बनस्पति' नाम

से इसलिए पुकारते हैं कि यह रथ वाहन रूप योग की सृष्टि है और उस से योग के तत्त्वों की रथ या वाहन वनस्पति या सोम का रथ चलता है, यह योग के उस सृष्टि के वनों का पाता या चालक है, अतः वनस्पति कहलाता है जैसे "मेद्यन्तुते···वनस्पते। द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ।।" (ऋ० वे० २-३७-३) । यह वनस्पति रूप सोम का ऋतु ऋतु में पृथक् पृथक् स्वरूप में पान या विकास भी करता है । क्योंकि इस अग्नि की उत्पत्ति में सहस् या ओज की आवश्यकता पड़ती है 'यो अश्मनोरग्निं जजान' अतः इसका नाम 'सहसस्पुत्रं', 'सहसः सूनु' या 'सहसो यहु' पड़ा । यह अग्नि अत्रि नामक अग्नि का पुत्र है, अतः इसे ऋषियों का पुत्र और अधिराज भी कहते हैं जैसा कि ब्राह्मणों ने लिखा है 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः'। इसके रथ रूप की चर्चा ऋ० वे० २-३७-५ में और चतुर्थ सप्तक की स्थिति २-३७-४ के 'तुरीयं पात्रं ममृक्तममर्त्यं द्रविणोदा पिबतु द्रविणोदसः' से बिलकुल स्पष्ट है । शेष आगे वनस्पति रथ को देखें। देवरथ भी देखें

अध्याय ६१

१८—वनस्पति रूप सोम दीप्ति का देवरथ

शमिताग्नि रूप वनस्पति देवता का द्रविणोदा अग्नि के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। वास्तव में द्रविण नाम इन्हीं वनस्पति या सोम ज्योति की मणियों का है। इसीलिए ऋ० वे० ३-८-१ में वनस्पति देवता से 'द्रविण' देने की प्रार्थना की गई है जैसे "अञ्जन्ति···। यदूर्ध्वतिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥" इस ऋचा में 'क्षयः' शब्द क्षियतीति क्षयः निवास का वाचक होते हुये 'मातुरस्या उपस्थे' वाक्य के सन्दर्भ से—जिसका अर्थ सूर्यपत्नी भौतिकावरण स्वरूपिणी–स्त्रीपुत्रान्परिष्वक्त शरीरिणी के उपस्थ या मध्यस्थान–दर्शन के तत्त्वों के मध्यस्थान २५ वाँ तत्त्व है—इस वनस्पति देवता को प्रथम भौतिक अणु का वाचक भी सिद्ध कर देता है। और यही ऋचा इसके समर्थन में इसे 'ऊर्ध्वतिष्ठा' अर्थात् पूर्वार्द्ध तिष्ठा उत्तरायण में रहने वाली या पनपने वाली भी सिद्ध कर देती है। इस प्रकार बृहस्पति द्रविणोदा और वनस्पति तीनों सर्वदेवता और विश्वेदेवा स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। ये वनस्पति या ये रथ 'द्रविण को धारण करने वाले हैं, इस बात की पुष्टि निम्न दो ऋचायें भी करती हैं जो वनस्पति को हिरण्यपर्ण नाम से पुकार कर कहती है कि तेरा अर्थ दिव या द्यु है अर्थात् तेरा रथ 'द्यु' है, परन्तु विकास परम्परा रशनाया में जब तुम दक्षिणार्द्धिनी बनती हो तुम ऋत ब्रह्म के मार्ग को रजः युक्त या भौतिकाणु दीप्ति युक्त कर देते हो। ये भौतिकाणु या रजः भी हिरण्यपर्ण दीप्तिमान् द्रविण ही स्वयं हो गये। वास्तव में यहाँ हिरण्यपर्ण शब्द हिरण्यगर्भ रूप वनस्पति या योग रथ का सूचक है, हिरण्यगर्भ ही स्वयं द्रविणगर्भ है। हिरण्यगर्भ या हिरण्यपर्ण रूप वनस्पति देवता के द्रविण के विकास परम्परा का नाम 'रशना' (रथ को रस्सी से खींचना) देते हुए ये दो ऋचायें भौतिक तत्त्व को रजः या पिष्टतमा नाम से पुकारती हैं और कहती हैं कि तुम अमृत नामक त्रिपादामृतों के बारे में हमें बताओ। अर्थात् भौतिक दिव्यशरीर जिन हवियों का प्रदान करने लगा है उसकी चर्चा तुम त्रिपादामृतों से कहो कि वह दैवी प्रवृत्ति से चल रहा है तुम्हें जानना चाहता है या तुम उसे बताओ। "देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णा प्रदिवस्ते अर्थम्। प्रदक्षिणि द्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभी रजिष्ठैः॥ वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्। वह देवत्रादिधिषो हवींषि प्रव दातार ममृतेषु वोचः॥ (तै० सं० ४-१२-७)। अन्त में यह साफ कर देना उचित है कि वनस्पति देवता किसी घास फूस पत्ती पेड़ों का नाम नहीं हैं वरञ्च यह सोम रूप अग्नि का ही नाम है, यह ऋ० वे० की निम्न ऋचा स्पष्टतया कह रही है। और इस अग्नि का नाम शमग्नि या शमिनाग्नि हैं और शम् नामक अग्नि भौतिकाणु की अग्नि है जिसका प्रारम्भ सूर्य से होता है। इस अग्नि को शमग्नि कहते रहे अतः इसके संकेत के लिए शमी या शमिता शब्द का प्रयोग

हुआ तो कर्मकाण्ड में शमी प्रभृति वनस्पति इसका काम करने लगी और इसे वनस्पति देवता भी कहने लगे। जैसे

"उपाव सृजत्मन्यासमञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥"
(ऋ० वे० १०-११०-१०)

इस शमग्नि का प्रारम्भ कमग्नि या कम् ब्रह्म से या अर्कः नामक तत्त्व (बृह० उप० १-१-१) से होता है। इस प्रकार वनस्पति देवता सोम रूप देवता है ऋ० वे० २-३७-४,५ के मन्त्र भी इसे रथ और चतुर्थ सप्तकीय वाहनीय सोम बतलाते हैं। इसीलिए वनस्पति को प्राण नाम से पुकारा है जैसे 'प्राणो वनस्पतिः' (कौ० १२-७) और इसको फिर अग्नि नाम से भी पुकारा गया है जैसे 'अग्निर्वै वनस्पतिः' (कौ० १०-६)। यह वनस्पति देवता वास्तव में देवरथ का वाचक है यह बात निम्न प्रसिद्ध ऋचा पुष्ट और सिद्ध कर देती है जैसे

"वनस्पते! वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥"
(ऋ० वे० ६-४७-२६)

दिवस्पृथिव्या····वज्रं हविषा रथं यज ॥२७॥ ६-४७ इन्द्रस्य वज्रो····देवरथ प्रतिहव्या गृभाय ॥२८॥ ६-४७ इसमें रथ को देवरथ, वज्र, और वनस्पति नाम से सम्बोधित किया गया है (देवरथ देखें) और इसी प्रकार के भाव वाले ऋ० वे० ३-८-१ से ११ तक के सब मन्त्र हैं जिनके ४ थे ५ वें मन्त्र में इस रथ रूप वनस्पति रूप सोम ज्योति के उद्दीपकों या निर्माताओं तक के नाम दे रखे हैं जैसे

"तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥४॥"

"यान्वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वाधितिर्वा ततक्ष।
ते देवासः स्वभ्वस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम् ॥६॥"

इत्यादि को ध्यान से पढ़ लिया जाय।

यजुर्वेद २९-५२,५३,५४ में उक्त ऋचाओं का पूर्ण आशय दिया गया है अथा अन्तिम में इन वनस्पतियों को देवरथ कहते हुए इस रथ को इन्द्र का वज्र, मरुतों का मुख, मित्र का गर्भ और वरुण की नाभि कहा है जैसे

"इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमा नो हव्यदातिं जुषाणो देवरथ प्रति हव्या गृभाय ॥"

अध्याय ६२

आप्रियः देवता

निम्नलिखित देवता आप्रिय देवता कहलाते हैं—जातवेदाः, तनूनपात्, नराशंसः, ईलः; बर्हिः, द्वारः, उषा, उषासानक्ता, दैव्यौ होतारौ, तिस्रो देव्यः, त्वष्टा, स्वाहाकृतिः, वनस्पतिः, प्रयाजा और अनुयाजा। इन सबका वर्णन ऋ० वे० १-१३ सूक्त में एक साथ दिया है।

'आप्रियः' माने होता है जो पूर्ण रूप से प्रीणन या प्रसन्नता का कार्य करता है, "आप्रीभिराप्रीणातीति आप्रियः" (ऐ० ब्रा० २-४)। ये आप्रिय देवता तब कहलाते हैं जब इनको सृष्टि विकास का दूत कहा जाता है जैसे 'अग्निदूतं पुरोदधे हव्यवाहमुत्तरम्' इत्यादि। अतः ये सब दूत रूप हव्यवाह रूप आप्रिय देवता कहलाते हैं। यास्क इन सबका स्थान पृथिवी या यही भूलोक मानते हैं। पर इनमें से एक भी इस पृथिवी भाग का देवता या तत्त्व नहीं है। ये सबके सब मध्यस्थान चतुर्थ सप्तक के देवता हैं। इस स्थान का नाम नृषद्, अब्जा, उर्वी, प्राचीन बर्हिः या बर्हिः, चतुर्थ समुद्र इत्यादि हैं। ये नाम चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का सामूहिक संकेत करने वाले दार्शनिक या वैज्ञानिक हैं।

———

अध्याय ९३

जातवेदाः

आप्रिय देवताओं में सर्वप्रथम नाम जातवेदाः का आता है। जातवेदाः का स्थान तो तृतीय सप्तक द्यु है, दुरोण वासी है, यह बतलाया जा चुका है। जब यह अग्नि यज्ञ या विकास पाकर चतुर्थ सप्तक के मित्र और वरुण (प्रचेता) के रूप में समिद्ध या प्रस्तुत होता है और उस बिन्दु से रात्रि या दक्षिणायन का प्रारम्भ करके उस दक्षिणायन या दक्षिणार्द्ध में उत्तरायण का दूत बनकर नृषद् (या चतुर्थ सप्तक या मनुषो दुरोणे) का वासी बन जाता है तब यह आप्रिय देवता कहलाता है। क्यों कि उक्त वर्णित परिस्थिति रूप विकास परम्परा से वहां अतीव प्रिय सृष्टि, भौतिक दिव्यशरीरी सृष्टि हो जाती है जिसके लिए सभी देवता लालायित होकर तरसते रहे। यही बात निम्न ऋचा देती है

"समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्याजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कवि रसि प्रचेताः॥"

(ऋ० वे० १०-११०-१)

यहाँ का दौत्यकर्म भौतिक सृष्टि की प्रथम प्रिय सूचना देने मात्र से सम्बन्ध रखता है। अतः ऐसी प्रिय सूचना देने वाले को आप्रिय देवता कहते हैं। शाकपूणि इसे केवल अग्नि कहते हैं, कात्थक्य यज्ञेध्म या यज्ञाग्नि। जातवेदाग्नि तो वह अमृताग्नि है जो जन्मजन्मान्तरों में भी नष्ट नहीं होती, नहीं बुझती जैसा कि ऋ० वे० ३-१-२०,२१ में लिखा है

"जन्मन्जन्मन्निहितो जातवेदाः" (अग्निवाद देखें)

सूर्य तत्त्व इसकी चक्षु है जैसे "चक्षु मित्रस्य वरुणस्याग्नेः" जहाँ-जहाँ सूर्य का वर्णन आता है वहाँ जातवेदा का उल्लेख अवश्य किया है 'सूर्य' शीर्षक देखें।

अध्याय ९४

तनूनपात् और उषा

ऋग्वेद ३-२९-११ में कहा है कि तनूनपात् न तो आज्य है, न गौ, न राय या धन। 'तनूनपात्' नाम गर्भ का है

'तनूनपादुच्यते गर्भः'

यह गर्भ हिरण्यगर्भ की वह स्थिति है जिसे 'उषा' कहते हैं। उषा का ही नाम गर्भ है "ऊल्वं वै उषा" (श० प० ब्रा ७-२-३-११), और ऐ० ब्रा० कहता है यह वह उषा है जिससे समस्त ब्रह्माण्ड प्रवर्तित हुआ जैसे—

"ऊषोहि पोषो असौ लोकइमं लोकमभि पर्यावर्तत ततो वै द्यावापृथिवी अभवताम्।
न द्यावान्तरिक्षान्नान्तरिक्षाद्भूमिः॥"
(४-४-२७)

यही बात उषा सूक्त ऋ० वे० ७-७६-१ भी कहता है जैसे

"उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥"

इस मन्त्र ने तो चक्षु नामक सूर्य का जन्मदाता भी इसी उषा को बतलाया है, उषा की ज्योतिः अमृत या त्रिपादामृत है विश्वजन्य है जिसका आश्रय सविता देवता लेता है। इस प्रकार यह उषा समस्त भुवनों की निर्मात्री है। जातवेदा के रूप में इसी को महत् स्थविर उल्ब (या गर्भ) कहती हुई ऋचा लिखती है

"महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः॥"
(१०-५१-१)

हमारा तनूनपात् यही महदुल्बं रूप नाती है। ब्रह्म महत् उल्वं में आपो ब्रह्माणी रहती है। आपो ब्रह्म आदि ब्रह्म है उससे तृतीय पुस्त या सप्तक में इस तनूनपात् का जन्म होता है। यह गर्भ या हिरण्यगर्भ के प्रकाशीय गर्भ का प्रतिनिधि है। यह तनूनपात् और जातवेदा तथा अतिथि तीनों का एक ही सप्तक तृतीय है, जिसे दिव, दुरोण, द्यु और स्वः नाम से पुकारा जाता है। इसमें सात तत्त्व हैं सातों का नाम तनूनपात् भी है उषा भी है। उषा तो दो प्रकार की है प्रातः कालीन और नक्तोषा या सायंकालीन उषा या भौतिक उषा।; प्रथम उक्त सात तत्त्वों की है, सातवें में वह पूषा की जारिणी कहलाती 'स्वसुर्यो जार उच्यते' है, द्वितीय में वह सूर्य की (२५ वें चक्षु की) पत्नी, २६ वें में सविता की पत्नी कहलाती है। उषासानक्ता का वर्णन ऋ० वे० १०-११०-६ में इस प्रकार दिया है

"आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासनक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधिश्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥"

उषासानक्ता शब्द अहोरात्र का वाचक होने से द्विवचनान्त है, अतः दिव्ये योषणे सुरुक्मे बृहती विशेषण दिये हैं, वह शुक्र पिश या शुक्र रुपिणी है और उपाक या समीप में तुम गर्भ रूप में (नियोनौ), लेटी हुई बैठो, तुम भौतिक सृष्टि के लिए भौतिक अणु के परिपाक होने पर लेटे ही विकास पाती हो, (यज्ञविकास) । इसका अधिक स्पष्ट और दार्शनिक विवेचन ऋ० वे० ७-२-६,७ दो मन्त्रों में दिया है इसमें उषासानक्ता को कारु बर्हिषदा मानुषेषु यज्ञेषु मघोनी, जातवेदाः से विकास पाने वाली आदि विशेषण दिये हैं जो चतुर्थ सप्तक नृषद् के सूचक हैं जैसे

"उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः ।
बर्हिषदा पुरुहूते मघोनी आ यज्ञिये सविताय श्रयेताम् ॥६॥
विप्रा यज्ञेषु मानुषेषु कारुमन्ये वा जातवेदसा यजध्यै इत्यादि ॥७॥"

और नक्तोषा से भौतिक सृष्टि के भौतिकाणु रूप तोकं तनयं की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है और कहा गया है कि तुम वाजिनीवती हो या अन्न या भौतिकामृत वाली हो । इसी उषा को, तत्त्वों के पूर्वार्द्ध २५ तत्त्वों में भौतिक तत्त्व के रजो रूप प्रकाश से आदित्यों को उद्दीप्त करने वाली और गाव रूप प्रत्येक आदित्यों की माताओं के समान या प्रत्येक आदित्य रूप गायें ही तुमसे माता रूप में जन्म लेती हैं इत्यादि कहा गया है जैसे—

"उषस्तच्चित्रमभराऽस्मभ्यं वाजिनीवति ।
येन तोकं तनयं च धामहे ॥" (ऋ० वे० १-९२-१३)

"एता उ त्या उषस केतुमक्रत पूर्वे अर्द्धे रजसो भानुमञ्जते ।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥"
(ऋ० वे० १-९२-१)

शेष मुख्य उदाहरण पहिले दे दिये हैं और इसके सूक्तों में देखें । यह उषा तत्त्व वेदों का बहुत महत्त्वपूर्ण और गम्भीर तत्त्व हैं । अतः इस पर सैकड़ों वैज्ञानिक दार्शनिक सूक्त लिखे गये हैं । हाँ इसकी वर्णना का आधार लौकिक उषा अवश्य है, उसके बिना ये भाव व्यक्त ही नहीं किये जा सकते । यह तो काव्य का, ध्वनिकाव्य का अपरिहार्य साधन है, लौकिक उषा तो नित नित नई होती है प्रतिदिन जन्म लेती है, पर दार्शनिक उषा तो केवल एक है एक ही बार जन्म लेती है, वह है भौतिकात्मा के अभ्युदय की प्रथम सूचना जिसके तुरन्त पश्चात् भौतिकात्मा सूर्य (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) का पूर्णोदय होता है । यह दार्शनिक सूर्य भी सृष्टि को भौतिकता में लाने के लिए केवल एक ही बार उदित होता है, प्रतिदिन नहीं जैसे

"एक एवाग्नि बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥"
(ऋ० वे० ८-५८-२)

यह ऋ० वे० १०-१८७-१८ का उत्तर है, तनूनपात् इसके प्रतिनिधि का वर्णन भी समानान्तर भावनाओं में गुथा हुआ निम्न ऋचा में देखें

"तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ।।"

(ऋ० वे० १०-११०-२)

अग्नि रूप तनूनपात् सुन्दर जिह्वा से ऋत के विकास (यज्ञ) के मार्गों या श्रेणियों की मधुरिमा का आस्वादन करो। उसी विकास परम्परा को मनमें रखकर हम जिस लौकिक यश रूप नाटक खेल रहे हैं उसको तदनुरूप सफल करके हमें कृतार्थ करो। हमारी देहात्मा या हमारा दिव्यशरीर तुम्हारी तरह विकासों के मधु का आस्वादन करने वाला बनता रहे, यह भाव है।

अध्याय ६५

नराशंसः

नराशंस नामक तत्त्व को तो सब लोग भली-भाँति भूल गये हैं। इसके मन्त्रों को तो लोग 'अनादिष्ट देवता' तक कहते हैं। कात्थक के मत में यह यज्ञ वाची है, वे कहते हैं मनुष्य इसमें आसीन होकर प्रार्थना वार्तालाप करते हैं, शाकपूणि कहते हैं यह अग्नि का नाम है क्योंकि यह नरों से प्रशंसनीय है। यास्क का अपना कोई मत नहीं (नि० ८-२-३)। वेदों और ब्राह्मणों में इस तत्त्व की पूरी व्याख्या दे रखी है। ऋग्वेद ने स्वयं लिखा है

"तनूनपादुच्यते गर्भं, आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते।।"

(३-२९-११)

कि नराशंस वह तत्त्व है जो सर्व प्रथम आसुर या देव स्वरूप को धारण करता है। यह आसुर स्वरूप इसलिए कहलाता है कि यह सर्वप्रथम नये रूप में उत्पन्न होता है, यह नया उत्पन्न होने वाला तत्त्व ही तमः स्वर्भानु केतु या रजः या भौतिकाणु रूप में माना जाता है। इसीलिए कहा है 'यद्विजायते'। तै० ब्रा० (२-७-५-२) ने इसीलिए लिखा है 'मनुष्या वै नराशंसः' कि चतुर्थ सप्तक के मनुष्य या नर नामक तत्त्व ही नराशंस हैं। ऐ० ब्रा० ने कहा है 'प्रजा वै नरो वाक् शंसः' (२-४-६-१७,३२)। यही बात श० प० ब्रा० (१-८-२-१२) ने दुहराई है। और नारा शंस इसी की विकृति का नाम है, यह ऐ० ब्रा० (६-१६) ने पुनः स्पष्ट कर दिया है। इनकी गाथा नाराशंसी भौतिकी कहलाती है (तै० १-३-२-६)। इसके पहिले सब सृष्टि दैवी ही दैवी होती है। दैवी सृष्टि तत्त्वों के पूर्वार्द्ध की २४ तत्त्वों की है अमृत है। दक्षिणायन में दैवी और आसुरी सृष्टि का सम्मिश्रण रहते हुए भी प्राधान्य आसुरी का रहता है। यह चतुर्थ सप्तक से आरम्भ होता है। चतुर्थ सप्तक को नृषद्, नरषद् कहते हैं। अतः यहाँ के आसुर या देव तत्त्वों को नराशंस या नर नाम से (आशंस) वाच्य कथनीय कहते है। इस आसुरी भावना पूर्ण सृष्टि के बारे में शतपथ ब्राह्मण १-४-१-११,१२,१३में एक बड़ी रोचक कथा ही है। "एक वार (परा वाणी के प्रतिनिधि) मन और (अपरा वाणी) भौतिक वाणी में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चली। वे अपने अपने को एक दूसरे से बड़ा कहने लगे। मन ने कहा 'मैं बड़ा कहा जाता हूँ, मन भी कहा जाता हूँ। जो कुछ मैं कहता हूँ वह सब बड़ी और अच्छी बात कहता हूँ। इसलिए मैं तुमसे बड़ा और कल्याणकारी हूँ'। (भौतिकी) वाणी ने कहा कि तुम वह कुछ नहीं कहते जो मैं नहीं जानती, अतः तुम मेरा अनुकरण करके ही बोलते हो, इसलिए मैं ही तुमसे बड़ी और कल्याणकारी हूँ। वाणी ने फिर बात बढ़ा कर कहा, मैं तुमसे इसलिए भी बड़ी और कल्याणकारी हूँ कि जो कुछ तुम जानते हो वह मैं भी जानती हूँ। मैं उसे विज्ञापित करती हूँ और संज्ञापित (सचेत) करती हूँ। तब दोनों

निर्णय के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति मन ही मन बोले और कहा मन ही तुमसे श्रेष्ठ है और तुम मन के स्वीकार किये मार्ग का अनुसरण करती हो। श्रेयस्कारी की नकल मात्र करने वाला पापीयान् होता है। जब वाणी को इस प्रकार परा या मन से निम्न श्रेणी का बतलाया गया तो उसे आश्चर्य हुआ और उसका गर्भ-पात हो गया। तब वाणी ने प्रजापति से कहा मैं आपके लिए अहव्यवाड् हूँ। इस लिए जो कुछ प्रजापति के लिए किया जाता है वह उपांशु या मानसी वाणी में किया जाता है, भौतिक वाणी भी प्राजापत्य है पर अहव्यवाड् वाणी हैं।' देवता लोग जब वाणी के गर्भपात के रेतः को खोजने लगे तो कहने लगे 'अत्रत्यात्'। इसीसे अत्रि उत्पन्न हुए, उनकी स्त्री आत्रेयी वाणी से अन्य देवता उत्पन्न हुए।' इसका तात्पर्य यह है कि दैवी वाणी का नाम उपांशु वाणी या मन है और अहव्यवाड् वाणी ऊँचे स्वर वाली भौतिकी वाणी है। ऐतरेय ब्राह्मण (२-१-७) ने इसी बात को अधिक स्पष्टतया और सबके समझने योग्य भाषा में लिखकर लेखक को कल्पना करने के भार से मुक्त कर दिया है। "स यदि कीर्तयेत् उपांशुः कीर्तयेत् तिर इव वा एतद्वाचो यदुपांशुः तिर इवैवत्। यद्रक्षांसि अथ यदुच्चैः कीर्तयेत्। ईश्वरो हास्य वाचो रक्षो-भाषो जनितोर्योऽयं राक्षसीं वाचं वदति यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाङ् नात्मना दृप्यति नास्य प्रजायां दृप्तः आजायते॥" अर्थात् देवताओं के लिए उपांशु या मानसिक वाणी में बोलना चाहिए। जो ऊँचे स्वर में बोला जाता है वह राक्षसी या आसुरी वाणी है, उसे बोलने में ऐसे दो तत्त्वों उन्माद और दर्प दोनों का समावेश हो जाता है जो आत्मा के धर्म नहीं हैं। इस राक्षसी या आसुरी वाणी के तत्त्वों का नाम नराशंस है। क्योंकि यह नराशंस वाणी चतुर्थ सप्तक के नर नामक देव रूप तत्त्वों या देवों की आशंसनीय कथनीय या वाच्य वाणी है। यह नराशंस वाणी परा वाणी हैं, मन की या उपांशु वाणी त्रिपादामृत की प्रथम तीन सप्तकों के तत्त्वों या देवों की उपांशु ध्वनि है जिसका समाहार ॐ ध्वनि उपांशु रूप मात्र की है। परा या आसुरी वाणी में भौतिकता आ जाने से इसमें स्वभावतः दर्प और उन्माद जैसी भौतिकी भावना का समावेश हो जाता है जिसके लिए त्रिपादामृत की तीन वाणियों–मन की वाणियों में–तूष्णीं उपांशु अंशु में–कोई कारण (भौतिकता) है ही नहीं। इन्हीं त्रिपादामृत की वाणियों को

'तिस्रो वाचो ईरयन्ति प्रवह्नि धीतमम्'

इत्यादि ऋचा तीन वाणियों के नाम से पुकारती है और

"चत्वारिवाग्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥"

में चार वाणियों में से इन्हीं तीनों को गुहा या त्रिपादामृत के तीन पादों में निहित बतलाया है जिसके रहस्य को केवल मनीषि ब्राह्मण वेदवेत्ता ही जानते हैं यह भी इसी में लिखा है। और साथ में जिसे यहाँ पर तुरीय वाणी के नाम से पुकारा है उसे भी सब नहीं जानते, वेदवेत्ता ही जान सकते हैं यह भी यहीं लिखा है। यह

तुरीय वाणी गुहा के बाद चतुर्थ सप्तक के नर तत्त्वों की वाच्य वाणी है। अतः इसे यहाँ नराशंस शब्द के स्थान में 'मनुष्या वदन्ति' कहा है। यह 'मनुष्या वदन्ति' शब्द शुद्ध रूप से 'नराशंस' शब्द का ही सुन्दर अनुवाद है। यह चतुर्थ वाणी परा है यह बतलाया जा चुका है, पर यह परा वाणी राक्षसी या आसुरी है, यह बात ध्यान से न उतारी जाय। यहां आसुरी वाणी माने भी केवल दैवी भौतिकी वाणी ही मात्र जानना चाहिए। यह भौतिकी वाणी भी हम आप जैसों की नहीं वरञ्च भौतिकात्मा सोमात्मा दिव्यशरीर की ही समझनी चाहिए। यह भी विदित रहे कि उक्त वाणी चारों पदों की वाणी अग्नि या विद्युत् स्वरूपिणी है, मधुविद्युत्स्वरूपिणी हैं।

आजकल कई वेद व्याख्याता उत्तरकालीन उपनिषदों के दिए हुए वाणी के चार भेद परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी को ही उक्त वाणी के चार पद मानने की भूल करते हैं। वाणी के 'चत्वारिवाग्परिमिता पदानि' में जो चार भेद हैं उनमें से परा नाम की केवल चतुर्थ पद की वाणी है शेष 'गुहा त्रीणि निहिता' वाली और 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति' वाली तीन वाणियाँ इस परा से भी बहुत बहुत सूक्ष्म या आत्मीय या मानसिक वाणियाँ हैं अभौतिक वाणियाँ है। उपनिषदों की सब वाणियाँ— परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी—भौतिकी है। जहाँ पर वैदिक वाणियाँ समाप्त करती हैं (परा आसुरी में) वहीं से उपनिषद्कार आरम्भ करते हैं। अतः 'चत्वारि वाग्परिमिता' के चार पदों या वाणियों का उपनिषदों की चार वाणियों में आकाश पाताल का अन्तर है। वैदिक वाणियाँ दर्शन के तत्त्वों के उत्तरायण, पूर्वार्द्ध की व्याख्या करते हैं तो उपनिषदों की चार कथित वाणियाँ दक्षिणायन या दक्षिणार्द्ध के चार पदों की। वैदिकों के नर या मनुष्य तो हैं 'नृषद्' सप्तक (चतुर्थ) के तत्त्व जिन्हें नराशंस कहते हैं, उपनिषद्कारों की चौथी वाणी वैखरी को इस भूलोक के नर या मनुष्य बोलते हैं। एक देवताओं या तत्त्वों की वाणी की व्याख्या करते हैं तो दूसरे कोरे असुरों या राक्षसों की जिन्हें मनुष्य या नर भी कहते हैं क्योंकि यह सारी प्रजा आसुरी है।

अब उक्त विश्लेषण को नराशंस देवता या तत्त्व के मन्त्र पर घटित कीजिए। "नराशंसस्य महिमानमुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः। ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धा स्वदन्ति देवा उभयानि हव्याः॥" (ऋ० वे० ७-२-२)। मन्त्र कहता है कि हम उस नराशंस देवता के माहात्म्य को यज्ञ में गाते हैं जो क्रतु से उत्पन्न होते हैं (क्रतु २४ वें तत्त्व का उत्तरार्द्ध तत्त्व है) जो दैवी बुद्धि को धारण करते हैं और दोनों प्रकार की हवियों का—दैवी आसुरी का—आध्यात्मिकी त्रिपादामृती और भौतिकात्मा की भौतिकता का आस्वादन करते हैं। 'धी' नाम उस तत्त्व का है जिसे सांख्य वाले बुद्धिः प्रकृतिः कहते हैं जो भौतिकता का सर्वप्रथम स्वरूप है पर उसका भी शुचि स्वरूप दिव्य शरीर है जिसे नराशंस कहते हैं इसीलिए यहाँ 'नराशंस' के लिए 'शुचयो धियन्धा' शब्द का वैज्ञानिक विशेषण दिया है। इसका जन्म अत्रि २४ वें तत्त्व के उत्तरार्द्ध से जिसे क्रतु कहते हैं—होता है। अतः नराशंस को 'सुक्रतवः' या क्रतु तत्त्व के शुद्ध

भौतिक स्वरूप कहा गया है। यहाँ पर यास्क का दिया हुआ 'उभयानि' शब्द का अर्थ - 'सोम और दूसरे' या 'तान्त्राणि चावापि कानि-तन्त्र जन्त्र-बेकार हैं, नासमझी की खींचा-तानी हैं, हाँ वे 'सुकृतव' माने भी सुकर्माण लिखकर अपनी पोल खोल गये हैं कि वे क्रतु तत्त्व को बिलकुल नहीं जानते। इसीलिए उभयानि का वैसा अर्थ दे गये। 'धी' शब्द को भी वे अपनी जैसी बुद्धि का सूचक समझ गये। इसका स्थान नृषद् है, पृथिवी या यह भूलोक नहीं है यह ध्यान रहे। ऋ० वे० १-१२६ सूक्त ने नाराशंस नाम के कई राजाओं के नाम देकर उनका अलग अलग तत्त्वों से तादात्म्य कर रहस्य बना रखा है। जैसे मन्त्र एक में राजा सवानतूर्त को समुद्र में रहने वाला कहकर उसे भौतिक तत्त्व के सागर का वासी या भौतिक तत्त्व कहा है। मन्त्र दो में कक्षीवान् को स्वर्ग से असुर के सैकड़ों अश्वों को छीन लाते कहा है। श्यावा और दशरथों के नाम भी इसके द्वन्द्व में सम्मिलित किए गये हैं। यहीं यादुरी (यदु) वंश और भोज नामक राजाओं को सम्मिलित किया है। यहीं गान्धारी भी आ जाती है। सारा युद्ध भौतिक और अभौतिक तत्त्वों के बीच का है जिसमें इस ऐतिहासिक राजाओं के युद्ध का खोल या पर्दा चढ़ा दिया गया है। नारा शंस चतुर्थ सप्तक के मुख्य तत्त्वों का नाम है जिनके वर्णन का आधार उक्त राजाओं का लौकिक या ऐतिहासिक युद्ध बताया गया है, इनको पितृ सूक्त में पितरों में गिनाया है जैसे

"अग्निष्वातानृतुमतो हवामहे नराशंसे सोमपीथं स आशुः"

(यजुः १९-५९)

इससे स्पष्ट है कि 'नराशंस' पितर हैं और नाराशंस उनके प्रतीक रूप बहुत प्राचीन प्रसिद्ध ऐतिहासिक पितर और प्रशंसनीय आर्य भी हैं।

अध्याय ९६

ईल

ईल नामक देवता नराशंस का जोड़ीदार है। २४ वें तत्त्व में चार तत्त्व होते हैं क्योंकि यह चतुर्थपाद या चतुष्पात् है (१) अत्रि (२) दक्ष या मित्र (३) क्रतु या वरुण (४) चक्षु या सूर्य। इनमें से नराशंस, क्रतु या वरुण का प्रतिनिधि है तो ईल, दक्ष या मित्र का। जिस प्रकार नराशंस को असुर कहा गया है उसी प्रकार इस ईल देवता को भी असुर बतलाया गया है। क्योंकि ये सब तत्त्व अब भौतिकता के पूर्वाभास रूप में आगये हैं अतः असुर कहलाते हैं। इसके वर्णन में ऋ० वे० स्वयं लिखता है

"इलेन्यं वो असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम्।
मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम॥
सपर्यवो भरमाणा अभिज्ञु प्रवृञ्जते नमसा बर्हि रग्नौ।
आजुह्वाना घृतपृष्टं पृषद्वदध्वर्यवो हविषा मर्जयध्वम्॥
स्वध्यो वि दुरो देवयन्तोऽशिश्रयू रथयुर्देवताता।
पूर्वीशिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्॥"

(७-२-३,४,५)

"आजुह्वान इड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥"

(ऋ० वे० १०-११०-३)

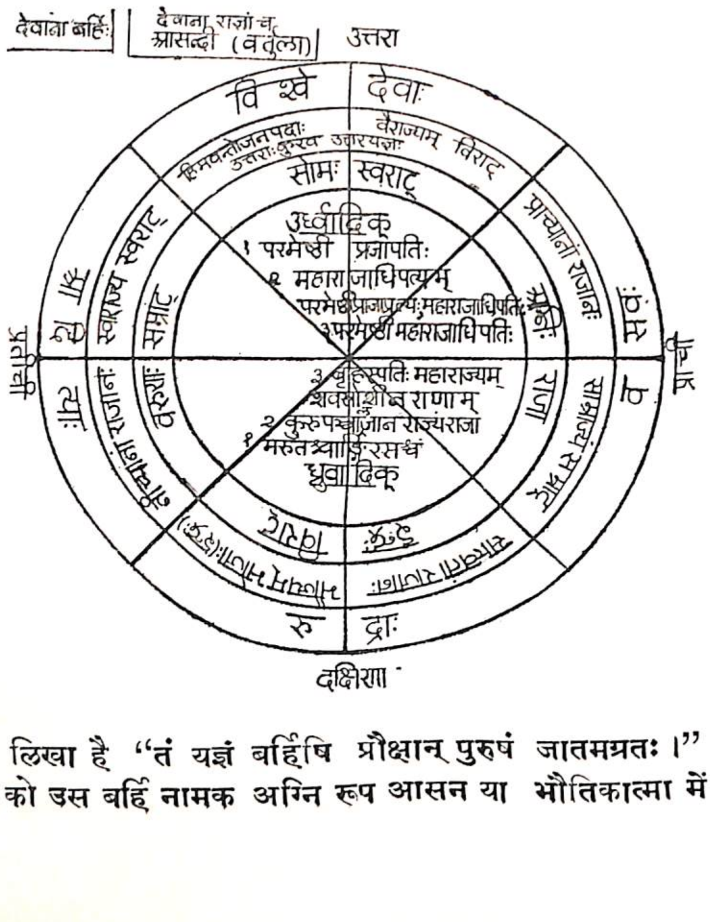
लिखा है "हे ईल तुम नराशंस के प्रतिपक्ष रूप दूसरे असुर हो (प्राणमय भौतिक हो) और तुम सुदक्ष या दक्ष के प्रतिनिधि हो, तुम द्यावाभूमी चारों सप्तकों (रोदसी) की दूत रूप सत्य वाणी, भौतिकी वाणी हो। तुम्हें मनु (अत्रि) ने मनुष्य नामक नर नामक अग्नि रूप में प्रदीप्त किया या विकसित किया जिसके अभिनय (अध्वर) के लिए इस नृषद् की महिमा गाते हैं। हम उसी का यज्ञ कर रहे हैं। अपने विकास से पोषित और अभिवृद्ध होकर जब आप बर्हि नामक आसन्दी में अग्नि रूप में प्रगट होते हो तब भौतिकात्मा रूप ज्ञानियों को विदित हो जाते हो। तब तुम घृतपृष्ठ नामक तृतीय सप्तक की अग्नि का आह्वान या प्रज्वलन करके भौतिक आत्माओं या अध्वर्यु लोगों में प्राणों का (पृषद्) संचार कर देते हो, वे हवि से विकास से तुम्हारा वर्धन करते हैं सुतीक्ष्ण या स्वच्छ दीप्ति का बना देते हैं। तुम सुगमतया ध्यायमान हो, साथ रहते हुए भी बहुत दूर से तिरोहित से रहते हो। तुममें दैवी गुण छिपे हैं। तुम रथ वाले (तृतीय सप्तक के सात और तीन चतुर्थ सप्तक के

तत्त्व रथ कहलाते हैं) हाँ देवताओं के गुण रूप तन्तुओं से सन्नद्ध हो। तुम पूर्वार्द्ध के तत्त्वों के शिशु रूप हो, तुम्हें दैवी गुण वाली माता, पुत्रवत् प्यार करती हैं तुम अग्रगामी अग्र विकासीय हो, इन समानताओं से तुम्हें नहीं आँका जा सकता, तुम अवर्णनीय हो ।। "तुम पूज्य हो वन्दनीय हो, तुम वसुओं के वित्त के साथ अग्नि रूप में आओ, और इस भौतिकात्मा का आस्वादन करो, तुम देवताओं के महान् होता यज्ञ कर्ता (दक्ष जैसे) हो, तुम हमारी भौतिकात्माओं को ऐसे ही यज्ञ विकास लाने की शक्ति प्रदान करते रहो।" इस अर्थ से ईल देवता की व्याख्या स्वयं स्पष्ट हो जाती है। इसका स्थान भी नृषद है, यह भूलोक या पृथिवी नहीं।

अध्याय ९७

बर्हिः

बर्हिः नाम केशों या कुशा रूप प्राणों या इनके बने आसन या आसन्दी का है। यह आसन या आसन्दी आत्माओं या त्रिपादामृतों की है। प्रजा पशु और ओषधि का नाम भी बर्हि है (ऐ० ब्रा० २-४, ५-२८; श० प० ब्रा० १-५-२-१६)। "शर द्वै बर्हि रिति हि शरद्बर्हिर्वा ओषधयो ग्रीष्म हेमन्तानां नियुक्ता भवन्ति ता वर्षासु वर्धन्ते ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णं शेरे तस्माच्छरद्बर्हिः"। (श० प० ब्रा० १-४-४-१२) के अनुसार बर्हिः नाम शरद् का है जिसको पु० सू० 'हविः' नाम से पुकारता है। इसी को श० प० ब्रा० सोम कहता है (हविर्धाने देखें)। यह चतुर्थ सप्तक का तत्त्व है। त्रिपादामृतों को प्राचीन बर्हिः कहते हैं और उत्तरार्द्धीय तत्त्वों को केवल बर्हिः या आसन या आसन्दी। उत्तरार्द्धीय की बर्हिः रूप आसन्दी या आसन भौतिकात्मा का है। जिसे दूसरे ढंग से तमः, केतुः, स्वर्भानु या भौतिकात्मा कहते हैं या दिव्य शरीर कहते हैं उसी को उक्त त्रिपादामृतों का दिव्य शरीर रूप भौतिकात्मा का आसन आसन्दी या बर्हि कहते हैं। पुरुष सूक्त में इस बर्हि को विराया नहीं



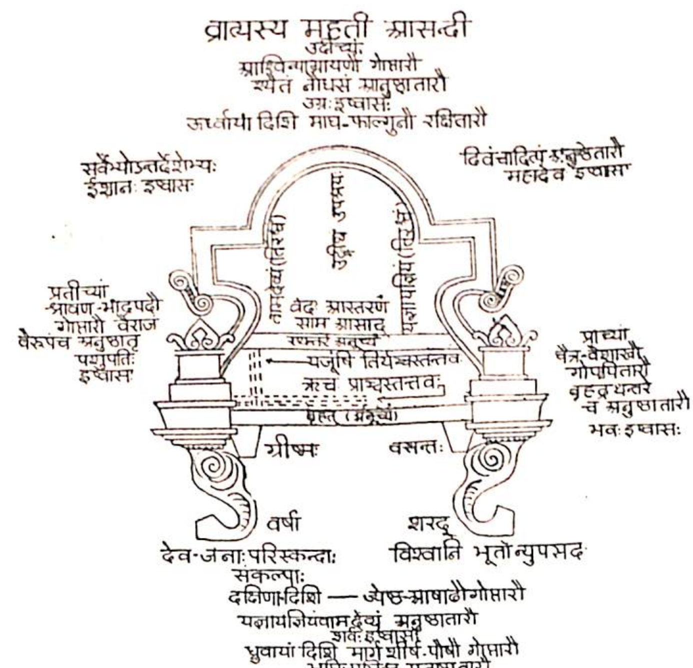
है। उसने लिखा है "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षान् पुरुषं जातमग्रतः।" यज्ञ या क्रतु नामक तत्त्व को उस बर्हि नामक अग्नि रूप आसन या भौतिकात्मा में झोंका गया।

यह तत्त्व वही भौतिकात्मा है। इसको निम्न दो ऋचायें पारिभाषिक पदों के प्रयोग से स्वयं प्रमाणित कर देती है

"प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनाम्॥"
(ऋ० वे० १०-११०-४)

"आयाह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्॥"
(ऋ० वे० ७-२-११)

इन दोनों ऋचाओं में 'अग्रे अह्नाम्' और 'अर्वाङ्' शब्द संकेतक हैं। तत्त्वों के दिन का प्रारम्भ २५ वें सूर्य से होता है। और इन बर्हि को दिन के उरः या हृदय से निकला कहकर प्रथम प्रथम विकास के स्थान में निर्धारित किया है। उस समय का तत्त्व वही भौतिकात्मा दिव्य शरीर होता है। इसकी पुष्टि में दूसरी ऋचा



(द्वारो देवी)

'अर्वाङ्' दक्षिणायन का संकेत करती है। दक्षिणायन भी इसी तत्त्व से प्रारम्भ होता है। इसमें बर्हिः को अदिति का पुत्र कहा है, अदिति अपने सुपुत्र रूप बर्हिः की गोद में आसन में बैठकर भाग्यवती बने, जिससे देवता भी भौतिकात्मा पाकर सुखी होवें, इसीलिए इसे 'देवेभ्यो वरीयः' सब देवताओं से बढ़कर माना जाना सर्वत्र विस्तृत रूप से प्रख्यात बताया गया है, और इससे पृथिवी की दिशा में बसने की प्रार्थना की गई है। पृथिवी की दिशा माने पृथिवी की तरह आधार बनने वाला

भौतिकात्मा है। दूसरी ऋचा में उसी बर्हिः रूप भौतिकात्मा से समुज्ज्वलित या विकसित होते हुए इन्द्र की विकास परम्परा से उत्तरार्द्ध में रथ सहित दिव्यशरीर रूप में प्रस्तुत हो जाने की प्रार्थना की गई है जिसमें अदिति माता उसकी गोद में सी बैठ कर सुपुत्रा होने का दावा भर सके, और त्रिपादामृतीय देवता और आदि वाणी रूप (वाग्धेनु का प्रथम स्तन रूप) स्वाहा दिव्यशरीर पाकर आनन्द की लहरों में झूलने लगे' यह कहा गया है। इसका नाम 'प्राचीन बर्हिः' इसीलिए रखा गया है कि यह त्रिपादों का सर्वादि भौतिक आसन या सर्व प्रथम आधार है। और यह कल्पना बहुत प्राचीन या पुरानी है। इस बर्हिः में वैश्वानर को 'प्रीणानः' या प्रसन्न कहा गया है जैसे "प्राग्नयेः···। भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मती-नाम्॥" (ऋ० वे० ७-१३-१)। इसी बर्हि में आसीन पितरों को बर्हिषदः पितरः कहते हैं जैसे

'बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्'

(ऋ० ये० १०-१५-४)

देवताओं की यह प्राचीन बर्हि कहलाती है

"बर्हि प्राचीनमोजसा" (ऋ० वे० ९-५-४)

और बर्हि नाम अग्नि का तो है ही साथ में सभी देवताओं का एक नाम 'बर्हि-मुख' भी है यह तो सभी जानते होंगे। पूर्वार्द्धीय तत्त्वों को प्राचीन बर्हि तब कहते हैं जब वे इस भौतिक बर्हि में स्थान पाते हैं या भौतिकात्मा को धारण करते हैं, तब इन्हें बर्हिषद् भी कहा जाता है, उत्तरार्द्धीय तत्त्व बर्हि हैं आसन हैं और प्राचीन या पूर्वार्द्धीयों की यह बर्हि है। मास रूपी पितरों का नाम बर्हिषद् है (तै० १-६-८-३)

वेदों और ब्राह्मणों ने इस बर्हिः का, आसन्दी रूप में वर्णन कई ढंग से कर रखा है। कहीं पर दिशाओं के नाम से इस बर्हिः में आसादित देवताओं का वर्णन दिया है तो कहीं अथर्व की तरह इसे आसन्दी मानकर इस पर व्रात्य पुरुष को आसीन करके, आसन्दी के अंगों में देवताओं को घटित किया है जैसे अथर्व कहता है (१५-१-३ पूरा)। "इस आसन्दी के दो पाँव ग्रीष्म और वसन्त बने, दो पाँव वर्षा और शरद्। ये प्रथम चार सप्तक चार पाँव (पिछले अगले) बन गये। बृहत् और रथन्तर उन पाँवों को अटकाने या जोड़ने के अनूच्य या सीधे डंडे बने, यज्ञिया-यज्ञिय (दैवासुरी) और वामदेव्य (ब्राह्म) तिरश्च या तिरछे डंडे। अब बैठने के आसन को बुनने के लिए ऋचायें (पूर्वार्द्ध के अक्षर, ४,३२,००,००,००० अक्षर) (तिर्यञ्च) बाने वाले तन्तु या सूत बने। उस बुने आसन में एक गद्दी और डाली गई। यह गद्दी वेदी वेदों की बनी, वेद=ऋग् यजुः साम और अथर्व—क्रमसे प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ सप्तक की गद्दी बनी। और ब्रह्म स्वयं इसका उपवर्ह या तकिया बना। उस गद्दी पर एक पीठ का आधार भी बना, वह सामवेद की संगीत लहरी के आसाद और उद्गीथ के (उपश्रय रूप) आधार बनाये गये। तब उसमें व्रात्य (अक्षर ब्रह्म, ८,६४,००,००,००० अक्षरों का व्रात या व्रात्य) या वैदिक दर्शन की मूर्ति स्थापित हो गई या की गई।" यही अर्थ 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जात

मग्रतः' (पु० सू०) का भी है। यह तो है चतुष्कोणी आसन्दी, वैसे कर्मकाण्ड और वेदों ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में वर्तुला आसन्दी का वर्णन अधिक आता है, स्थल स्थल पर आता है। इसमें वैदिक दर्शन के मुख्य तत्त्वों या देवताओं को उस वर्तुलाकार आसन्दी के चारों ओर आठों दिशाओं में स्थापित किया जाता है, ब्रह्म को ऊर्ध्वाधः का स्थान देते हैं। उसे दिशा सम्बन्धी आसन्दी कहना चाहिए।* एक और आसन्दी है जिसमें वैदिक काल के राजाओं को वैदिक दर्शन के तत्त्वों में ढाल कर प्रत्येक का स्थान तत्कालीन महाराजाधिराज और दर्शन के तत्त्वों के महत्वानुकूल दिया है जैसे :—ऐ० ब्रा० ८-३-१४,१७,१९, इत्यादि। बर्हिः शब्द के अर्थ का इतिहास और व्युत्पत्ति पुरुष सूक्त के सातवें मन्त्र में दी गई हैं।

— —

अध्याय ६८

द्वारो देवी

द्वार नाम यहाँ पर उसी भौतिकात्मा की प्राप्ति का प्रथम द्वार है। जिस प्रकार यज्ञमण्डप या घर का द्वार होता है उसी प्रकार अभौतिक तत्त्वों के भौतिकतामय यज्ञ-मण्डप में प्रवेश पाने के प्रथम प्रवेशीय देहली या तत्त्व का नाम द्वार है। वास्तव में यह द्वार नाम 'योनि' नामक तत्त्व का सभ्य नाम है। यज्ञ सृष्टि रचना का है, उसी का मण्डप बनने वाला है, सबसे पहिले द्वार का पता लग गया है शेष को भीतर प्रवेश करके आगे बढ़ के(विकास में) पाते जायेंगे। यह बात निम्न ऋचा स्वयं कह रही है।

"व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहती विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥"
(ऋ० वे० १०-११०-५)

कि तुम द्वार रूप देवी हो, बृहती हो या बृहती छन्द रूप ३६ तत्त्व की विभु व्यापक देवी हो, विश्व या भौतिक ब्रह्माण्ड में परिणत होने वाली (मिन्वा) हो, अतः देवताओं या तत्त्वों के लिए सुगमतया विकास पाने योग्य बनो, इस कार्य के लिए तुम अधिक विस्तीर्ण हो ही, क्योंकि तुम तो उरु नामक तृतीय सप्तक के अमृत तत्त्वों से उत्पन्न हुई उर्विया उत्तरार्द्धीय पृथिवी (उर्वोर्जाता उर्विया) हो 'ब्राह्मणोऽस्य मुख मासीत्' ऋचा से तृतीय सप्तक, 'उरु' कहलाता है या तुम ऊर्ण नाभि के समान रचना करने वाली हो 'उर्णोती उर्वी' तुम उसी प्रकार अपने पति या पूर्व तत्त्वों को भौतिकात्मा में आश्रय लेने दो, जैसे पतिः दिनभर परिश्रम के बाद पत्नी के पास या अपने घर में, सुख-शान्ति भोजनादि के साथ साथ विश्राम या आश्रय लेता है। ('न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते')। पर यास्क का दिया अर्थ

'पतिभ्य इव जाया ऊरु मैथुने धर्मे शुशोभिषमाणाः'

अश्लील और असामाजिक है। कात्थक्य इस द्वार को यज्ञ का द्वार समझते हैं तो शाकपूणि 'अग्नि'। पर 'द्वार' शब्द स्वयं इस बात का प्रमाण है कि यह अग्निरूप द्वार—द्रवीभूत द्रवनशील, वारणशील (शत्रुरूप) आवरण रूप वृणोतिरूप व्यापक रूप भौतिकात्मा है रसमय, रसाग्निमय दिव्यशरीर का प्रथम स्वरूप है। क्योंकि इसे विश्वमिन्वा कहा है, विश्व शब्द नित्य रूप से भौतिक तत्त्वों के लिए ही वेदों में प्रयुक्त हुआ है, यह बात सदा ध्यान में बैठी रहे। विष्णु का नाम 'द्वारपः' है 'विष्णुर्वै देवानां द्वारपः' यह द्वार नाम अमावस्या का है और चन्द्रमा को द्वार पिधान कहा है (श० प० ब्रा० ११-१-१०-१)

---

* त्रीणि शता त्रीणि सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्धृतै रस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त।।" (ऋ०वे०१०-५२-६)

अध्याय ६६

होतारौ दैव्यौ

दैव्यौ होतारौ दो देवियाँ दैवी और आसुरी वाणियाँ हैं जिनकी चर्चा 'नरा-शंस' देवता की व्याख्या में की जा चुकी है। इनसे प्रार्थना की गई है कि तुम प्रथमा या दैवी वाणी या मानसिक वाणी या त्रिपादामृतीय वाणी का अनुसरण अनुकरण (मिमाना) करती हुई (जैसा कि मन और वाणी के विग्रह में दिया है) मनुष्य यज्ञ या चतुर्थ सप्तक के नृषद् तत्त्वों के प्रसवन के लिए, अपने कार्यों या विकासों में उस प्राचीन ज्योति रूप मन की वाणी की विचार धारा को इन प्रसवनों में कारु कवि की तरह सूक्ष्म रूप से प्रयुक्त करती (हुई) रहो।

'कारु रहं भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवो अनु गा इव तस्थिमेन्द्रयेन्दो परि श्रवः ॥'
(ऋ० वे० ९-११२-३)

नामक ऋचा सोम को 'कारु' बतलाती है, और विश्वामित्र ऋ० वे० ३-३३-१० में कारु शब्द का प्रयोग विपाट् शुतुद्री नाम की इसी स्थान की नदियों के लिए करते हैं। इसीलिए यहाँ विदथेषु कारु 'प्राचीनं ज्योतिः प्रचोदयन्ता, कारुः प्राचीन ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता' भाव दिया है। पूरा मन्त्र यह है

"दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिनाना यज्ञं मनुषो यजध्वै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारु प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥"
(ऋ० वे० १०-११०-७)

ऋ० वे० १-१३-८ में भी इसका वर्णन है। इसमें इन्हें सुन्दर या प्राणमय जिह्वा या मुख वाली कहा गया।

अध्याय १००

तिस्रो देवीः

तिस्रो देवीः तीन देवियों इडा (इला) सरस्वती और भारती का एक नाम है जिनमें इला ईल की पत्नी सरस्वती पूषा की तृतीय विकास श्रेणी सरस्वती को पूष्णा कहा गया है 'सरस्वत्यै पूष्णे' और भारती मही या भौतिक तत्त्व रूप माता मही की प्रतिनिधि है। भरत नाम वेदों में भौतिक अग्नि का है वशिष्ठ विश्वामित्र युद्ध में

'दण्डा इवेद्गो अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः'

(ऋ० वे० ७-३३-६)

मन्त्र से जिन भरत अर्भकों को 'परिच्छिन्ना आसन्' तितर-वितर हो गये कहा है वे इसी भौतिक तत्त्व रूप भरतों का रहस्य से संकेत करते हैं। भरत माने अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिकात्मा है भारत माने अखिल ब्रह्माण्ड ज्ञानमय ब्रह्माण्ड। हमारे देश का नाम इसीलिए ज्ञानमय भौतिक ब्रह्माण्ड का संकेतक 'भरत' रखा गया था, भरत नाम की एक आर्य जाति भी थी, उसके नाम में भी रहस्य ठूसा गया है। उक्त तीनों देवियों के सम्बन्ध में निम्न तीन ऋचायें मिलती हैं, जो इन पर पर्य्याप्त प्रकाश डाल देती हैं।

(१) "होता यक्षत् तिस्रा देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपस इडा सरस्वती।
भारती महीः इन्द्रपत्नी हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥"

(यजुः २८-८)

(२) "आ भारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवी बर्हि रेदं सदन्तु॥"

(ऋ० वे० ७-२-८)

(३) "आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विला मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवी र्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥"

(ऋ० वे० १०-११०-८)

सबसे पहिली बात, जो इनके स्थान निर्धारण में सहायक है वह है द्वितीय तृतीय मन्त्र में आया 'बर्हि रेदं सदन्तु' वाक्य कि ये इस बर्हिः में आसीन हों। अतः वे चतुर्थ सप्तक की बर्हिः स्थानीय स्वयं सिद्ध हो जाती हैं, और द्वितीय मन्त्र ने 'अर्वाक्' शब्द का प्रयोग भी दक्षिणायन के लिए कर दिया है, जिससे उक्त कथन पूर्णतः पुष्ट हो जाता है। तीसरी बात यह है कि तृतीय मन्त्र इनसे मनुष्वदग्नि को चेतन करने के लिए कह रहा है। यह मनुष्वदग्नि भी नृषद् नामक चतुर्थ सप्तक की ही अग्नि है जिस बात को द्वितीय मन्त्र 'देवैर्मनुष्येभि रग्निः, सारस्वतेभिरर्वाक्'

शब्दों के रहस्य से पुष्ट करता है कि ये अग्नि रूप वाणियाँ दैवी मानुषी सरस्वती नाम की अर्वाक् दक्षिणायन की बर्हिः में बैठें। सबसे प्रथम ऋचा इनको 'त्रयः भेषजं' और 'त्रिधातवः' कहती है। ये तीन प्रथम तीन सप्तकों के विकास रूप भेषज या त्रिधातु या त्रिपादामृत वाली हैं, अत्र अपस या कर्म रूप द्रवरूप वैद्युतीय रूप अग्नियों का स्वरूप धारण करके भौतिकात्मा की त्रिधातुता को या त्रिभेषजता को या त्रिपादामृतता को सुरक्षित करती हैं। चौथी बात इस मन्त्र में भारती को मही महीयसी पार्थिव नाम से पुकारा गया है और इसी नाम से इन सबको इन्द्रपत्नी की श्रेणी या नाम से पुकार कर हविष्मती या विकासवती होने की प्रार्थना की गई है। यहाँ का होता 'द्विपाद् यजमानः' के अनुसार जीवात्मा है। वेदि नामक द्वितीय सप्तक का 'होता' अग्नि है 'होता वेदिषद्'। सरस्वती का तो स्वतन्त्र सूक्त ऋ० वे० ६-६१ है उसे देखें। यहाँ भी इसे 'त्रिषध्वस्था' आदि नामों से पुकारा गया है, और कई दार्शनिक बातें तो है हीं। सरस्वती पञ्चपर्वा विद्या का एक मुख्य अंग है वहाँ भी देखें। ऐ० ब्रा० (२-४) ने लिखा है कि ये तीन देवियाँ प्राण अपान और व्यान हैं जैसे—"प्राणो वा अपानो व्यानस्तिस्रो देव्यः।" ये देवियाँ भौतिक तत्त्व रूप सिंह (स्वर्भानु सिंहिका पुत्र सैंहकेय) के आसन में बैठती हैं यह ऋ० वे० १-९५-५ के 'सिंहं प्रति जोषयेते' वाक्य वाले मन्त्र से स्वयं स्पष्ट है (त्वष्टा देखें)।

अध्याय १०१

त्वष्टा

त्वष्टा के पुत्र का नाम त्रिशीर्षा है। त्रिशीर्षा के तीन सिर और छह आखें थीं, इसीको विश्वरूप त्वाष्ट्र नाम से पुकारते हैं जिसका वर्णन ऋ० वे० १०-९९-६ ने दिया है

"स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन् षडक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितोन्वोजसा वृधाना विपा वराहमयो अग्रया हन्॥"

*इस त्रिशीर्षा के तीन सिर वही त्रिपादामृत है, उसकी छै आँखें तृतीयपाद के शेष छै तत्त्व हैं। तृतीयपाद में कुल सात तत्त्व होते हैं। इसमें जो आसुरी भावना थी उसका इन्द्र ने दमन किया, पर उस आसुरी भावना से त्वष्टा उत्पन्न हो गया। इस त्वष्टा को सुदक्ष कहकर, दक्ष नामक तत्त्व (२४ वें के द्वितीय भाग) का विकास बतलाया है जैसे

"तन्नस्तुरीपयधः पोषयित्नु देवत्वष्ट विरराणः स्यस्व।
यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्त ग्रावा जायते देवकामः॥"
(ऋ० वे० ७-२-९)

यहाँ इस त्वष्टा को पोषयित्नु या पूषा का पोषणशीलधर्मी चतुर्थपादीय भी स्पष्टत कहा है और युक्त ग्रावा या चतुर्थ सप्तकीय भौतिक पर्वत की स्फटिक शिला युक्त भी कहा है, अतः इसे देवताओं या तत्त्वों के विकास के योग्य (देव कामः) भी बतलाया है और अधः तुरीयं शब्द दक्षिणायन के वाचक हैं। इसलिए त्वष्टा का स्थान निश्चय पूर्वक चतुर्थ सप्तक हो जाता है, यह सूर्य के तमः केतुः स्वर्भानु का स्फटिकशिला सम स्वरूप है और इसीलिए सूर्य को तार्क्ष्य या त्वष्टा नाम से ही कहा जाता है (तार्क्ष्यस्त्वष्टा)। त्वष्टा शब्द त्विष् कान्ति वाचक है, अतः स्फटिक शिला-सम भौतिकात्मा का प्रतीक माना गया है। इसी भौतिकात्मा की शिला से यह ब्रह्माण्ड का त्वक्षण तक्षण निर्माण करता है या तूर्ण अशन या परिवर्तन भी करता रहता है। यह अन्नाद भी है। इसी त्वष्टा का पुत्र वृत्र है। 'त्वाष्टोऽसुरः (वृत्र) इत्येतिहासिकाः' (यास्क)। शतपथ ब्राह्मण ने इन्द्र और त्रिशीर्षा के युद्ध का वर्णन बड़ी लम्बी कथा में १-५-३-१ से १७ तक और ५-४-६-२ से ८ तक दिया है त्वष्टा के

---

* ऋ० वे० १०-८-८,९

"स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिद्रेषित आप्त्यो अभ्ययुद्धयत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मि जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः॥
भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजो अवाभिनत्सत्पतिर्मन्यमानम्।
त्वाष्ट्रस्यचिद्वश्विरूपस्य गोनामाचक्राण स्त्रीणिशीर्षा परा वर्क्॥"

पुत्र को त्रिशिरा कहते हैं, उसके तीन सिर छह आखें थी, वह प्रत्येक मुख से क्रम से सोम सुरा और अन्य वस्तु खाता था। इन्द्र ने उसके तीनों सिर काट डाले, सोम मुख वभ्रु, सुरामुख वक और तीसरा तित्तिर वना—वह विश्वरूप घृतस्तोका मधुस्तोका बना। त्वष्टा को क्रोध आया सोम चुराकर ले गया, इन्द्र ने द्रोणकलश के शेष शुक्र को पीकर उसका वध किया—त्वष्टा के अंग अंग से सोम निकला (मुख से नहीं निकला)। उसको इन्द्र ने पी लिया—त्वष्टा को फिर क्रोध आया। वह स्वयं यज्ञ बन गया—उसने द्रोण कलश को 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' कहकर वदलना चाहा पर स्वरभंग से वह इन्द्र को मिला—तव देवताओं की जीत हुई—अब भी जो शेष रह गया 'स यद्वर्तमानः' वह त्वष्टा वृत्र वन गया। वह मलमय था अपाद था अतः अहि कहलाया—दनु ने पाला तो दानब कहलाया। वृत्र ने 'इन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्व' कहा तो वह विजयी बना। अतः वह शत्रु है (वृत्र त्रिशिरा त्वष्टा देखें)। इस त्वष्टा ने अखिल ब्रह्माण्ड को रूप या भौतिक स्वरूप दिया, यह बात सर्वत्र दी और लिखी गई है जैसे

"य इमे द्यावा पृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥"
(ऋ० वे० १०-११०-९)

कि अखिल ब्रह्माण्ड की आत्मा रूप जनित्री या जनयित्री तो द्यावापृथिवी या त्रिपादामृत हैं गुहा है गायत्री है ये तो मूल तीन आत्मायें हैं, पर इनको रूप देने का कार्य या भौतिकात्मा में सम्बद्ध सन्नद्ध संगठित करने का काम केवल यही त्वष्टा करता है जिस रूप या भौतिकता देने की शक्ति से इसने अखिल भुवनों सातों सप्तकों को विश्व या भौतिकता का आवरण पहिना दिया* आज हे होत! उसी श्रद्धा और यज्ञ के योग्य त्वष्टा देव के यज्ञ को कर रहे हो, तुम बड़े ज्ञानी हो। इसी बात की पुष्टि निम्न ऋचा और अच्छे ढंग से कर रही है।

"आविष्ट्यो वर्द्धते चारुरासु जिह्मावामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे।
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते॥"
(ऋ० वे० १-९५-५)

इस ऋचा का तत्वानुकूल अर्थ केवल यही दिया जाने वाला अर्थ हो सकता है:—"यह त्वष्टा रूप भौतिक तत्त्व की स्फटिकशिला सम तरलतम द्रव्य आविर्भूत (आविष्ट्यः) होते ही चारु या चरु या चराचर रूप में (आसु) शीघ्र या आसुर रूप में बढ़ने लगता है, यह जिह्म नामक या अहि नामक वृत्रादि के ऊर्ध्व में आदि में, पहिले, (स्वयशा) अपने भौतिकात्मा स्वरूप में उपस्थ या मध्यस्थान (तत्त्वों के मध्य स्थान २५ वें तत्त्व) में प्रादुर्भूत होता है। 'यस्यिन्यशो निहितं विश्वरूपम्' 'यस्य नाम महद्यशः'। इसके उत्पन्न होते ही उभे रात और दिन (अहोरात्र) तत्त्वों

---

* पू० सू० (यजुर्वेद) के

"तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्व मा जानमग्रे"

से तुलना कीजिए

के पूर्वार्द्ध और दक्षिणार्द्ध के सब तत्त्व भयभीत हो गये, कि न जाने अब इस ब्रह्माण्ड को कैसा स्वरूप मिले। और यह त्वष्टा प्रतीची दिशा या सूर्योदय २५ वें तत्त्व के स्थान में सिंह (राशि) में उदीयमान आसीन होकर सिंह के समान गरजने लगा (जोषयेते) ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अन्य देवों के लिए कहा है 'वृषभो रोरवीति' 'अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः' इत्यादि। यह सिंह रूप भौतिकात्मा ही महाकाली का वाहनीय सिंह है। महाकाली वाग्ब्रह्माणी का रौद्र रूप है। इस भौतिकात्मा का जन्म भाद्रपद सिंह के मास की लोलार्क षष्ठी के दिन इसी सिंह स्वरूप में हुआ जिसकी अब तक पुराणों और पञ्चाङ्गों में कङ्कालीय रेखा मात्र रह गई है। इसीलिए ज्योतिष में सूर्य की राशि भी सिंह मानी गई है। दर्शन के पचास तत्त्वों में से पूरे अहोरात्र में १२, १२ महीने होते हैं, पूर्वार्द्ध में बारह महीने, उत्तरार्द्ध में भी बारह महीने। अतः प्रत्येक मास २ तत्त्वों का ३० अंशों का होता है एक एक तत्त्व एक पक्ष या १५ दिन का है। अतः उत्तरार्द्ध में २४ वें २५ वें के ३० अंश बीतने पर एक महीना हो गया। राशियाँ पूरे पचास तत्त्वों में बारह ही होती है जिसमें २५ वाँ तत्त्व कर्क रेखा या अयन में विषुवत् रेखा है, अतः उसके आगे सूर्य, सिंह में आजाता है। सूर्य छटा आदित्य है अतः इस त्वष्टा रूप लौल्यायमान भौतिक तत्त्व को लोलार्कषष्ठी के दिन भाद्रपद में माना जाता है। इसी बात को अन्यत्र ऋ० वे० में 'चित्रामघा सिंह' कहा है, यह मघा सिंह का तत्त्व चित्र या विश्वरूप है। अतः हमारे सब ज्ञान विज्ञान वैदिक है और वैदिक दर्शन के रहस्यों से भरपूर भरे हैं यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। त्वष्टा जिस 'रूप' का निर्माता है उस 'रूप' तत्त्व का उदय उत्तरार्द्ध के आरम्भ में अश्विनी से होता है "श्रीश्वतेलक्ष्मी.... रूपमश्विनौ व्यात्तम्" और 'त्रयं वा इदं नाम रूपं च कर्म च' (बृह० उप० देखें)।

त्वष्टा के चार रूप हैं (१) त्वष्टा असुर ऐतिहासिक व्यक्ति जो वैदिक दर्शन के इस तत्त्व के रहस्य का खोल है (२) प्रथम भौतिक तत्त्व (३) इस भौतिक तत्त्व को वाहन रूप में तार्क्ष्य रूप में देखना (४) सविता का अमर्त्य प्रकाशमान दैवी भौतिक स्वरूप। प्रथम भौतिक तत्त्व रूप त्वष्टा वही है जिसका वर्णन पिछले परिच्छेद में दे दिया गया है। यह अमृत भौतिकात्मा है, सूर्य से सर्वप्रथम अपः या विद्युत्स्वरूप में प्रकाश रूप में ही प्रस्तुत होता है। सविता में दोनों प्रकार की भौतिकात्मायें हैं, अमृत और मर्त्य (निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्मयेन सविता रथेन)। त्वष्टा के अमृत स्वरूप भौतिकात्मा का स्वरूप सूर्य की ज्योति के समान बतलाने वाली ऋचा यह है

"सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषाऽऽपस्ततान।
सहस्रसाः शतशा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥"
(ऋ० वे० १०-१७८-३)

इसने पञ्चपशु के बीजभूत अपः रूप भौतिकात्मा को सूर्य की ज्योति की तरह फैला दिया। उस ज्योति की गति सैकड़ों हजारों (या दोनों मिलकर लाखों,

४३२०००० से तात्पर्य है) प्रकार की है सबके बीज वाली है। उसको देवता लोग उसी प्रकार अपनाते हैं जैसे "कटाक्षशर वाली युवती को।" इसी को जब देववाहन रूप में या देवताओं के दिव्यशरीर रूप में या देवताओं के रथ रूप में वर्णित करते हैं तब इसे अरिष्टनेमिः (रथ) तार्क्ष्य, और भौतिकान्नमय या भौतिकशरीर (वाजिनं) या देवप्रिय (देवजूत); या देवरथ को सहावान या सहन शील, धारण या वाहन समर्थ तथा तरु तारवान् वृक्ष की तारतम्यता से सदा आगे अधिकाधिक विकसित होने वाला, युद्ध क्षेत्र में अपराजेय (अमृत होने से) कहते हैं। उसका हम कल्याण के लिए यहाँ आह्वान या स्मरण ध्यान करते हैं।

"त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥"

(१०-१७८-१)

त्वष्टा की उक्त ज्योति का नाम त्वाष्ट्री सरण्यू कह कर इसे त्वष्टा की पुत्री रूप में वर्णित किया है। इसका विवाह भी उसी सूर्य से, उसे विवस्वान् नाम से पुकार कर किया गया है। यहाँ सूर्य का नाम विवस्वान् इसलिए पड़ा है कि यह दिन का उदय करता है। "अहोरात्रे विवास्ते तेन वस्ते इति विवस्वान्" (श० प० ब्रा० १०-५-२-३)। अन्यथा विवस्वानादित्य तो मनु है २७ वाँ पुरुष पशु है उसी से यमयमी का जन्म होता है। सूर्य रूप विवस्वान् से 'अश्विनौ' का जन्म होता है। जब सरण्यू अश्व रूप में प्राण रूप में परिणत होती है, तब विवस्वान् सूर्य भी अश्व रूप (प्राण रूप) में ही पीछे लगा तो अश्विनौ उत्पन्न हुए। यह कथा अश्विनौ नाम के समर्थन के लिए गढ़ी हुई प्रतीत होती है। जब उक्त त्वष्टा का अधिक विकास हो जाता है घनान्धकार हो जाता है तब वह वृत्र कहलाता है, ऐसे परिवर्द्धित स्वरूप भौतिकात्मा सहित सविता को उसके अमृत भौतिकात्मा युक्तत्व की दृष्टि से या त्वष्टा रूप भौतिकात्मा सहित मानकर 'त्वष्टा' ही नाम से पुकारा गया है जैसे

"देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥"

(ऋ० वे० ३-५५-१९)

यहाँ पर सविता को उक्त त्वाष्ट्रीय अमृत भौतिकात्मता युक्त होने से 'असुर' शब्द से पुकारा गया है। इस ऋचा का पूरा अर्थ भौतिकता युक्त त्वष्टा पर ही घटित हो रहा है। यही देवताओं की असुरता की समानता या एकता या एकरूपता कहलाती है। शाकपूणि ने त्वष्टा को माध्यमिक देवता और मध्यस्थानीय देवता 'समाम्नात' है कहा है और इसको अग्नि स्वरूप माना है। यहाँ 'समाम्नात' शब्द से पता चलता है कि यह पुराना मत है जिसे शाकपूणि उद्धृत कर रहे हैं, यास्क उसीको तद्वत् दे रहे हैं। प्राचीन मत या वैदिक दर्शन के मत में त्वष्टा का स्थान दर्शन के तत्त्वों के मध्य २५ वें में पड़ता है, अतः यहाँ शाकपूणि पुरानी श्रुति को ठीक दे रहे हैं "माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने समाम्नातोऽग्निरिति" शाक

पूणिः (नि० ८-२-१४)। त्वष्टा को वाक् नाम से पुकारा गया है 'वाग्वै त्वष्टा वाग्घीदं सर्वं ताष्टीव' (ऐ० २-४)। त्वष्टा को समिधों का पति भी कहा गया है 'त्वष्टः समिधां पते' (तै० ३-११-४-१)। त्वष्टा सिक्त रेतः को विकृत करता है 'त्वष्टा वै रेतः विकृतं करोति' (कौ० ३-९ श० प० १-९-२-१०)। इन्द्र का नाम भी त्वष्टा है ऋ० वे० १-१२-९; ऐ० ६-१०)। त्वष्टा के पशु हैं, त्वष्टा रूप का स्वामी है। त्वष्टा के ही रचे रूप हैं, यह सबने लिखा है (श० प० ब्रा० २-२-३-४)। मध्यस्थान तो द्यु स्थान से बहुत नीचे महः स्थान या नृषद्, सप्तक चतुर्थ है। इन्द्र और त्वष्टा के युद्ध का इतिहास श० प० ब्रा० ने १-५-३-१ से १७ और ५-४-६-२ से ८ तक में दिया है। त्वष्टा ने इन्द्र का वज्र बनाया 'त्वष्टा त्वष्टद् वज्रम्' (ऋ० वे० १-६१) यह वज्र भौतिक तत्त्व ही है। वृत्र इसी का अंश है।

अध्याय १०२

स्वाहा

'स्वाहा' तत्त्व की व्याख्या 'सु असु आदि' शीर्षक में दे दी गई है। 'सु' नाम प्राणों का है; जो तत्त्व अखिल ब्रह्माण्ड के सु (प्राणों) को आहृत (आहारतीति) करता है, उस प्रलय स्वरूपी आदि ब्रह्म का नाम स्वाहा है। ये प्राण वाग्ब्रह्म रूप हैं जिन्हें वैदिकों ने वाग्धेनु के रूप में वर्णित किया है

"देवीं वाचमजनमन्त देवा स्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
स नो मद्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वाग् अस्मानुपसुष्टुतैतु॥"
(ऋ० वे० ८-१००-११)

बृहदारण्यक ने इस वाग्धेनु के चार स्तन बतलाये हैं, स्वाहा वषट्कार हन्तकार और स्वधाकार। ये क्रम से प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ सप्तक की वाणियों की प्रतिनिधियाँ हैं।

"वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारस्तनाः स्वाहाकारो
वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारश्च।
तस्या द्वौस्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च;
हन्तकारं मनुष्या स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राणाः ऋषभः मनो वत्सः॥"
(२-५-४'८)

'स्वाहा' देवताओं की तृप्ति का या दैवी वाणी का प्रतीक रूप आदि की अग्नि है। यास्क जी अग्नि नाम से इसे इस भूलोक में घसीट लाये हैं। पर ब्रह्म का स्थान भी सर्वोच्च स्वर्ग या द्यु से तीन लोक ऊपर होते हुए भी 'भू' नाम से पुकारा जाता है। इसी भूः नाम ने सब वेद व्याख्याताओं को यास्क से लेकर अब तक सबको ठग दिया है और बुरी तरह से। निम्न ऋचा इसका पक्का प्रमाण है जैसे

"सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्नि र्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हवि रदन्तु देवाः॥"
(ऋ० वे० १०-११०-११)

इसमें स्पष्ट लिखा है कि यह स्वाहा नाम की अग्नि सब देवता या तत्त्वों की पुरोगा या सबका अग्रणी या आदि का है, इसी ने यज्ञ या विकासीय कः और कम् नामक देवों या तत्त्वों का निर्माण किया। यह स्वयं परिपाक से सृष्टि काल में सद्य तुरन्त प्रादुर्भूत हो गया। यहाँ होता शुद्ध बुद्ध ब्रह्म है उसी की दिशा या अनुकूल चलने वाली इस ऋत वाणी (अभौतिक वाणी) रूप स्वाहा या प्राणों को देवता या तत्त्व विकास में अनुस्वादित करते रहें या उससे सम्पन्न होते आगे आगे विकास में प्रकाश पाते चलें। स्वाहा नाम हेमन्त ऋतु का है। पुरुष सूक्त 'वसन्तोऽस्यामीदाज्यं' देखें। अन्न का नाम भी स्वाहाकार है (श० प० ब्रा० ९-१-१-१३) स्वाहाकार अनिरुक्त है यज्ञ है यज्ञान्त है (श० श० २-३-१-३, ३-१-३-२७, १-५-३-१६)।

अध्याय १०३

प्रयाजा अनुयाजा और उपयाजा

सृष्टि और योग दोनों यज्ञ हैं। इनके कर्त्ता शरीर या ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म तत्त्व या देवता है। उन्हीं यज्ञों के कर्त्ता देवताओं या तत्त्वों को कभी कभी प्रयाजा अनुयाजा और उपयाजा नामों से उसी प्रकार पुकारा जाता है जैसे इनके कर्त्ताओं और द्रव्य यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को अध्वर्यु होता उद्गाता और ब्रह्मा आदि नामों से पुकारा जाता है। वेदों में यज्ञ शब्द और यज्ञकर्त्ताओं के नाम तथा यज्ञविधि का वर्णन प्रशस्त रूप में उपलब्ध होते हैं। निम्न ऋचाओं में प्रयाजा और अनुयाजा शब्द अग्नि के लिए प्रयुक्त हुए हैं, इसे कोई मना नहीं कर सकता जैसे—

"प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्तभागम्।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः॥
तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः॥"

(ऋ० वे० १०-५१-८,९)

यहाँ पर प्रयाजा अनुयाजा और उनकी ऊर्जस्वान् हवि को अग्नि का ही बतलाया है। इन कर्त्ताओं को विभिन्न स्थानों या सन्दर्भों में आपः अन्तरिक्ष घृत सोम ओषधि, प्रजापति पुरुष और दीर्घायु नामों से पुकारा गया है। विशेष करके दर्श पूर्णमास यज्ञ में समिधः (प्राणा), तनूनपात् (अग्नि), इडा (नाड़ी), बर्हिः और स्वाहा इन पाचों को प्रयाजा नाम से घोषित किया है। कहीं इनकी संख्या छन्दाक्षरों के अनुसार ९ या ११ (प्रयाजा दी हैं), दर्श पूर्णमास यज्ञ में तीन अनुयाजा होते हैं जिनके नाम बर्हिः नराशंस और स्विष्टकृत् हैं। कहीं कहीं इनकी संख्या भी छन्दाक्षरों के अनुसार ९ या ११ दी गई है जैसा कि प्रयाजों के बारे में किया गया है। ऐ० ब्रा० (२-१८) और श० प० ब्रा० (६-२-३-४) ने ३३ देवताओं में से प्रथम ११ को प्रयाजा, द्वितीय ११ को अनुयाजा और तृतीय ११ को उपयाजा नाम से पुकारा है। इनमें से अन्तिम ११ को 'सोमपाः' 'पशु भाजनाः' पदवी भी दी है। इनका उदय उषा २३ वें तत्त्व से होता है। यह मत सबसे उत्तम है। इसी मत को श० प० के ११-१-६ पूरे ब्राह्मण ने पूर्वोक्त उद्धृत ऋचाओं के अनुकूल वर्णित करते हुए लिखा है कि प्रजापति के प्रथमोच्चरित 'भूर्भुवः स्वः' के पाँच अक्षरों में से पाँच ऋतु रूप प्रयाजा बने, उसके अवाङ् प्राण से असुर बने। इन दोनों के लिए अहोरात्र बने जिसको संवत्सर कहते हैं। इसके चार अधिदेवता—अग्नि इन्द्र सोम आपः परमेष्ठी हैं। आपः से प्राण, इन्द्र से वाणी, अग्निसोमौ से अन्न और अन्नाद जिसमें पाँच देवता और बन गये। ये भौतिक हैं, इनमें भौतिक द्यौ अन्तरिक्ष पृथिवी और आपः बने। ये ११ हो गये जिनमें से पाँच तो प्रयाजा हैं, तीन भूर्भुवः स्वः

अनुयाजा। अहोरात्रे या देवासुर ये दो आज्य भाग और स्विष्टकृत् कहलाते हैं। यह बताया जा चुका है कि 'यज्' का अर्थ विकास है। सारा सृष्टि क्रम एक यज्ञ या विकास क्रम है। इस सृष्टि यज्ञ का कर्त्ता प्रजापति है या अक्षर ब्रह्म या बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति है, होता ब्रह्म होता है, समिध जातवेदा है वैश्वानर इन्द्र सोम सविता आदि प्रयाजा अनुयाजा और उद्गाता हैं तथा अश्विनौ अध्वर्यु। ऋ० वे० (१०-५२-२,४) के मन्त्र इस बात की पुष्टि में लिखते हैं—

"अहं होता यजीयान् विश्वेदेवा मरुतो मा जुनन्ति।
अहरहरश्विनाध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुतिर्वाम्॥
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्।
अग्निर्विद्वान्यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्॥"

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी लिखा है

"आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः" "छन्दांसि वै प्रयाजा छन्दांसि अनुयाजाः" "ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः" "प्राणा वै प्रयाजा प्राणा अनुयाजाः" "आत्मा वै प्रयाजा आत्मा अनुयाजाः"। इन सब प्रमाणों का आशय यह है कि वैदिक मन्त्र रहस्य की खानें हैं, इनमें आभ्यन्तर दर्शन है, आत्मानुभूति ब्रह्मानुभूति का कथारूप विश्लेषण या विवेचन है। यहाँ संकेतित प्रयायानुयाजोपयाजा आभ्यन्तर योग या सृष्टि यज्ञ के पात्र या तत्त्व या देवता रूप पुरोहित हैं जिनकी नकल बाह्य या द्रव्य यज्ञों में नाटक के समान की जाती रही।

आप्रिय देवताओं में से प्रत्येक का स्थान पृथक् पृथक् विभाग में पड़ता है। वे स्थान द्यौः या भूः, अन्तरिक्ष (वेदि पूर्वा) भुवः या स्वः या दिवः और महः या समुद्रः इत्यादि है। आसन या आसन्दी की आवान्तर दिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं को पत्नी संयाजा नाम से पुकारा जाता है। पञ्चप्राणों को भी प्रयाजा कहते हैं। सूर्य सोम (चक्षुषी) को आज्यभाग और अवाङ् प्राण को स्विष्टकृत् भी कहते हैं। 'त्रीणि शिश्नानि' को 'त्रयोऽनुयाजा' 'द्वौ बाहू' 'द्वौ उरू' को भी पत्नी संयाजा की संज्ञा दी गई है। ये सब पुरुष रूप प्रजापति के अङ्ग रूप प्रयाजा प्रभृति हैं। इनमें से त्रीणि शिश्नानि या तीन लिङ्ग त्रिपादामृत हैं, अस्थि (सोम) याज्यनुवाक है, मांस (भौतिक वृत्र) हविः है। ये सब सोलह आहुतियाँ षोडशकल ब्रह्म की हैं (श० प० ब्रा० ११-६-२६ से ३५ तक)।

———

अध्याय १०४

मारुतीयाश्वः-दधिक्रा

दधिका नाम मारुतीय अश्व का है। अश्व की व्याख्या अश्वमेध और अश्व तथा 'सु असु श्वा अश्वा' आदि तीन शीर्षकों में विस्तार पूर्वक की जा चुकी है। दधिक्रा या 'दधिक्रावत्' नाम उन प्राणों या अश्वों का है जिनको मित्रावरुणौ तत्त्वों के द्वारा भौतिकता रूप वाहन का स्वरूप मिल जाता है। इसीलिए लिखा है कि मित्रा-वरुणौ ने हमें दधिक्रा नामक अश्व प्रदान किया जैसे

"दधिक्रामु सूदनं मर्त्याय ददथुर्मित्रावरुणा नो अश्वम्।"

(४-३९-५)

अश्व पाँच प्रकार के हैं मारुत्वतीय=दधिक्रा, गान्धर्व=वाजी, आसुर= अर्वा, दैव=हयः, मानुष्या=अश्वः, (बृह० उप० १-१-१)। इस दधिका तत्त्व के तीन मुख्य सूक्त मिलते हैं (ऋ० वे० ४-३८, ४-३९ और ४-४०)। इसका उदय उषा के उदय के साथ साथ होता है। उषा का उदय मित्रावरुण से पूर्णरूप से हो जाता है इसीलिए लिखा है

"यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत्समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ।
अनागसं तमदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेन सजोषाः॥"

(४-३९-३)

इस दधिक्रा ने पञ्चकृष्टी पञ्चभौतिकात्मक पशुओं को सूर्य की किरणों की तरह विकसित किया

"आ ददिक्रा शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्यइव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥"

(४-३८-१०)

दधिक्रावन्, इष, ऊर्जः महः आदि नाम मरुतों या मातरिश्वा प्राण वायुओं के हैं जिनका विकास हरियोजन इन्द्र जातवेदा तथा मित्रावरुण से होता है जैसे

"दधिक्राव्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्।
स्वस्तये वरुणं मित्राग्निं हवामहे इन्द्रं वज्रबाहुम्॥"

(ऋ० वे० ४-३९-४)

दधिक्रावन् के सूक्त में सर्व प्रसिद्ध मन्त्र

"दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णो रश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखाकरत्प्र ण आयुँषि तारिषत्॥"

(४-३९-६)

है। इसका अर्थ सोद्धरण 'अश्वमेध' शीर्षक में दे दिया गया है सारांश यह है "जब उक्त प्रकार के दधिक्रावन् नामक भौतिकात्मा रूप वाहन का—जो जिष्णु प्राणवान् और अन्नवान् था, प्रादुर्भाव हुआ तो सबके मुख में प्राणों का संञ्चार (सुरभि-घृतं) हो गया, साथ में प्रत्येक की आयुः भी पूर्ण की गई या पार लगा दी गई (आयु ही घृत या प्राण है)। प्रत्येक को प्राण और जीवन दोनों दान एक साथ मिल गये। इस दधिक्रा के द्वारा यज्ञ का (विकास का) विस्तार हुआ अतः इसे 'क्रतुप्रा' या क्रतु का पालक लिखा है

'महश्चर्कर्म्यर्वतः क्रतुप्रा दधिक्राव्णः' 'इन्द्र मिवेदुभये विह्वयन्त उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः'

(ऋ० वे० ४-३९-२,५)

इस यज्ञ कर्मक दधिक्रा को २५ वें २६ वें तत्त्व रूप ग्रीवा में बाध कर रखने पर भी बहुत तेजी से इधर उधर भटकता या विकास पाता है, यह ऋतु नामक २४ वें तत्त्व का अनुसरण करते हुए अग्रिम अङ्कित विकासों को पार कर लेता है

"उत स्य वाजी क्षिपर्णिं तुरण्यति ग्रीवावां बद्धो अपि कक्ष आसनि।
ऋतुं दधिक्रा अनुसन्तवीत्वत्पथामङ्कास्यन्वापनीफणत्॥"

(ऋ० वे० ४-४०-४)

यजुर्वेद का वाजी गान्धर्व अश्व है (९-१६) इसी अश्व का या दधिक्रा का वर्णन देता है। इस ऋ० वे० के सूक्त का अत्यन्त रहस्यमय मन्त्र 'हंसः शुचिषद' आदि सूर्योपस्थानीय मन्त्र है। यह दधिक्रा को सूर्य रूप अश्व सिद्ध कर देता है। यह मन्त्र तो पूरे वैदिक दर्शन का पूर्ण चित्र उपस्थित करता है।

अध्याय १०८

अश्व, शकुनि, कपिञ्जल, मण्डूक, अक्षाः, ग्रावाण, राजा और राज्योपकरण
(दुन्दुभिः इषुधिः हस्तघ्न अभीषु ज्या, इषु, अश्वाजनि, उलूखल मुसल)

अश्वः

यह चतुर्थ सप्तकीय मनुष्य तत्त्वों का अश्व है जिसकी व्याख्या 'अश्वमेध' और 'सु असु इत्यादि' शीर्षक में दी जा चुकी है। अश्व नाम प्राणों का है, वैदिक यज्ञ में प्रयुक्त घोड़े के पुजारी कदापि नहीं थे। वे इसे प्रतीक बनाकर उस प्राण रूप ब्रह्म का अभिनय करके आत्मरञ्जन करते थे या वर्णना से आत्मरञ्जन करते थे, जिसके यज्ञ विधान द्वारा लोगों का मनोरञ्जन भी होता रहा। यास्क ने अश्व की व्याख्या का जो मन्त्र दिया है वह पवमान सोम की व्याख्या करता है (९-११२-४)। क्योंकि इसी मन्त्र में इस अश्व को इन्दो या इन्दु शब्द के सम्बोधन से पुकारा गया है और इसे इसकी अनुरूपता के लिए वारिन् (जलमय) और मण्डूक (जलमय जलजीव) कहा है; शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ शब्द इसकी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के भेद वाला अक्षरों की विश्वरूपता का संकेत करते हैं, और इसे (देव) रथ का वहन करने वाला या त्रिपादामृत (रूप रथ) को सुख से ढोने वाला या धारण करने वाला, हसन या ज्योतियों का उपमन्त्री या मुख्य कार्यवाहक रूप दिव्य शरीर कहा है जैसे

"अश्वा वोढा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मण्डूक इच्छति इन्द्रायेन्दो परि-स्रव॥"

यज्ञ का घोड़ा पृथिवी वासी हो सकता है वेदों का अश्व तो आदि ब्रह्म और उसके ५० विकास रूप तत्त्वों का नाम है यहाँ सोम या इन्दु का। अश्व की वैदिक वर्णन ऋ० वे० १-१६३-१० में मिलता है।

इस अश्व की महिमा ऋ० वे० १-१६३ सूक्त में विस्तार पूर्वक दी गई है।

"यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महिजातं ते अर्वन्॥१॥

यमेन दत्तं त्रितएनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णत्सूरादश्वं वसवो निरतिष्ठ॥२॥

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥३॥

त्रीणि ते आहुर्दिविबन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा ते आहुः परमं जनित्रम्॥४॥

इत्यादि में 'अम्बे अम्बिके''''ससस्त्यश्वक काम्पील वासिनिम्' वाला आदि ब्रह्म रूप प्राणाश्व है। इसी की इतनी अद्भुत महिमा गाई गई है। पूरा सूक्त पढ़ने योग्य है।

जै० ब्रा० (२-१२९) ने अश्व को ३४ वें तत्त्व रूप प्रजापति बतलाया है। इसी अश्व को सोम या 'दधिक्रा' नाम से पुकारते हैं। इस दधिक्रा की महिमा ४-३९, ४-४० ऋ० वे० में गाई गई है। इसे 'आप कक्षं आसनि' और 'श्येनस्येवध्रजतो' इसी लिए कहा गया है, यह श्येनसम चतुर्थ सप्तकी से उत्पन्न है।

अध्याय १०६

मानः

यास्क ने जिस ऋचा को यहाँ 'मानः' नामक देवता के विवेचन के लिए उद्धृत किया है उसमें 'मानो' या 'मानः' शब्द नहीं है। यहाँ पर 'मा+नः' दो शब्द हैं, उन्हें बिना ऐसा माने हुए इस ऋचा के 'परिख्यन्' धातु का अर्थ ही नहीं बैठ सकता। और प्रायः सभी ऋग्वेद की पुस्तकों में पाठ 'मा, नो' पृथक्-पृथक् दो शब्दों में है। प्रायः मन्त्र के आदि में ये दो शब्द पृथक् पृथक् ही आये हैं जैसे 'मा, नः समस्य दूढ्य' (८-७५-९) 'मा, नोऽहिर्बुध्नो' (७-३४-४) 'मा, नो मघेव' (ऋ० वे० १-१०४-५) 'मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो' इत्यादि प्रसिद्ध है (१-११४-८)। ऐसी कुल ऋचायें ऋग्वेद में ४१ हैं। यास्क का दिया हुआ यहाँ का मन्त्र ऋ० वे० १-१६२-१ तो वाजसनेय संहिता शुक्लयजु २५-२४ में, और तैत्तिरीय संहिता ४-६-८-१ में दो पृथक् शब्दों में ही मिलता है। जैसे

"मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्।
यद्वाजिनो देव जातस्य सप्तेः प्रवक्षामो विदथे वार्याणि॥"

इस ऋचा में तो सोम नामक सप्तिः या अश्व या वाहन का वर्णन है। ऋषि कहते हैं कि जब हम देवजात या त्रिपादामृतजात वाजिनः अन्न की (सोम की) प्रार्थना करते हैं (जो देववाहन सप्ति रूप है) तब हे मित्र! वरुण! अर्यमा! (सूर्यः) आयुः (रुद्रः) इन्द्र! ऋभुक्षाः! और मरुत! आप लोग हमसे (नः) नाराज न हो। मा परिख्यन् वेदों में मान नाम का कोई देवता नहीं मिलता।

अध्याय १०७

शकुनिः

शकुनि नाम तो सीधे सीधे 'सुपर्ण' का प्रतिनिधि है, यह १० वाँ हारियोजन इन्द्र है। यह सुपर्ण सोम है। भौतिक शब्दायमान है, 'शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं' की जगह 'शक्नोति नेतुं वोढु मात्मानः त्रिपादात्मानः यः सः शकुनिः', 'शक्नोति नदितुं भौतिकशरीराच्छब्दयितुं' व्युत्पत्तियां या निरुक्तियाँ इस सुपर्णेन्द्र के अनुकूल हैं। 'सर्वतः तकितुं या सर्वतः शंकरोऽस्तु वा शक्नोते' व्यर्थ की व्युत्पत्तियाँ हैं घसीट कर कुछ अर्थ इनसे निकाल लिया जा सकता है। शकुनिः शब्द का सीधा लक्ष 'शकुन' शुभ लक्षण या चिह्न से है 'शं करोतीति शकुनिः' व्युत्पत्ति पक्षी अर्थ में अच्छी है। इसीलिए इसका नाम इस सूक्त में भद्रवादी (ऋ० वे० २-४२-२) पुण्यमावद, भद्रमावद (२-४३-२-३) और 'सुमंगल' कहा है। शकुनि 'शक्तिमान' अर्थ वाची है जो समस्त भौतिक सृष्टि यज्ञ करने में समर्थ है। कपिञ्जल नामक पक्षी इस इन्द्र व्याख्या का आधार है। इस आधार से इन्द्र सुपर्ण का रहस्य गाया जा रहा है। अतः

"मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान् वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमंगलो भद्रवादी वदेह॥"
(ऋ० वे० २-४२-२)

ऋचा इसको कहती है कि तुम दैवी वाणी बोलते हो, अतः श्येन (सूर्य) सुपर्ण (सोम) जो आसुरी वाणी के शत्रु हैं वे तुम्हें मा (नहीं मार सकते), न इषुमान् वीर (रुद्र) अस्त्रधारी ही। इसको 'प्रदक्षिणिदभिः कारवो' 'अवक्रन्द दक्षिणतः' और 'पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्' कहकर दक्षिणायन या दक्षिणार्द्ध का वासी संकेतित किया जा रहा है। और शब्द ब्रह्म से ही इसके जन्म का संकेत करते हुए 'कनिक्रदञ्जनुषं' कहा है। इसीलिए यथा नाम तथा गुण का नाम धारण करते हो। 'शकुनिः' शं नाम भौतिक शब्द ब्रह्म का है उसको निर्मित करने वाला, उसकी या शब्द की वाणी की नाव को खेने वाला, सुमंगल का श्रीगणेश करने वाला है जैसे

"कनिक्रदञ्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभि भाविश्व्या विदत्॥"
(ऋ० वे० २-४२-१)

भद्रं वद दक्षिणतो भद्र मुत्तरतो वद।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जल॥

इसके साथ ऋतु (सप्तकों) गायत्री साम त्रैष्टुभ उद्गाता ब्रह्मपुत्र, वृषा वाजी विशेषण देकर पूरे दर्शन का चक्र उपस्थित किया गया है और अन्त में शुद्धबुद्ध ब्रह्म और त्रिपादामृत की तूष्णीं उपांशु वाणियों का संकेत करते हुए कहा है 'तूष्णी-

मासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः' कि जब चुप रहो तो हमारी भलाई की ही अमृतमय मानसी वाणी बोलो वा सोचो। ये मन्त्र गृत्समद निर्मित हैं। पक्षी को बोलते देख उन्होंने उसे लक्ष करके इन्द्र या सुपर्ण रूप इन्द्र की व्याख्या या स्तुति का रहस्य इन दो सूक्तों में अङ्कित कर दिया है। ध्यान रहे कपिञ्जल पक्षी सुपर्ण या खञ्जन के द्योतक हैं। खञ्जन का आकार आखों के समान होता है, अतः 'सूर्या-चन्द्रमसौ चक्षुषी' की उपमा के लिए उपयुक्त पक्षी है।

ये दो सूक्त (ऋ० वे० २-४२; २-४३) आधुनिक विद्वानों की आखें खोलकर देखने के लिए बड़े भारी प्रकाशस्तम्भ का काम कर रहे हैं। अतः अतीव मुख्य और प्रधान हैं। जिस प्रकार इनमें प्रस्तुत शकुनि को आधार बनाकर अप्रस्तुत इन्द्र रूपी सुपर्ण की व्याख्या की गई है उसी प्रकार समस्त वैदिक साहित्य में निर्ऋति द्यौ ब्रह्म ब्रह्मणस्पति बृहस्पति वाचस्पति वसु रुद्र इन्द्र आदित्य अग्नि आपः मरुत ऋभुक्षा सोम यज्ञ नदी पर्वत सागर वृक्ष आपः विश्वेदेव पितर छन्द संवत्सर अयन पक्ष ऋतु अध्वर्यु उद्गातृ प्रयाजा अनुयाजा वृत्र त्रिशिरा त्वाष्ट्र देव असुर वैश्वानर वरुण मित्र आदि सब नाम कथानक के अनुसार या इहिहास या यज्ञविधि के अनुसार प्रस्तुत हैं। परन्तु इन सबका मुख्य विषय अप्रस्तुत या ब्रह्म व्याख्या या सृष्टियज्ञ व्याख्या है। इन सबके कथानक यज्ञविधि इतिहास आदि आधार भूत तत्त्व हैं जिन्हें वैदिकों ने पशु नाम से या कल्पना के सृष्टियज्ञ की कल्पना का बाहरी खोल बतलाया है (पशुवाद देखें)। और यहाँ पर इन सूक्तों में जो शकुनि को 'तुम्हें श्येन सुपर्ण और इषुमान् न मारे' कहा है वह

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति॥"
(ऋ० वे० १-१६४-२०)

की पूर्ण व्याख्या व्यावहारिक लौकिक दृष्टान्त से दे रहा है। जैसेः—लोक में शकुनि के शत्रु बाज गिद्ध और बहेलिया होते हैं। शकुनि और बाज तथा गिद्ध तीनों एक ही जाति और मूलतः एक ही वंश के हैं, सृष्टि वृक्ष की एक ही शाखा से उत्पन्न हैं। उधर 'द्वा सुपर्णा' में दो भिन्न भिन्न पक्षी नहीं हैं दो शरीर के नहीं हैं, एक ही शरीर या ब्रह्माण्ड में एक ही की दो प्रवृत्तियाँ हैं, एक दैवी है दूसरी आसुरी। यह ब्रह्माण्ड भौतिकता या असुरता बहुल है, अतः यह भौतिकतामय आसुरी सुपर्ण रूप प्रवृत्तिक बाज या गिद्ध या बहेलिया बनकर उस दैवी प्रवृत्तिक सुपर्ण को मार देता है या दबोच डालता है। दोनों का शरीर अलग अलग नहीं है। ये यहाँ २४ सों घंटे एक शरीर में साथ साथ हैं। अतः इस असुर से प्रतिक्षण का भय रहता है, न जाने कब दबोच डाले। हमारे यहाँ इसी भय को दूर करने के लिए गायत्री ब्रह्म की त्रिवार उपासना की जाती रही। श्येन सूर्य भी दो हैं एक दैवी दूसरा आसुरी, उनका भी परस्पर द्वन्द्व सदा रहता है। यह सुपर्णों से सूक्ष्म हैं इनका युद्ध कब हुआ कौन जीवा, यह परिणाम से पता लगता है। यह त्रिपादामृतों और तमः केतु स्वर्भानु या काम ब्रह्म का द्वन्द्व हैं। जो जीते वैसी प्रवृत्ति होती है। गीता में जो निष्काम

कर्म की निष्ठा को प्रधानता दी है वह इन्हीं दो श्येनों की भयंकर श्येनों की प्रवृत्तियों के द्वन्द्व में काम ब्रह्म को दबोच कर त्रिपादामृत को प्राधान्य देने की घोषणा है। देखिये ठीक इसी भाव को देने वाली निम्न दो ऋचायें हैं जो उक्त 'द्वा सुपर्णा' ऋचा का भाष्य स्वयं दे रही है

"यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भाग मनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेशः ॥
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे, तन्नोनशद्यः पितरं न वेद ॥"

(ऋ० वे० १-१६४-२१,२२)

यहाँ पर जो सुपर्ण 'अमृतस्य भागं' (त्रिपादामृतं) और 'मध्वदः सुपर्णा' (त्रिपादामृतदः) हैं उन्हीं को 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' कहते हैं वही धीर है वही इस ब्रह्माण्ड का सच्चा पाक है, जो इनसे रहित है वह अपने पिता त्रिपादामृत को ही नहीं जानता, उसके मधु को नहीं पीता पाता या खाता है, वह असुर सुपर्ण है काम, वासना से भरपूर दानव है, इस भोली सृष्टि का विध्वंसक है। इसी मधु को पाने की प्रार्थना पितरों से की जाती है

"मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवँरजः मधु द्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यो माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥"

(ऋ० वे० १-९०-६,७,८; यजुः १३-२७; तै० सं० ४-२-९-३; तै० आ० १०-१०-२; श० प० ब्रा० १४-९-३-७३)

इसीलिए यह मन्त्र सर्वत्र मिलता है। इसमें आये संज्ञा शब्द वात सिन्धव ओषधीः, नक्त, उषा, रजः द्यौ पिता वनस्पति सूर्य और गावः सब वैदिक दर्शन के तत्त्व हैं। इस भूलोक में इन नामों से जो जो संकेतित होते हैं वे केवल दर्शन रहस्य के आधार और अनभिज्ञों को ठगने के साधन हैं। पक्षियों के बारे में शु० यजु० में एक पूरा २४ वाँ अध्याय है जिसमें प्रत्येक देवता का एक शकुनि है। कपोत वरुण के के लिए है। ऋ० वे० में कपोत पर एक पूरा सूक्त १०-१६५ है।

अध्याय १०८

पर्जन्यः

विद्वान् लोग तो अभी तक पर्जन्य माने मेघ बादल ही समझते आ रहे हैं। इनके लिए गीता वाक्य 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' यज्ञ के धुँए से बादल रूप पर्जन्य बनना कहता है, पर इससे 'सोमात्पर्जन्यः' (मुंड उप) का अर्थ कोई कुछ नहीं लगा सकता। सोम को तो ये जड़ी-बूटी समझते हैं। पर बात विलकुल दूसरी है। जो यज्ञ है वही सोम है, यज्ञ २४ वाँ तत्त्व है, वहीं से सोमात्मा का प्रादुर्भाव होने लगता है 'पर्जन्यादन्न सम्भवः' का अन्न, सौम्य भौतिक तत्त्व हैं जिसका प्रतिरूप वृत्र है। 'सोमो हि देवानामन्नं', सोम भौतिकात्मा है। इसका धुँधला स्वरूप पर्जन्य है। इसकी वृष्टि 'विद्युत्' है "वृष्टिर्विद्युत्" (ऐ० ब्रा० ८ अन्तिम भाग ब्रह्मणः परिमरः); यही अन्न है विद्युत्स्वरूप भौतिक आत्मा है। पर्जन्य, ओषधिः, वनस्पतिः, मण्डूका, वृष्टिः आदि शब्द वेदों में पारिभाषिक हैं, लोक में इनसे मेघ आदि लौकिक वस्तुओं का संकेत होता है, ये आधार हैं। पर्जन्य शब्द के बदले वेदों में मेघ शब्द भूल के भी इसीलिए नहीं आया है। ओषधियों से जो सम्बन्ध सोम का है वही पर्जन्य का है 'पोष्णामि चोषधी सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः' (गीता) 'यस्य व्रते ओषधी विश्वरूपाः स नः पर्जन्यः महिशर्मयच्छ' (ऋ० वे० ५-८३-५)। यह पर्जन्य प्राणों की वृष्टि करता है जलों की नहीं जैसे

"दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्रपिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः।"

(ऋ० वे० ५-८३-६)

पर्जन्य रूप तत्त्वों का ही नाम वृष वृषा वृष्णि विष्णु वृषभ है वे अश्वधारा वा प्राणधारा बरसाते हैं। इसी ऋचा में इसे 'असुरः पिता नः' कहा है जैसे

"अर्वाङ्ङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः।"

इसमें 'स्तनयित्नु' नाम तत्त्व रूप विद्युत् है जिससे आपः रूप विद्युत् बरसने की प्रार्थना उसे 'असुरः पिता' कहकर की गई है। और उत्तरार्द्धीय होने की सूचना अर्वाङ् शब्द से दी है। इसमें महान् कोष है अखिल ब्रह्माण्ड का गर्भ है। इसकी भी सूचना दी है 'महान्तं कोश मुदचा निषिञ्च स्यन्दतां कुल्या विषिता पुरस्तात् (उत्तरार्द्ध)। घृतेन द्यावा पृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः।।" (५-८३-८) और इससे घृत या प्राणों की वृष्टि होती है यह पुनरुक्त किया है। इसको सिंह नाम से भी पुकारा है सूर्य की तरह "दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः।" (५-८३-३)। इसीसे 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति' के ढंग पर या 'गुहा त्रीणि निहिता' की तरह

"तिस्रो वाचो प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद्दुह्रे मधुदोघमूधः ।
स वत्सं कृण्वन् गर्भ मोषधीनां सद्यो जातो बृषभो रोरवीति ॥"
(ऋ० वे० ७-१०१-१)

ऋचा से इसे तीन वाणियों को बोलने वाला, अग्रिम तीन ज्योतियों या ओंकार या त्रयी या त्रिपादामृतात्माओं वाला, इन आत्मा रूप मधु को खूब दुहने वाला वत्स रूप ओषधियों (तत्त्वों) के गर्भ (हिरण्यगर्भ) को भौतिक स्वरूप देने वाला बनकर वृषभ की तरह गरजने लगा—'अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः' कहा है। इसके बश में भौतिक सृष्टि का चक्र है यह भी इसी सूक्त में कहा गया है। जैसे

"स्तरीरु त्वद्भवति सूत उत्वद्यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्द्धते तेन पुत्रः ॥"
(७-१०१-३)

यहाँ पर 'स एष पिता पुत्रः' या 'यत्र पुत्रासो पितरो भवन्ति' का भाव भी इसी पर्जन्य में घटित किया है कि इसी पर्जन्य से ब्रह्म पितुः अन्न रूप पिता और पुत्र सोम दोनों भौतिक शरीर से बढ़ते हैं। इसीलिए इसे ऋतावृधा कहते हैं। इसे त्रिधातु या त्रिपादामृतीय कहा है

'स त्रिधातुः शरणं शर्म यंसत् यत्तिवर्तुज्योतिः स्वभिष्टयस्मे'

यहाँ त्रिधातु माने त्रिवर्ति रूप ज्योति या त्रिपादामृत कहा है। इस पर्जन्य में तो अखिल ब्रह्माण्ड के भौतिक मूल बीज हैं यह भी स्पष्ट लिखा है

"यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः ।
त्रयः कोशास उपसेचनासो मध्वश्च्योतन्त्यभितो विरप्शम् ॥"
(ऋ० वे० ७-१०१-४)

इस पर्जन्य रूप तत्त्व से तीनों त्रिपादामृत तीन धाराओं में पृथक् पृथक् आपः या भौतिकात्मा रूप विद्युत् बरसती या चूती है, ये अमृत विद्युत् मधु हैं, मधुविद्युत् को बरसाती हैं। इस पर्जन्य का नाम 'स्वराट्' है (बर्हि आसन्दी देखें)। स्वराट् नाम इन्द्र का है, यह इसलिए इन्द्र के समान या इन्द्र का समानान्तर देवता है। यह भौतिक सृष्टि में स्वतन्त्र है। 'इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत् ।' (ऋ० वे० ७-१०१-५)। कहाँ तक कहें इस पर्जन्य को सूर्य की तरह इस भौतिक अखिल ब्रह्माण्ड की साक्षात् आत्मा कहा है क्योंकि यह अखिल ब्रह्माण्ड के नित्य बीजों को धारण करने वाला रेतोधा वृषभः है जैसे

"स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च ।
तन्म ऋतं पातु शतशारदाय यूयं पातः स्वस्तिभिः सदा नः ॥"
(ऋ० वे० ७-१०१-६)

जिस पर्जन्य का इस प्रकार का दार्शनिक विवेचन दिया हुआ है क्या वह आकाश से बरसने वाले मेघ का प्रतिनिधि हो भी सकता है ? कदापि नहीं। वेदों

का पर्जन्य एक महा महत्त्व पूर्ण स्वराट् तत्त्व है। यह ध्यान रहे पर्जन्य का स्थान यह भूलोक नहीं बरन् महर्लोक नृषद् है जो स्वर्ग से या 'द्यु' या दिवः से मात्र एक सीढी नीचा है। इस पर्जन्य का विवेचन अथर्व ४-१५ पूरे सूक्त में उक्त ऋग्वेदीय मन्त्रों से तथा कुछ विशिष्ट पदों से किया गया है

"अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणः।
अप नीचीरपः सृज वदन्तु पृश्नि बाहवो मण्डूका इरिणानु॥"

(४-१५-१२)

इस मन्त्र के पृश्नि बाहवः (मण्डूकाः) वैदिक दर्शन के महत्त्व पूर्ण तत्त्व हैं।

अध्याय १०६

मण्डूकाः

मण्डूक नाम के एक प्रसिद्ध महर्षि हो गए हैं। उनका एक आश्रम था, एक एक पृथक् शाखा थी और उनके नाम से एक प्रसिद्ध उपनिषद् माण्डूक्य या मण्डूकोपनिषत् अब तक सबको उपलब्ध है। श० प० ब्रा० (९-१-२-२१;२४) ने इस मण्डूक नामक ऋषियों के बारे में लिखा है कि "एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वन्तस्तमद्भिरवोक्षँ स्ता आपः समस्कन्दँ स्ते मण्डूका अभवन्"..."तस्मान्मण्डूकः पशूनामुपजीवनीयतमो यातयामा हि"। अतः इस मण्डूक शब्द ने हमारे वैदिक विद्वानों और वेद व्याख्याताओं को बहुत ठग दिया है। सचमुच में लोग इन्हें मेंढक ही समझते चले आ रहे हैं। मण्डूक सूक्त का मण्डूक तो सीधे-सीधे चन्द्रमा है। इसका अकाट्य प्रमाण अश्वरूप प्राणरूप चन्द्रमा के वर्णन वाली ऋचा है जैसे—

"अश्वो वोढा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छति।
इन्द्रायेन्दो परि स्रवः॥"

(ऋ० वे० ९-११२-४)

इसका अर्थ सोम शीर्षक में दे दिया है; पृष्ठ ५२२, ६७० भी देखें। इनका स्थान वैदिक दर्शन के तत्त्वों में निश्चित रूप से बतलाने के लिए यह मन्त्र दिया है

"उप प्र वद माण्डूकि वर्षं मा वद तादुरि।
मध्ये ह्रदस्य प्रवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥"

(अथर्व ४-१५-१४)

इसमें 'मध्ये ह्रदः' और 'चतुरः पदः' शब्द चतुर्थ सप्तक के चतुष्पाद् ब्रह्म के सूचक हैं और यह सप्तक दर्शन के तत्त्वों का मध्यवर्ती सलिलीय सागर है। अतः इसे 'मध्येह्रदस्य' कहा है। साथ में

"संवत्सरं शयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्य जिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥"

(ऋ० वे० ७-१०३-१ अथर्व ४-१५-१३)

में इन मण्डूकों को 'संवत्सरं शयाना' से संवत्सर ब्रह्म रूप में सुषुप्त कहते हैं तथा इन्हें ब्रह्म व्रतचारी ब्राह्मणों (तत्त्वों) के समान वर्णित कर रखा है। इस बात को असंदिग्ध भाषा में स्पष्ट करते हुए इन मण्डूकों को वैदिक दर्शन के प्रावृष् ऋतु वाले सोमिनः अतिरात्र में उदय होने वाले, और शब्द ब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करने वाले इत्यादि कहते हुए इनकी प्रत्येक चर्या का विवेचन वैदिक दर्शन के चतुर्थ सप्तक के भौतिक ब्रह्मों के पूर्ण अनुकूल रूप में इस प्रकार दे रखा है

"ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणां बभूव॥

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणाम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचिद् ।।"
(ऋ० वे० ७-१०३-७,८ इत्यादि)

कि ये मण्डूक नहीं अपितु ब्राह्मण या ब्रह्म हैं, इनका उदय अतिरात्र या उत्तराद्धं में सोम नामक तत्त्व के सरः (ह्रद) में होता है, यहाँ से स्फुटध्वनि या व्यक्त शब्द ब्रह्म का या भौतिक ब्रह्म का उदय होता है। अतः इन्हें 'अभितो वदन्त' सर्वतः शब्दायमान कहा है। ये मण्डूक नामक तत्त्व संवत्सर ब्रह्म के अहः या दिन के (पूर्वार्द्ध के) भाग में मौलिक रूप से विद्यमान थे वही प्रावृष या चतुर्थ सप्तक में (भौतिक स्वरूप में) उत्पन्न हुए ॥७॥ ये ब्रह्म हैं, सोम स्वरूपी हैं, संवत्सर ब्रह्म को शब्दब्रह्म स्वरूप में परिणत कर देते हैं। ये घर्म-तप्त अध्वर्यु उद्गातृ हैं, प्रथम सुषुप्तावस्था वाले, अब वैश्वानरीयाग्नि की उष्णता से उष्मता पाये स्वयं आविर्भूत हो रहे हैं। इनमें से कोई भी गुहावासी या गायत्री ब्रह्म के २४ तत्त्वों तक का वासी नहीं है। सब चतुर्थ सप्तकीय भौतिक ब्रह्म हैं, यह किसी से छिपा नहीं रहना चाहिए ।।८।। ये लोग शाक्तों या वेदपठियोंकी शिक्षा प्रणाली के अनुसार एक दूसरे को रटाते से बोलते हैं, इनसे पूर्वों (तत्त्वों) की समृद्धि होती है, कोई गाय के बछड़े के समान, कोई बकरी के बच्चे के समान, कोई वृषभ की तरह कोई कृष्णसार की तरह — चार प्रकार से—चतुष्पाद् ब्रह्म की चार वाणियों का संकेत करते हैं। नाम समान है पर इनकी बाणियाँ एक दूसरे से विरूप तथा नाना रूप की हैं। ये लोग दैवी वाणी के स्वरूप की रक्षा करते हैं, बारह महीने की ऋतुओं का पालन नृषद् सप्तक में करते हैं, अर्द्ध वर्षीय संवत्सर के पूरे होने पर—पूर्वार्द्ध के बीत जाने पर—वैश्वानराग्नि के घर्म से तप्त होकर नवीन सृष्टि भौतिक सृष्टि का विसर्ग या आरम्भण कर देते हैं। प्रत्येक प्राणी गोमायु अजमायु प्रश्नि और हरित चारों प्रकार के शब्द ब्रह्म रूप (मण्डूक) के तत्त्वों से युक्त रहता है। ये मण्डूक गायों या आदित्यों के हैं, जो इस ब्रह्माण्ड को सहस्रधा प्रसवित करते हैं, वे हमारी आयु की रक्षा करें।

"यदेषा मन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ।।५।।"
"गोमायुरेको अजमायु रेकः प्रश्नि रेको हरित एक एषाम् ।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्त ।।६।।"
"देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते ।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ॥९।।"
"गोमायुरदादजमा युरदात् प्रश्नि रदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः ।।१०।।"

ध्यान रहे शाक्त मत बहुत प्राचीन है वैदिक है शब्द ब्रह्म के वाक् रूपिणी शक्ति की उपासना का मत है।

अध्याय ११०

अक्षाः

अक्ष शब्द जुवा खेलने के पाँसों का भी नाम है तथा त्रिपादामृत का भी (अथर्व १९-१३-२) 'अमृतं न्वक्षः' और चक्र का भी। अक्ष (पुं०) नाम केवल रथ के पहिए का नाम हैं (कर्ष चक्र इसका दूसरा नाम है)। वेदों में इस शब्द की योजना पासों अर्थ वाले अक्ष के आधार पर की गई है और इसका रहस्य वैदिक दर्शन के चक्र के रूप में संकेतित किया गया है। वैदिक दर्शन के दो मुख्य चक्र हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, बीच में सूर्य तत्त्व है 'द्वे ते चक्रे सूर्ये' (ऋ० वे० १०-८५-१६ अथर्व १४-१-१६)। इस रहस्य में अक्ष के माने 'व्यान' प्राण होता है। इसका प्रमाण स्वयं वेद में दिया है। सूर्या का विवाह जब अश्विनी से हुआ वह जिस रथ पर बैठ कर पति के घर गई उसमें दो चक्र शुची दिन-रात (अहोरात्र) थे, वे व्यान रूप अक्ष के या चक्र थे, उसमें मनः रूप या तैजसात्मा रूप रथ था, उस रथ में सूर्या सूर्य की पुत्री २५ वें तत्त्व की क्षत्र वाणी बैठ कर अश्विनो २६ वें तत्त्व की पत्नी बन कर गई जैसे

१—अक्षाः

"शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम्॥"

(ऋ० वे० १०-८५-१२)

जुवा खेलने के पासों की गति का व्यान रूप अक्ष (चक्र) की गति से तुलना करना एक वहुत बड़े वैज्ञानिक दृष्टि कोण को प्रस्तुत करता है। व्यान प्राण अग्नि रूप है, तृतीय सप्तक की तैजसात्मा है। यह कम्पनशील तेजस्वी गति का चक्राकार रूप लेती है, इसकी प्रत्येक गति विभेदक है या भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके मायावी का रूप धारण करती है जिसकी अनुभूति सोम के पान के समान मस्त कर देती है, या प्रस्तुत व्यापार से मुक्त कर अप्रस्तुत या मायावी या अलौकिक व्यापार सागर में डुबो देती है, यह नई जागृति करके भौतिक शरीर को आच्छादित कर देती है या गौण बना देती है। अतः ऐसा अक्ष प्रवेप या कम्पनशील और प्रवण प्रवहन प्रवाहशील और स्फुरण द्वारा (इरिणे) आवरण करने वाला या चक्राकार घूमने वाला (वर्वृताना) होने से, यह मुझे महान् सोम के समान मादयन्ति या उन्मत सा बावला सा अति प्रसन्नतामग्न सा बना देती है* यह भाव है निम्न ऋचा का

२—अक्षदीवन वर्णन

* सोम नाम की लता की जन्मभूमि मूजवान् या मौजवत पर्वत या सोमपर्वत (चतुर्थ सप्तक) या सर्वसप्तक है क्योंकि सोम एकदैवत्य और सर्वदैवत्य है। इसका उद्‌भव गान्धार अंग या विहार और मगध देशों में भी अथर्व ने तक्मा (नशीलीबूटी के) रूप में बतलाया है। यह वही तक्मा है जिसे ठंडई के नाम से

"प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः ।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥"
(ऋ० वे० १०-३४-१)

निम्न (२-२७) ऋचा बतलाती है कि अक्षाः नाम आदित्यों का या भौतिक तत्त्वों का है "ते आदित्यासो उरुवो गम्भीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः ॥" यहाँ

३—अक्षदीवन कर्ता कौन है ?

जुवा खेलने वाला कौन है, यदि यह बात विदित हो जाय तो फिर उक्त व्याख्यान में तिलभर भी सन्देह नहीं रह सकता । जिस (ऋ० वे० १०-३४) सूक्त में द्यूत क्रीड़ा या अक्षदीव्यन या जुवा खेलने का वर्णन दिया है उसके तेरहवें मन्त्र में यह स्पष्ट लिखा है कि यहाँ जुवा खेलने वाले 'गावः' या गायें हैं । वेदों में 'गावः' नाम आदित्यों और वाग्धेनु के लिए आता है "गावो वै आदित्याः" (ऐ० ब्रा० ४-३-१७) पुरुष सूक्त में जब यह लिखा है 'गावो ह जज्ञिरे' इत्यादि वहाँ पर इन्हीं वाग्धेनु और आदित्यों का भी संकेत है । इन्हीं आदित्यों को ऊपर ऋ० वे० २-१७ में भूर्यक्षाः कहा भी है । आदित्यों का सप्तक २० वें तत्त्व तृतीय सप्तक से आरम्भ होता है जहाँ व्यानाग्नियों का ही स्थान है । वाग्धेनु सर्वादेवता है यह बतलाया जा चुका है । इसीलिए लिखा है

"अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥"

कि तैजसात्मा के चक्राकार कल्पना के चक्र के फेर में न पड़ो, कृषि या भौतिक शरीर के क्षेत्र को आगे बढ़ाओ, कर्म में रत रहो । यहाँ तैजसात्मा आदित्य जुवा सा खेलते हैं और भौतिक दृष्टि वाले भौतिक शरीरी सोम को अपने चक्कर में मग्न कर (कल्पना के मनोमोदकों में मानकर) ठग देते हैं । मेरी जाया वाग्ब्रह्माणी ने कई बार सूचित भी किया कि भौतिकात्मा सविता ही भौतिक शरीरी ब्रह्माण्ड को अनुकूल धर्माचरण के मार्ग में प्रसूत या प्रसवित करने वाला सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है । यदि यहाँ केवल द्यूत क्रीड़ा ही का वर्णन होता तो इस सूक्त में सोम सविता गावः वधू, मित्र इत्यादि देवताओं का नाम लेने की क्या आवश्यकता थी ? साथ में मन्त्र ४ के पिता माता भ्रातरः नाम क्रम से ब्रह्म (प्रथम सप्तक) द्वितीय सप्तक और तृतीय सप्तक के हैं । मन्त्र ९, १० का वही भाव है जो प्रथम मन्त्र का यहाँ दिया गया

पीते हैं अतः यह भी लिखा है कि तुम (तक्मा रूपी सोम) शीतकाल में शीत का और उष्ण काल में गर्मी का नाश करो जैसे

"तृतीयकं वि तृतीयं सदन्दिमुत शारदम् ।
तक्मानं शीतं रुरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥
गान्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मागधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥"
(अथर्व ५-२२-१३,१४)

है। शेष सबके सब द्व्यर्थक मन्त्र हैं। अन्त में यह भी सूचित कर देना आवश्यक है कि ये 'अक्षाः' प्रायः वही है जिन्हें 'ऋचो अक्षरे' मन्त्र 'अक्षर' कहता है। अक्ष ही अक्षर है, अन्तर इतना है कि यहाँ अक्षाः अक्षरों के समूह के वाची हैं। हमारे यहाँ रौद्रमत में अक्षरों को ही अक्षा कहा जाता है, 'अक्ष' कुल ५० हैं, वैदिक दर्शन के तत्त्वों के अक्षरों के गुच्छे रूप शब्द ब्रह्म के स्वर ऊष्माण पञ्चवर्गीय कुल ५० ध्वनियों के द्योतक हैं। कोई इन्हीं के स्फुटास्फुट भेद से १०० या चतुष्पाद् ब्रह्म के ४ आत्माओं सहित ५०+४=५४+५४ के १०८ अक्ष, रुद्राक्ष, की शब्दमाला मानते हैं। यह अक्ष भी व्यान प्राण का ही रौद्र वर्णन देता है। व्यान प्राण अमृत (तृतीयपाद) है। अतः 'अक्ष' को भी अमृत कहा है जैसे "सप्तचक्रात् वहति काल एष सप्तास्य नाभी-रमृतंन्वक्षः।" (अथर्व १९-१३-२)

अध्याय १११

ग्रावाण देवता

ग्रावाण देवता पञ्चपर्वा विद्या के प्रधान अंगों में एक मुख्य विद्या का विवेचन देते हैं। ये पहाड़ के पत्थर नहीं हैं। वैदिक दर्शन में पञ्चपर्वा विद्या के तत्त्वों का विभाजन पञ्च ऋतुओं के अनुकूल दस दस तत्त्वों का एक एक ग्रावाण देवता या पर्वत देवता कहलाता है। इसमें तीन पर्वत आध्यात्मिक हैं और शेष दो भौतिक। पर्वत माने पर्व पर्व में रहने वाला 'पर्वणि पर्णणि तिष्ठतीति पर्वतः' होता है और ग्रावाण माने 'गृणन् गृणन् इति वा, गृह्णन् इति वा' अर्थात् एक एक करके आगे बढ़ने वाला होता है। दश दश ग्रावाणों का एक एक पर्वत होता है जिसका वर्णन निम्न ऋचा पूर्ण रूप से करती है

"दशावनिभ्यो दशकक्षोभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
दशाभीषुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः॥"

(ऋ० वे० १०-९४-७)

"प्रथम पर्वत दश अवनियों या भूमियों (भूः का) है जिसमें दश तत्त्व हैं इसके तत्त्वों को दश अङ्गुली कहते हैं ये आदि के दश प्राण हैं। दूसरे पर्वत में दश कक्ष्य है, अगल-बगल के दश दश के बीस अंगुलियों के पर्व हैं या कक्ष्य है, तीसरे पर्वत में दश और जुड़ जाते हैं, दश दश के तीस अंगुलियों का एक योक्त्रे या जुवा सा मध्यवर्ती बन जाता है। चौथे पर्वत में दश दश के ४० पर्वों का योजन हो जाता है और पाँचवें पर्वत में दश अभीषु या रश्मि रूप तत्त्व और जुड़ जाते हैं। यह पर्वत ५० पर्वों का या अग्नियों का होता है। ये अर्चता या ऋचाओं के अक्षरों वाला और अजर धर्मा विभु हैं, प्रत्येक में दश धुरियाँ हैं और प्रत्येक में दश दश अधिक जुड़ जाते हैं या दश अधिक ढोने वाले होते हैं।" इसीलिए इसके आगे की ऋचा में कहा है "ते अद्रयो दश यन्त्रास···" कि पर्वत दश दश के यन्त्र या तन्त्र या पर्व के हैं। आगे चलकर इनके विवेचन में स्पष्ट लिखा है कि ये दो प्रकार के हैं, तृदिला और अतृदिला अर्थात् भौतिक और अभौतिक, कभी न थकने वाले, सदा अमर, कभी सुख दुःख में न पड़ने वाले, कभी जरा से परामृष्ट न होने वाले या नित्य नवीन रहने वाले, और ये स्थायी विष्णु रूप में स्थिर रहने वाले, अत्यन्त स्थूल या महतो महियान्, तृष्णा से सदा मुक्त रहने वाले और तृष्णा से अनुत्पन्न हैं जैसे

"तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अश्रृथिता अमृत्यवः।
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपीवासो अतृषिता अतृष्णजः॥"

(ऋ० वे० १०-९४-११)

वृष या वृषा या पर्जन्य या इन्द्र वृत्र या सोम अर्थात् भौतिक तत्त्व का अभ्युदय इन्हीं पर्वतों में से 'आशव' नामक तृतीय पर्वत का एक अंशु या एक किरण या

अंश या विकास है। इसके ही अंशों या विभागों या अक्षरों का नाम ग्रावाण है, स्फटिक शिला है जो सृष्टि विकास के अध्वर या यज्ञ या अध्वन या मार्ग को आगे के लिए प्रशस्त करते हुए अनुभूति रूप में व्यापक रूप में विद्यमान या प्रस्तुत होता है (ऋ० वे० १०-९४-१०)। इन्हीं ग्रावाणों ने (१०-९४-८) 'सुतस्य सोमस्य' आविर्भूत सोम रूप अन्न या भौतिक तत्त्व रूप आत्मा के अमृत के भाग के अंशों की अनुभूति पाई। कहने का तात्पर्य यह है कि ये ग्रावाण सोम रूप अमृत विभु व्यापक दिव्य शरीरी भौतिक आत्मा के दैवी स्वरूप हैं जिनको 'स्फटिक शिला' कहते हैं। ये आध्यात्मिक भौतिकात्मा रूप ग्रावाण है जिनमें त्रिपादामृत रूप त्रिधात्मा प्रतिबिम्बित से रहते हैं। इस बात की पुष्टि में श० प० ब्रा० ३-३-४-१३ में लिखता है कि वृत्र ही सोम है, वह देव है, दिवि वासी है (दर्शन के तत्त्वों के चक्र रूप व्योम का वासी है)। उस सोम का शरीर गिरि या अद्रि कहलाता है। जिसे अश्मा ओषधि या स्फटिक शिला कहते हैं वह भी यही सोम है जैसे

"देवो वै सोमो दिंविहि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैत
च्छरीरं यद् गिरयो यद् अश्मान स्तदेषो आशानामोषधि जायत इति॥"

इसीलिए इन अद्रियों को सोमाद या सोम रूपी अन्न के भोक्ता 'हरी' नाम से पुकारा है, और लिखा है कि ये गौः रूप इन्द्र से अंशु रूप अमृत को दुहने वाले, उसी रूप में (अमृत रूप में) विद्यमान रहते हैं, इनसे दुहा गया सोम रूपी अमृत मधु या दुग्ध को इन्द्र पीता है और उसी से वह वृद्धि को विकास को और ओजस्विता (वृषायते) को प्राप्त होता है जैसे

"ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्द्धते प्रथते वृषायते॥"
(ऋ० वे० १०-९४-९)

ये पर्वत और ग्रावाण देवता तो आत्मिक वाग्ब्रह्म और भौतिक वाग्ब्रह्म के स्वरूप हैं, यह बात भी इस सूक्त ने छिपा के नहीं रखी है। लिखा है जब अध्वर रूप अद्रि या भौतिकात्मा रूप पर्वत या सोम का अभ्युदय हो गया वे ग्रावाण शब्द ब्रह्म रूप में प्रगट हुए और इन्द्र रूप गौ माता के सामने बच्चों की तरह तोतली वाणी में क्रीणा करने लगे। इसके पहिले ये सुषुप्त बालकों की तरह पड़े थे। वे इनके आध्यात्मिक स्वरूप या मनः स्वरूप या मनः स्वरूप के पर्वत थे जो केवल चैतन्यता वाले थे (चायमाना) भौतिक शरीरी नहीं थे, जब इन्होंने इस सुषुप्ति से जागकर भौतिक स्वरूप लिया तब भौतिक शब्द ब्रह्म का स्वरूप धारण किया और भविष्य की सृष्टि के बीजों को धान की रोपाई की तरह बोना आरम्भ कर दिया जैसे

"सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता क्रीलयो न मातरं तुदन्तः।
वि षू मुञ्चा सुषुवुषो मनीषां विवर्तन्ता मद्रयश्चायमानाः" ॥
(ऋ० वे० १०-९४-१४)

"तदिद्वदन्त्यद्रयो···वपन्तो वीजमिव धान्या कृतः पृञ्चन्ति
सोमं न मिनन्ति वप्सतः ॥"
(ऋ० वे० १०-९४-१३)

इन ग्रावाण देवताओं को शब्द ब्रह्म रूप में वर्णित करने की चेष्टा इस सूक्त के प्रथम छह मन्त्रों में स्पष्टतया की गई है जैसे

"प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः ।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ॥"
(ऋ० वे० १०-९४-१) इत्यादि

इनको 'त्रिष्टूवी ग्रावाण' त्रिपादामृतीय आत्मा आत्माओं का प्रतिनिधि बनाकर कहा गया है और इन्हें 'सृष्टि वृक्ष' की शाखायें, सूर्य की शाखा सूर्यश्रितः या सूर्यरेतः, 'सुपर्ण' कृष्णा, साथ साथ जुड़े (सांकं युक्ताचतुष्पादूब्रह्म) और धुरी को धारण करने वाला इत्यादि दर्शन के सूक्ष्म तत्त्व समझ कर ही यह लिखा गया है। अतः ये ग्रावाण देवता तत्त्व हैं, ये पर्वत वा अद्रि भी तत्त्व ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह का अवसर नहीं रह जाता। (१०-९४-२ से ६ तक देखें इसका समर्थन ऋ० वे० १०-७६ सूक्त से करलें जिसमें इन्हें 'पौस्यं महो' या चतुर्थ सप्तक के तत्त्व कहा है (१०-७६-२) तथा मन्त्र ६ में इनको वाग्ब्रह्म का स्वरूप दिवि आत्मा वाला कहा है जहाँ नर या चतुर्थ सप्तकीय तत्त्व स्वकामना पूर्ण करते हैं करके लिखा है। अन्त में मन्त्र ८ में कहा है कि ये वाग्ब्रह्म देवता 'वामं वामं', ब्रह्म के लिए पार्थिव या भौतिक वसु, वसु या उत्तम तत्त्व का प्रसव करते हैं जैसे

"वामं वामं वो दिव्याय धाम्ने वसु वसु। वः पार्थिवाय सुन्वते।"

शेष 'पञ्चपर्वा विद्या' और 'पर्वत' शीर्शक में देखें। इन पर्वतों को पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के दो भागों में क्रम से प्राचीन पर्वत और अधराचीन पर्वत कहा गया है जैसे

"स प्राचीनान्पर्वतां दृंहदोजसाधराचीनमपकृणोदपामपः ।
अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः ॥"
(ऋ० वे० २-१७-५)

———

अध्याय ११२

दुन्दुभिः, इषुधिः, हस्तघ्नः, अभीषवः, धनुः, ज्या, इषुः, अश्वाजनिः, और उलूखल मुसल

ये सबके सब सम्पूर्ण वैदिक दर्शन के सम्पूर्ण तत्त्वों में से एक-एक सामूहिक नाम को देते हैं, ये दैवी तत्त्व हैं; आसुरी के विरोधी हैं, अतः इनको देवता रूप में आहूत और प्रतिष्ठित किया जाता है। दुन्दुभिः शब्द ब्रह्म के सुमधुर गम्भीर घोष या 'वृषभो रोरवीति' का प्रतिनिधित्व करता है। इषुधि (तूणीर) समस्त तत्त्वों को बाणों या इषुओं के समान मानता है। इषु कई तत्त्वों के सूचक और वायु नामक तत्त्व के होते हैं। ४९ बातों के ४९ इषु हैं (रुद्र देखें)। वे ब्रह्म रूप तूणीर या इषुधि में संरक्षित हैं। हस्तघ्न भौतिक सृष्टि के अहि रूप का वर्णन करता है और प्रत्येक भौतिक बीज रूप पुरुष की सुरक्षा करता है। अभीषु या अभीषव नाम प्रग्रह या रस्सी का है जो तृतीय सप्तक के धी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हुए भौतिक तत्त्व रूप अश्वों को मनोनुकूल (बुद्धि के अनुकूल) ले जाने में समर्थ होता है। धनुष पूर्ण दर्शन है जिसकी दैवी शक्ति से आसुरी सृष्टि जीती जाती है। यही पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप दो शृङ्गों का बना शार्ङ्ग धनुष कहलाता है, सींगों का बना नहीं, वैसे महिष नाम अग्नि का है। अग्नि तो सर्वा देवता ५० तत्त्वों का है। उस महिषाग्नि के दो पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के शृङ्गों का बना हुआ यह धनुष है, महिष यमाग्नि संयमाग्नि है ज्या भी पूर्ण दर्शन है। इसके मध्य भाग को खींचकर भौतिक दिव्य-शरीरी बाण छोड़कर व्यक्त सृष्टि का आरम्भ किया जाता है। यह मध्यभाग वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दो शृङ्गों का सूचक है। इषु के बारे में लिखा जा चुका है कि प्रत्येक तत्त्व एक इषु है। अश्वाजनि कशा या साँटी या वेत या डोरी सहित वेत का नाम है। वेत पूर्वार्द्ध है, डोरी उत्तरार्द्ध का भौतिक तत्त्व, पूर्वार्द्ध की कशा उत्त-रार्द्ध को प्रकाशित करती है। उत्तरार्द्धीय कशायें वारुणी कशायें हैं। उलूखल और मुशल की जोड़ी दर्शन के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के दो दलों के प्रतिनिधि हैं। मुशल पूर्वार्द्ध है उलूखल उत्तरार्द्ध। इन दोनों के संयोग से दुन्दुभि के समान शब्द ब्रह्म की व्यक्ति होती है।

"उरु मे कुर्वित्य ब्रवीत् तदुलूखलम् अभवत्, उरुकरं चैतद्।
उलूखल मित्या चक्षते परोक्षेण परोक्षकामा हि देवाः ॥"

यह व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में दी गई है तथा इनके कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन दिया गया है। इन सबका वर्णन कहीं कहीं एक दो ऋचाओं में मिलता है। इनमें वे प्रसिद्ध ऋचायें जिनका प्रयोग कर्मकाण्ड में दिया जाता है वे ये हैं :—

दुन्दुभिः— उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्॥
६-४७-२९

भौतिक सृष्टि पृथिवी को आत्मीय सृष्टि द्यावा से अनुप्राणित करने के लिए इस भौतिक सृष्टि में पूर्णतः प्रवेश करो; और शब्द ब्रह्म रूप दुन्दुभि के घोषों से आसुरी भौतिक अत्रुओं को इन्द्रादि देवताओं से दूर दूर भगा दो। सोम में इसकी चर्चा आई है। 'परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभी' (तै० १-३-६-२,३) या सप्तदशानां दुन्दुभिनां (श० प० ५-१-५-६)। यजुर्वेद २९-५५,५६ में दुन्दुभि को इन्द्र की मुष्टि नाम से पुकारा है।

इषुधिः— बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चाकृणोति समनावगत्य।
इषुधिः साङ्कः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥
६-७५-५

समस्त सृष्टि के बीज रूप तूणीर, तुम अनन्त प्रजाओं के पिता तुल्य हो तुम्हारे अनन्त पुत्र हैं (विकासीय तत्त्व हैं), उनका परस्पर सामञ्जस्य भी करते जाते हो। तुम्हें पीठ पर धारण करके तुम्हें सदा अपने शरीर में धारण करके सब सेनाओं और युद्धों को जीतते हैं।

हस्तघ्नः— अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः।
हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः॥
६-७५-१४

समस्त भौतिक सृष्टि के मूल बीज अहि या कीटाणु की तरह के शरीर वाले सर्वतः व्याप्त और अमृतात्मा रूप बाहु तथा ज्या को परितः घेरे हुए, भौतिकात्मा के पुरुषों को एक दूसरे से सुरक्षित रखते रहो।

अभीषवः— रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीषूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥
६-७५-६

भौतिकात्मा के रथ में बैठकर सारथि रूप मन या इन्द्र जहाँ जहाँ जैसे जैसे जाना चाहता है वहाँ वहाँ उन अभीषु रूप रश्मियों या तैजसात्मा की डोरियों को घुमाकर खींचता रहता है। यह इनकी महिमा है उसे ध्यान से देखो।

धनुः— धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥
६-७५-२

अखिल तत्त्व रूप शार्ङ्गधनु से गा या द्यावापृथिवी दोनों में उपस्थित जितने संघर्ष हैं उनमें जय पाते हैं इसीसे आसुरी मद को जीतते हैं, इसी धनु से शत्रु के अपकारों को जीतते हैं जिससे सर्वत्र जयजयकार ही प्राप्त होती है।

ज्या— वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥
६-७५-३

ज्या कर्ण प्रिय है, मध्यवर्ती भाग कर्ण प्रिय है, वहीं से भौतिक सृष्टि का आरंभ होता है, जो जो इस दिव्य शरीर की कामना करते हैं पाते हैं वे उसे पाकर प्रसन्नता से एक दूसरे का आलिङ्गन करते हैं। ज्या तुम स्त्री की तरह खिंचकर दूर से पास आकर पार लगाती हो।

इषुः— सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥
६-७५-११

'वीर्यं वा इषु' 'रुद्रस्य हीषुः' (श० प० ६-५-२-१०, २-६-२-३)। हे वाणो! तुम्हारा शिकार रूप मृग तो सुपर्ण रूप भौतिकात्मा है, वह आदित्य रूप गायों से प्रसूत और सन्नद्ध है, उनसे प्रसूत दन्त के समान उज्वल चन्द्र रूप मृग सुपर्ण बनता है, इसके बनने पर नृषद् की सृष्टि अग्रसर हो बिखरने लगती है उनकी रक्षा करते रहो।

अश्वाजनी— आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसो अश्वान्त्समत्सु चोदय॥ ६-७५-१३

हे कशे! तुम जघनों या उरु (तृतीय सप्तक) में मार करती हो, वहीं से उत्पन्न हुई हो तुम वरुण के पाश को भी धारण करती हो, उनसे अश्व रूप भौतिकात्मा को प्रेरित या प्रसूत करो।

उलूखलम्— यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः॥ १-२८-५

हे उलूखलक रूप घट घट शरीरी भौतिकात्मा तुम घर घर में घट घट में व्याप्त हो। यहाँ वैश्वानराग्नि रूप में द्युतिमान होकर शब्द ब्रह्म रूप में भौतिक शब्द ब्रह्म रूप जय को प्राप्त हो जाओ, जैसे कि किसी ने भौतिक सृष्टि के आरम्भ हो जाने की सूचना देने का डंका बजा दिया हो।

अप्वा— "अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकै रन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥"
(१०-१०३-१२)

हे अप्वे जाओ हमारे शत्रुओं के शरीरों को गृहण करो और उनके चित्तों को प्रलुब्ध करती रहो, और वापिस जाकर हमारे शत्रुओं को जगाओ, उनके हृदयों को शोक के अन्धकार से तामस से युक्त बनाओ। यह इन्द्र सूक्त में है उससे शत्रुओं पर विजय पाने की प्रार्थना की गई हैं। इन्द्र के शत्रु भौतिक आसुर तत्त्व हैं। अतः अप्वा दैवी तत्त्व इन्द्र सहायक है। अप्वा एक प्रकार का आग्नेय वाण सा प्रतीत होता है जो धनुष से या हाथ से छोड़ा जाता रहा। इसका वर्णन वाण के वर्णन के बाद में है। इससे 'अन्धेन तमसा' या अन्धकारसम धुआं निकलने की बात इसी बात का समर्थन करती है। हो सकता है वह बारुद भरी होती हो या अन्य जलने वाली वस्तु से भरी।

अग्नायी—

अग्नि पत्नी का नाम है, अग्नियाँ ५० हैं, ५० पत्नियाँ भी हुई, यहाँ समान्यतः एक का वर्णन दिया गया है ।

"इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये । आग्नयीं सोमपीतये ॥"

(ऋ० वे० १-२२-१२)

सोमपान करने के लिए इन्द्राणी वरुणानी और अग्नायी का आह्वान करते हैं, जिससे कल्याण हो । सोमपान करने वाली इन्द्राणी, वरुणानी और अग्नायी का एक ही स्थान है । इन्द्राणी सूर्या होगी, वरुणानी (मित्रावरुण २४ वें की पत्नी) अग्नायी अत्रि की आत्रेयी रूप अग्नि जो जातवेदा भी कहलाती है । इन्द्राणी एक नहीं कई हैं, जैसे इन्द्र १६ हैं वैसे ही इन्द्राणी (इन्द्र शक्ति) भी १६ ही होंगी । पर वरुणानी केवल एक है । केवल आपोब्रह्म का वरुण तो अग्नि की तरह सर्वादेवता है उसकी ५० वरुणानियाँ होंगी ।

अध्याय ११३

उलूखलमुसले

ये दो का जोड़ा है, दृषदुपले के समान पूर्वार्द्ध परार्द्ध दोनों का एक साथ सम्मिलित सूचक है। उलूखल उत्तरार्द्ध है, मुसल पूर्वार्द्ध। मुसल पिता उलूखल माता है, ये द्यावा पृथिवी के ही या अहोरात्र के ही संकेतक हैं। उलूखल के अन्धांसि या अन्नानि भौतिक तत्त्व हैं, जिनको मुसल रूप आध्यात्मिक तत्त्व छान-बीन कर वध-कर शुद्ध आत्मा में प्रस्तुत करते हैं, यही भाव निम्न ऋचा दे रही है

"आयजी वाजसातमाता ह्युच्चा विजर्भृतः। हरी इवान्धांसि बप्सता॥"

(ऋ० वे० १-२८-७)

कि तुम यज्ञ करने वाली यज्ञ के योग्य हो, अन्नों या भौतिक तत्त्वों को पूर्वार्द्धीय मुसल रूप आध्यात्मिक आत्माओं की ऊँची ऊँची चोटों से हनन करती हुई शुद्ध सम और उज्वल बनाती हो। तुम इन्द्र की तरह अन्न या सोम का खान या पान करती हो। श० प० ब्रा० ७-४-१-३७ में इनको द्यावा पृथिवी समझ कर उलूखल को योनिः और मुसल को पूर्वार्द्धीय शिश्न कहा है। इन्हीं को उखा भी बताया है। उखा भी दो हैं, उत्तरोखा और अधरोखा।

अध्याय ११४

हविर्धाने

हविर्धाने भी दो का जोड़ा है 'यमे इव यतमाने' (ऋ० वे० १०-१३-२)। जिस प्रकार दर्शन के दो भाग हैं उसी प्रकार यज्ञ रूप दर्शन की दो हविर्धानियाँ हैं, एक को पूर्ववेदि दूसरे को उत्तरवेदि कहते हैं। प्रथम को पूर्वाङ् द्वितीय को पराङ् भी कहते हैं। प्रथम का नाम गायत्री द्वितीय का जगती भी है। गायत्री ब्रह्म देखें। इसके बारे में निम्न मन्त्र है

"आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः। इहाद्य सोमपीतये॥"

(ऋ० वे० २-४१-२१)

इन दोनों का मिलन बिन्दु उपस्थ या मध्यस्थान २५ वाँ तत्त्व रूप विषुव-द्रेखा है इनको दुहना कठिन है, यहाँ पर इसलिए यज्ञ कर्ता देवता सोमपान के लिए बैठ जावें। क्योंकि दोनों हविर्धानी के प्रस्तुत हो जाने पर ही देवता यज्ञ विकास सृष्टि क्रम चला सकेंगे, तब सोमपान या भौतिक शरीर प्राप्त कर सकेंगे। उक्त व्याख्या की पुष्टि में इसी सूक्त (ऋ० वे० २-४१-१९,२०) में लिखा है कि हम इन दोनों का आवाहन करते हैं तुम दोनों यज्ञ को सुचारु रूप से कल्याणकारी बनाते हो। अतः तुम दोनों आओ और साथ में हम हव्यवाड् अग्नि का भी आह्वान करते हैं। इन दोनों का नाम द्यावापृथिवी है इस बात की पुष्टि २० वीं ऋचा इस प्रकार करती है। हे द्यावापृथिवी रूप हविर्धाने इन स्वर्गीय यज्ञ साधनों को देवताओं को दे दो अर्थात् इस यज्ञ द्वारा सब देवता सोमपान कर लें या भौतिक दिव्यशरीर धारण कर सकें। वे दो मन्त्र ये हैं :—

"प्रेतां यज्ञस्य शम्भुवा युवमिदा वृणीमहे। अग्निं च हव्यवाहन ॥१९॥"

"द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम्॥"

ऋ० वे० १०-१३ में भी ठीक इसी प्रकार का वर्णन दिया है जैसे

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥१॥
यमे इव यतमाने यदैतं प्र वां भरन्मानुषा देवयन्त।
आ सीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः ॥२॥
पञ्चपदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सम्पुनामि ॥३॥
देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥४॥
सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम्।
उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यतः ॥५॥

इन मन्त्रों में इन्हें पञ्चपदी चतुष्पदी पथ्या, सप्तपदी बृहस्पति देवता मृत्यु और अमृत नामों से पुकारा गया है। ये पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध में इन सबके प्रतिनिधि हैं। इत्यादि। श० प० ब्रा० ३-४-३-२ में लिखा है कि "शिर एवास्य हविर्धानम् वैष्णवं देवतया" कि पुरुष का सिर ही हविर्धान है। पुरुष के दो सिर हैं 'द्वे शीर्षे सप्त हस्तांसो' देखें। प्रथम सिर ब्रह्म है द्वितीय सोम। इसीलिए सोम का नाम हवि लिखा है जैसे

"अथ यदस्मिन् सोमो भवति (हविर्धाने) हविर्वैदेवानांᳫंसोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम"
(३-४-३-२)

इस हवि को पुरुष सूक्त शरद् नाम से या चतुर्थ ऋतु के नाम से पुकारता है। अतः हवि नाम सोम का और शरद का ठीक है। इस प्रकार 'हविधाने' नाम वैष्णव सम्प्रदायिक पारिभाषिक शब्द है।

अध्याय ११८

पुरुषः यज्ञः

शतपथ के उक्त प्रपाठक में विष्णु को यज्ञ या हवन बतलाया है। और यहां पर आपाततः 'यज्ञः' की परिभाषा देते हुए लिखा है कि पुरुष का नाम यज्ञ है। पुरुष प्रत्येक तत्त्व है। जिस संख्या का तत्त्व है उतनी संख्या के पात्रों का प्रयोग किया जाता है। अतः इस प्रकार की यज्ञ की सामग्री की उपादेयता रखने वाला पुरुष भी यज्ञ ही कहलाता है। पुरुष या यज्ञ नाम इस प्रकार तत्त्व विकास क्रम हुआ जैसा कि विश्वकर्मा सूक्त में 'विश्वकर्मन् हविषा (सोमेन) वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।'' इत्यादि (ऋ० वे० १०-८१-६); 'उक्ष पितेव जारयायि यज्ञैः' (ऋ० वे० ६-१२-४) ऋचा यज्ञ शब्द के इस अर्थ का समर्थन करती है। अतः शतपथ इसी का स्पष्टीकरण देते हुए लिखता है "पुरुषो वै यज्ञः। पुरुष स्तेन यज्ञो। यदेनं पुरुषस्तनुत एष वै तायमानो यावानेव पुरुष स्तावान्विधीयते तस्मात्पुरुषो यज्ञः॥'' (३-५-३-१) इसीलिए पु० सूक्त लिखता है 'यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवाः', 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः' 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः' 'ततो विराडजायत (पुरुषः) विराजो (पुरुषात्) अधिपूरुषः' इत्यादि। पुरुष नाम तो जगत् या ब्रह्माण्ड का है, वह भी यजुर्वेद साफ लिखता है 'मा हिंसी पुरुषं जगत्' (१६-३ रुद्री ५-३) शेष पुरुष सूक्त के पुरुष, शीर्षक में देखें।

अध्याय ११६

पितरः

पहिले भी अङ्गिरस ऋषियों का सम्बन्ध पितरों से बतलाया गया है। पितर कई प्रकार के हैं जैसे 'पूर्वास' मध्यमा और परास उपरासः या अवर। पूर्वास पूर्वार्द्धीय हैं, उपरास या अवर उत्तरार्द्धीय है, और मध्यमा पितरों का नाम सोम्यासः भृगव अङ्गिरस इत्यादि हैं।

"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयु रवृका ऋतज्ञास्ते नो ऽवन्तु पितरो हवेषु ॥१॥
इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षुः ॥२॥"

(ऋ० वे० १०-१५-१,२)

जिन पितरों को पूर्वास कहते हैं उन्हें विष्णोः विक्रमण या त्रिपादामृत या 'आनपात्' भी कहते हैं। ये पूर्वार्द्ध के तीन सप्तकों के तत्त्वों के प्रतिनिधि ठहरते हैं। उत्तरार्द्धीय बर्हि या आसन्दी में स्थित होने के लिए पूर्वार्द्धीय पितरों से प्रार्थना की गई है कि वे इस उत्तरार्द्धीय बर्हिः में आवें और सुत पितु या अन्न और स्वधा (सोम) को धारण करें या सेवन करें जैसे

"आहं पितृन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥"

(ऋ० वे० १०-१५-३)

ये पितर क्रमशः दक्षिण भाग या (अरुणिनां मुपस्थे, गवामुपस्थे) आदित्यों के मध्य २५ वें तत्त्व से आगे २६, २७ वें इत्यादि तत्त्वों में विकसित होवें और पुत्रों का—अगली पीढ़ी या अग्रिम विकास तत्त्वों का स्वरूप धारण करें यह प्रार्थना निम्न ऋचाओं में है।

"आच्या जानुं दक्षिणतो निषद्येयं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ॥६॥"
आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥७॥

(ऋ० वे० १०-१५-६,७)

उक्त पुत्र और पितरों का सम्बन्ध श० प० ब्रा० ६-१-२-२६ में 'स एष पिता पुत्रः' वाक्य द्वारा तथा ६-१-२-१३ में "तेन पितरं पितामहं पुत्रं पौत्रमाचक्षते" लिखा है प्रथम सप्तक पिता द्यौ है द्वितीय पितामह तृतीय पुत्र और चतुर्थ सप्तक पौत्र कहलाता है। यजुर्वेद (२-३३) ने इसी बात को "आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषो सत् ॥" में पितरों से यह प्रार्थना की है कि तुम कुमार

रूप (रुद्ररूप) तथा आदित्य या पुष्करस्रज रूप को क्रमशः धारण करो जिससे सृष्टि पुरुष अपने सत् या भौतिकात्मा को धारण करने में समर्थ हो। अन्यत्र इस आत्मा को अभौतिक पूर्वार्द्धीय ब्रह्मो या पितरों का 'वस्त्र' कहा है जैसे "नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरो ......दत्त सतो व पितरो देष्मैतद्वः पितरो वास आधत्त ॥" (यजु० २-३२)और शतपथ के कथन की पुष्टि में यजुः का यह मन्त्र है

"पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः।
पुनन्तु मां प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥"
(यजुः १९ ३७)

और इस बात को अधिक स्पष्टता से कहने की रुचि से यह मन्त्र लिखा गया जिसमें पितरों के दो मुख्य भाग, पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय स्पष्ट उल्लिखित हैं जैसे—

"द्वे सृती अश्रृणवम्पितृणामहन्देवानामुत मर्त्यानाम्।
तावभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥"
(ऋ० वे० १०-८८-१५, यजुः १९-४७, तै० ब्रा० १-४-२-३; २-६-३-५; श० प० ब्रा० १४-९-१-४)

"द्वे समीची बिभृतश्चरन्तं शीर्षतो जातं मनसा विसृष्टम्।
स प्रत्यङ् विश्वा भुवनानि तस्थाव प्रयुच्छन्तरणिभ्राजमानः ॥"
(ऋ० वे० १०-८८-१६)

"यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद।
आशेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत् ॥"
(ऋ० वे० १०-८८-१७)

इन मन्त्रों में जो प्रायः सभी वेदों में प्राप्त हैं पूर्वार्द्धीय पितरों को 'देवा' या अमृता (त्रिपादामृता) आ अमर्त्या कहा है उत्तरार्द्धीय पितरों को मर्त्या या भौतिकात्मा स्वरूपी। पूर्वार्द्ध पिता है उत्तरार्द्ध माता जिन्हें दूसरे शब्दों में 'द्यावापृथिवी' भी कहते हैं। इनका मूलस्रोत शीर्ष तत्त्व है जिसको आदि कामब्रह्म (मनसा) से निसृष्ट किया है वही उत्तरार्द्ध में विश्वों या भुवनों या भौतिकात्माओं की भ्राजमान सृष्टि करता है। ये जो इतने रहस्यमय रहस्यपूर्ण दो भाग हैं जिन्हें अवर और पर नाम दिया है हम में से कौन जान या समझ सकता है? यह सिद्धान्त या विभाजन तो ऋषियों (सखायः) की परिषद् ने गम्भीर विचार करके निर्णित किया है? कौन इसको ठीक-ठीक समझा सकता है? यह तो यही मन्त्र कह रहा है। इस वर्णन का समर्थन निम्न ऋचा भी दे रही है जो कहती है कि जो सत्य पितर हैं वे इन्द्र देव के साथ सरथ होकर अग्नि स्वरूप में पूर्व और परे के पितरों के रूप में आवें जैसे

"ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथे दधानाः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥"
(ऋ० वे० १०-१५-१०)

ये अग्नि स्वरूप पितर 'अग्निष्वाता' और 'बर्हिषदः' भी कहलाते हैं जैसे

"अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि वर्हिष्यधा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥"

(ऋ० वे० १०-१५-११)

इन पितरों को यहाँ पर 'सदः सदः सदत' कहकर प्रत्येक सदः या सप्तक में आसीन होने की प्रार्थना की गई हैं। जातवेदा पितृरूप हैं, अतः उसी से प्रार्थना करता है कि जो पितर यहाँ है या जो नहीं है और जिन पितरों को हम जानते हैं या जिनको हम नहीं जानते उन सबको तुम जानते हो क्योंकि तुम स्वयं जातवेदा या स्वयं ज्ञान स्वरूप हो जैसे

"ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्र विद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥"

(१०-१५-१३)

अन्त में प्रार्थना की गई है कि जो पितर अग्नि रूप में प्रस्तुत हो गये हैं या जो नहीं हो पाये हैं पर तृतीय सप्तक में स्वधा युक्त हैं, उनको असुनीति द्वारा अपनी शक्ति के अनुरूप बल लगाकर शरीर धारण कराकर उनमें चेतना फूक दो जैसे

"ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभिः स्वरालसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥"

(ऋ० वे० १०-१५-१४)

ये पितर रस रूप सोम रूप मन्युरूप आदि हैं। इनका वर्णन 'नमो वः पितरो रसाय' इत्यादि मन्त्र स्पष्ट दे रहा है। अतः यह मार्ग रस ब्रह्म या शब्द ब्रह्म की व्याख्या की एक शाखा है जिसे पितृ विद्या शाखा कहना चाहिए (शेष अङ्गिरस ऋषियों के वर्णन में देखें)। इन पितरों को उस सृष्टि का कर्ता बतलाया है जो सृष्टि अहोरात्र रूप, आपोरूप और रात्रि रूप में वर्णित है जिसका व्यक्त स्वरूप या आदि भौतिक रूप यम है जो उन्हें अपने स्वरूप या भौतिकात्मा में वास देता है जैसे

"अपेत वीत वि च सर्पताताोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥"

(ऋ० वे० १०-१४-९)

यही यम पितरों का वस्त्र है, शरीर है। पितर आज्यपा और हविर्भुक् भी होते हैं, अन्न रूप तथा अन्नाद भी पितर होते हैं, पितरों का लोक चन्द्रलोक है, देव पितर पथ्यास्वस्ति वाले हैं, पितृ पितर पथ्यारेवति लोक वाले।

पितरों के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न लिखित स्पष्ट उद्गार मिलते हैं। प्रजापति ने देवता की उत्पत्ति सु (प्राणों) से करके अपने को पिता माना, और पितरों की सृष्टि की (तै० २-३-८-२)। अग्निमुख पितर पितृलोक जीवलोक जाते हैं (श० प० १३-८-४-६)। मनुष्य (चतुर्थ सप्तक) जागरति कहलाते हैं तो पितर सुप्त (श० प० १३-९-२-२) या शान्त। पितरों का भाग रात्रि या उत्तरार्द्ध है (श०

प० २-१-३-१)। पितर अपने अन्ध भाग तामसी रात्रि भाग से सूर्य की ज्योति (२५ वें) तत्त्व की ओर जाते हैं (श० प० १३-८-४-७)। मनुष्यों से पितर तिरछे हैं (विदिशा में रहते हैं दक्षिणपूर्व में) (श० प० २-४-२-२१)। अतः पितृलोक मनुष्य-लोक से अन्तर्हित है (तै० १-६-८-६)। पितृलोक अधोभाग या उत्तरार्द्ध में है (श० प० १४-६-१-१०) और आवान्तर दिशा में है (श० प० १०८-१-४०)। दक्षिण दिशा में पितरों का द्वार है (श० प० १३-८-१-५)। पितरों की वृद्धि दक्षिण दिशा में होती है; अतः पितृयज्ञ दक्षिणस्थ किया जाता है (जै० उ० २-७-२, कौ० ५-७, गो० उ० १-२५)। प्राचीनावीतिन् पितरः सव्य हैं (श० प० २-४-२-२)। पितृ पूजन मास में होता है (तै० १-४-९-१)। पितरों का लोक तृतीय है (तांड्य ९-८-५), उस तृतीय लोक का नाम अन्तरिक्ष (चतुर्थ, यहाँ पर) है (ए० ब्रा० ७-५)। जा अग्नि के दहन के साथ साथ स्वाद लेते हैं वे अग्निष्वाता पितर हैं (श० प० २-६-१-७) और जो अयज्वा गृहमेधिन् हैं वही अग्निष्वाता कहलाते हैं (तै० १-६-९-६)। अग्निष्वाता वे हैं जो अर्द्ध मास कहलाते हैं (तै० १-६-८-३)। बर्हिषद् पितर वे हैं जो पक्वान्न से दी गई हवियों से लोकों को जीतते हैं (श० प० २-६-१-७) और वे बर्हिषद पितर यज्वन पितर हैं (तै० १-६-९-६)। इनका समय पूरा मास होता है (तै० १-६-८-३)। बर्हिषद् पितरों के लिए धानों को आधा पीसते हैं आधा वैसे ही छोड़ देते हैं, ऐसे धानों को बर्हिषद् पितरों को चढ़ाते हैं (श० प० २-६-१-५)। जिन पितरों का यज्ञ सोम से किया जाता है उन्हें सोमपा पितर कहते हैं इन्हें सोमप्रयाजा पितर भी कहते हैं (श० प० २-६-१-७; २-६-१-४ तै० १-६-९-५)।

पितर चन्द्रमा के समान और मनः के समान हैं (तांड्य ६-९-१९,२०)। सोम पितृदेवत्य है, सोम ही पितृलोक है (श० प० ३-२-३-१७ कौ० १६-५)। पितृमान् सोम के लिए 'स्वाहा' का प्रयोग किया जाता है (श० २-३-१, श० प० २-६-१-४)। पितृमान् सोम तो वही संवत्सर ब्रह्म है (तै० १-६-८-२)। पितृलोक ओषधि लोक हैं (श० प० १३-८-१-२०)। पितरों की छह ऋतुयें होती हैं (श० प० ९-४-३-८); ऋतु ही पितर हैं (श० प० २-६-१-३२ तै० १-३-१०-५), इन्हीं का यज्ञ पितृयज्ञ है (तै० १-४-१०-८)। शरद् हेमन्त शिशिर मुख्यतः पितरों की ऋतुयें हैं (श० प० २-१-३-१)।

पितर प्रजा हैं, उनका राजा यम है (श० प० १३-४-३-६)। यम क्षत्र है, पितर विश् हैं (श० प० ७-१-१-४)। यम ही पितृलोक है (कौ० १६-८)। प्रजापति ने पितरों को निधन दिया, अतः वे निधन संस्थ कहलाते हैं (जै० उ० १-१२-२)। जो संग्राम में मारे गये उनके लिए पितृयज्ञ होता है (श० प० २-६-१-१)। अपक्षीय-मारण पक्ष (उत्तरार्द्ध) ही पितरों का है (श० प० २-१-३-१ कौ० ५-६)। पितरों के लिए अपराह्न काल है (श० प० २-१-३-१)। चन्द्रमा के लिए देवता पूर्वाह्न में, मनुष्य मध्यन्दिन में, पितर अपराह्न में हवि देते हैं (श० प० १-६-३-१२)। पितरों का भाग अन्तिम (उत्तरार्द्ध) है (कौ० १६-८)। यदि नहीं खाता तो पितृदेवत्य होता है (श० प० ११-१-७-२)। पितर मर्त्य हैं (श० प० २-१-३-४)। पितृदेवत्यों

में कुआँ खाई, नीवि आते हैं (श० प० ३-६-१-१३; २-४-२-२४)। पितरों के लिए श्वेताक्षी रोहिणी गौ का आलभन करते हैं (श० प० ३-३-१-१४) । पितरों का नक्षत्र मघा है (तै० १-५-१-२) । पितर प्रजापति हैं (गो० उ० ६-१५) । पितर गृह की इच्छा करते हैं (श० प० २-४-२-२४) । पितर सर्वतः व्याप्त हैं(श० प० २-६-१-११) । पितर पराञ्च (उत्तरार्द्ध हैं (कौ० ५-६) । पितर ह्रीका, हरणभाग उष्मभाग है (तै० १-३-१०-६,७) । पितर देवता ही हैं (कौ० ५-६, गो० उ० १-२४) । पितर स्विष्टकृत् हैं, तीन प्रकार के हैं (गो० उ० १-२५; श० प० ५-५-४-२८) । अयास्य अङ्गिरस पितरों को व्यान से पितृलोक पहुचाते हैं (जै० उ० २-८-३) । पितरों की अग्नि का नाम कव्यवाहन है (श० प० २-६-१-३०) । प्रजा की इच्छा हो तो पितृ ऋण चुका दे (श० प० १-७-२-४) । पितरों को स्वधा शब्द से बुलाया जाता है। स्वधा पितरों का अन्त है (तै० १-६-९-५, श० प० १३-८-१-४) । पितृ लोक कर्म से जीता जाता है (१४-४-३-२४) । वाणी और मनः ही युवा पितर हैं (श० प० ८-६-३-२२) इत्यादि

इन सब श्रुतियों का सार यह है कि पितरों की दिशा नैर्ऋत्य दिशा में है। यह लोक या स्थान चतुर्थ सप्तक के अन्त में पड़ता है, पितर चन्द्रमा स्वरूप या भौतिकात्मा रूप हैं जिसे भौतिक मनः भी कहते हैं । इनका लोक दक्षिणायन है, मर्त्य लोक है जहाँ से प्रेत होकर ये उत्तरार्द्ध की ओर यम की गातु या पथ्यास्वस्ति के द्वारा जाते हैं । प्राणरूप पितरों को अश्रु या अश्व या असु पितर भी कहते हैं, ये भी भौतिकात्मीय चान्द्रमस प्राण हैं। इनकी ऋतु शरद् है। शरद् ऋतु का नाम हविः या सोम है 'शरद्धविः' 'सोमो वै देवानां हविः' । इसीलिए शरद् ऋतु में पितरों का पार्वण या मध्य पर्व वाले मध्यम पितरों का श्राद्ध किया जाता है । यही पितृ लोक भी है, पितर षड्ऋतु वाले हैं। नान्दी मुख पितर चान्द्रमस वृषभ रूप पितरों का नाम है। ये मनः रूप पितर है जिनका ध्यान मात्र किया जाता है जिनका पूजन उत्सवों में भी होता है जैसे यज्ञोपवीत विवाह ग्रहयाग आदि। इनको वाक् रूप पितर कहते हैं। वाक् ही वृषभ या नान्दी है, प्राण रूप पितर श्रोत्र या वायु रूप पितर या असु रूप पितर हैं; मनः रूप पितर सोमपा कहलाते हैं । जो प्राण रूप है, जो वाक् रूप है वही अग्नि रूप भी है, तर्पण प्राण रूप पितरों को दिया जाता है अन्न माने वाक् है ।

———

अध्याय ११७

स्वधा

'स्वधा' शब्द वेदों में अनेक मन्त्रों और स्थलों में प्रयुक्त हुआ है। यास्क सायणादि भारतीयों तथा अनेक पाश्चात्यों (मैक्समूलर, पीटरसन, वेन्फे, रोथ, ल्यूडेर ग्रीफिथ आदि) ने इस शब्द के अर्थ को भाषाविज्ञान के सहारे 'परिपाटी, नियम, स्थान, घर, सुख और आनन्द' इत्यादि रूपों में वर्णित और अनूदित किया है। आजकल के हमारे भारतीय विद्वान् 'स्वधा' माने 'पितरों को पिण्ड या हवि तर्पणाञ्जलि देना, अपना 'माया का रूपक' या एक परी समझते हैं। जहाँ पाश्चात्यों के अर्थ का आधार ग्रीक शब्द "εθos जर्मन Sihe, प्राचीन उच्च जर्मन Sit-u, और गॉथिक Sid-u है तो भारतियों का अपने कर्मकाण्ड के अभिनय में प्रयुक्त पितरों को देय वस्तु। प्रायः दोनों के आधार एक से हैं। जिन पाश्चात्य शब्दों को पाश्चात्यों ने स्वधा के लिए समझा है उनमें उनका भारी भ्रम है। उनके ग्रीक आदि शब्दों के "εθos आदि के समानान्तर शब्द संस्कृत में 'सिद्ध' शब्द है जिससे 'सीधा' (खाने का सामान या दानीय अन्न) शब्द निकला है। यह शब्द और अर्थ दोनों देशों के विद्वानों की भावना को समानान्तर रेखा में रख देता है। पर इन दोनों प्रकार के अर्थों में वैदिक 'स्वधा' शब्द की ठीक ठीक व्याख्या न तो हो सकती है न वास्तव में ऐसा है ही।

पहिले वेदों में स्वधा शब्द के प्रयोग वाले मन्त्रों और वाक्यों को देख लिया जाय।

(१) यस्य त्रीपूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। (ऋ० वे० १-१५४-४)

(२) उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्। (ऋ० वे० १०-१४-७)

(३) अनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्। (ऋ० वे० ४-३३-६)

(४) उषो अनु स्वधामव। (ऋ० वे० ४-५२-६)

(५) कया याति स्वधया। (ऋ० वे० ४-१३-५)

(६) कया नो अग्ने वि वस सुवृक्ति कामु स्वधामृणवः शस्यमानः। (ऋ० वे० ७-८-३)

(७) क स्या वो मरुतः स्वधासीत्। (ऋ० वे० १-१६५-६)

(८) स्वधां च यत्र तृप्तिश्च। (ऋ० वे० ९-११३-१०)

(९) स्वधामनु। (ऋ० वे० १-१६५-५)

(१०) परि दैवी रनु स्वधा इन्द्रेण याहि सरथम्। (ऋ० वे० ९-१०३-५)

(११) परिज्मेव स्वधा गयो अत्यो न ह्वर्य शिशुः। (ऋ० वे० ६-२-८)

(१२) यदि मे रणणः सुत उक्थेना दधषेचनः आरादुप स्वधा गहि।
(ऋ० वे० ८-३२-६)

(१३) रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधाअवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।
(ऋ० वे० १०-१२९-५)

(१४) दधाति रत्नं स्वधयो रपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः।
(ऋ० वे० ९-८६-१०)

(१५) यदिन्द्राग्नी उदिता सूर्यस्य मध्ये दिवः स्वधया मादयेथे।
(ऋ० वे० १-१०८-१२)

(१६) दैव्या होतारा प्रथमान्यञ्जे सप्त पृक्षास स्वधया मदन्ति।
(ऋ० वे० ३-४-७)

(१७) तां चिरेषां स्वधया मदन्तं मिहो नपातं सुवृधं तमो गाम्।
(ऋ० वे० ५-३२-४)

(१८) शतपवित्रा विधया मदन्तोर्देवी देवानामपि यन्ति पाथः।
(ऋ० वे० ७-४७-३)

(१९) त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्य।
(ऋ० वे० १०-१५-१३)

(२०) ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
(ऋ० वे० १०-१५-१)

(२१) मातली कव्यै........ । माँ च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये मदन्ति॥
(ऋ० वे० १०-१४-३)

वर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तुइहागमिष्ठा। (१०-१५-३)

पूर्वोक्त सभी व्याख्याताओं की व्याख्या में जो महान् त्रुटि आई है उसका मुख्य कारण इन लोगों का वेदों के अर्थ करने में वैदिक अर्थ खोजने के स्थान में लौकिक या लौकिक संस्कृत के शब्दों के अनुसार ही वैदिक शब्दों के अर्थ करने का प्रयास है। वैदिक शब्द अधिकांश में, जैसे स्वधा पितर सूर्य आदि हैं सब पारिभाषिक हैं। इनका अर्थ लौकिक संस्कृत में या लोक में या सामान्य व्यवहार में अलग व्यावहारिक या लौकिक भी है जो उनके पारिभाषिक अर्थ से नितान्त भिन्न हैं। अतः लौकिक या व्यावहारिक अर्थ द्वारा वैदिकों की वैदिक भावना की प्रतिष्ठा कदापि हो ही नहीं सकती। इसी कारण एक ही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ करके भी लोगों ने सन्तोषकनक भाव की अभिव्यक्ति नहीं कर सकी।

स्वधा शब्द का सीधा सादा अर्थ यह है। वेदों में 'सु' या 'स्व' नाम प्राणों का है यह 'सु असु सुर असुर' आदि शीर्षक में बतलाया जा चुका है। जो 'स्व' या स्वात् अर्थात् प्राणा या प्राणों को धारण करता है उसे 'स्वधा' कहते हैं। प्रायः पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की शक्ति का नाम स्वधा है। उन तत्त्वों में भौतिकात्मा का भी विकास नहीं हुआ है। वे भौतिक तत्त्व रूप शरीर दिव्यशरीर, अश्व या वृषभ आदि में सवार या प्रविष्ठ भी नहीं हुए हैं। वे २४ सों तत्त्व स्वयं या शक्ति के रूप में या स्वधा रूप में या प्राण रूप में अपने को धारण करते हैं, अतः उन्हें 'स्वधा' कहते हैं। यह स्वधा स्वरूप आनन्द स्वरूप है। इनमें आध्यात्मिक आत्माओं की सर्वदिग् गामी वैद्युतीय हलचल रहती है (प्राक् प्रत्यक् उत्तरदक्षिण वायव्याग्नेय ईशान नैर्ऋत्य ऊर्ध्वाधः)। इसी गतिमान् हलचल का नाम व्यापक, गुदगुदी या आनन्द है। अतः प्रायः 'स्वधया मदन्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका सीधा अर्थ है जो उक्त प्रकार की गतिविधि की आनन्दमयी लहरियों में मस्त या मौजी या आनन्दमय प्राण रूप में रहते हैं। इसी भाव को ऋ० वे० १०-१२९-५ की पूर्वोद्धृत (सं० १२) ऋचा बतलाती हुई कहती है कि वे तत्त्व रेतोधा या गर्भ या वीज धारण करने में समर्थ तत्त्व थे, महिमा वाले महतोमहियान् रूप में व्याप्त तत्त्व थे और वे अपने उस व्याप्तिमय, हलचलमय प्राण या गुदगुदी वाले प्राण केवल अवस्तात् या पूर्वार्द्ध तक ही रहते हैं और उत्तरार्द्ध या परस्तात् में वे प्रयतिः या प्रयोगमय शरीरी हो जाते हैं। परस्तात् नाम मध्यविन्दु से परे के भाग को बतलाने वाला सुप्रसिद्ध मन्त्र यह है 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं परस्तात् विसीमतः' इत्यादि (विसीमतः मध्यतः सीमातः परस्तात् अधोभागे उत्तरार्द्धे) इसीलिए स्वधा को सं० १५ और सं० २० में 'मध्ये दिवः' या दिव के दोत्रिक सप्तकों के मध्य में या दर्नन के मध्य में बतलाया गया है। उत्तरार्द्ध के तत्त्वों को भी स्वधा नाम से इसलिए पुकारते हैं कि वे भी प्राण रूप प्रथम भौतिक अणु या भौतिकात्मा में पूर्वार्द्धीय आध्यात्मिक प्राणों को या स्वधा प्राणों को एक में विलीयमान होकर से धारण करते हैं। ऐसे उत्तरार्द्धीय स्वधा को विश्वेदेव पितर कहते हैं। तात्पर्य यह कि ४८ वें तत्त्व तक सब तत्त्व स्वधा है पूर्वार्द्धीय दैवी स्वधा है और उत्तरार्द्धीय भौतिक और आसुरी दोनों, इतना ही भेद है।

'स्वधा' शब्द का प्रयोग मुख्यतः पितरों के लिए किया गया है और किया भी जाता है बृहदारण्यक ने स्पष्ट लिखा है। "वाचं धेनुमुपसीत तस्या चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषड्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषड्कारं च। हन्तकारं मनुष्याः (चतुर्थ सप्तक) स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राणा ऋषभो मनो वत्सः॥" (२-५-८) वैदिक दर्शन के तत्त्वों की व्याख्या में जब वाग्ब्रह्म को गौः कहा जाता है तो उसके विकास की पद्धतियों को चार स्तन रूप चार सरणियों में बाँटा गया है। जब देव रूप में विकास परम्परा वर्णित की जाती है तो प्रत्येक तत्त्व स्वाहा या वषड् है जब मनुष्य या नर या पुरुष रूप में करते तब सब तत्त्व स्वधा कहलाते हैं। ऋषि या महर्षि नामक तत्त्व इनके ऋषभ या गौः (पुंलिङ्ग पति) है मनः (चक्षु-सूर्य) वत्स या पुत्र है। इसी

बात का समर्थन सं० २१ की ऋचा करती है कि देवता स्वाहा से आनन्द करते हैं, अन्य पितर स्वधा से। पुरुष सूक्त में इसीलिए उसे 'सर्वहुतः' या 'स्वाहा' कहा है। 'स्वाहा' की व्याख्या 'सु असु' आदि शीर्षक में दी जा चुकी है। पितर मुख्यतः दो प्रकार के हैं स्वधावाचनीय, पूर्वार्द्धीय और विश्वेदेव स्वधावाचनीय उत्तरार्द्धीय। क्योंकि विश्वेदेव पितर भौतिकात्मा युक्त हैं, पर पूर्वार्द्ध के सब पितरों को सम्मिलित रखता है। अतः उसके पूजन में त्रिपुरुषी का आह्वान करके उसे भस्म रेखा द्वारा पृथक् रखा जाता है। क्योंकि वह भौतिकता रूप के पितर शूद्र शरीरी है। भस्मरेखा द्वारा भस्मशरीर का पार्थक्य दिखाने की रीति इनके भेद का चिह्न है। इन पितरों का वर्णन पुनः दो मुख्य रूपों में किया जाता है (१) अग्नि रूप (जातवेदा, या वैश्वानर) और आपो रूप। अग्नि रूप पितरों को अग्नि जिह्वा या अग्निष्वाता पितर कहते हैं या ये अग्निदग्धा भी कहलाते हैं 'पितर शीर्षक' मन्त्र २० और १५ देखें। जिन्हें आपो रूप पितर कहते हैं उनका स्वरूप रसमय समझा जाता है। जैसा कि १४, १५ के मन्त्र से स्वयं स्पष्ट है। जिसका समर्थन सं० १८ मन्त्र भी कर रहा है। इसीलिए पितरों को जलाञ्जलि या तिलाञ्जलि से तर्पण दिया जाता है। क्योंकि वे आपोरूप हैं, अतः जलरूप स्वधा से तृप्त होते हैं ऐसा मानने की प्रथा चलाई गई। वास्तव में यह तर्पण या जलरूप पितरों का अभिनय है। श्राद्ध में जब अपने पितृब्रह्मों का पूजन तर्पण करना होता है तो जनेऊ दक्षिण या अपसव्य किया जाता है पर जब विश्वेदेव का पूजन होता है तो जनेऊ सव्य या वाम किया जाता है। इसका रहस्य यह है पूर्वार्द्धीय विश्वेदेवता वाम वा सव्य है (अस्य वामस्य पलितस्य)। पितर तो उत्तरार्द्धीय भौतिक हैं दक्षिण भागी हैं, अतः जनेऊ दक्षिण दिया जाता है। अग्निरूप पितर विश्वेदेव में या अन्नरूप सोम में परिणत होते हैं। पिण्डदान विश्वेदेव ही के लिए होता है। वह अन्न नामक सोम का प्रतिनिधि है, अतः व्यावहारिक अन्न या पिण्ड या भोजनादिक दान द्वारा सोमीय विश्वेदेव पितर का अभिनय किया जाता है। तर्पण में भी व्यावहारिक या लौकिक जल द्वारा अभिनय किया जाता है जिन दोनों अभिनयों के अन्तस्तल में पितृविषयक आपोरूप वैद्युतीय पितरों विश्वेदेव (पूर्वार्द्ध से) विकसित तथा सोमरूप अन्नमय पितरों का वैदिक दर्शन गूढतया पिहित है। ये व्यावहारिक प्रथायें हिरण्मय पात्र हैं जिनके द्वारा उक्त वैदिक दर्शन के सत्य का मुख पिहित या आवृत है।

सं० १ में स्वधा को 'त्री पदानि' का वासी बतलाया है। त्री पदानि त्रिपादा या गायत्री ब्रह्म के २४ तत्त्व पूर्वार्द्ध के स्वयं आते हैं। इसी पूर्वार्द्ध के अन्त में वरुण है, उत्तरार्द्ध में यम। अतः दोनों को स्वधा से 'मदन्ति' कहा है। उत्तरार्द्ध में सोमीय स्वधा है जिन्हें सोमपा पितर कहते हैं, पूर्वार्द्ध के अग्निपा या अग्निष्वाता। तृतीय मन्त्र में ऋभुओं को स्वधा के मार्ग में (पूर्वार्द्ध में) जाने की बात कही है। इसका खुलासा ऋ० वे० ४-३७-१ में 'उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा देवा यात पथिभिर्देवयानैः' वाक्य करता है जिसमें ऋभुओं को देवयान या त्रिपादामृत से जाने के लिए पितरों की तरह प्रार्थना की गई है। चौथे पाचवें छठे सातवें में 'किस स्वधा से

जाता है' आदि वाक्य स्वधा का भेद पूछते हैं। यही बात ८ वें नवें में है। दशम में स्वधा को दैवी और भौतिकी दो प्रकार का बतलाया है। बारहवें और ग्यारहवें में स्वधा को सुत और शिशु नाम से पुकार कर इसे सोमीय या भौतिक स्वधा होने का स्पष्ट संकेत दे रखा है। तेरहवें में स्वधा शब्द पूर्वार्द्धीय दैवी स्वधा का सूचक है। चौदहवें में स्वधा को इन्द्रियः रस नाम से पुकार कर इसे रसमय सोमीय या भौतिक स्वधा बतलाया है। पन्द्रहवें में स्वधा को दिव नामक तृतीय सप्तक में स्थित बता कर, सूर्योदय को दर्शन के मध्य स्थान में लाने वाली कहा है। सोलहवें में सप्त प्रक्षास सप्त अङ्गिरस ऋषियों के शरीर का सूचक होने से स्वधा उत्तरार्द्धीय अपने आप हो जाती है। सत्रहवें की स्वधा मिहोनपात् पूषा की सूचक होने से उत्तरार्द्ध के आरम्भ को तमोमय भौतिकता के आभास वाली स्वधा है। अट्ठारहवें में तो उसे दैवी स्वधा नाम से पुकार कर उसे निश्चयपूर्वक पूर्वार्द्ध की स्वधा बतला दिया है। उन्नीसवें की स्वधा जातवेदाग्नि रूप तृतीय सप्तक की है। बीसवें की पन्द्रहवें के समान दिवः या तृतीय सप्तक की है। दोनों में स्थान वाची शब्द दिवः है। इक्कीसवें में देवताओं को स्वाहावाची और पितरों को स्वधावाची बतलाया है।

ऐसी परिस्थिति में जिन लोगों ने 'स्वधा' शब्द को ग्रीक "εθos या जर्मन Sitte. आदि का गलत रूप से समानाधिकरण समझा है वह कितना संगत है आप ही विचार करें। उक्त ग्रीक जर्मन आदि शब्द का समानाधिकरण संस्कृत शब्द तो 'सिद्धम्' है जो प्रायः मिलते जुलते हैं, 'स्वधा, से ये शब्द तनिक भी तो नहीं मिलते ? एक बात। दूसरी बात यह है कि स्वधा शब्द के उक्त पारिभाषिक अर्थ या रहस्य को न जान कर रोथ ने इसका अर्थ पारपाटी नियम परिचित स्थान, घर; साधारण परिस्थिति, आराम सकुशलता, और सन्तोष; साधारण रूप से (स्वधामनु, अनु-स्वधाम्) इच्छानुसार, निर्बाध स्वधया, साधारण रूप से सन्तोषपूर्वक, आराम से, इच्छानुकूल, स्वभावभिप्रेरित; सुधा मीठा, पेय, तर्पण, दिया है। ये सब अर्थ अट-कलपच्चू हैं। प्राचीन ग्रन्थों ने वैदिक अर्थ को न समझते हुए भी पुरानी लकीर के फकीर बनकर भी यह महान् उपकार किया है कि उन्होंने वैदिक शब्द स्वधा का ठीक ठीक पर्याय वाची लौकिक अर्थ तो दे दिया है जैसे—निघण्टु १-१२ में स्वधा नाम 'उदक' (जल) का है, निरुक्तकार यास्क ने ७-२५ में स्वधा माने 'अन्न' दिया है; सायण ने भी इन्हीं अर्थों की प्रतिष्ठा की है। इन दोनों अर्थों (जल) उदक और अन्न में वैदिक रहस्य की प्रतिष्ठा की पूरी शक्ति है। अतः यही अर्थ इस शब्द के उचित हैं जिनका विवरण पहिले दे दिया गया है। 'स्वधा' शब्द का अर्थ 'स्थान नियम परिपाटी सन्तोषादि' कुछ नही है, सब धोखा है। हां स्वधा के दो स्वरूप हैं उनके स्थान हैं, कहीं-कहीं इसीलिए स्वधा का अर्थ स्थानापेक्षा अवश्य रखता है जैसे मंत्र ५, ६, ७, इत्यादि में पर यहां भी स्वधा का अर्थ स्थान आदि नही है। इतना अवश्य है 'स्वधा' माने 'आनन्द मय' 'रसमय' ब्रह्म होता है तो वह बात ही दूसरी है। ऐसे अर्थ वाले स्थलों में इन्द्राग्नी पितर आदि सब तत्व या देवता, रसमय आनन्दमय ज्ञानमय प्रकाशमय (बुद्धि मन) मौलिक तत्वों का विवेचन

देते हैं; वहाँ हँसी खुशी मौज मस्ती आदि लौकिकार्थ के लिए कोई अवसर है ही नहीं।

अन्त में एक बात कहे बिना नहीं रहा जाता। थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि ग्रीकजर्मन ε0os, sitte आदि शब्द संस्कृत के 'स्वधा' के समानाधिकरण हैं, पर भाषा तत्त्व का विद्यार्थी जानता है कि समानाधिकरण तो समकालीन भाषाओं में ढूढ़ना चाहिए। ग्रीक जर्मन आदि शब्द तो तब लिखे गये जब वेदों को बने हजारों वर्ष बीत चुके थे। दूसरी बात यह है कि एक ही शब्द स्थान स्थान पर अपने अर्थ का रंग बदलता रहता है। ग्रीक आदि के पास वेद तो हैं नहीं तब क्या निश्चायक है कि जो अर्थ ग्रीक ε0os आदि का ग्रीक में है वही उसके समानाधिकरण वैदिक स्वधा का होवे। हमारी और उनकी विचार धाराओं तथा संस्कृतियों में आकाश पाताल का अन्तर है; वही शब्दार्थों में भी होगा। ग्रीक आदि की तुलना अधिक से अधिक लौकिक संस्कृत के 'सिद्ध' शब्द से ही की जानी चाहिए। एक और बात है १९ संख्या तक के 'स्वधया मदन्ति' और २०,२१ वें के 'स्वधया मदन्ति' में पीटरसन महाशय को बड़ा अन्तर प्रतीत होता है, प्रथम को वे तृतीयायुक्त क्रिया विशेषण कहते हैं, द्वितीय को 'संज्ञा' जिसका अर्थ वे 'तर्पण का पानी' समझे हैं अतः उनको अपने अर्थ से उक्त दोनों प्रकार की ऋचाओं के निर्माण में बहुत बड़े भारी समय की खाँई बीच में दिखाई दी है क्योंकि दूसरा शब्द दशम मण्डल में है। दोनों स्थानों में एक ही अर्थ है, और दशम मण्डल वाला तो अधिक स्पष्ट दार्शनिक विवेचन दे रहा है, यह पहिले बृहदारण्यक के उदाहरण और उद्धृत उल्लेख सहित लिखा जा चुका है।

अध्याय ११८

असुनीतिः

अभी अभी पितरों के वर्णन में 'असुनीति' की चर्चा आई थी। 'असुनीति' वह तत्त्व है जिससे भौतिक शरीर में ब्राह्म चैतन्य का तादात्म्य हो जाता है। इस चैतन्य को आजकल के दार्शनिक लोग अभौतिक तत्त्वों में समझते हैं। अभौतिक पूर्वार्द्धीय आत्मारूप तत्त्व एवं स्वाहा रूप स्वयं प्राण रूप या चैतन्य रूप हैं। उनमें चैतन्य नहीं वरन् उनका स्वरूप ही चैतन्यमय चिन्मय या स्वाहा रूप स्वानन्द रूप है। ब्रह्म की इस चैतन्यता का नाम इसीलिए वैदिकों ने असद् या मृत्यु नाम दे रखा है और लौकिक चैतन्यता के प्रारम्भ करने वालों को मित्र वरुण या अग्नि (वैश्वानर) नाम से पुकारा है। जिन तत्त्वों से भौतिकात्मा का विकास होता है (वरुण मित्र और वैदिक नासन्नोसद्वाद देखें) असुनीति उक्त तीनों का एक सम्मिश्रित सा नाम है। व्यवहार में जिसे चेतनता या चैतन्य नाम से पुकारा जाता है वह तो केवल भौतिक शरीर से सम्बन्ध रखता है; भौतिक शरीर में भी भौतिकात्मा से सम्बन्ध रखता है। चेतनाचेतन भेद भौतिकों का है। इस भौतिकता की चैतन्यता का अभ्युदय भौतिकता के उदय के साथ साथ ही होता है। जब एक ओर से भौतिकात्मा के स्वरूप का उदय होता है तो साथ ही साथ 'असुनीति' उनमें असु भी फूक देती है। नहीं नहीं यही असुनीति ही प्राणों के विकास की पद्धति है, प्राणों ही से भौतिकात्मा का उदय होता है। जो तत्त्व प्राणों से उत्पन्न होता है वह प्राणवान् चैतन्यमय न हो, यह हो नहीं सकता। विकास के ह्रास में भौतिकात्मा केवल प्राण रूप में रह जाता है या असुरूप में परिवर्तित हो जाता है यह निम्न ऋचा में स्पष्ट दिया हुआ है

> "उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
> असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नो ऽवन्तु पितरो हवेषु ॥"
>
> (ऋ० वे० १०-१५-१)

कि वे पितर जो असु रूप या प्राण रूप में परिणत हो चुके हैं, जिन्होंने भौतिकात्मा के खोल को छोड़ दिया है या 'अवृकाः' हो गये हैं, (वृक नाम चन्द्र या सोम या भौतिकात्मा का है उससे जो हीन हो गये हैं) वे पिता हमारी रक्षा करें। इस असुनीति नामक महत्त्वपूर्ण तत्त्व का वर्णन निम्न रीति से ऋ० वे० ने स्वयं दिया है

> "असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः ।
> रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्द्धयस्व ॥
> असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राण मिह नो धेहि भोगम् ।
> ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृलया नः स्वस्ति ॥

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः ॥"

(ऋ० वे० १०-५९-५,६,७)

हे असुनीते ! हमें सदा जीवित रखने और रहने के लिए हम में सदा कामना धारण किये रखो ! हमारी आयु को दीर्घ काल तक पार लगाओ। हमें सूर्य रूप कामब्रह्म की चक्षु रूप भौतिकात्मा में सदा सम्पन्न रखो, तथा उस भौतिकात्मा के शरीर को अपनी प्राणात्मता से नित्य परिवर्द्धित और सुरक्षित रखो। हे असुनीते हमें वारम्बार सूर्यरूप चक्षु की भौतिकात्मा, अपनी प्राणरूप प्रतिमा, तथा उन दोनों के भोग का भागी बनाओ जिससे हम सदा ही अपनी देहात्मा (सूर्य) को देदीप्यमान स्वरूप में उगते हुए देखते रहें, तथा तदनुकूल परिस्थिति के लिए हमें सदा कल्याणकारी मार्ग में रखने की कृपा करो (मृळय)। हमें पृथिवी पुनः पुनः प्राणों को देती रहे, द्यौ देवी तथा अन्तरिक्ष हमें सदा प्राणों को देते रहे। और सोम हमें सदा दिव्य शरीर (भौतिकात्मा) को वारम्बार देता रहे, तथा पूषा हमें सदा ऐसे कल्याणकारी पथ्या में रखे जहाँ सदा मंगल कामनायें पूरी होती रहें। पथ्या नाम उत्तरार्द्ध के तत्त्वों की विकास परम्परा का है। आगे 'पथ्या स्वस्ति' शीर्षक देखें। यहाँ पर एक वाक्य परम महत्त्व पूर्ण हैं 'सोमस्तन्वं ददातु' कि 'सोम हमें तनु या शरीर दे'। इस वाक्य से स्पष्ट है कि सोम का सम्बन्ध सीधे भौतिक दिव्य शरीर से है, वही सत् या भौतिकात्मा है। असुनीति का अर्थ 'असून् प्राणाम् नयतीति' व्युत्पत्ति से वह तत्त्व है जो प्राणों को दिव्य शरीरादि में ले जाता है और उसमें सुरक्षित सन्निहित तथा प्रतिष्ठित रख सकती या रखती है।

अध्याय ११६

मृत्युः

मृत्यु नामक तत्त्व की व्याख्या* श० प० ब्रा० ने १०-४-३ और १०-४-४ पूरे दो प्रपाठकों में दे रखी है। यहाँ पर मृत्यु नाम संवत्सरब्रह्म का बताया गया है।

१—मृत्यु क्या है ?

यह संवत्सर ब्रह्म रूप मृत्यु अहोरात्रों से आयु क्षीण करता है जिससे मृत्यु होती है, यही अन्तक है। इसके विपरीत युद्ध के लिये अग्निश्चयन करके विद्या प्राप्ति द्वारा अमृतत्त्व प्राप्त करके मृत्यु पर विजय पाई गई। ऐसा न करने से यह तो प्रजापति को भी मार देता है उसको भी हजारों वर्ष तप करना पड़ा। भाव यह है कि वैदिकों का 'मृत्यु' शब्द पारिभाषिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण सम्पन्न होने से अत्यन्त दार्शनिक भी है। सृष्टि के आरम्भ ही से दो शक्तियाँ साथ साथ चलती हैं। एक दैवी है दूसरी आसुरी। इनमें आसुरी या असुर ज्येष्ठ हैं, दैवी या देव कनिष्ठ। प्रथम विकास आसुरी और असुर का होता है, उसी में दैवी या देवताओं की सम्पदा का विकास किया जाता या होता है। इस प्रकार दैवी शक्ति का स्फुरण असुर आसुरी शक्ति का नाश कर देता है। असुर और आसुरी शक्ति के इस नाश दबोचने और पराजित होने का नाम मृत्यु है। इसका इस प्रकार का स्पष्ट वर्णन बृहदारण्यक ने प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में आदि से १६ तक (१ से १६ तक) भागों में किया है जिसका आशय इस प्रकार दे दिया जाता है। कथा का आरम्भ द्वितीय ब्राह्मण के अन्तिम भाग ७ से किया गया है। 'श्व' नाम अश्व या प्राणों का है जिसे यशः भी कहते हैं उसे मेध्य या दैवी बनाने की चेष्टा में अश्वमेध दोनों का एकत्व किया गया। मेध्याश्व दैवी प्राण हैं इनका शरीर असुर या मृत्यु है, इस प्रकार दैवी आसुरी एकदेवत्य हैं एकात्मीय हैं ॥७॥ आसुरी सम्पदा ज्येष्ठ और दैवी कनिष्ठ है, वाणी का आसुरी रूप 'अप्रतिरूप कथन' है, प्राणों का आसुरी रूप अप्रतिरूप जिघ्रण (सूँघना) है, चक्षु का आसुरी रूप अप्रतिरूप दर्शन है, श्रोत्र का आसुरी रूप अप्रतिरूप श्रवण है; मन का आसुरी रूप अप्रतिरूप संकल्प है। इन सबमें कल्याणकारी-वाणी, प्राण दर्शन श्रवण संकल्प इत्यादि दैवी रूप हैं। आसुरी रूपों का नाम पाप्मा द्विषन् और भ्रातृव्य है; इनका हनन, दमन, शमन, आदि ही मृत्यु है। इनकी मृत्यु के पश्चात् ही दैवी सम्पदा दीप्त प्रकाशित प्रगट होती और प्रभाव दिखलाती है। ऐसी सम्पदा

---

* गो० पू० ने लिखा है कि जो समुद्र से छूटा उसे मुच्यु कहते कहते मृत्यु कहने लगे जैसे "स समुद्रादमुच्यत स मुच्यु रभवत्तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते परोक्षेण"……'मृत्युदेवायः' (बृह० उप० १-१-६) अन्य ग्रन्थों में 'अशनयया मृत्युः' (त० ३-९-१५-१,२) 'मृत्युर्वै तमः' (ऐ० ब्रा० ७-१२ श० प० १४-४-१-३२) 'आदित्यो मृत्युः' (श० प० १०-५-२-३) आदि लिखा है।

वाली प्राणों को 'दूः' नाम से पुकारते हैं, क्योंकि मृत्यु इनसे दूर है। वाणी की मृत्यु (आसुरी शक्ति) को मार कर अग्नि उत्पन्न होती है; प्राणों की मृत्यु को मार कर वायु उत्पन्न होती है; चक्षु की मृत्यु को मार कर आदित्य (सूर्यः चक्षुः) दर्शन शक्ति उत्पन्न होती है, श्रोत्र की मृत्यु को मार कर दिशायें, तथा मन की मृत्यु को मार कर चन्द्रमा (सोम भौतिकात्मा) का उदय होता है जो स्वयं प्रकाशमान् और प्रकाशित है। भौतिकात्मा भी दैवी सम्पदा है, अमृत है। आसुरी सम्पदा मर्त्य मृत्यु है। सारी स्थूल भौतिक सृष्टि आसुरी है, यह वृत्र वर्णन में बतलाया जा चुका है। अतः यह अखिल ब्रह्माण्ड भौतिक रूप में मृत्यु रूप मर्त्य रूप, क्षणिक, नित्य परिवर्तन शील, अतः अनृत या मिथ्या कहलाता है। जब यह मृत्यु रूप ब्रह्माण्ड दैवी स्वरूप में परिणत होता है तब सब उसको मृत्यु नाम से ठीक रूप में कहते हैं। जिसे व्यवहार में मृत्यु कहते हैं उसका ठीक आशय यह है कि आसुरी, अनृत, या मिथ्या रूप को दैवी ऋत और सत्य या देदीप्यमान स्वरूप मिल गया है और स्थूल आसुरी शरीर ने अपने को क्रम से चान्द्र, सौम, ऐन्द्र, रौद्र, और ब्राह्म स्वरूपों के दैवी रूप में परिणत करना आरम्भ कर दिया है। अब आप को

"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय"

नामक बृह० उप० के वाक्य के स्वलिखित भाष्य का अर्थ स्वयं लग जावेगा यह वाक्य 'नासोन्नासद्वाद' के अन्त में भाष्य सहित दे दिया है, वही पढ़लें। ऐ० ब्रा० ४-१-५ में लिखा है कि अहः देवताओं का निवास स्थान है रात्रि असुरों का, और रात्रि के तमः (तमोगुणरूप अन्धकारमय भौतिकता) को मृत्यु नाम से पुकारते हुए लिखा है "रात्रेस्तमसोर्मृत्योः……तम इव हि रात्रिर्मृत्युरिव" और श० प० ब्रा० ने लिखा है कि पूर्वार्द्ध दिन तो देवताओं का है और उत्तरार्द्ध रात्रि असुरों की है जिसे अत्तारभोक्ता और मृत्यु कहते हैं। मृत्यु या मर्त्य पाँच हैं 'लोम त्वङ् मांस अस्थि मज्जा' और देवताओं के पाँच अमृत-मनोवाक् प्राण चक्षु श्रोत्रम् दर्शन के पूर्वार्द्धीय तत्त्व हैं (१०-१-३-१ से ४ तक)। गीता ने भी लिखा है 'तेऽपि चाति तरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणाः' (१३-२५)। यहाँ पर मृत्यु नाम से भौतिक संसार सागर को पुकारा गया है जिसे ज्ञान की नाव से पार किया जाता है।

जिस प्रकार की मृत्यु की व्याख्या उक्त परिच्छेद में दी गई है ठीक उसी सरणि में ऋ० वे० १०-१८ का मृत्यु सूक्त भी मृत्यु की तद्वत् व्याख्या देता है। सबसे प्रथम मन्त्र ही उक्त कथन की पुष्टि में कहता है कि 'हे मृत्यो! तुम उस अलग मार्ग से जावो पृथक् जावो जो मार्ग तुम्हारा अपना है वह मार्ग देवयान या दैवी सम्पदा के मार्ग से पृथक् है।

२—मृत्यु सूक्त

तुम भी चक्षुष्मान् और श्रवणवान् अर्थात् भौतिक स्थूल आसुरी रूप वाले हो, तुम न तो हमारी दैवी सम्पदा के तन्द्रमा सोम को, न इनको प्रारम्भ करने वाले वीर—अत्रि मित्र वरुण—आदि पर अपना प्रकोप दिखाओ यह हम तुमसे कहते हैं या प्रार्थना करते हैं जैसे

"परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥"
(ऋ० वे० १०-१८-१)

आसुरी शक्ति सम्पन्न मृत्यु रूप स्थूल भौतिक शरीर को उसकी अन्तरात्मा चन्द्र या सोम रूपी दैवी शक्ति भौतिकात्मा से पृथक् करने के बारे में स्पष्ट शब्दों में पुनः लिखा है कि "हम दैवी शक्ति रूप भौतिकात्मा चन्द्र सोम और आसुरी शक्ति मय विकृत अप्रांतरूप वृद्ध भौतिक तत्त्व दोनों को एक दूसरे से अलग रखने के लिए एक परिधि घेरा बना देते हैं जिससे एक शक्ति दूसरे के क्षेत्र में खलबली न मचा सके। इस मृत्यु रूप आसुरी शक्ति को हम ब्राह्म रौद्र ऐन्द्र के पर्वतों त्रिपादामृतों के पर्वो के व्यवधान से बाहर ही बाहर रख देते हैं जिससे भौतिकात्मा शत सहस्र वर्षों तक जीवित रह सके॥" जिस प्रकार दिन प्रतिदिन उदित होता रहता है और एक ऋतु दूसरे ऋतु को नियमतः लाती रहती है, जिस प्रकार अग्रिम विकास अपने पूर्व पर्व या मूल को नहीं छोड़ता ठीक उसी प्रकार इस भौतिकात्मा की आयुः त्रिपादामृतों के अनुकूल शत सहस्र वर्षों की होवे, हे धातः! यह हमारी याचना है। जैसे

"इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरुची रन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥
यथाहन्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायुंषि कल्पयेषाम्॥"
(ऋ० वे० १०-१८-४,५)

इत्यादि। यहाँ पर दैवी शक्ति को एक नये देवहूति नाम से भी पुकारा गया है जिसको पौराणिकों ने कपिल की माता के नाम लिए चुना (ऋ० वे० १०-१८-३)।

मृत्यु की मृत्यु करने वाले तत्त्व ब्रह्म प्राणशरीर रूप 'आपः' हैं। मृत्यु नाम अग्नि या भौतिकात्मीय अग्नि का है जो आपः सागर में बुझ जाता है या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। 'अग्नि वैं मृत्युः सोऽपामन्नं' (बृह० उप० ३-२)।

यहाँ पर ईशावास्य के 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' तथा कठ के मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' का भाव समझा देना भी इस सन्दर्भ को सर्वाङ्गीण बना देगा। ईशावास्य ने दो विद्यायें मानी हैं

३—विद्या और अविद्या

विद्या और अविद्या जिनको वह दैवी और आसुरी सम्पदा का पर्याय रूप में प्रयुक्त कर रहा है। दैवी पूर्वार्द्ध दर्शन का नाम विद्या है, उत्तरार्द्धीय भौतिकी या आसुरी का नाम अविद्या है, अविद्या में मृत्यु है क्योंकि यह आसुरी सम्पदा पाप्मा और पाप विद्ध हैं, विद्या तथा ब्रह्म विद्या या ब्रह्म 'अपाप विद्धा' है यह उपनिषद् ने स्वयं लिखा है "तत्र को मोह···शुद्धमपापविद्धम्"। अविद्या से अधन्तमः में प्रवेश पाना आसुरी भावना में फँस जाना है। इस अविद्या रूप आसुरी भावना का नाश हो जाने के पश्चात् ही मृत्यु को पार किया जा सकता है आसुरी नष्ट हुई नहीं मृत्यु नष्ट हुई या पार हो गई और विद्या का अमृत मिल गया।

विद्या का नाम सम्भूति या दैवी सम्पदा है, अविद्या का नाम असम्भूति और विनाश भी है। अतः असम्भूति के विनाश रूप, आसुरी अविद्या के नाश से विद्या की प्राप्ति भी इसी दृष्टि कोण से बतालाई गई है। यह आसुरी सम्पदा हिरण्मय पात्र के समान है जिससे सत्य रूप विद्या का सुख सदा प्रच्छन्न रहता है। अतः अविद्या रूप आसुरी सम्पदा के ढकने को, उठा कर फेंक देने के बाद ही दैवी सम्पदा का द्वार खुलता है। आसुरी सम्पदा में सर्वत्र नानात्व दीखता है नानात्व, क्षणिकत्व या क्षणभंगुरत्व सीमित का दूसरा नाम है जो अमृत अजर ब्रह्म में हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह नित्य विभु व्यापक और एक है। इसीलिए कहा है 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' कि आसुरी सम्पदा को यथार्थ मानने वाला प्रतिक्षण विद्यमान नाशवान शरीर को ही सब कुछ समझकर, यावज्जीवन प्रतिक्षण मृत्यु का ग्रास मात्र होता रहता है उसे त्रिपादामृत ब्रह्म और विद्या का अमृत कभी नहीं मिल सकता क्योंकि वह क्षणभंगुर नानात्व रूप आसुरी सम्पदा या अविद्या से नितान्त हीन है।

———

अध्याय १२०

यमः

यम भौतिकात्मा के विकास का एक रूप है; मृत्यु उसकी (यम देह की) आत्मा अमृत है देवता है। यह अखिल ब्रह्माण्ड यम की देह भौतिकात्मा के ताने बानो से बना है, यम शरीर है मृत्यु आत्मा। यम नाम 'यच्छतीति यमः' 'संयमतीति यमः' निरुक्तियों से सम्पादित होता है। ऋ० वे० १०-१४-१४ में प्रथम व्युत्पत्ति के आधार की व्याख्या दी गई है; लिखा है कि यम ने देवताओं या तत्त्वों को जीवित रहने के लिए या जीव रूप देने के लिए दीर्घायुः या सोम शरीर प्रदान किया जैसे

१—यमः

"यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत। स नो देवेष्वायमद्दीर्घायुः प्र जीवसे॥"

दीर्घायुः या आयुः नाम सोम का है "अद्रेःसूनुमायुमाहुः" (ऋ० वे० १०-२०-७) आदि नाम यहाँ सोम का है। यम को राजा कहा गया है 'यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन' (ऋ० वे० १०-१४-१५) और इसको विवस्वान् आदित्य का पुत्र बताया गया है

"विवस्वन्तं हुवे यः पिता ते ऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य।"

(ऋ० वे० १०-१४-५)

विवस्वान् नाम अदिति के आठ पुत्रों में से अष्टम पुत्र का है इस अष्टम पुत्र का नाम मार्ताण्ड है (ऋ० वे० १०-७२-८,९) "अष्टौ पुत्रासो अदितेः······परा-मार्ताण्डमास्यत्॥ सप्तभिः पुत्रैरदितिः······पुनः मार्ताण्ड माभरत्॥" (श० प० ब्रा०) ने लिखा है कि इस मार्ताण्ड नामक अष्टम आदित्य(अदिति पुत्र) को ही 'पुरुष पशु' कहते हैं। क्योंकि इसका आकार बेडौल था; जितना बड़ा इसका धड़ था उतना ही बड़ा सिर भी था। अतः इसे 'पुरुष पशु' नाम से पुकारने लगे थे। तब देवताओं ने उसके शरीर के विकृत भागों को काटा। जो कटा भाग निकला उसे 'हस्ती' कहने लगे जो शेष रहा उसे विवस्वान् कहने लगे। अतः यह विवस्वान् २८ वां तत्त्व स्थिर होता है २७ वां मार्ताण्ड है २६ वां बिष्णु है। इस दृष्टि से यम का स्थान दार्शनिक तत्त्वों में २८ वां बैठता है (श० प० ब्रा० ३-१-३-१ से ५ तक)। विवस्वान् की पत्नी, त्वष्टा की लड़की सरण्यू थी, उसीसे यम यमी यमल हुए। पश्चात् सरण्यू सवर्णा को अपनी जगह रखकर अश्वीरूप धारण करके भाग गई तो, विवस्वान् भी अश्व बनकर पीछे लग गया, इनसे अश्विनी कुमारों का जन्म हुआ। सरण्यू की प्रतिनिधि सवर्णा से मनु उत्पन्न हुए। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से जब यह कहा कि "मैंने पहिले इस योग को विवस्वान् को दिया, विवस्वान् ने इसे मनु को बतलाया और मनु ने इसका व्याख्यान इक्ष्वाकु से किया" तब गीता ठीक वैदिक तत्त्वों के क्रमों का अनुसरण कर रही है। यम नामक मनु तत्त्व की इस क्रमिक श्रेणी या संख्या का समर्थन

हमारे कर्मकाण्ड में प्रचलित 'संकल्प' के वाक्य 'अस्मिन् वैवस्वत नाम मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे' इत्यादि से हो जाता है। क्योंकि यहाँ भी वैवस्वत मनु को २८ वां कहा है, ब्रह्म को छोड़कर इस मनु का स्थान २८ वां ही होता है; २८ वां तत्त्व ही २८ वां मन्वन्तर कहा गया है। इसीलिए (ऋ० वे० १०-५१-५) में यम को मनु कहा है 'ए हि मनु देवयुः'। उक्त तत्त्वों में विष्णु को छोड़ कर सब राजर्षि हैं या क्षत्र तत्त्व हैं। अतः पुनः गीता ने वहीं पर लिखा है कि इस नष्ट हुए योग को तो केवल राजर्षि लोग जानते थे; और दूसरे स्थान पर लिखा है कि यह योग या दर्शन अत्यन्त रहस्यमय तथा गूढ है, ज्ञान और विज्ञान दोनों की कसौटी में कसा हुआ है, यह राज विद्या है, राज गुह्य है, पवित्र है, प्रत्यक्ष रूप से ज्ञेय है, धर्म्य सु सुख कर्ता और अनश्वर है।

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः॥" (गीता ४-१,२)

"इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राज विद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥" (गीता ९-१,२)

यह यम व्यक्त तत्व है। इस व्यक्त का निर्माण पूर्वार्द्धीय अहः, आपः और रात से किया गया जैसे "अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै" (ऋ० वे० १०-१४-९)। यम इस लोक या ब्रह्माण्ड का प्रथम व्यक्त शरीर है।

'पन्थाः' 'गातु' 'पथ्याः स्वस्तिः'

यम के बारे में दो मुख्य बातें कही गई हैं (१) वह अपनी 'पथ्या' का वासी तत्त्व है पर यह पितरों को 'पूर्वेषां पन्थाः' 'पन्थाः' 'पथि' या गव्यूति में ले जाता है। पथ्याः या 'पथ्याः स्वस्ति' उत्तरार्द्ध के तत्त्वों की क्रमिक माला का नाम है तथा 'पूर्वेषां पन्था' पन्था आदि नाम पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की क्रमिक विकास परम्परा के नाम हैं। इसी पूर्वार्द्धीय मार्ग का नाम 'गातु' भी है (यजुः २-२१, ८-२१ देवा गातु विदो गातुं वित्वा गातुमित)। जिसको अहः रात्रि, द्यावा पृथिवी, उत्तरायण दक्षिणायन, और शुक्ल कृष्ण पक्ष कहते हैं उसी को पूर्वेषां पन्था (तथा पन्था पथः पथि गव्यूति या गातु) और 'पथ्या' या 'पथ्याः स्वस्तिः' कहते हैं। अस्तु पितर भी दो प्रकार के हैं, यह बतलाया जा चुका है। ये दो प्रकार के पितर पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय हैं। यम उत्तरार्द्धीय पितरों को पूर्वार्द्धीय पितरों के पन्था गातु गव्यूति का दर्शक तत्त्व है। पूर्वार्द्धीय पितरों को सदा 'पूर्वे पितरः' और उनके मार्ग को 'पूर्वेषां पन्थाः' या पन्था या गातु गव्यूति इत्यादि नाम से सर्वत्र पुकारा गया है। जैसे

२ — यम की पथ्या

'पूर्वेषां पन्था मनुदृश्य धीरा अन्वा लेभिरे रथ्यो न रश्मीन्' (यजु ३४-४९)

'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'

(ऋ० वे० ५-५१-१५ स्वस्ति वाचन)

"प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्वेभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यसि वरुणं च देवम् ॥"

(ऋ० वे० १०-१४-७)

निम्न ऋचा में उक्त दोनों मार्गों का विवरण एक साथ देकर इस संबन्ध के संशय को दूर कर दिया है। इसमें लिखा है कि पूर्वार्द्धीय पितरों के 'पूर्वेषां पन्था' या 'गातु' को सबसे पहिले यम ने जाना। उसके इस गव्यूति के ज्ञान को उससे कोई नहीं छीन सकता (वही सबके शुभाशुभ कर्मों का निर्णय करके उन्हें पूर्वार्द्ध के पितरों की गति या पन्था में चलने दे सकता है, इसमें उसका निर्णय अन्तिम है)। यम का अपना मार्ग 'पथ्या' कहलाता है और यह 'पथ्या' जीवों के शुभाशुभ कर्मों की सरणि होने से पथ्या कहलाती है। ('पथ्या ३ अनुस्वाः' यम पथ्या का संरक्षक दर्शक निर्णायक है)। अतः इस पथ्या को भलीभाँति समझ बूझ कर (एना जज्ञाना) वह उन्हें पूर्व पितरों के मार्ग में चलने का अधिकार देता है। जैसे

"यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूति रपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या ३ अनुस्वाः ॥"

(ऋ० वे० १०-१४-२)

स्वस्ति वाचन ऋ० वे० ५-५१-१४ में 'स्वस्ति पथ्या रेवति' वाक्य इसी यम की पथ्या का वाचक है। 'पन्था' नाम अलग १५ वें (ऋ० वे० ५-५१-१५) में इसीलिए दिया है। *यम सूक्त १०-१४ में प्रारम्भ ही इन दो मार्गों से किया गया है। जैसे

"परेयिवांसं प्रवतो मही रनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पृशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्व ॥"

कि जिस (पन्थाः) मार्ग को बहुत से पूर्व पितरों ने पार किया है उसी कठिन दुर्गम मार्ग का (प्रवतो मही) या ऊँची चढ़ाई के मार्ग का अनुसरण करते हुए विवस्वान् के पुत्र यमराज की पूजा हवियों द्वारा करो। यह मार्ग 'पन्थाः' है, यह इसी में दिया है। इस भाव का तद्वत् समर्थन अथर्ववेद में मिलता है

---

* 'पितृ लोको यमः' (कौ० १६-८) 'क्षत्रं वै यमो विशः पितरः' (श० प० ७-१-१-४) 'अग्निर्वै यमः' (श० प० ७-२-१-१०) 'दक्षिणस्यां दिशि यमः' (श० प० १४-९-६-२२) 'गार्हपत्यो यमो राजा' (श० प० २-३-२-२) 'एष वै यमो य तपति' (श० प० १६-१-३-४) 'अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते' (श० प० १४-२-२-११)

"तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति"

(अथर्व १८-४-७)

'यः प्रथमं प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनु पस्पृशानः'

(अथर्व ६-२८-३)

और

"यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्व॥"

(अथर्व १८-३-१३)

अथर्व वेद के इस अन्तिम मन्त्र के अनुसार यम ही सर्वप्रथम मृत्यु को प्राप्त होने वाला तत्त्व है। अतः पितरों के लोक के 'पन्थाः' को सबसे पहिले इसी ने खोजा जैसा कि ऋ० वे० १०-१४-२ और अथर्व ६-२८-३ (पूर्वोद्धत) में कहा गया है। यहाँ यम की मृत्यु ही उसका देवत्व है, उसका शरीर भौतिक आत्मा है अणु है। यम रूप देह या वाक् में आदित्य रूप अग्नि देव का निवास हो जाता है या भौतिकात्मा या भूतात्मा सोम से, मध्यसृष्टि काल में, सर्वप्रथम मर्त्यधर्मा भौतिक अणु रूप में अग्नि का उदय होता है और इसके विपरीत 'मृत्यु' शीर्षक में 'मृत्यु' शब्द की व्याख्या दी जा चुकी हैं, मृत्यु माने आसुरी शक्ति है, यम की मृत्यु, यम में आसुरी भाव को नष्ट करना है, प्रलयकालीन व्यतिक्रम में भी यम की मृत्यु माने उसका मार्ताण्ड या विवस्वान् आदित्य देवता में परिवर्तन होता है। ऋषियों में यम का सीधा सम्बन्ध अङ्गिरस ऋषियों से है जिनके बारे में पहिले लिखा जा चुका है

"मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
अङ्गिरोभि रागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व॥"

(ऋ० वे० १०-१४-३,५)

पूर्व पितरों के देदीप्यमान अमृत रूपी दैवीमाया के 'सुवर्चा' शरीर पाने के लिए कहा जा रहा है कि आप यम और पितरों के साथ साथ परमे व्योमन् या ब्रह्म-लोक तक की यात्रा करो, यहाँ के अवद्य आसुरी निंद्य कर्मों को अपने संयम पूर्वक इष्टापूर्त से नष्ट कर, यहीं छोड़कर, इस भौतिक शरीर को अस्त करके (इस शरीर को गलाकर भस्मसात् करके) आध्यात्मिक शरीर धारण करके या सुवर्चस्वी या तेजस्वी या देवताओं का आध्यात्मिक शरीर धारण करो जैसे

"संगच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥"

(ऋ० वे० १०-१४-८)

यहाँ 'तन्वा सुवर्चाः' माने 'आध्यात्मिक शरीर से' या 'अभौतिक आध्यात्मिक तैजस्वी शरीर से' है। ऐसे शरीर का स्वरूप आध्यात्मिक अग्नि रूप हो सकता

है। अतः यम को अग्नि नाम से भी (ऋ० वे० १-६६-४,५ में) पुकारते हुए लिखा है

"सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥
तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम् ॥"

कि यह यम, सेना के समान बल या भय उत्पन्न करने वाला, बिजली की तरह चमक वाला, (रात में), इन्द्र के साथ उत्पन्न हुआ जनित्व (भविष्य को पूर्वज-जन्म) देने वाला, कन्याओं को बुढिया बनाने वाला और जायाओं का पति है; 'तृतीयो अग्निष्टे पतिः' (ऋ० वे० १०-८५-४०) 'यमाविहेहमातरा' (ऋ० वे० ६-६९-२)। यम को समिद्ध होते हुए ऐश्वर्य को पाते हैं। इत्यादि।

अध्याय १२१

यम के दो श्वान

ध्यान रहे रहस्यात्मक अर्थ में वैदिक 'श्वा' या 'श्वान' शब्द प्राणों का वाचक है यह 'सु असु सुर असुर श्वा' आदि शीर्षक में बतलाया जा चुका है। इसीलिए 'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्' एक ध्रुपदीय मन्त्र भी है (तृतीय मण्डल के ३०,३१,३२,३४, ३५,३६,३८,३९,४३,४८,४९,५० सूक्तों में १०-८९-१८,१०-१०४-११, देखें)। इन्द्र का एक नाम 'शुनासीर' भी है, सीर और शुनं नाम हल के 'फाल' के भी है (अथर्व ३-१७; ऋ० वे० ४-५७-८, वा० सं १२-६९ तै० सं० ४-२-५-६) 'शुनं नः फालाः'। ऋ० वे० ४-५७-४ और अथर्व ३-१७-६ तथा तै० आ० ६-६-२ में 'शुनं' माने वाहा और नरः लिखा है जैसे 'शुनं वाहाः शुनं नरः'। यजु० वे० १२-६९ में लिखा है 'शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिम्' तथा शुनं को 'कीनाशा' (बैल या बन्दर) भी कहा है जैसे "शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः" (यजुः १२-६९)। इस प्रकार यहाँ 'श्वा' 'श्वानौ' शुनं शब्द लौकिक कुत्ते बैल बन्दर फाल के वाचक नहीं हैं। यहाँ तो अप्रस्तुत वर्णना का आधार बनाने के लिए लौकिक वस्तुओं द्वारा श्लेषमय या रहस्यमय वर्णन मात्र है। सीधी सी बात है पितरों को स्वर्ग ले जाने के लिए भला कुत्तों का क्या सन्दर्भ हो सकता है ? यहाँ प्रस्तुत का सहारा मात्र है। पूरा वर्णन अप्रस्तुत स्वर्ग यात्रा का है, जहाँ के साथी दो मुख्य श्वान 'प्राणोदानौ' हैं। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक और भौतिक दो शरीरों की दैवी माया के प्रतिनिधि रूप धर्म स्वरूप श्वान है, मृत्यु के बाद केवल धर्म ही या उक्त दो प्रकार की माया के गुण रूप प्राणोदान के श्वान ही साथ दे सकते हैं। युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण में यही धर्मरूप गुणरूप दैवीमाया के प्राणोदानीय श्वान साथ जा सके थे, और साथी सब पीछे ही गल जाते हैं। यह कथा ठीक इसी को भाव देती है। ठीक येही यम के श्वानौ हैं, ये चतुरक्ष या 'चतुर्नेत्र' हैं। चतुर्नेत्र चतुष्पाद ब्रह्म स्वरूप 'यम' का रूपक है। ये शबलौ या 'सबलौ' बलवन्तौ (धवलौ भी) हैं। इनसे साधु पथ पूर्वार्द्धीय मार्ग से दौड़कर जाने को कहा गया है। और उनसे उन पितरों के पास पहुँचने की प्रार्थना की गई है जो यम के साथ आनन्द पूर्वक बैठे हैं। ये श्वान पूर्वार्द्ध के हैं उत्तरार्द्ध में यम और पितरों से मिलकर उन्हें पूर्वार्द्ध के पितरों के पन्था में लेते आवेंगे। ये श्वान सरमा के पुत्र हैं; अतः 'सारमेय' कहलाते हैं, सरमा माने 'सरण शील' होता है। सरणशीलता क्रमिक विकास परम्परा है। विकास परम्परा में ही प्राणोदानौ रूप दो श्वानौ या प्राणौ उत्पन्न या विकसित होते हैं जिसका (सरमा का) सुन्दर चित्रण ऋ० वे० १०-१०८ में किया गया है फिर लिखा जावेगा। ये श्वान यम के अंग रक्षक हैं, मार्ग दर्शक हैं और चतुर्थ सप्तक के 'नृ' नामक तत्त्वों के चक्षु रूप (सूर्य सोम) हैं, अतः चतुरक्षी हैं, चतुष्पाद हैं। अतः हे यमराज इस मर्त्य तत्त्व को कल्याणवान् और स्वस्थ रखो। ये दो श्वान उरु

नसौ या उरु रूप तृतीय सप्तक की दैवी आसुरी माया रूप नाक वाले हैं (शब्दार्थ—बड़ी नाक वाले)। उरु नाम पुरुष की ऊरू का भी है जिससे विश् तत्त्वों का अभ्युदय कहा गया है 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' (पु० सू०)। ये असुतृप या प्राणात्मा प्राणों से तृप्ति या रूप पाते हैं तथा उदुम्बल या काले या बहुबलशाली बड़े शक्तिशाली हैं। ये यम के दूत हैं जो मोहमार्ग में प्राणियों के नेता हैं। इन्होंने ही हमें सूर्य नामक दृश् या चक्षु स्वरूपी तत्त्व द्वारा ऐसी भौतिकात्मा प्रदान की है जो स्वयं असु या प्राणवान् ही हैं, वे प्राणवान् चक्षु स्वरूपी सूर्यात्मा के दर्शन के लिए भौतिक शरीर का कल्याण करें। जैसे—

"अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षो शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन् सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥
यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥
उरुणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्ददतामसुमद्येह भद्रम्॥"

(ऋ० वे० १०-१४-१०,११,१२; अथर्व १८-२-११,१२,१३; तै० आ० ६-३-१,२,३)

———

अध्याय १२२

यम और मनु

पिछले प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि जो यम है वही प्रथम भौतिक मनुः भी है। वेदों में मनु के बारे में लिखा है कि बाढ़ से अखिल ब्रह्माण्ड जलमय समुद्र सा हो गया। वहाँ मनु को उस मछली ने बचाया जिसे उन्होंने

१—यमः और मनुः पहिले से पाल रखा था। वह मछली नाव रूप बन कर मनु को बचाने में समर्थ हुई। बाढ़ के आने पर मनु उसकी नाव में बैठे। मत्स्य के शृङ्ग में नाव की रस्सी छोड़ दी। वह उत्तर गिरि या हिमालय की ओर दौड़ी। उसने कहा नाव को उस वृक्ष पर बाँध दो और जब तक जल है तब तक पर्वत में पानी है, डोरी को न काटना। जैसे जैसे पानी नीचे को घटता जाय वैसे वैसे आप आगे आगे सरकते जाना। मनु की इस खोज का नाम इसीलिए 'मनोरवसर्पण' कहा जाता है। यहाँ बाढ़ तो सृष्टि क्रम है मछली अमृत शरीर है, मनु मर्त्य शरीर हिमगिरि प्रथम सप्तक वह बाढ़ 'सर्वा प्रजाः' का एक मौलिक रूप है जिनमें से प्रलय काल में केवल मौलिक शरीर मनु ही या यम ही एक शेष रह गये (अथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे)। जब यह कथा प्रलय क्रम का वर्णन करती है तो इसे यम कहते हैं क्योंकि यम अध्यात्म योगी है वह नश्वर तत्त्वों मन वाक् आदि से नित्य तत्त्व चन्द्र और अग्नि देव को पा जाता है (कठ १-२-१०,१२) और जब सृष्टि का वर्णन देती है तो उसी को मनु कहते हैं (श० प० ब्रा० १-६-३-१ से ६ तक पूरा पढ़ लें) अन्तर इतना ही है। (श्रद्धा को देखें)। यह बाढ़ चतुर्थ सप्तक के उन जलों में आई जो वृत्र वध से निस्सृत हुए। यह भौतिकता के आरम्भ का प्रलय है। लौकिक बाढ़ भी कोई आई होगी; तभी से वेदार्थ नष्टप्रायः है।

अब उक्त सन्दर्भ को सामने रखकर आप ऋ० वे० १०-१३५ के यम सूक्त का ठीक ठीक अर्थ अपने आप लगा लेने में सुविधा का अनुभव करेंगे। अर्थ—जिस (सृष्टि) के सुन्दर स्थान (पत्तों) पर्ण रूप तत्त्व, "छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदविद्" (गीता १४-१) में यमराट् देवताओं (बाढ़ के तत्त्वों) के साथ जाता है (सम्पिबते=संगच्छते) वहाँ पर विश्पतिः पूर्वार्द्ध के तत्त्वों को दीप्ति रूप में सुरक्षित रखता है (पुराणान् पूर्वार्द्धीयान्)। ध्यान रहे पुराणों में जिस बालमुकुन्द भगवान् का पीपल के पत्ते में समुद्र में तैरते रहने का वर्णन आता है उसका संकेत यहाँ पर यह प्रथम ऋचा

"यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः"

से स्पष्ट संकेतित किया गया है। इसी प्रकार विष्णु को जो ठीक इसी का समकक्ष तत्त्व है उसे भी समुद्रशायी ही बतलाया है। अतः मनुः या मनुष्य सबसे

पहिले जल में मत्स्य की तरह ही रहा होगा। पर्व विद्या में शिव को पर्वत का हिम-गिरि का वासी इसी सिद्धान्त से माना जाता है ॥१॥ पूर्वार्द्धीय तत्त्वों को अपनी दीप्त आत्मा में सुरक्षित रखते हुए भौतिक शरीर से विचरण करता है। यद्यपि इस भौतिक शरीर की निन्दा करते रहे (शत्रु रूप मानते रहे) पर इसको भी प्रकाशमान् ज्ञानवान् बनाने की शक्ति समझ कर पुनः इसकी इच्छा करने लगा ॥२॥ पूर्वार्द्ध के तत्त्वों का कुमार रथ चक्र हीन या भौतिकता हीन है, उसे सूर्य रूप मन से निर्मित किया गया तो एक चक्री रथ बन गया जो अखिल ब्रह्माण्ड के प्रपञ्च के लिए पर्य्याप्त दिखाई दिया ॥३॥ इस रथ को अङ्गिरसादि विप्रों से परे प्रवर्तित किया गया जब साम या तृतीय सप्तक की सृष्टि हुई। तब उस रथ को नाव (मनु की नाव) भौतिकात्मा सोम में रखा गया। अर्थात् मनु या यम रूप में सृष्टि का बीज सुरक्षित किया गया ॥४॥ इस कुमार (यम या मनु) रथ को किसने उत्पन्न किया ? किसने प्रवर्तित किया ? आज आपको कौन बता देगा जिससे वह अग्रिम सृष्टि का अनुदान करने वाला बना ॥५॥ जो इस सृष्टि का अनुदान करने वाला उपादान कारण है वह सबसे पहिले उपस्थित था। उत्तरार्द्ध के आदि में या दर्शन के तत्त्वों के मध्य में, भौतिक तत्त्वों के मूल को सन्तानित किया गया। वहाँ से दक्षिणायन या भौतिक सृष्टि आगे चल पड़ी या की गई ॥६॥ यह दक्षिणायन दक्षिण दिशा यम लोक है जिसे देवताओं का मान या दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के मानदण्ड को रखने वाला (पाप-पुण्य को तौलने वाला) कहते हैं। उस यम की प्रतिनिधि धमनशील नाड़ी है जो वाग्ब्रह्म का एक व्यक्त स्वरूप भी है। यह वाग्ब्रह्म का भौतिक परिष्कृत जीवित स्वरूप है ॥७॥ (ऋ० वे० १०-१३५-१ से ७ तक पूरा) मन्त्र ये हैं : —

"यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥१॥

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥२॥

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसा कृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥३॥

यं कुमारं प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ॥४॥

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित्तदद्य वो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत् ॥५॥

यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
पुरस्ताद्बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ॥६॥

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळी रयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥७॥

तत्त्व रूप मनु केवल वैवस्वत मनु यम ही नहीं वरञ्च चार और भी हैं जिनका उल्लेख गीता ने इस प्रकार किया है

"महर्षयः सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
१—मनु कितने हैं ? मद्भावा मनसो जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।"
(गीता १०-६)

इसमें भी मनुओं और सप्तर्षियों को भाव रूप (मद्भावाः) तत्त्व रूप कहा है। महर्षि तो सातों सप्तकों के मुख्य ब्रह्मों के नाम हैं और उनमें से प्रथम चार को मनु नाम से भी पुकारा जाता है। ये सब और, यम रूप मनु तत्त्व रूप तो हैं ही साथ में ये सब के सब ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं जिनका विवरण इन्हीं व्याख्याओं में ध्वनि द्वारा व्यञ्जितहै जैसे गीता का यह कहना कि सारी प्रजा इन्हीं से उत्पन्न हुई है। ऐ० ब्रा० (३-३-३३) ने प्रजापति के अपने दुहिता से व्यभिचार से जो रेतः संवलित हुआ उसको 'मादुषत्' कहते कहते 'मानुष' कहने की जो बात लिखी है वह 'मानुष' रूप प्रजापति चतुर्थ सप्तक का प्रथम पुरुष रूप मनु है। मित्रा वरुण का पिता मनु यही मनु है (श० प० ब्रा२ १-६-३-७ से १२ तक)। मनु प्रजापति है, अश्वी ने पृथिवी बनकर मनु से व्याह किया, वही प्रजापति बना (यजुः ३७-१२; श० प० १४-१-३-२५)। विद्वानों का नाम मनु है (यजुः १५-४९, श० प० ८-६-३-१८)। मनु का वचन भेषज है (ताण्ड्य २३-१६-६), हजामत से उत्पति (तै० १-५-६-३)। वैवस्वत मनु राजा है, मनुष्य उसकी प्रजा (श० प० १३-४-३-३)। इस सम्बन्ध में मत्स्यावतार वराहावतार (रुद्र) की कथा का विश्लेषण उपयुक्त होगा। जब अखिल ब्रह्माण्ड भौतिक स्वरूप को पूर्ण रूप से धारण कर चुका था, उस समय हमारी पृथ्वी सूर्य के उपग्रह रूप में चारों ओर जल या समुद्र या बाढ़ (ओघ) से आप्लावित रही होगी। मनुष्य का जन्म सर्वप्रथम इसी जलमय पृथिवी में हो गया था। वह उक्त मनु की कथा के अनुसार मत्स्य के समान तैरता जीवन व्यतीत करता रहा। सर्व प्रथम मानव मनु को सबसे पहिले मत्स्यावतार रूप में पृथिवी के उच्चतम भू-भाग उत्तरगिरि या हिमालय में उगा एक वृक्ष मिला। सम्भवतः उनकी पत्नी भी उनके साथ रही। ज्यों ज्यों भू-भाग जल से मुक्त होता गया वह वराह और उसके दाढ़ के समान दिखाई पड़ने लगा होगा। अतः 'वराह ने पृथिवी को मुक्त किया' कहा गया है। रुद्र को दिवो वराह कहा गया है। इस वराह के बारे में 'रुद्र' शीर्षक में बिस्तार से लिखा गया है, वहीं देखें। वराह का जन्म घृत कुम्भ नामक चक्षुः सूर्य के भौतिकात्मा भाग से हुआ। रौद्र मत में यही रुद्र हिमगिरि है, वहीं उनका वास माना जाता है। मनु के साथ जितने अन्य मानव थे उन्हें इस पर्वत या वृक्ष का पता नहीं लग सका अतः वे सब नष्ट हो गये; केवल मनु ही मनुष्य वर्ग के बीजरूप में अवशिष्ट रह गए। दर्शन में यह गिरि सोम है जो रुद्रात्मा है, उससे तीसरा यम नामक मनु तत्त्व है। इस दृष्टि से भारत के आर्यों की मूल जन्मभूमि उच्च हिमालय की कोई न कोई एक चोटी है। वहीं से वे क्रमशः भारत में इतस्ततः विखरे। वे बाहर कहीं से नहीं आये। इस मनु की जो सन्तानें

सप्तर्षि कहलाती हैं वे अङ्गिरस भृगु आथर्वण पितर और वशिष्ट विश्वामित्रादि ऋषि चतुर्थ सप्तकीय तत्त्व हैं। इन ऐतिहासिक पितरों और ऋषियों के नामों को अमर बनाने के लिए इन्हें चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों के पारिभाषिक दार्शनिक नाम दिए गये हैं। अतः ये सब नाम 'एक पंथ दो काज' या 'आम के आम गुठली के दाम' का काम करते हैं। शेष 'रुद्र' नामक शीर्षक में देखें। इस सन्दर्भ के अनुसार सोम का मौञ्जवान् मूजवान्, सूर्य का मेरु पर्वत और अथर्ववेद का औषधि स्थल 'वाह्लीक' भी यही उत्तर गिरि हिमालय ही बैठता है। क्योंकि दार्शनिक व्युत्पत्ति में इनका स्थान सोम सूर्य आदि तत्त्व रूप पर्वतों में दिया गया हैं। वेदों में मनु का नाम विश्वेदेवताओं में बहुवचन में आता है "अग्नि जिह्वा मनवः सूरचक्षसो" (ऋ० वे० १-८९-७)। इसमें मनुओं को अग्नि जिह्वा और सूर्य चक्षुष्क बताया है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन ऋ० वे० १-८०-१६ में मिलता है जैसे

"यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमतन्वत।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥"

कि जिस धीः (प्रकृतिः बुद्धि को मनु के पिता दध्यङ् ने विकसित किया था, वह इन्द्र का कर्म है, इन्द्र के इन कर्मों में सृष्टि का मूल स्रोत (उक्थ) है जिसकी अर्चना या उपासना या विकास के कारण मनु को स्वराज्य की पदवी मिली। स्वराज्य आसन्दी के एक भाग का पारिभाषिक नाम है 'आसन्दी या 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक देखें

मनु के सम्बन्ध में मार्कण्डेय ऋषि की स्मृति से उद्भूत मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती के प्रथम और अन्तिम श्लोकों को ध्यान से नहीं उतारा जा सकता।

३—सावर्णी मनु

मार्कण्डेय जी ने आठ मनु माने हैं, या अष्टम मनु को वे सावर्णि या सूर्यतनय नाम से पुकारते हैं। यह अष्टम मनु, वैदिक दर्शन के तत्त्वों के अनुसार अष्टम आदित्य पड़ता है, गीता के चार मनु इसी दृष्टि कोण से निश्चिन्त किये जाँय तो वे वैदिक दर्शन के चतुर्थ सप्तक के चार प्रथम तत्त्व है। इस गिनती से मार्कण्डेय जी की गिनती मेल भी खाती है। क्योंकि दोनों दृष्टिकोणों से मनु का स्थान २८ वाँ पड़ता है अट्ठाईसों तत्त्व २८ मन्वन्तर हैं। मार्कण्डेय जी लिखते हैं

"सावर्णिः सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः।
निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्गदतो मम॥"

(सप्तशती का प्रथम श्लोक)

और—

"सूर्याज्जन्म समासाद्य सावर्णिर्भविता मनुः।"

(सप्तशती का अन्तिम श्लोक)

मार्कण्डेय जी उक्त दो श्लोकों में आये 'सावर्णिः' 'सूर्यतनय' और 'मनुः' शब्दों से ठेठ वैदिक दर्शन के तत्त्वों का इतिहास या विवेचन देते हैं। पर अभाग्य

से लोगों ने इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट नहीं कर दिया। वैदिक इतिहास यहाँ इस ऋचा में है :—

"अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददु र्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥"

(ऋ० वे० १०-१७-२)

सरण्यू नाम की, त्वष्टा की लड़की विवस्वान् (सूर्य) को व्याही थी; वह अपनी जगह अपनी सवर्णा (सरूपा) प्रतिनिधि रख कर (विनोद के लिए ही) अश्वी (घोड़ी) बन कर चली गई। जब विवस्वान् को यह पता हुआ तो वह भी अश्व (घोड़ा) बन कर उसके साथ चल दिया। तब विवस्वान् और सवर्णा से तो मनु हुए और उनके घोड़ा घोड़ी रूप से अश्विनी कुमार उत्पन्न हुए। इसका समर्थन निम्न ऋचा (१०-१७-१) करती है

"त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥"

इसमें यम की माता या विवस्वान की जाया के सदृश्य होने की चर्चा है जो स्थल वसु का है वही यम का भी है इससे स्पष्ट है। अतः मनु के बारे में उक्त कथन वैदिक होने से पूर्ण प्रामाणिक है। यहाँ पर उक्त सब कथानक वैदिक दर्शन के तत्त्वों के पूर्वापर सम्बन्ध बतलाने के खोल हैं। अक्षरशः सत्य नहीं, भावात्मकया सत्य हैं पूर्ण सत्य हैं। यम और मनु के स्थान तथा माता पिता एक ही है। सवर्णा सरण्यू की प्रतिनिधि होने से सरण्यू ही है। अश्विनी को जन्म देने वाला विवस्वान् स्वयं सूर्य है और यममयी का जन्मदाता विवस्वान् नामक तत्त्व है। सावर्णि सवर्णा से से उत्पन्न सूर्य का पुत्र है। प्रथम विवस्वान् शब्द यौगिक है, अहः विवास्ते इति विवस्वान्सूर्यः, द्वितीय रुढ़ि।

———

अध्याय १२३

सरण्यू और सूर्या

यास्क ने सूर्या को सूर्य की पत्नी न जाने कैसे बतला दिया है (नि० १२-१-७)। वास्तव में सूर्या सूर्य की पुत्री है और अश्विनी कुमारों की पत्नी है जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है

१—सूर्या का सम्बन्ध "स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराऽग्निरासीत्पुरोगवः ॥
सोमो वधूयु रभवदश्विना तामुभा वरा ।
सूर्यां यत्पत्ये संशन्ती मनसा सविताऽददात् ॥"
(ऋ० वे० १०-८५-८।९)

इन दोनों मन्त्रों में अश्विनी कुमारों को सूर्या का 'वरौ' कहा है। यह विवाह के समय का वर्णन है, सूर्या को सविता ने दिया है, सोम ने भाई (वधूयु) का काम किया है। इसी बात का समर्थन पुनः निम्न ऋचा करती है जिसमें लिखा है कि अश्विनी कुमार पूछते पूछते अपने त्रिचक्री रथ में बैठ कर सूर्या से विवाह करने आ रहे थे तो विश्वेदेवताओं ने उन अश्विनी कुमारों का स्वागत किया और किसी ने उन्हें अपना पुत्र माना, किसी ने पिता जैसे पूषा। इससे पहिले के मन्त्र में तो लिखा है कि सूर्या ने अश्विनी को अपने मन से चुना (जैसे—सूर्यां यत्पत्ये संशन्ती मनसा)। यह सूर्या साधारण तत्त्व नहीं है, इसके फल रूखे कड़ुवे कषैले और विषवत् और अभोज्य होते हैं। इसमें आशा निराशा के पाशों का निरन्तर विकर्तन होता रहता है। यह क्षण क्षण में नव नव रूप धारण करती है, इसे तो ब्रह्मा ही समझ सकता है इस बात को समझ सकने वाला ही विवाह के योग्य पात्र है भी। जैसे

"तृष्टमेतत्कटुकमेदपाष्टवद्विषवन्नैतदत्तवे ।
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्या त्स इद्वाधूयमर्हति ॥
आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति ॥"
(ऋ० वे० १०:८५-३४,३५)

सूर्या* से विवाह करने की इच्छा चार व्यक्ति रखते रहे सोम, गन्धर्व, अग्नि और अश्विनी कुमार। प्रथम तीन अपने कार्य में क्रम से असफल होते गये, अगले से कहते गये तुम उसके साथ विवाह कर लो। पर सूर्या

---

* कौ० १८-१ और ऐ० ४-७ तथा श० प० ब्रा० ९-४-१-९ ने लिखा है कि सविता ने सूर्या का विवाह सोम राजा से किया था।

२—सूर्या का विवाह अश्विनीकुमारों को ही मन से चाहती रही। अतः अन्त में वही परिणाम हुआ तथा सोम और अग्नि विवाह सँस्कार में घर के व्यक्ति वधूयु और पुरोगा (१०-८५-८,९) बने जैसे

"सोमो प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पति स्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥"
(ऋ० वे० १०-८५-४०,४१)

(सूर्या के सम्बन्ध में दार्शनिक रहस्य की बातें अश्विनी (कुमार) के रथ के वर्णन के अवसर पर लिखी जा चुकी हैं वहीं देख लें। वहाँ इस सूर्या (१०-८५) सूक्त के प्रायः विशिष्ट मन्त्रों का विवेचन दे दिया गया है)। उक्त आख्यान को दृष्टि पथ में रख कर 'सविता सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा' इत्यादि वाक्य ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। इसका आधाधार यह है कि सूर्या द्यावा पृथिवी की पुत्री है उसी में उक्त सब तत्त्व आ जाते हैं जैसे

"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम्॥"
(ऋ० वे० १-१९१-६)

सरण्यू—शब्द सरणशील व्युत्पत्ति रखता है। सरण्यू विवस्वान् आदित्य की पत्नी है। इन दोनों के यम यमी दो यमल पुत्र हैं। एक वार सरण्यू घोड़ी का रूप धारण करके भाग गई अपनी जगह 'सवर्णा' को रख गई,

३—सरण्यू विवस्वान् भी घोड़ा बन कर पीछे पीछे चल दिया। इनसे अश्विनी कुमार (यमल) उत्पन्न हुए। उधर सवर्णा से मनु की उत्पत्ति हुई। सरण्यू स्वयं त्वष्टा की लड़की और वृत्र की बहिन है क्योंकि वृत्र भी त्वष्टा का ही पुत्र है, तथा वह त्रिशीर्षा षडक्ष की भी बहिन ही है। इस इतिहास का वर्णन स्वयं ऋग्वेद ने दिया है जैसे :—

"त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णा मददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥"
(ऋ० वे० १०-१७-१,२)

त्वष्टा की पुत्री सरण्यू के विवाह में अखिल ब्रह्माण्ड आ गया। पर यम की माता सरण्यू का महो रूप (चतुर्थ सप्तकीय) विवस्वान् के लिए अदर्शित हो गया वह खो गई॥ वह अपने अमृत रूप को छिपाकर मर्त्य धर्माणों के लिए (चतुर्थ सप्तकीय नर तत्त्वों के लिए) सवर्णा (सरूपा) स्त्री रख गई। अपने उस अमृत रूप (अश्व

रूप) से उसने विवस्वान् (अश्व) से एक जोड़ा और जना, इस प्रकार सरण्यू ने दो यमलौ को जन्म दिया सरण्यू रूप में—यमयमी को, अश्वी रूप में—अश्विनी कुमारों को, तथा जिसे वह अपनी प्रतिनिधि बना गई–उस सवर्णा–से मनु की उत्पत्ति हुई। एक ही के तीन रूप तीन प्रकार की सन्तान है। विवस्वान् भी तीन हैं। यम-यमी का और मनु का पिता विवस्वान् तो २८ वाँ तत्त्व है, और अश्विनी का पिता विवस्वान् (सूर्य का प्रतिनिधि है यहाँ यह "अहोरात्रे विवस्ते तमेव वस्ते इति विवस्वान्" है, मार्ताण्ड और अदिति का अष्टम पुत्र नही है यहाँ पर श० प० ब्रा० १०-५-२-४ की व्याख्या उपयुक्त है यम और मनु के लिए उपयुक्त स्थल दे दिये गये हैं (श० प० ब्रा० ३-१-३-१ से ५ तक)।

अध्याय १२४

श्राद्ध और श्रद्धा

'श्रद्' तत्त्व का सम्बन्ध इन्द्र से है। इन्द्र मनस्वान् तैजसात्मा का प्रतीक है, तैजसात्मीय बुद्धि रूप है। श्रद्धा इस तैजसात्मीय बुद्धि युक्त तत्त्व का नाम है। कोई भी कार्य अबुद्धि पूर्वक नहीं होता। अखिल सृष्टि आदि से ही मनोवाक्प्रणानां त्रिवृत् होते हुए, इसी बुद्धि (या मनः) को धारण करके अग्रसर होती है। अतः श्रद्धा का पर्य्याय 'काम' शब्द है या कामधा है, यही 'मनसो रेतः' है। इन्द्र के बारे में श्रद् शब्द का प्रयोग यह है

१—श्राद्ध और श्रद्धा

"स त्वं न इन्द्र सूर्ये सो अप्स्वनागास्त्व आ भज जीवशंसे।
मान्तरा भुजमा रीरिषो नः श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय॥"

(ऋ० वे० १-१०४ ६)

कि हमने तुम जैसे महान् भौतिक आत्मा सोम वाले के लिए अपनी बुद्धि स्थिर या धारण कर ली है। इन्द्रिय नाम सोम या भौतिक आत्मा का है। और

"अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय॥"

(ऋ० वे० १-१०४-७)

या यह मानता हूँ कि तुम्हारी मनस्विता या (तैजसात्मीय) बुद्धि हममें धारणा या स्थान पा चुकी है। हे इन्द्र अब हममें उस महान् आत्मा-या घन या भौतिक आत्मा सुलभ करने की प्रेरणा भर दो। इसके आगे के मन्त्रों में लिखा है कि तुम हमें न मारो, न परे जावो, न हमारे प्रिय भोजनों को लूटो। हमारी बुद्धि अण्डे के समान सुकोमल है उसे न फोड़ो, न हमारे भौतिकात्मा के पात्रों को ही तोड़ो॥ तुम अर्वाङ् या दक्षिणार्द्ध की ओर चलकर सोम की चाह करो सोम पिओ और आनन्दित बनो, तुम्हारा उदर अतीव विशाल है (भौतिकात्मा ही उदर है) हमारी पुकार पिता की तरह सुनो इत्यादि॥ ऋ० वे० १०-१४७-१ में भी इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि तुम्हारी सर्व प्रथम स्वरूप मन्यु के लिए हम श्रत् को धारण करते हैं जैसे

"श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद्वृत्रं नर्यं विवेरपः।
उभे यत्वा भवतो रोदसी अनुरेजते शुष्मात्पृथिवी चिदद्रिवः॥"

इस प्रकार श्रत् तत्त्व का सामीपी और स्वाभाविक सम्बन्ध मनोरूप या तैजसात्मीय इन्द्राग्नी इन्द्र से है। यह 'यमः' सृष्टि के प्रारम्भ से ही खंब्रह्मात्मा रूप में उदित होता है।

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥"

(ऋ० वे० १०-१२९-४)

अतः यह श्रत् तत्त्व मनः मनीषा या प्रतीष्या है। इसको धारण करने वाली

सृष्टि श्रद्धा है। इसीलिए श्रद्धा को काम की पुत्री या 'कामायनी' नाम से भी पुकारा गया है। यह श्रद्धा काम की पुत्री होने से स्वभावतः कामिनी कामयमाना या कामायिनी है। यह पूर्वार्द्ध के देव गुणों से विशिष्ट है। इसकी प्रतिपक्षिणी या उत्त-रार्द्धिनी का नाम इडा या सरस्वती या सारस्वत देश की इडा या इला है, मनु का इन दोनों से सम्बन्ध है, श्रद्धा से आदि सम्बन्ध दैविक है, इडा से भौतिक। अतः इडा से मनु मूर्छित होकर श्रद्धा द्वारा सुसेवित होते हैं। श्रद्धा स्वयं पुरुष की कामना करते खोज में निकली अतः उसका नाम कामायिनी पड़ा, उसे प्रथम पुरुष मनु ही सर्व प्रथम मिले, उन्हीं की पत्नी बन गई (श० प० ब्रा० मनो बसर्पण)। श्रद्धा को यजु (१९-४) ने सूर्य की पुत्री कहा है और ऐ० ब्रा० (७-१०) ने श्रद्धा को पत्नी और सत्य को यजमान बताया है। तै० ब्रा० इसे 'काम' की माता कहता है (२-८-८-८) वही इसे आपः भी कहता है (३-२-४-१)। रूप का नाम भी श्रद्धा है (श० प० ब्रा० १२-८-२-४)। जिसमें श्रद्धा है जो कार्य श्रद्धा से किया जाता है वह श्राद्ध है। सृष्टि विकास या सृष्टि विकास सरणि श्रद्धा है, उसका अभिनय श्राद्ध है। विना श्रद् या शुद्ध मन को अपनाये न सृष्टि आगे बढ़ सकती है न कोई कार्य का ज्ञान सम्पादित हो सकता है। अतः प्रत्येक शुभ कार्य या फल के लिए श्रद् या श्रद्धा एक आवश्यक महत्त्व पूर्ण तत्त्व है। इसीलिए ऋ० वे० १०-१५१ में लिखा है

"श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासत।
प्रियम् भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥
यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य३याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां माध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥"

अन्तिम मन्त्र में श्रद्धा को तीनों सवनों (प्रातः मध्याह्न सायं) में विद्यमान बतलाकर इसका आरम्भ सृष्टि के आरम्भ काम ब्रह्म से बतलाया है। यह श्रद्धा आध्यात्मिक या त्रिपादामृतीय मात्र है। अतः सूर्य नामक २५ वें तत्त्व में निम्रुचि या संकुचित होती बतलाई गई है, क्योंकि यहाँ से भौतिकात्मा की आसुरी शक्ति प्रबल हो जाती है। इसीलिए श्रद्धा के उपासक देवता तथा वायुगोपा त्रिपादामृतीय प्राण बतलाये गये हैं (मं० ४)। इसी श्रद्धा से वसु रूप खंब्रह्मात्मा की प्राप्ति होती है। असुर नाम रुद्र मरुत इन्द्र विष्णु आदि देवताओं का है। अतः ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार इन देवताओं में श्रद्धा अपनी पूर्ण पराकाष्ठा में उदित हुई है उसी प्रकार हम भौतिक पुतलों में (भोजों में) जो यज्ञ या ज्ञान विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं, हे श्रद्धे तुम उसी प्रकार उदित हो जाओ। हे श्रद्धे हमें प्रिय ज्ञान शुद्ध ज्ञान दो,

और प्रिय या शुद्ध ज्ञान दिलाओ, ज्ञान पिपासुओं (इन्द्रादि भोजेषु) के प्रयत्नों (विकासों में यज्वसु) में उस प्रिय शुद्ध श्रद्धा का उदय करा दो ॥ क्योंकि सृष्टि के आरम्भ ही से, अग्नि रूप वाणी का विकास सर्व प्रथम इसी श्रद्धा या काम या मनः से होता है, उसी श्रद्धा से दो अरणियों की अग्नि में हविः रूप भौतिक आत्मा का आह्वान किया जाता है, वही श्रद्धा भग नामक २८ वें तत्त्व के सिर या २७ वें तत्त्व में भौतिक वाग्ब्रह्म के स्वरूप में उदित जानी जाती है (वेदयामसि) ॥ ('मनुः और यम' को देखें) ।

२ – गीता में श्रद्धा

गीता ने उक्त श्रद्धा का विवेचन वैदिक दर्शन के कुछ कुछ अनुरूपता में किया है । उसने लिखा है कि श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, यह स्वभाव से ही विद्यमान रहती है । ये तीन प्रकार—सात्त्विक राजस और तामस—के हैं । ये तीनों भाग त्रिपादामृत के स्वरूप हैं । पर देह में स्थूल शरीर में ये त्रिपादामृत सत्वानुरूप या भौतिक तत्त्वों के प्राधान्य से विभिन्न स्वरूप लेते हैं । ये तत्त्व अमृत नहीं मर्त्य रूप की श्रद्धायें हो जाती हैं, जिनमें जिन तत्त्वों की प्रधानता रहती है उसमें उसी के अनुरूप श्रद्धा रहती है, जिसमें जैसी श्रद्धा रहती है उसका जीवन उसी के अनुरूप ढल जाता है । सात्त्विक श्रद्धा वाला देवताओं के अनुरूप कार्य करता है, राजस श्रद्धा वाले वे होते हैं जो यक्ष राक्षस आदि का सा मायावी आचरण करते हैं; तथा तामसी श्रद्धा वाले वे होते हैं जो भूत प्रेतगणों के अनुरूप छल छद्म का काम करते हैं । भौतिक सात्विकता भौतिक राजसिकता और भौतिक तामसिकता के ये गुण कर्म और फल हैं । वैदिव ऋषि आध्यात्मिक श्रद्धा के उपासक थे, उसका वर्णन गीता ने भी नहीं दिया है, वह केवल देही या भौतिक प्राणियों की श्रद्धा का वर्णन इस प्रकार दे रही है । क्योंकि गीता जिस श्रद्धा का वर्णन कर रही है उसे 'देहिनां' या भौतिक शरीर वालों की श्रद्धा ही स्वयं स्पष्टतया बतला रही है । जैसे

"त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥१॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥२॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतभूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥३॥
(गीता १७-१,२,३)

इसमें वैदिक दर्शन का दृष्टि कोण द्वितीय श्लोक में है जिसमें कहा है कि यह पुरुष श्रद्धामय है, यह सृष्टि श्रद्धामय है, और जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही (सात्त्विक राजस तामस) व्यक्ति है । श्रद्धा को स्वभावज मानना भी वैदिक दृष्टि कोण ही है, स्वभाव सृष्टि का आदि स्वरूप है, वहीं से श्रद्धा का जन्म हो जाता है ।

———

अध्याय १२८

यमी

वैदिक संवादों में यम यमी संवाद बहुत प्रसिद्ध है। यह ऋग्वेद और अथर्व दोनों में मिलता है। प्रथम मन्त्र सामवेद में भी मिलता है। इस प्रकार के दो और संवाद हैं–'वशिष्ट-सुदास' तथा 'सरमा-पणि'। यम यमी दो यमल (जुड़वाँ) हैं। कब के ? सृष्टि रचना के आदि काल में जब भौतिकात्मा में 'भगः' नामक (भगवान् भागकृत् भाग्यकृत् विभागकृत्) ने स्त्रीपुमान्संपरिष्वक्त सोमात्मा को पुरुष और स्त्री दो पृथक् पृथक् रूपों में चीर कर अलग अलग कर दिया। जाया उसका नाम है जो उसीसे उत्पन्न हो 'ततः जायते इति जाया'। अतः इस सृष्टि में प्रत्येक पुरुष का प्रतिपक्ष स्त्री और प्रत्येक स्त्री का प्रतिपक्ष पुरुष अवश्य होता है, प्रायः उन्हीं का विवाह होता है, गलत विवाह संसर्गीय प्रेम से वातावरणीय भौतिक प्रेम से होते हैं, जो बाद में आध्यात्मिक भिन्नता होने से बिछुड़ जाते हैं, आध्यात्मिक समता के कुछ अंश रहे तो टिक भी जाते हैं। पर उनमें उस आत्मीयता आत्मसमर्पणीय एकता का अवश्यमेव अभाव ही रहता है जो उक्त यम यमी सम सहोदरीय तत्त्वों से बने जीवों में रहता है। ये दिव्य शरीर की बाते हैं। ऋग्वेद के उक्त यम यमी सँम्वाद में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का एक पर्दा डाला गया है। यह लौकिक नियम की कठोरता की पुष्टि करता है कि भाई बहिन का ब्याह नहीं हो सकता, पर यमी अपनी आध्यात्मिक पुकार को पूर्ण रूप से वैदिक दर्शन की विकास धारा के अनुसार ढाल कर, यम को परिस्थिति से परिचित करने की चेष्टा करती है तो यम उसे दूसरा ही मार्ग बतला देता है। वह कहता है कि मैं (भौतिक) हूं तुम आध्यात्मिक मार्ग से उत्तर युगों (पूर्वार्द्ध) को जाओ और जहाँ हमारे पूर्वजों की भौतिकात्मायें पत्नियों की तरह पुरुष या ब्रह्म के साथ रहती हैं इत्यादि। यह संसार उभयवादी है, दार्शनिक और सामाजिक। दार्शनिकता में भौतिकता (यमी) का आध्यात्मिक पुरुष की पत्नी बनने का आग्रह है, दूसरे भौतिक (यम) की पत्नी नहीं। सामाजिकता में भाई बहिनों के विवाह का निषेध है, पर रहस्य रूप से स्त्री पुरुष के जोड़े के पूर्वनिर्मित होने का पूर्ण संकेत भी है। तीसरी बात, आर्यों में विवाह आध्यात्मिक वस्तु है, भौतिक या शरीर की नहीं।

ऋ० वे० १०-१० के यम मयी संवाद सूक्त में १४ मन्त्र हैं जिन्हें अथर्व ने १६ वें अध्याय में संकलित किया है। यमी कहती है हे सखा यम ! मैं तुम्हें सखि रूप में वरण करती हूँ, तुझे पाने के लिए मैंने (चतुर्थ सप्तक रूपी) महान् समुद्र को पार कर लिया है. हे पितुर्नपात् (यम) तुम इस भूमि (सप्तक में) वेधाः के समान (ब्रह्मसम) प्रकृष्ट रूप से देदीप्यमान ज्योति को धारण करते हो ॥१॥ यम उत्तर देता है—नहीं, तुम्हारा सखा तुम्हारी मित्रता को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि सहोदरों

(सलक्ष्मा) को भार्या बनाना विरुद्ध सम्बन्ध माना जाता है। दिव के धर्ता रुद्र के वीर महः के पुत्र मरुत जो व्याप्त हैं वे इस बात की निन्दा करते हैं ॥२॥ यमी कहती है—देखो हम दोनों अमृत थे; एक ही गर्भ में थे, उसे छोड़ कर मर्त्यधर्मा बनकर आये हैं, अपने मन को मेरे मन में रख दो, तुम मेरे जन्म के पति हो, और फिर मेरे शरीर में प्रविष्ट हो जाओ ॥३॥ यम कहता—जो काम पहले कभी नहीं किया, उसे सच बोलते हुए कैसे बोले (रपेम), झूठ कैसे बोले ? गन्धर्व (गा रश्मिं ध्रुवयतीति धारयतीति वा गन्धर्वः चन्द्रमा सोमः) सूर्य हमारे दिव्य शरीर के जलमय देह में व्याप्त हैं, और द्यावापृथिवी रूप योषा या स्त्री की नाभिः या योनि हम दोनों की जन्म स्थली है ॥४॥ यमी कहती है—अरे गर्भ में तो हम दम्पती रूप में पति-पत्नि रूप में उत्पन्न हुए, हमें इस रूप में कः प्रजापति, त्वष्टा, सविता आदि विश्व सृष्टि कारकों ने उत्पन्न किया; इनके नियमों को और तो अलग रहे द्यावा पृथिवी (पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध) दोनों भी नहीं तोड़ सकते ॥५॥ यम कहता है—यह तो सृष्टि के प्रथम अह्न (प्रथमाह्न = प्रातः) पूर्वार्द्ध की बात है। इसे तो कः नामक प्रजापति ही जानता है, उसीने इसे देखा भी है, उसीने इसके बारे में कहा भी है, (परन्तु उत्तरार्द्ध में जहाँ हम दोनों का जन्म हुआ है वहाँ तो) बृहत् मित्र और वरुण का धाम या अब तो रात्रि है, उसके बारे में तुम अकारण क्लेशकारी विपरीतगामी नर तत्त्वों की सी बाते क्यों करती हो ? ॥६॥ यमी फिर कहती है—यम की यह यम्य देह ! यमी की कामना करो, क्योंकि हम दोनों एक ही योनि (द्यावापृथिवी) से उत्पन्न हुए हैं, जहाँ हम दोनों साथ सोते रहे, मैंने अपनी देह को इसलिए पृथक् किया कि मैं तुम्हारी सेवा वैसे ही कर सकूँ जैसे पत्नी पति की करती है तथा तुम से इस प्रकार मिली रहूँ जैसे चक्र, रथ्या या मार्ग से या भूमि से सदा मिला रहता है ॥७॥ यम फिर कहता है—देवताओं के गुप्तचर यहाँ क्षणभर ठहरते नहीं, उनके पलक नहीं लगते (आँखें फाड़कर देखते ही रहते हैं व्याप्ति रूप में रहते हैं, अतः उनका बड़ा भय है)। इसलिए तुम मुझसे अतिरिक्त किसी दूसरे निष्ठुर (आहनः) के पास शीघ्र चली जावो, उसीके साथ रथ्या और चक्र के समान मिली रहो ॥८॥ यमी फिर अपनी प्रतिभा की ऊँची उड़ान तथा दार्शनिक व्याख्यान की गदा घुमाती हुई कहती है—रात्रि (उत्तरार्द्ध) सदा दिन (पूर्वार्द्ध) के साथ रहती है, सूर्य और चक्षु दोनों साथ साथ रहते हैं, दिवा (दिन) और पृथिवी, शुक्ल कृष्ण पक्ष दोनों सदा साथ जुड़े रहते हैं, इसी प्रकार यमी, यम के साथ विवाह करके सबन्धु या स्त्री रूप में रहना चाहती है (तो कौन नई बात होगी) ॥९॥ यम उत्तर में कहता है—अच्छा तुम्हें विवाह करना ही है तो तुम उत्तरवर्ती (पूर्वार्द्ध के) तत्त्वों के पास जावो जहाँ स्त्रियों ने अपने अपने पति खोज लिए, वहाँ वृषभ नामक तत्त्वों (बृहस्पति इन्द्र वरुण पर्जन्य आदि) के हाथ की कामना करो, पर कुछ भी हो, हे सौभाग्यवती मुझसे किसी दूसरे को पति बनाने की इच्छा करो ॥१०॥ यमी फिर कहती है—क्या भाई के रहते हुए बहिन अनाथ हो सकती है ? क्या भाई के रहते बहिन वन्ध्यात्व (निर्ऋति) को प्राप्त हो सकती है ? मैं काम की पीड़ा से मूर्छित होकर इतना अधिक प्रलाप कर गई हू,

अतः अपने शरीर से मेरे शरीर को आपीडित (आलिङ्गित) करो ॥११॥ यम पुनः उत्तर देता है :—हे यमी ! मैं यहाँ तेरा नाथ नहीं हूँ, और निश्चय पूर्वक अपने शरीर से तेरे शरीर का आलिङ्गन नहीं करूँगा। मुझसे किसी दूसरे को अपने आनन्द का कारण बनाओ। हे सुभगे, तुम्हारा भाई, तुम्हारी इन बातों को नहीं चाहता ॥१२॥ यमी फिर कहती है—हे यम ! खेद है, तुम पर दया आती है, तुम बड़े दुर्बल भावना के हो, तुम्हारे मन को मैं नहीं जान पाई। तुम्हें कोई दूसरी (स्त्री) रस्सी की तरह ऐसी लिपट जायेगी जैसे लता वृक्ष को लिपट जाती है ॥१३॥ यम फिर उत्तर देता है :—हे यमी ! तुम किसी दूसरे को इसी प्रकार लिपट जावोगी जैसे लता वृक्ष को लिपटती है, और वह तुम्हारा आलिङ्गन भी उसी प्रकार करेगा। तुम ऐसे ही व्यक्ति के मन की इच्छा करो, वही तुम्हें (गर्भ के) आधान या आदान से आनन्दमयी और सुभद्रा या सौभाग्यवती–पति पुत्र पौत्रवती–बनायेगा ॥१४॥ इति ॥ यम का मुख्य तात्पर्य यह है कि पति भौतिक शरीरी यम नहीं वरन् यम और यमी में जो आध्यात्मिक आत्मायें हैं उनका ही विवाह होता है वे अन्य हैं। अथर्ववेद ने 'को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य' ऋ० वे० १-८४-४ और 'न वा उ ते तनू तन्वा सम्पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। असंयदेतन्मनसो हृदो ये भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीयः ॥' को क्रम से छठा और चौदहवां मन्त्र लिख रखा है, जिससे इसमें मन्त्र संख्या १६ हो गई है। इनमें से प्रथम का अर्थ कः (हिरण्यगर्भः) में दिया जा चुका है द्वितीय स्वयं स्पष्ट है। शेष ऋ० वे० १०-१० के मन्त्र ये हैं :—

"ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥१॥
न ते सखा सख्यं वष्टयेतत्सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥२॥
उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व मा विविश्याः ॥३॥
न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥४॥
गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
न कि रस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥५॥
को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥६॥
यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥७॥
न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥८॥
रात्रीभि रस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमी र्यमस्य बिभृयादजामि ॥९॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥१०॥
किं भ्राता सद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥११॥
न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्याम् पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥१२॥
बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥१३॥
अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥१४॥ इति"

यमयमी के पिता विवस्वान् और माता सरण्यू हैं, त्वष्टा सरण्यू का पिता है। इनके सहोदर भाई अश्विनी कुमार हैं. मनु प्रतिनिधि माता का पुत्र है। पिता सबका विवस्वान् ही है। अतः मातायें केवल, सरण्यू के विभिन्न स्वरूप मात्र बतलाती हैं। श० प० ब्रा० (७-२-१-१०) और गो० उ० (४-८) ने यमी को 'इयं (पृथिवी) यमी' नाम से संबोधित किया है। यम अपनी भौतिकात्मा से हो संतुष्ट नहीं है, वह यमी के देह से क्या संतुष्ट होगा। वह देह से आत्मा या देव रूप में परिणत होना चाहता है, यम भौतिकात्मा की देह भी दैवी भौतिकात्मा है, यमी की आसुरी भौतिकात्मा। इन दोनों का बेमेल जोड़ा है। अतः इनका विवाह असम्भव है। दूसरे, यम अपने अमृतं भौतिक शरीर को भी त्याग कर उसके शुद्ध दैविक रूप अग्नि सूर्य चन्द्रमा दिशा रूप में परिणत होने के लिए सर्व प्रथम उस शरीर को त्यागता है। अतः उसे सबसे पहले मरने वाला पितरों को देवयान या देवमार्ग दिखाने वाला बताया गया है (यम देखें)।

अध्याय १२६

सरमा और पणिः

सरमा शब्द सरणशीलता या सरतीति सरमा व्युत्पत्ति रखता है और यह यम के श्वानों की माता है, तथा पणि शब्द, पराणीति पणिः या शत्रु रूप तत्त्व या असुर। सरमा शुनी का संकेतक है तो पणि असुरों का। आधुनिक लोग पणि शब्द को फिनिषियन (Phinician-Greek) यूनानी जाति का संकेतक मानते हैं तो असुर को असीरियन (Asyrian) जाति का। यास्क ने पणि माने बनिया और असुर लिखा है। अतः उक्त दोनों कल्पनाओं के महल धराशायी हो जाते हैं तथा वैदिक काल में ऐसी परिस्थिति रही होगी इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं। वैदिकों ने अपनी ही सँस्कृति को अपने दर्शन का आधार बनाया है। सरमा और पणि वैदिक दर्शन के निश्चित तत्त्वों के संकेतक हैं। इनका सम्बन्ध इन्द्र और 'गावः' से है। अतः इन शब्दों से किसी विदेशी जाति का संकेत होने में सन्देह कम नहीं। पणि शब्द अष्टम मण्डल में (८-६६-१०) और सरमा दशम मण्डल (१०-१०८) में आता है। इनके कथानक वेद निर्माण से बहुत प्राचीन हैं। सरमा 'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्' के 'शुनं' नामक इन्द्र के प्राणोदान रूप 'नृचक्षस' नामक श्वानों की माता है और पणि, गौ रूप का प्रतिपक्ष है। दोनों के कथानक बहुत प्राचीन हैं। 'यम के दो श्वान' शीर्षक देखें। सरमा पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की सूचक है, जिसमें प्राणोदानों की उत्पत्ति होती है। अतः इन्हें सारमेयौ कहा है, यम के श्वान भी। पणि दैवी गौवों को आसुरी बनाना चाहते हैं। गायें आदित्य या चक्षुः श्रोत्रं वाक् मनः प्राण, पञ्चप्राण रूप आदित्य है। सरमा उन्हें दैवी रूप में लाती है जिन्हें पणि आसुरी बनाना चाहते थे। पणि नाम कसाइयों का या खून पीने वालों का हो सकता है, दैवी गायों से देवता दूध पीते हैं। 'पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे' इत्यादि का यही भाव है। पणि नामक असुरों और सरमा नामक देवशुनी का पारस्परिक संवाद या कथोपकथन ऋ० वे० १०-१०८ में संक्षेप में दिया गया है। इस सूक्त में वार्तारम्भ पणि असुर करते हैं। देवशुनी सरमा को इन्द्र, अपनी खोई गायों को खोजकर लाने के लिए भेजता है। जब वह पणि लोक 'अलका' में पहुँचती है तो पणि असुर उससे पूछते हैं :—हे सरमे कहो इतनी दूर परा भूमि उत्तरार्द्ध (दक्षिणायन) में क्या इच्छा करती हुई आई हो, तुम्हारा हमसे क्या स्वार्थ या काम है, इस रात्रि नामक दक्षिणायन में इतना परिश्रम भ्रमण का क्या अभिप्राय है, इस दक्षिणायन के चतुर्थ सप्तक रूपी रस ब्रह्म (सोम) के आपोमय समुद्र के पानी को तुमने कैसे पार किया ? ॥१॥ इस प्रश्न के उत्तर में सरमा देवशुनी, पणि असुरों को उत्तर देती हुई कहती है :—मैं इन्द्र की दूती हूँ, उसी की भेजी हुई आ रही हूँ, आप लोगों की निधियों की महिमा अपनाना चाहती हूँ। इन्द्र मुझे भय से सुरक्षित रखता है, इसी लिए मैं समुद्र

को पार कर आई ॥२॥ असुर पणि फिर पूछते हैं :—हे सरमे ! यह बतलाओ कि वह इन्द्र किस प्रकार का है, वह किस ठाट का है जिसकी तुम दूती बनकर दक्षिणायन की ओर आई हो, चलो हम उसे अपना मित्र बनावें, क्योंकि वह हमारी गायों (चुराई गायों) का स्वामी है ॥३॥ तब सरमा देवशुनी उन्हें उत्तर देती हुई कहती है :—मैं तो उस इन्द्र को ठीक ठोक नहीं जानती, वह तो ऐसा व्यक्ति है जो दुष्टों को नष्ट कर देता है, मैं उसी की दृती हूँ, वड़े बड़े लोग उससे नहीं मिल सकते, अरे पणि लोगों ! तुम तो इन्द्र से मारे जाकर सदा के लिए सो ही जावोगे ॥४॥ तब पणि असुर बिगड़कर उत्तर देते है :—हे सरमे सौभाग्यवती ! परम दिन के अन्तिम छोर से आकर तुम जिन गायों की इच्छा करती हो, वह कौन है जिसने इन्हें उत्पन्न किया ?, (यदि तुम उन्हें चाहती ही हो तो) वह हमसे युद्ध करे, हमारे आयुध बड़े तीखे हैं ॥५॥ फिर सरमा इसका उत्तर देती है :—हे पणि लोगो ! आपके वचन असत् हैं, आप लोगों के पापी तन 'अनिषव्य' या वाणों से विद्ध होने योग्य न होने पावें। आप लोगों का मार्ग अधृष्ट या विनम्र हो, नहीं तो बृहस्पति आप लोगों की इन दोनों बातों को नहीं सहन करेगा ॥६॥ तब पणि, बृहस्पति की धमकी में आकर कहते हैं :—यह निधि-गौ रूप निधि-हे सरमे ! अद्रिबुध्न है (सोमाद्रि से उद्भूत है) जो गोधन अश्वधन और वसुधन से सन्यस्त हैं, उसको पक्की रक्षा करने वाले पणि लोग सुरक्षित रखते हैं और वे इन्हें अलका पुरी में ले आये हैं ॥७॥ सरमा पुनः उन्हें उत्तर देती है :—इस लोक में तो सोमपा ऋषि, अयास्य और नवग्व अङ्गिरस ऋषि आ चुके हैं, वे पहिले यहाँ गायों की खोज में रह चुके हैं, उन्होंने ही हमें पणियों के बारे में बताया है ॥८॥ पणि लोग फिर सरमा से कहते हैं :—हे सरमे ! तुम यहाँ कई कठिनाइयों और बाधाओं को पार कर दैवी शक्ति से आई हो, हम तुम्हें अपनी बहिन बनाते हैं, यहाँ से वापिस मत जा और हम तुम सब तेरी इन गायों का आनन्द भोगें ॥९॥ सरमा इसके प्रत्युत्तर में कहती है :—न तो मैं भाईचारे को जानती हूँ, न इन्द्र अङ्गिरस आदि भयंकर (लोग तत्त्व) बहिन के नाते को मानते या जानते हैं,उन्होंने मुझे गायों को लाने के लिए ही भेजा है, हे पणि लोगों ! यही अच्छा है कि मैं उन्हें लेकर ही जाऊँ ॥१०॥ अरे पणि लोगो अब यहाँ से दूर हट जावो, यही अच्छा है, और गायें ऋत के पास प्रसन्नता से जावें, बृहस्पति सोम ग्रावाण ऋषियों और विप्रों को भली-भाँति विदित है कि गायें यहाँ छिपा कर रखी गई हैं ॥११॥ उक्त पूरा सूक्त निम्न प्रकार से दिया हुआ मिलता है :—

पणय :—"किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
कास्मे हितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥१॥

सरमा :— इन्द्रस्य दूती रिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि ॥२॥

पणय :— कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥३॥

सरमा :— नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात् ।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥४॥

पणय :— इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्त्सुभगे पतन्ती ।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा ॥५॥

सरमा :— असन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृलात् ॥६॥

पण यः— अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभि रश्वेभिर्वसुभिन्यृष्टः ।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ ॥७॥

सरमा :— एह गमन्नृषय सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः ।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथं तद्वचः पणयो वमन्नित् ॥८॥

पणय :— एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन ।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥९॥

सरमा :— नाहं वेद भ्रातृत्वं न स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः ।
गाकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥१०॥

दूरमिति पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन ।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूल्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ॥११॥"

ऋ० वे० १-३२-११—"निरुद्धा आपः पणिनेन गावः ।"
ऋ० वे० ८-६६-१०—"इन्द्रो विश्वान्वेकनाटाँ अहर्दृश उत
क्रत्वा पणि रभि ॥"

उक्त सूक्त और मन्त्रों में इन्द्र, बृहस्पति, ऋषयः, विप्रा, सोम, ग्रावाणः, रात्रिः, रसा के जल, पराचैः, अलका आदि शब्द पारिभाषिक हैं। साथ में जिन गायों के खोये और खोजने की कथा इस सूक्त में है उन्हें 'अद्रिबुध्नः' नाम से पुकारा है, अद्रिबुध्न (सोमपर्वतमूल) तीन धनों को बताया है गोधन अश्वधन और वसुधन । इनमें गोधन आदित्य रूप धन हैं; अश्वधन प्राण रूप धन है, वसुधन ब्रह्मरूप धन है। ये तीन मिलकर त्रिपादामृत बनाते हैं। ये सब भौतिकात्मा के विवृद्ध स्वरूप या आसुरी स्वरूप वृत्रादि स्वरूप से प्रच्छन्न हो गये थे, उन्हीं को इन्द्र की दूती देवशुनी अश्वरूप धन प्राणरूप धन शोधकर या खोज कर या अग्नि को प्रदीप्त कर (वैश्वानराग्नि को प्रज्वलित कर) गौरूप बुद्धिरूप आदित्यों को खोज लाई, 'गावो वा आदित्या' यह तो ऐ० ब्रा० (४-३-१७) ने स्पष्ट लिखा ही है। इसी से सबका विश्लेषण अपने आप हो जाता है। ये सब तत्त्व उत्तरार्द्ध के हैं जिसे पराचैः या दक्षिणा या दक्षिणायन या रात्रि कहते हैं। इसका आरम्भ चतुर्थ सप्तक से होता है जिसे रसमय समुद्र या रसब्रह्म समुद्र भी कहते हैं। वृत्र वध से जल ही जल प्रवाहित होने की बात ऋ० वे० १-३२-१०,११ में दी ही हुई है। इसी चतुर्थ सप्तक में नवग्व अयास्य अङ्गिरस ऋषियों का भी उद्भव होता है, इसकी भी यहाँ चर्चा है ही, बृह-

स्पति जब विश्वेदेवता होता है तब वह इसी सप्तक में भौतिकात्मा धारण करता है वह सर्वगण देवता है, सर्वमान्य भी, उसी के भय में पणि भी आ जाते हैं। पणि आसुरी वृत्ति की चौरवृत्ति की प्रतिष्ठा करने के लिए दैवी वृत्ति की देवदूती देवशुनी को लालच में नहीं ला सके, भले ही ये उसे बहिन बनाकर अपने यहाँ रखने को तत्पर थे। यहाँ देवासुर वृत्तियों और कर्मों का रहस्यमय व्याख्यान देते हुए साथ में आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों की भिन्नता या आध्यात्मिकता और भौतिकता के अन्तर्द्वन्द्व—जिससे यह ब्रह्माण्ड चल रहा है—का दार्शनिक विवेचन दिया गया है। उन दिनों पणि नाम की कोई व्यापारी जाति रही हो जिन्हें असुर भी कहते रहे हों यह सम्भव है, ये थे तो, कहीं भारत में ही होंगे, क्योंकि वहाँ 'रसा' माने एक नदी ही होगी। यह बात दक्षिण पूर्व भारत की ओर संकेत करती है।

———

अध्याय १२७

आप्त्या

आप्त्या की व्युत्पत्ति आप्नोतीति 'आप्त्या' है। इन्द्र की स्तुति (ऋ० वे० १०-१२०-६) में इसकी प्रार्थना इस प्रकार दी गई है।

"स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्।
आ दर्शते शवसा सप्त दानून्प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥"

हम उस बहुरूप ईश्वरतम और आप्ततम की स्तुति करते हैं जो 'आप्त्या' का आदर करता है और अपने बल से सप्त दातॄन् (दाताओं) या दानून् (दानवों) को अनेक स्वरूपों में प्रदर्शित करके प्राप्त करता है। इस मन्त्र में दातॄन् दानून् और दर्शने दर्षते दो पाठान्तर मिलते हैं, अर्थ में अधिक अन्तर नहीं पड़ता। इस सूक्त के अन्त में (१०-१२०-९) लिखा है कि अथर्वा ऋषि (इस सूक्त के ऋषि) अपने शरीर को स्वयं इन्द्र कहते थे जिसको स्वसार माता बल से शत्रुओं को नष्ट कर पालती पोषती रही जैसे

"एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्वमिन्द्रमेव।
स्वसारो मातरिभ्वरीररिप्रा हिन्वन्ति च शवशा वर्धयन्ति च ॥"

यह मन्त्र इन्द्र तत्त्व निर्णय में बहुत सहायक सिद्ध होगा।

अध्याय १२८

माया, योगमाया, मोहनी और मायाजाल तथा ममता

अखिल दृश्य ब्रह्माण्ड का मूल बीज भूत तत्त्व तो ब्रह्म ही है 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीद्' (छा०, बृह० उप०) और 'बीजं मां सर्व भूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।' (गीता ७-१०)। पर वह आदि ब्रह्म कैवल्यावस्था में स्वभाव

१—ब्रह्म और माया

और प्रकृति से ऐसा अभेद प्राप्त कर लेता है कि दोनों में ब्रह्म से अन्तर नहीं रह जाता। स्वभाव और प्रकृति का ब्रह्म रूप में विलय या प्रलय या तादात्म्य हो जाता है। इसीलिए इस अवस्था को केवल, कैवल्य, एक और अद्वितीय नाम से पुकारा जाता है। बृहदारण्यक ने एक स्थल पर इस वैज्ञानिक निष्कर्ष को बहुत सुन्दर पदावली में प्रस्तुत किया है "यथा सः सैन्धव-घनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः ऐवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यपरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१३॥ यत्र तु द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति··· जिघ्रति···रसयते···शृणोति···स्पृशति···मनुते···विजानाति···यत्र तु अस्य सर्वात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् जिघ्रेत्···एष नेति नेति आत्मा अगृह्यो···(१-४-५-१३,१४, १५)। यहाँ पर ब्रह्म और आत्मा दो दो पृथक् तत्त्व बतलाये हैं। ब्रह्म तो नित्य विभुः कृत्स्नः रसघनः है, आत्मा भी इसी प्रकार का है पर यह समस्त भूत तत्त्वों का एक ऐसा निचोड़ है जो ब्रह्म में लीन हो जाता है। जहाँ द्वैत मिट जाता है। दूसरा रह ही नहीं जाता एकमेवाद्वितीय ब्रह्म बन जाता है। यह मिलने वाला आत्मा जीवात्मा है, रौद्र रूप श्मशान रूप रोदन रूप हैं, जिसका हवन सर्वहुत ब्रह्म में हो जाता ('तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे') है।

जिन तत्त्वों को वेदों और उपनिषदों में 'त्रिपादामृत' या गायत्री ब्रह्म या दर्शन के तत्त्वों का पूर्वार्द्ध कहा गया है उसी को सांख्य में 'त्रिगुणा प्रकृतिः' कहते हैं। ये त्रिगुण त्रिपादों के क्रम से फल हैं या परिणाम हैं। ये परिणाम

२—गुणमयी माया

आदि ही से दो प्रकार के हैं। ये दो प्रकार वेही दैवी और आसुरी हैं। दैवी त्रिगुणता का नाम माया है, और आसुरी तथा राक्षसी त्रिगुणता का नाम 'मोहनी' है जैसे

"त्रिभिर्गुणमयैर्भावै रेभिः सर्वमिदं ततम्।
मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

(गीता ७-१३,१४)

दैवी त्रिगुण भी सात्त्विक राजस तामस होते हैं, माया भी त्रिगुण है। दैवी

सम्पदा के या माया के राजस और तामस गुण विश्वजनीन कार्यों को सम्पादन करने वाले राजस तामस गुण हैं जैसे तारों सूर्यों ग्रहों की गति उष्णता शीतलता आदि और अपराधी तथा हठी को किसी हद तक दण्ड देना आदि, सात्त्विक तो सर्वत्र कल्याणकारी है। इसके विपरीत मोहनी या राक्षसी आसुरी माया के सात्त्विक राजस तामस गुण भयंकर और विश्व या समाज या राज्य के लिए अमङ्गलकारी होते हैं।

"मोघाशा मोघ कर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥"

(गीता ९-१२)

आसुरी सात्त्विकता फुसलाना ठगना दुराचार में मीठी मीठी बातों से फँसाना सत्य-सा असत्य बोलना इत्यादि हैं। इसीलिए महात्मा लोग सदा दैवीप्रकृति का या दैवीमाया का अनुसरण करते आ रहे हैं

"महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमास्थिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥"

(गीता ९-१३)

३—माया ठोस है

माया कोई काल्पनिक सी वस्तु या स्वप्न सी वस्तु, या ठग विद्या, या कोई अभौतिक अद्रव्य नहीं है। माया ठोस द्रव्य है; यह भौतिक भी है और आध्यात्मिक भी है। आध्यात्मिक या त्रिपादामृतीय माया का नाम दैवी माया है तो भौतिक और राक्षसी माया का नाम मोहनी माया है। दैवी माया का वास पञ्चात्माओं में है (जीवात्मा तैजसात्मा वारुणात्मा सूर्यात्मा और सोमात्मा) और मोहिनी माया का वास भौतिकात्माओं में उक्त पाँचों के आसुर भावों में रहता है। ये सबके सब तत्त्व भावमय या विभुव्यापक रूप से रहने वाले हैं। दोनों साथ साथ रहते हैं और हमारे अखिल ब्रह्माण्ड के व्यक्त रूप की ये आत्मायें या मूल बीज है

"त्रिभि गुणमयैर्भावै रेभिः सर्वामिदं ततम्।
मोहितं नाभि जानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥"

(गीता ७-१३)

सात्त्विक माया राजसी माया रागमय कर्ममय और द्वेषमय है, तैजस शक्तिमय है, तामस माया अन्धकार अज्ञान प्रमाद विपरीत भावमय है। प्रत्येक माया अपने अपने अनुरूप स्वभाव बनाती है, प्रत्येक स्वभाव ठोस तत्त्वमय है, राजस से अशान्त और इच्छा द्वेष आदि दोनों उज्ज्वल प्रकाशमय है, आनन्दमय है, सात्त्विक तामस में प्रभाव दिखाते हैं। इच्छा द्वेष राजस शक्तियां है जो सात्त्विक में सात्त्विक और तामस में तामस होती है, राजस कर्ममय अशान्ति लाता है, वह अलग नहीं वरन् सत्त्व तम की माया में सन कर या विलीन होकर रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजस माया, सात्त्विक और तामस मायाओं को प्रस्फुटित करती है। यह स्वयं रागात्मक है, कर्ममय है, तैजस है, अन्य दो को उत्तेजित करती है, स्वयं स्वतन्त्र कार्य नहीं करती।

आपने देख लिया है कि विद्या का नाम दैवी माया है अविद्या का नाम मोहिनी माया है। दोनों त्रिगुणात्मा है। दैवीमाया त्रिपादामृत है तो मोहिनी माया मृत्यु है, आसुरी राक्षसी है। पर ये दोनों प्रकार की मायायें सदा एक साथ रहती हैं। या यों कहिए एक ही तत्त्व कभी तो वह दैवीमाया के रूप में प्रस्तुत होता है, और दूसरे अवसर पर वही तत्त्व एकदम आसुरी माया या मोहिनी माया में परिणत हो जाता है। इसे आप चाहे द्विमुख (दैवी मोहिनी) कहें चाहे त्रिमुख (सात्त्विक राजस तामस) चाहे षण्मुख (द्विधा सात्त्विक राजस तामस) एक ही बात है। यह सर्वतोमुख है, सर्वतोभद्र भी है, सर्वतोऽभद्र भी है (संयोग वातावरण अवसर परिस्थिति करण चेष्टा से एक ही वस्तु नाना रूप लेती है)। यह तो बात रही इस ब्रह्माण्ड के मौलिक तत्त्वों की। यह दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड तो आसुरी माया की नाना रूपता तथा स्थूलता का सजीव चित्र है। इसमें भी दोनों मायायें साथ साथ हैं। भौतिक ब्रह्माण्ड में दोनों मायायें सदा साथ साथ रहती हैं। इन दोनों का सदा एक साथ रहना ही 'योगमाया' है या दोनों या तीनों या छहों मायाओं का योग ही योगमाया कहलाती है। योगी लोग अपनी दैवी शक्ति को बलवान् बनाकर आसुरी माया को—यहाँ तक कि साधारण गति की श्वासप्रक्रिया प्राणासुरों पर तक विजय पाकर, इस अखिल ब्रह्माण्ड को हस्तामलकवत् (हथेली के आँवले की तरह) देखने में समर्थ होते हैं। यह दर्शन तभी सिद्ध हो सकता है जब उक्त दोनों मायाओं का योग, योगमाया रूप में शरीर रूप में ब्रह्माण्ड रूप में प्रस्तुत हो जाय। प्रत्येक प्राणी वृक्ष ब्रह्माण्ड नदी पर्वतादि सब योगमाया के सजीव उदाहरण हैं, ये दैवी और आसुरी मायाओं के प्रत्यक्ष उदाहरण या आदर्श या नमूने या दृष्टान्त हैं, भावात्मक सूक्ष्म मायायें आत्मा रूप में विभु व्यापक रूप में रहती हैं, उन्हीं का रचा यह सारा जंजाल प्रपञ्च और संसार या ब्रह्मांड है। इसीलिए इस आसुरी दृश्यमान सृष्टि में लोगों को ईश्वर दीखता नहीं।

४—योगमाया

"न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥"

(गीता० ७-१५)

आसुरी माया से मोह उत्पन्न होता है। इसीलिए इसे मोहिनी माया भी कहते मोह के दो मुख्य कारण होते हैं, 'इच्छा और द्वेष'। आसुरी भावना में 'इच्छा' की असद् इच्छा की स्वाभाविक जागृति होती है। यह इच्छा बिना द्वेष किये सिद्ध नहीं होती। जैसे प्रेमी हजारों से प्रेम करना चाहता है पर अपनी प्रेमिका पर कठोर प्रतिबन्ध नियन्त्रण और संयम की इच्छा रखता है। दोनों की सिद्धि में द्वेष अनिवार्य है। इन दोनों इच्छा और द्वेष की एक ऐसी लम्बी परम्परा है कि एक अज्ञान को निभाने के लिए सैकड़ों अज्ञानों को ढूँढ ढूँढ कर प्रयोग में लाना पड़ता है। यही मोह परम्परा अज्ञान परम्परा या मोहिनी माया है। दैवी प्रकृति वालों को एक भले काम के साथ साथ सैकड़ों भले काम करने पड़ते हैं, यह दैवीमाया या महात्मा बनाने

वाली माया है। मुक्ति इन दोनों मायाओं से मिलनी चाहिनी "भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।" (गीता १३-३४)। माया का नाम भूत प्रकृति है। इन्द्र की माया दैवी माया है, वृत्र की माया आसुरी या मोहिनी माया है। इसी दैवीमाया को अपनाने के कारण इन्द्र को मायावी और बहुरूपिया कहा है जैसे

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवः" (ऋ० वे० ६-४७-१८)
"रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋ० वे० ३-५३-८)
"मायाभि रिन्द्र मायिनम्" (ऋ० वे० १-११-७)
"मायां कृण्वानो इन्द्र पुरुरूप ईयते" (ऋ० वे० ६-४७-१७)

वृत्रादि के किले और इन्द्र के यज्ञ सब माया भेदों के किले हैं माया के व्याख्यान हैं। त्रिपादीय मनः रूप इन्द्र को दैवी माया का प्रतीक बताया है तो वृत्र को उसका विरोधी आसुरी माया या मोहिनी का। वृत्र का वध नहीं किया गया। उससे भौतिकात्मा सोम और आसुरी भाग स्थूल सृष्टि का आधार बनाये गये। इन्द्र का युद्ध विजय दैवी माया की सिद्धि के लिए है, वृत्र का आसुरी माया के लिए, दोनों सीमित हैं, दोनों साथ साथ थे, रहे हैं, और रहेंगे। जैसे गीता ने स्वयं कहा है

"न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्त यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥" (१८-४०)

पर ये माया, मोहिनी और योग माया जीवात्मा तक सीमित हैं जिसका आरम्भ ब्रह्मणस्पति से होता है। पर ब्रह्म या ब्रह्म में ये सब मायायें गल कर नष्ट हो जाती हैं। इन्हें माया कहिए, विद्या और अविद्या कहिए मृत्यु कहिये या सत्यानृत कहिए ये सब ब्रह्मणस्पति तक रहते हैं। ब्रह्म की इस स्थिति का नाम ऐश्वर योग है क्योंकि सृष्टि के समय यह इन माया आदि में रहता है पर फिर भी तटस्थ ही रहता है, और प्रलय में इनसे एकदम मुक्त रहता है, इनकी मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है जैसे

"न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्नभूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः॥"

(गीता ९-४,३)

सत्यानृत की व्याख्या, मित्र और वरुण की व्याख्या के अवसर पर की जा चुकी है वहाँ पढ़लें। 'ब्रह्म सत्य है जगन्मिथ्या है' इस वैदिक भावना का भाव यह नहीं है कि यह दृश्यमान नाना रूपाकर का अखिल ब्रह्माण्ड सत्ता में है ही नहीं। इसका तात्पर्य केवल माया के दो स्वरूपों को बतलाने से है। मौलिक दैवी और मोहिनी माया सत्य हैं आधार हैं बीज हैं, और स्थूल रूप की दैवी मोहिनी माया अनृत या असत्य या भौतिक है। मिथ्या या अनृत नाम भौतिक सृष्टि का है। इसका कोई निश्चित रूप

५—सत्यानृत

नही है, जैसा मिश्रण हो वैसा रूप बन जाता है। यह रूप भी या मिश्रण भी मौलिक दैवी आसुरी मायाओं की तरंगों के अनुसार बनता है जैसे जो व्यक्ति बीते कल तक मूर्ख, पापी, अन्यायी, अत्याचारी था वह आने वाले कल को एकदम ज्ञानी, धर्मात्मा, न्यायी, सदाचारी आदि बन जाता है। इसके विपरीत भी होता है। इसका क्या कारण है ? उसका भौतिक शरीर तो वही है, बदला क्या ? बदली उसकी माया या भावना! अतः इस जगत् में जैसे भाव या जिस माया का प्रभाव होता है उसी के अनुसार भौतिक शरीर या ब्रह्माण्ड व्यवहार करता है। कोई वस्तु अच्छी होते हुए हमारे लिए बुरी है, कोई बुरी होते हुए भी अच्छी। यहाँ भी भाव जगत् या माया का प्रभाव काम करता है। कोई वस्तु कल तक भयंकर थी, आज वही सबसे उत्तम होती है। इसके विपरीत भी होता है। यह भी माया और भाव जगत् के प्रभाव का कार्य है। अतः सत्य तो भावमय जगत् या मौलिक माया है, दृश्य जगत् या दृश्य शरीर उसका दास या घोड़ा मात्र है। अतः इसे अनृत या ऋत से मौलिक माया से भिन्न (जो ऋत नहीं वह अनृत अ + ऋत = अनृत) कहते हैं। अनृत शब्द को 'मिथ्या' पर्याय द्वारा मध्ययुग के दार्शनिकों ने गलत समझा और समझाया है जिस पर अभी किसी भी समझदार को विश्वास भी नहीं है, यही एक सन्तोष की बात है। वैदिक अश्वमेध के माने भी यही था कि घोड़ा रूप वाहन रूप शरीर रूप इस आसुरी या मोहिनी माया का मेध या शुद्धि की जाय या वध किया जाय जिससे दैवी माया का प्रचार संचार विचार आचार आदि पनप सकें। यहाँ यह भी निश्चित है कि कर्मकाण्ड में इस तथ्य का अभिनय घोड़े को शरीर का प्रतीक बनाकर उसका मेध या वध भी करते रहे। पर उन दिनों यह दृष्टान्त रूपक आदि रूप में समझा जाता था। दिनों के बीतने पर प्रत्येक कार्य अप्रतिरूप या लकीर का फकीर बन कर मौलिक तथ्य को भुलाते भुलाते ठुकरा देता है। यह प्रायः सभी धर्मों के प्राचीन पुनीत भावनाओं के आभिनयिक या व्यावहारिक रूपों का हुआ है।

६—मायाजाल

मायाजाल का दूसरा सार्थक नाम इन्द्रजाल है (अथर्ववेद ७-४-१-३ से १६ तक आगे उद्धृत है)। यह 'जाल' सचमुच में एक ठोस जाल है। यह ऐसा जाल है जो जीवित वस्तुओं या तागों का निर्मित है। प्रत्येक तन्तु एक स्वतन्त्र और परतन्त्र तत्त्व है, स्वतन्त्रता प्रत्येक की स्वतन्त्र सत्ता है, परतन्त्रता एक दूसरे से नित्यानित्य रूप से सम्बंध या गाँठ या गठन रूप में है। परतन्त्रता से एक पूरा जाल बनता है, स्वतन्त्रता से जाल छिन्नभिन्न हो जाता है। ये ताने-बाने के समान हैं, इनकी स्वतन्त्रता विभागीय है विभाग से दीखते हैं, जाल से गाठों जोड़ों से युक्त से दीखते हैं, पर वे विभाग नितान्त परतन्त्र या एक तन्त्र या तन्तु के नाना गांठ रूप कांडों या विकासों के स्वरूप हैं। क्योंकि इनकी गाठें सर्वतोमुखी या चारों या पाचों दिशाओं में विकसित होती हैं। अतः यह एक कठिन जटिल जाल सा तन जाता है, ऐसा जाल बिछ जाता है उसमें फँसी वस्तु का बाहर निकलना कोई सरल काम नहीं, हँसी खेल

नहीं। यह कैसा और किस तत्त्व का कितना बड़ा जाल है उसकी झाँकी भी देख लीजिए वेदों में ही।

यह जाल या माया जाल या इन्द्र जाल (अथर्व ८-४-१-४ से १६ तक देखें) वेदों में नाना भाँति से वर्णित मिलता है। जब देवताओं को तत्त्व मानते हैं तब इसे इन्द्र जाल कहते हैं; जब अक्षर ब्रह्म के विकास क्रम की सरणि में वर्णित करते हैं तब इसे आसन्दी कहते हैं, जब इसे कर्म-काण्ड की सरणि में वर्णित करते हैं तब इसे 'अश्व' 'वृषभ' आदि नामों से पुकारते है और जब इसे अहोरात्र या संवत्सर ब्रह्म या आपोब्रह्म की सारणि में वर्णित करते हैं तब इसे 'वास' 'वस्त्र' आदि नाम से पुकारते हैं। सब में तथ्य एक है, वर्णनामात्र का भेद है। इन्द्र तैजसात्मा है तेजस मनो रूपी है; उसका विकास जब सोम में परिणत होता है तब वह इन्द्रासोमौ, इन्द्राग्नी इन्द्रा विष्णू आदि रूपों में पूर्वार्द्धीय आध्यात्मिक तानों वाला इन्द्र स्वयं उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा सोम के बानों से जकड़कर ऐसा जाल प्रस्तुत करता है जिसमें वह स्वयं ऊर्णनाभि या रेशम के कीड़े की तरह स्वयं फँस जाता है जिससे बाहर निकलना उसकी शक्ति या इच्छा के विरुद्ध हो जाता है। भौतिकात्मीय बाने इन्द्र को स्त्री के समान उसे प्रेमपाश में जकड़ लेते हैं। यही इन्द्र का सच्चा सोमपान है या देवताओं का सोमपान है। यही इन्द्रजाल है, प्रत्येक व्यक्ति, गोल पारिवारिक मण्डल और अखिल ब्रह्माण्ड एक एक इन्द्रजाल है, कोई छोटा कोई बड़ा। जब अक्षर ब्रह्म की सरणि में इस जाल का वर्णन करते हैं तो पूर्वार्द्धीयों को अक्षर या ऋग् अक्षर कहते हैं उत्तरार्द्धीयों को 'क्षर' या यजुः कहते हैं। ये दोनों ताने बाने से मिलकर इस जाल को आसन्दी या अक्षरब्रह्म कहते हैं, पूर्वार्द्धीय और उत्तरार्द्धीय दोनों में क्रम से ४,३२,००,००,०० अक्षर हैं या कुल ८६४००००००० ताने बाने हैं (अक्षर ब्रह्म या ऋचोअक्षरे शीर्षक देखें)। अश्व और वृषभ रूप वर्णना इन्हीं नाम के शीर्षकों में दी जा चुकी है। 'वस्त्र' नामक वर्णना 'दाशराज्ञयुद्ध' शीर्षक में दे दी गई है, जिसका सारांश यह है कि वेदों में भौतिकात्मा के विकास के वर्णन के लिए प्रायः यह लिखा है कि 'मातायें बच्चों के लिए वस्त्र बुनती हैं' वेदों में 'माता' नाम प्रायः आपोः देवी और 'गौः' के लिए आया है। गौ नाम आदित्यों (१२) का भी है। अतः इस भौतिक बानों की सृष्टि करने वाले आध्यात्मिक आपो देवी हैं, जो ताने हैं, तथा शन्नो देवी (आपो देव्यः) भौतिक बाने हैं। दोनों के मेल से यह वैयक्तिक ब्रह्मण्डादि वस्त्र बनते हैं। अहोरात्र पक्ष में भी वस्त्र बुनने की चर्चा एक सर्व वेद प्रख्यात मन्त्र (ऋ० वे० १-११५-४; ऐ ब्रा० ३-९; अथर्व; २०-१२३; वा० यः; ३३-३७; तै० ब्रा० २-८-७-१, तै० आ० १-७-६; २-१३-१; विरुल ४-११)।

७—माया जाल किसका बना है।

"तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥"

में मिलती है। इस ऋचा का सीधा सादा अर्थ यह है कि "मध्यवर्ती २५ वें तत्त्व सूर्य का देवत्व और महिमा ही यही है कि जब उसने सृष्टि के विकास को मध्य तक २५ वें

तत्व तक पहुँचाया ही था और ज्यों ही उत्तरार्द्ध की यात्रा या विकास के लिए अपने घोड़े या शक्ति को प्रसारित किया ही था कि उत्तरार्द्ध नाम की रात्रि ने उसके लिए वस्त्र बुनना या भौतिकात्मा को प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। पूर्वार्द्ध के ताने अहः या सूर्य के हैं उत्तरार्द्ध के बाने रात्रि के हैं, बाने रूप रात्रि ने तानों से उलझ कर सूर्य रूप दिन को अपने बानों के जाल से बने वस्त्र में लपेट दिया।" बड़े दुःख की बात है कि सायण यास्क (नि० ४-११) और पाश्चात्यों ने यहाँ पर प्रातःकाल का वर्णन समझ कर 'रात ने अपने को ढक लिया छिपा लिया' आदि अनर्थक अर्थ लगाये हैं। वैदिक दर्शन में सूर्योदय होते ही रात्रि का आरम्भ हो जाता है। सूर्य उगा नहीं रात्रि का आरम्भ हो गया। दर्शन में सूर्योदय केवल २५ वें मध्यवर्ती तत्त्व के विकास में या प्रकाश में आने मात्र से सम्बन्ध रखता है। ठीक यही भाव ऋग्वेद अन्यत्र २-३८-४ में भी इस प्रकार देता है "पुनः समव्यद्वितत वयन्ती मध्याकर्तोर्न्यधान्छक्म धीरः" इन दोनों स्थलों में या जहाँ कहीं भी अन्यत्र 'मध्याकर्तोः' शब्द आया है वहाँ-वहाँ यह शब्द सूर्य को सृष्टि विकास दर्शन का मध्यवर्ती २५ वां तत्त्व ही संकेतित करता है। 'सिम' शब्द न तो सर्वनाम है न 'स्वयं' का वाचक। यह अव्यय है। इसका अर्थ सायण ने ठीक दिया है (सर्वम्) 'सिमस्मै' एक शब्द नहीं है (सिम् (सर्वतः) अस्मै-सूर्याय, वासस्तनुते' वासं वयति भौतिकात्मनावृणोतीति यावत्; 'विततं' माने जब सूर्य नामक तत्त्व अपने त्रिपादामृतीय प्रकाश को पूर्णतः 'फैला चुका (अपना कार्य कर चुका) (संजभार) (तब रात्रि की पारी आई)। 'विततं' शब्द का अन्वय उक्त दूसरी ऋचा में 'वयन्ती' से विशेषण रूप में दिया है। 'संजभार' माने भी इसी दूसरे मंत्र के 'न्यधात्' का पर्याय स्वयं स्पष्ट है। अतः प्रमाण के लिए बाहर से ढूँढ़ खोज, ताक झाँक या अटकलपच्ची की आवश्यकता ही नहीं है। यह अहोरात्र सिद्धान्त का मायाजाल है। और दैवी तथा आसुरी शक्तयों द्वारा जब सृष्टि विकास का व्याख्यान किया जाता है तब माया या दैवीमाया या पूर्वार्द्ध के दैवीमाया के सात्विकराजसतामस के त्रिगुणित सूत्र वाले त्रिपादामृत तो तानों का काम करते हैं और मोहिनी या भौतिकात्मा या उत्तरार्द्ध के सात्विक राजस तामस के त्रिगुणित सूत्रवाले बानों का; दोनों के तानों बानों से बुना हुआ प्रत्येक ब्रह्माण्ड, वैयक्तिक पारिवारिक या अखिलब्रह्माण्डीय, मायाजाल कहलाता है। यह मायाजाल मौलिक है स्थूल नहीं; पारमाणवीय भी नहीं; आणवीय है आत्मीय है सूक्ष्म है। इन्हीं से स्थूल देह रूप मायाजाल भी बनता है, स्थूल ब्रह्माण्ड स्थूल मायाजाल है।

८—ममता

ममता स्थूल मायाजाल में होती है। स्थूल मायाजाल वैयक्तिक पारिवारिक और अखिलब्रह्माण्ड हैं। ये मधुमक्खी के छत्त के समान पिण्ड हैं। प्रत्येक सूक्ष्म मायाजाल, वैयक्तिकादि ब्रह्माण्डों की जननी या रानी सी है। जब इसका विकास होता है तो ये अण्डे देकर हजारों मक्खियों को उत्पन्न करके उन्हें अपने संयम नियम में रखकर प्रत्येक से विभिन्न काम कराती है, जो काम वह अपनी व्यापकता से सर्वतः सब कुछ कर

सकती थी, उसको अब अध्यापक बच्चे अलग-अलग विभागों में जन्म लेकर उन्हीं विभागों का सा कार्य करते हैं। यह स्थूल मायाजाल का पारिवारिक जाल, वैयक्तिक जाल का सा कार्य करता है, वैसे ही अनन्त पारिवारिक मण्डल, अखिल ब्रह्माण्ड को एक वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में परिवर्तित कर देते हैं। चूँकि इनमें से प्रत्येक एक के ही अनेक भेद हैं, अतः हम अपने प्रत्येक अंग को, अपने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को, अपनी भूमि आदि को अपना (मम) कहते हैं तो यह तो बिलकुल सत्य बात है, सब अपने या मेरे हैं। प्रत्येक का विभाग भी अपना है, अतः ममता स्वयं स्वाभाविक है, कोई बनावटी वस्तु अज्ञानता या मोह से नहीं है। यह ठोस सत्य है। पर यह सत्यता भौतिक है और परिवर्तनशील परिणामी और क्षणिक है। अतः इस नाते से इसे अनृत या मिथ्या कहा जाता है। जब तक देह है तब तक सब माया, मोहिनी मायाजाल और ममता सब सत्य हैं। जब इनका परिणाम रूपान्तर में हो जाता है तब इनका मिथ्यात्व अनृतत्व स्वयं सामने आ जाता है कि भौतिक माया ममता, मोहिनी, जाल सब अस्थिर क्षणिक और अस्थायी है। यह ज्ञान, वास्तविक सत्य ज्ञान और वैज्ञानिक दर्शन का पवित्र ज्ञान है। लोग इसी की खोज में माथापच्ची करते आये हैं। दैवी ममता करना मनुष्य को महात्मा बना देती है तो आसुरी ममता उसे दुःखमय या नितान्त स्वार्थी बना देती है। 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः। (गीता९-१३) ॥

अथर्ववेद (८-४-८-४ से १६ तक) ने उक्त मायाजाल के स्थूल और सूक्ष्म दोनों भेदों का स्पष्ट विवेचन सन्देहहीन भाषा में दे रखा है जैसे

"पुरुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः॥

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत्॥"
बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य··· ॥

बृहत्ते जालं बृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्द्धस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघा न शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया।"

"अयंलोको जालमास्सीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूँस्तमसाभि दधामि सर्वान्॥"

इत्यादि ॥ इस सूक्त में 'इन्द्रजाल' शब्द का भी प्रयोग है। अतः यह शब्द वैदिक है इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता।

माया नाम विराड् (स्त्रीलिंग) का है। यह विराड् जब असुरों के पास पहुँची तो उन्होंने इसे 'माया' नाम से सम्बोधित किया। वे इसी माया से उपजीवित रहते हैं यह बात अथर्व ने स्पष्ट लिख दी है जैसे

"सोदक्रामद्　　सासुरानागच्छत् ।
तामसुरा उपाह्वयन्त माये एहीती ॥"

तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्सः आसीदयस्पात्रं पात्रम् ।
तां　　द्विमूर्धात्व्योधोक्　　तां　　मायेवाधोक् ॥
तां मायामसुरा उपजीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥

(अथर्व ८-५-१०-४-१,२,३,४) । यह माया वैरोचनी प्राह्लादि उत्तरार्द्धीय है। विरोचन उत्तरार्द्ध का नाम है रोचना नाम पूर्वार्द्ध का है (त्री रोचना' इत्यादि) प्राह्लादि नाम वैद्युतीय विकास का है ।

अध्याय १२६

वास्तोष्पति

कर्मकाण्ड में वास्तोष्पति का अभिनय वास्तुपति के रूप में किया जाता है तथा क्षेत्रपति का आह्वन क्षेत्रपाल के रूप में। खेतिहर लोग प्रत्येक क्षेत्र में विशेष कर रोपाई के खेत में इस क्षेत्रपाल की स्थापना रोपाई ही के प्रथम दिन करते हैं। गृह-प्रवेश में भी क्षेत्रपाल की स्थापना वास्तुपति के रूप में की जाती है। ये पात्र तो अभिनय के आधार हैं। इस प्रकार की पूजायें गृहप्रवेश और बीजारोपण दोनों समयों पर होती रही। पर वैदिकों ने इनको आधार बनाकर अपने दर्शन की व्याख्या भी इन्हीं शब्दों को पारिभाषिक शब्द बनाकर कर रखी है। उपनिषदों तथा गीता में 'क्षेत्र क्षेत्रज्ञ' या 'क्षेत्र क्षेत्री' दर्शन है। इस दर्शन का आधार यहीं क्षेत्रपति वास्तोष्पति दैवत्य दर्शन है। इनमें क्षेत्रपति तो क्षेत्री या क्षेत्रज्ञ है तो वास्तोष्पति एक क्षेत्र है, एक तत्त्व है। क्योंकि क्षेत्र नाम केवल एक तत्त्व का नही वरन् समस्त ५० तत्त्वों का है। इन क्षेत्र क्षेत्री का विस्तार पूर्वक वर्णन 'विश्वेदेवता' शीर्षक में दे दिया गया है, वहां देख लिया जावे। वास्तोष्पति नामक तत्त्व भौतिक शरीर का मूल बीज दिव्य शरीर या सोम या चन्द्र है। इसलिए वास्तोष्पति को 'इन्दु' नाम से सम्बोधित भी किया है (ऋ० वे० ७-५४-२) तथा पिता नाम से पुकारा है और साथ में 'गोभिः अश्वेभिः' गयस्फानः' अर्थात् गो रूप आदित्यों और अश्वरूप प्राणों से शरीर की वृद्धि करने वाला कहा है। इसी के साथ तेरे साथ तेरी मित्रता से 'हम अजर बनें' यह प्रार्थना भी की गई है। और ७-५४-१ में इसीलिए वास्तोष्पति से 'स्वावेशः' सुन्दर निवास बनने की और 'अनमीवा' रोगहीन स्वस्थ रखने की प्रार्थना भी की गई है; और द्विपदों तथा चतुष्पदों दोनों के लिए या षड्पदों के लिए (षडष्टकों के लिए) शम् कल्याणकारी बनने की भी प्रार्थना की गई है। अन्त में तृतीय मन्त्र में 'संसदा' शब्द इसके स्थान का संकेत करता है। संसद नाम सप्तकों का है 'सप्त ते संसदः' ऋ० (वे० ८-९२-२०)। इसीलिए यहां पर 'ते संसदा' शब्द का प्रयोग है कि 'तेरे संसद के द्वारा (चतुर्थ सप्तक के द्वारा) जो गातुमती है (गातु नाम दैवीयान का है) हम जा सकें' और 'उस मार्ग में हमें योग क्षेम' से अच्छी तरह सुरक्षित रखने की प्रार्थना की गई है। पूरे मन्त्र ये हैं

"वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ॥२॥
वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वा गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥३॥

(ऋ० वे० ७-५४-१,२३)

इस वास्तोष्पति का अधिक विशद वर्णन ऋ० ७-५५ सूक्त में मिलता है। सर्वप्रथम मन्त्र में इसको अखिल ब्रह्माण्ड के नाना रूपों को प्राप्त होने वाला और रोगहर्ता बतलाया है जैसे "अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रुपाण्वा विशन्।" इसके भौतिक नाना स्वरूपों में पिता (ब्रह्म) माता (वाग्ब्रह्म) श्वा (प्राण जीव ब्रह्म) विश्पतिः (तैजशात्मा) ज्ञातयः (बान्धव या दिव्य शरीर का परिवर्द्धित कण कण का परिवार रूप स्थूल शरीर) तथा अन्य इसी प्रकार के व्याप्त तत्त्वों की इस वास्तोष्पति रूप दिव्य शरीर के प्रसाद में सोने की कामना की गई है कि उक्त सब इसमें सुखपूर्वक निवास कर सकें, और उनके विरोधियों को मार भगा दिया जावे जैसे

"सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।
ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥
(सस्तु-स्वपतु)–य आस्ते यश्चरति यश्च पश्यति नो जनः।
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं यथा॥"

(ऋ० वे० ७-५५-५,६)

यह वास्तोष्पति तो चतुर्थ सप्तक के समुद्र से उत्थित हुआ है, और यह सहस्रशीर्षा या सहस्रश्रृङ्ग या नाना रूप वाला वृषभ है, उसके बल से हम उक्त सब (पितामाता आदि) को इस दिव्य शरीरी वास्तोष्पति रूप हर्म्य में सुलावें। यह वास्तोष्पति जिस प्रकार नाना रूप धारी सहस्र श्रृङ्ग वृषभ है उसी प्रकार इसकी हजारों आसुरी पुण्यगन्धाः स्त्रियाँ और वाग्ब्रह्मणियाँ स्त्रीरूप में साथ रहती हैं उन्हें भी इसी के साथ सुलाने में समर्थ होवें। जैसे

"सहस्रश्रृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्।
तेन सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि॥"
"प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पीवरी।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वाः स्वापयामसि॥"

(ऋ० वे० ७-५५-७,८)।

अब विचार करने की बात है कि क्या किसी भी मकान घर या महल का वर्णन उक्त प्रकार से किया भी जा सकता है? कदापि नहीं! अतः हमारा वास्तोस्पति निश्चय रुप से वैदिक दर्शन के सोम का एतद्रूप वर्णन है जैसा कि स्वयं स्पष्ट है। वास्तु का नाम 'वस्तु' या गृह भी है यह भौतिक स्वापः (सु आपः है जैसे 'श्वानं वस्तो बोधयितरमब्रवीत्' (ऋ० वे० १-१६१-११)। यहां ऋभुओं के स्वापः से उद्बोधन की चर्चा है।

अध्याय १३०

क्षेत्रपतिः

क्षेत्रपति का वर्णन क्षेत्री या क्षेत्रज्ञ या ब्रह्म के समान किया गया है (विश्वे-देवता देखें)। समस्त भौतिक ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरूप क्षेत्र में आधारित और उसी में उगा हुआ या उत्पन्न है, जिसका विशद वर्णन ऋ० वे० ४-५७ सूक्त में मिलता है। हम क्षेत्रपति ब्रह्मद्वारा वड़े सुख से सरलता से हित प्रियता से विजय पाते हैं या उत्पन्न होते हैं वह गो रूप वाग्ब्रह्म और अश्वरूप प्राण ब्रह्म का क्रमिक पोषण या विकास करता है, ऐसा वह हमें इस प्रकार वर्तमान रूप में सब कुछ देता है। अहो क्षेत्रपति ? तुम मधुमान् उर्मियों वाले हो, और इन उर्मियों को हमें उसी प्रकार प्रदान करते हो जैसे गाय बछड़े को अपनी दुग्धधारा। अतः उस क्षेत्रपति से टपके मधु की बूंदें शुद्ध किये हुये घृत या प्राणों के समान पवित्र रूप में हमें उन ऋत तत्त्वों का अधिकारी बनाकर सुखी बनावें। जैसे—

"क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृलातीदृशे ॥
क्षेत्रस्य पते ? मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सूपूतमृतस्य नः पतयो मृलयन्तु ॥
(ऋ० वे० ४-५७-१२)।

आपको यह विश्वास दिलाने के लिए कि उक्त निर्णय सचमुच में एक कठोर सत्य है और पूर्णतः प्रामाणिक है विष्णु सम्बन्धी ऋचाओं की इसी प्रकार की वर्णना उद्धृत की जाती है। वैदिकों ने ब्रह्म को मधु का उत्स या भण्डार या उद्गम कहने की एक शैली बना ली थी। अतः स्थान-स्थान पर इस मधुधारा या मधु का वर्णन आता है। जैसे विष्णु के त्रिपादों को (जिन तीन पादों से तीन लोकों को नापा था) मधु से पूर्ण बतलाती हुई ऋचा यह है

"यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति"

ऋ० वे० १-१५४-४)

और इन तीन पादों के (वैदिक दर्शन के पूर्वार्द्ध या २४ तत्वों के) मधुओं के मूलश्रोत या उद्गम—या आदि ब्रह्म को 'मधु का' उत्स या भण्डार' नाम से पुकारा है जैसे "उरुक्रमस्य सहि बन्धु रित्था विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः ॥" (ऋ० वे० १-१५४-५)। विष्णु नामक तत्त्व तो सर्वा देवता है, २६ वां पूर्णावतारी विष्णुः है। उसका प्रथम रूप -परमे पदे' या 'परमे व्योमन्' में ब्रह्म स्वरूप मधु का उत्स सा भण्डार सा है। यही स्वरूप क्षेत्रपति का भी है। अतः बृहदारण्यक ने भी इस मधु की पहेली को स्वीकार कर इसका और अधिक वैज्ञानित दार्शनिक विवेचन दिया है जैसे—

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः अयमेव अमृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वं···स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः······

(बृह० उप० १-४-१३-१४)

इसी प्रकार का वर्णन छान्दोग्य ने इस प्रकार दिया है "यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान्त्समवहारमेकतां रसं गमयन्ति ते यथा ते च न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहंवृक्षस्य रसोऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येव मेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वराहो वा कीटो वा पतङ्गों वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" (६-९)

वेदों का 'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः' इत्यादि उपनिषदों और वेदों का उक्त मधुवाद ही इस ब्रह्माण्ड को सुनियमित रूप से संचालित करके रहने के योग्य बनाता है अन्यथा इस मधुवाद के बिना कोई वस्तु - प्राणी या तत्त्व स्थिर ही नहीं रह सकते; सदा प्रलय दीखता। यह मत अत्यन्त गम्भीर, वैज्ञानिक और दार्शनिक होते हुए सृष्टि का एक मुख्य उद्देश्य और विधेय भी है। इस ब्रह्माण्ड में वही व्यक्ति दुःखी है जो उक्त मधुमय सृष्टि से भ्रमर की तरह मधु को पीना या बटोरना नहीं जानता। क्योंकि यह सृष्टि काममय है जो जैसे चाहे वैसे रहे। जो काममय पुरुष मधुमयी के विपरीत अमधुमान् मार्ग को अपनाता है उसका दुःखी बनना अनिवार्य ही है। जैसे "अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भयति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिभि सम्पद्यते॥" "यथाकारी यथाचारी भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापोभवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पाप्पेन॥" (बृह० उप० १-३-४-५,६)

क्षेत्र नाम भौतिक तत्त्व का है जिसका निर्माता ऋभु या आपः है जैसे

"सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वा तिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः"

(ऋ० वे० ४-३३-७)

क्षेत्र नाम भौतिकता का है अतः क्षेत्रविद् नाम सोम और पूषा को भी दिया गया है। जैसे

"त्वं नः सोम सुक्रतु र्वयोधेयाय जागृहि। क्षेत्रवित्तरो
मनुषो वि वो मदे द्रुहो न पाह्यहंसो विवक्षसे॥"

(ऋ० वे० १०-२५-८)

और पूषा के सम्बन्ध में—

"अक्षेत्रविद् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदाऽनुशिष्टः"

(ऋ० वे० १०-३२-७)

अध्याय १३१

पुरूरवा और उर्वशी

कवि कालिदास ने पुरूरवा उर्वशी पर एक नाटक लिख दिया है, पुराणों ने इनकी गाथा इतिहास रूप में वर्णित करदी है, परन्तु वेदों में पुरूरवा और उर्वशी दोनों मन्त्र रचयिता ऋषि भी हैं तथा इनका वर्णन देवता या तत्त्व रूप में भी किया गया है। जिसको पुरूरवा उर्वशी आख्यान कहा जाता है उसी को वेदों में दूसरे स्थल पर वशिष्ठ उर्वशी रूप के आख्यान रूप में भी वर्णित किया गया है। जिसको पुरूरवा कहते हैं उसे 'ऐल' या 'ऐड', (या इडा या इला का पुत्र) भी कहा गया है। अतः उसे कहीं कहीं 'पुरूरवा ऐला' नाम से भी पुकारा गया है। श्रद्धा या कामायिनी और इला (इडा) मनु की प्रथम और द्वितीय या आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्व रूप पत्नियाँ हैं। 'ऐल', इडा या भौतिक पत्नी का भौतिक तत्त्व रूप पुत्र है, उसकी पत्नी उर्वशी है, यह बात निम्न ऋचा स्पष्टतः बतलाती है

१—इल पुरूरवा और वशिष्ठ

"इति त्वा देवा इम आहु रैल यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे ॥"

(ऋ० वे० १०-९५-१८)

पुरूरवा अपने को 'वशिष्ठः' नाम से निम्न ऋचा में पुकारता है -

"अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वशिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥"

(ऋ० वे० १०-९५-१७)

इसी उर्वशी का सम्बन्ध वशिष्ठ मुनि से निम्न ऋचा इस प्रकार बतलाती है --

"उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्तः ॥
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः ॥
सत्रे ह जाता विषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥"

(ऋ० वे० ७-३३-११,१२,१३)

सबसे स्पष्ट उल्लेख यह है :—

"विद्युतो ज्योतिः परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आ जभार ॥"

(ऋ० वे० ७-३३-१०)

इसमें 'विद्युतो ज्योतिः' नाम उर्वशी का है, वशिष्ठागस्त्य, वशिष्ठ का; यह वशिष्ठागस्त्य वही है जिसकी उत्पत्ति 'कुम्भे रेतः' (ऋ० ७-१३) से बतलाई गई है। यही पौराणिकों का अगस्त्य ऋषि है जिसे वे केवल कुम्भज कहते हैं। जिसे 'वेश्या पुत्रो वशिष्ठः' कहते हैं वह भी यही वशिष्ठागस्त्य है। इसको ऊपर की ऋचा में 'यस्त्वा विश आ जभार' कहा है। विश ही वेश्या या वैश्य वर्ग के तत्व हैं उन्हीं से वशिष्ठ नामक तत्त्व की उत्पत्ति हुई है। अतः आलंकारिक भाषा में उन्हें वेश्या पुत्र कहा गया है, किसी ने कुम्भज या अगस्त्य कहा है। वैसे वशिष्ठ और अगस्त्य दोनों पृथक्-पृथक् मंत्ररचयिता ऋषि भी हैं, ऐतिहासिक भी हैं, इनमें तत्त्वतः और ऋषितः अभेद है पर इतिहासतः और रचयितृकर्मतः भेद है। जो व्युत्पत्ति या व्याख्या 'वेश्यापुत्रोवशिष्ठः' की है ठीक उसी के समान्तर रेखा की व्युत्पत्ति या व्याख्या 'उर्वशी' की भी है 'उरु' नाम के या विश नाम के तत्त्व तृतीय सप्तक के हैं उनसे उद्भूत को विश पुत्र कहा गया है। इन तृतीय सप्तक के तत्त्वों का नाम 'उरु' कहनेवाला मन्त्र 'ऊरू तदस्ययद्वैश्यः' है(पु०सूक्त०)है। इन्हीं उरु नामक तत्त्वों की वशीभूत या उरुओं से जो भौतिकता (अश्नाति-उरुतां) को प्राप्त होती है वह उर्वशी—उरु अभ्यश्नुत, उरुभ्यां अश्नुत, उरुर्वा वशो अस्या-अप्सरा—है। प्रथम दो निरुक्तियाँ लौकिक और भद्दी है, वास्तव में अन्तिम व्युत्पत्ति उपयुक्त है क्योंकि उर्वशी और वशिष्ठ दोनों शब्दों में 'वश्' शब्द की योजना एकता सहचरता और समता का समावेश करती है, अप्सरा अर्थ में उर्वशी माने-आदर्शनीयं या व्यापनीयं होता है जैसा कि ७-३३-१० में लिखा है। यही शाकपूणि का भी मत है, आपोमयी आपः सरसः उद्भवा रूपवती तन्द्रावती आपोमयी को अप्सरा कहते हैं जिसे देखकर मित्रावरुण का रेतः स्खलित हुआ, उसी मन नामक सूर्य तत्त्व से वशिष्ठागस्त्य की उत्पत्ति हुई। यह बात ऋ० वे० ७-३३-११ के पूर्व उद्धृत मंत्र से नितान्त स्पष्ट है। इस मन्त्र का पुष्कर्=पूः करोतीति पुष्कर है जिसका अर्थ उदक नहीं, यह पुष्कर वपुष्कर भी है पुष्णातीति पुष्यतीति पुष्कर भी है। क्योंकि इसका सम्बन्ध 'पूषा' से है, यह पूषा का सप्तक है। अतः पुष्कर की व्युत्पत्ति पुष्यतीति उपयुक्त है। पुष्कर के माने अन्तरिक्ष नहीं होता, न पीने का जल, यह चतुर्थ सप्तक है। चतुर्थ सप्तक के समुद्र से यह अप्सरा उत्पन्न होती है जिसका प्रमाण यह है "समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरमभि सोममक्षरन्।" (ऋ० वे० ९-७८-३)। अस्तु पुरूरवा और उर्वशी का विशिष्ट वर्णन एक साथ ऋ० वे० १०-९५ सूक्त में दिया गया है, उसके एक दो मन्त्रों को यहाँ पर दे दिया जाता है, शेष ७-३३ के कुछ मन्त्रों को दे ही दिया जा चुका है।

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घयायुः॥

(ऋ० वे० १०-९५-१०)

वह उवर्शी बिजली की तरह चमकने और गिरने वाली, मेरी सब कामनाओं को पूरी करती हुई प्रकाशमान हुई या सत्ता में आई। इसका जन्म आपो सप्तक

चतुर्थ में हुआ जिसके तत्त्वों को नर (नृषद्) भी कहते
२—उर्वशी हैं, उन विकसित तत्त्वों को उर्वशी परिवर्द्धित करके दीर्घ-
जीवी बनावे ॥

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेम वर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः ।
३—पुरूरवा महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन् दस्यु हत्याय देवाः ॥
(ऋ० वे० १०-९५-७)

देवताओं ने, हे पुरूरवा ! तुम्हें भौतिक तत्त्व रूप शत्रुओं से महान् युद्ध करने के लिए परिवर्द्धित किया है , अतः स्वयं प्रवाहिणी या स्वयं विकास को प्राप्त होने वाली पञ्चपर्वाविद्या को नदी रूप छान्दसी देवपत्नी तत्त्व रूप में आगे बढ़ना रोक दें, क्योंकि उन्होंने तुम्हें पाल-पोष कर बड़ा बना दिया है, (अब इनका कार्यभार स्वयं समाप्त कर हलका करदो, उनका काम तुम आगे बढ़ाओ—अब विकास तुमसे आगे होगा—सृष्टि का)

स्पष्टीकरण - उक्त शीर्षक में आगे 'कुम्भ' का सम्बन्ध वृत्रासुर के सिर रूप कुम्भ से है (वृत्र देखें)। यह भौतिक तत्त्व का प्रतीक है। 'ब्रह्मन् मनसोऽधिजात' में मनसः शब्द वही 'चन्द्रमा मनसो जातः' की सूचना देते हुए सूर्य नामक तत्त्व का संकेत करता है। मित्रावरुण रूप ब्रह्म भी सूर्य के ही प्रतीक है। उर्वशी भौतिक तत्त्व रूप स्त्री ('स्त्रिया समपूर्यत इव' बृह० उप०) है। उर्वशी का सम्बन्ध नदी से देने का तात्पर्य पञ्चपर्वाविद्या रूप—तत्त्व रूप नदी—से है जिसका उत्तरोत्तर विकास नदी की तरह बढ़ता ही जाता है। इस नदी का तात्कालिक रूप विद्युन्मय मात्र था, अतः उस नदी का वर्णन विद्युत् प्रभा सम युवती के समान किया गया है जिसकी आलंकारिक सुन्दरता पर मुग्ध होकर सूर्य रूप मित्रावरुण का रेतः स्खलित हो पड़ा उसीसे वशिष्ठ या पुरूरवा उत्पन्न हुए। यह नदी अप्सरा है। उर्वशी तो वशिष्ठादि की वाणी रूप वाग्ब्रह्माणी या पत्नी है। इसके समर्थन में दार्शनिक भावनाओं को श० प० ब्रा० ने ११-५-१ पूरे प्रपाठक में पुरूरवा और उर्वशी की पौराणिक कथा देते हुए इसके सूक्त (ऋ० वे० १०-९५) के प्रथम द्वितीय, चौदहवीं और सोलहवीं ऋचाओं की व्याख्या दे रखी है। उर्वशी स्वर्ग पूर्वार्द्ध से नग्न ही आयी, पुरूरवा उस पर मुग्ध हो गया। इससे गन्धर्व नाराज हुए। वह वस्त्र पहिन कर तिरोहित हो गई। पुरूरवा को वह पुष्कर में मिली। प्रथम मन्त्र इसी मिलन की बात कहता है, यह पुरूरवा का वचन है द्वितीय उर्वशी का। उर्वशी संवत्सर की एक रात्रि या पूरे उत्तरार्द्ध तक उस पुरूरवा के साथ रहती है, गन्धर्व भी राजी होकर वरदान देते हैं कि तेरा पुत्र होगा। उर्वशी कुमार सहित अश्वत्थ और शमी अग्नि सहित गन्धर्व के पास चली आई। अश्वत्थ और शमी दो अरणियाँ हैं। अतः इनका महत्त्व है। यह पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध का संयोग है।

———

अध्याय १३२

इडा या इला

इला की चर्चा पिछले शीर्षक में आ चुकी है। इसका सम्बन्ध उर्वशी से बतलाने वाली ऋचायें यहाँ दे दी जाती हैं :—

"अभि न इला यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः।
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ॥"

(ऋ० वे० ५-४१-१९,२०)

"सब की माता इला या उसके विकास रूप नदी रूपिणी उर्वशी हमारी सुरक्षा करे : उर्वशी तो हमारे लिए महान् दिव या त्रिपादामृत की रक्षा करती हुई, हमारे भौतिक शरीर की पुष्टि (विकास) के लिए अपनी जलीय आत्मा से उसे निरन्तर सींचती रहे।" यहाँ चतुर्थ सप्तक नदी रूप या जल रूप भौतिकात्मा या उर्वशी है, वही सर्व प्रथम परिस्थिति में इला है, अतः वे क्रम से हमारी रक्षा करें यह आशीष मांगी जा रही है। यहां 'आयुः' या 'प्रभृथस्यायोः' शब्द चतुर्थ सप्तक के दास तत्त्व रूप 'नर' या मनुष्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। यह 'आयुः' दक्षिण अयन में निर्धारित होती है, क्योंकि वह भौतिक है, सीमित है, क्षणिक है। अतः सार्थकता के लिए 'गृणाना' शब्द का या अभ्यूर्ण्वाना; (गिनना या ऊर्णनाभि की तरह खोल बनाना अर्थ के) उपयुक्त शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इला मनु की भौतिकी पत्नी है, यह बतलाया जा चुका है।

अनेक ब्राह्मणों में इडा के बारे में निम्न सूचना मिलती है। श० प० ब्रा० १-८-१-२४; २-३-४-३४; १४-२-१-७ इडा को गौः कहता है। कौ० ३-७-५, श० प० १-८-१-२२; तांड्य ७-३-१५ गो० उप० २-२५, तै० १-६-६-६; ऐ० २-९,१०-३० में 'पशवो वै इडा' लिखते हैं। कौ० (१३६) ऐ० ब्रा० (८-२६) कौ० (३-७) अन्नं पशव इडा, और अन्नं वा इडा कहते हैं। श० प० ब्रा० (११-२-७-२०) इसे वा श्रद्धा से तादात्म्य करते हुए कहता है 'श्रद्धेडा'। श० प० ब्रा० (१-८-१-११) ने कहा है कि इडा मनु की दुहिता है "सा एषा निदानेन यदिडा" इसीलिए इसको 'मानवी' नाम दिया गया है जैसे "इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत्" (तै० १-१-४-४; श० प० ब्रा० १-८-१-२६)

श० प० ब्रा० (१-४-४-११) ने इडा को वर्षा ऋतु बतलाते हुए कहा है कि इसके यजन से ही क्षुद्रसरीसृपादि रूप सृष्टि की व्यक्ति सर्व प्रथम होती है इससे सम्पन्न आसुरी प्रभावों को भी विजित किया गया। इडा या इला दैवी भौतिकात्मा रूप दैवी वाक् है। तै० ब्रा० (१-१-४) ने लिखा है कि इला या इडा मनु की मानवी पुत्री का नाम है जैसे 'इडा वै मानवी याज्ञानुकाशीन्यासीत्'। इस इडा को यहां पर यज्ञों का प्रकाशक या विकासक बताया गया है।

अध्याय १३३

कः या हिरण्यगर्भः

(यह इन्दुः या सोम या चन्द्रमा का ही नाम है ताण्ड्य ब्राह्मण (९-९-१२ देखें)

'कः' नाम आदि प्रजापति का है। प्रजापति मुख्यतः आठ हैं, पर कई पुराणों ने दश प्रजापतियों के नाम दिये हैं। श० प० ब्रा० ३-७-२ में एकादश प्रजापतियों का वर्णन दिया है। वेदों और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों और गीता में 'सप्तर्षयः' सहर्षयः नाम इन्हीं प्रजापतियों के लिए आया है जिनमें उक्त कः प्रजापति अष्टम (प्रथम तत्त्व) है जिन्हें उन्होंने "अष्टौ पुरुषाः" "अष्टौ लोकाः" "अष्टौ स्थानानि" आदि नामों से भी पुकारा है।

१—कः क्या है ?

कः प्रजापति के बारे में 'अष्टौलोका अष्टौ पुरुषा' शीर्षक में लिखा जा चुका है जिसका सार यहां दे दिया जाता है। सायण ने 'कस्मै' शब्द की व्युत्पत्ति देने में इसे सर्वनाम 'किम्' का चतुर्थी का रूप क्या बताया कि, उक्त सर्वदलीय व्याख्यातारों ने 'कः' के वास्तविक अर्थ की ओर देखना छोड़ इसी सर्वनामी अर्थ पर गिद्ध दृष्टि लगाकर 'कस्मै' का अर्थ 'किसको' या 'किसके लिए' आँख मीच कर लगा लिया है "और स्नाइदेर ने यहां तक लिख दिया है (जिसे सबने स्वीकार किया है कि) कवि यहां पर उस ईश्वर की खोज में नाना प्रकार की भावनायें कर रहा है, वह उस आदि बीज रूप ईश्वर की—जिसकी अभिव्यक्ति यह भौतिक ब्रह्माण्ड है—खोज में कभी उसे इस वस्तु में देखता है कभी दूसरे में कभी तीसरे में और सन्देह में पूछता है कि हम किसकी उपासना करें इत्यादि।" पर यह सब व्यर्थ की कल्पनायें हैं। इस अर्थ का यहाँ कहीं कोई अवसर ही नहीं है, न सन्दर्भ, यहां तो देवता स्वयं कथित और उल्लिखित है, प्रश्न का अवसर ही नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण ने २-५-३८ में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कः नाम प्रजापति का है। यह कः प्रजापति वह तत्त्व है जिससे अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि का सर्वप्रथम श्रीगणेश करना आरम्भ करता है। यद्यपि यह सृष्टि प्रपञ्च तो अकृत या स्वयंकृत है पर जो इसे करता है उसे अकृत नहीं कहा जा सकता। इस सृष्टि की आयु वाक्, या भौतिक अणु या अखिलब्रह्माण्ड ही है, प्राण आयु है प्राण रेतः है वाक् योनि है वह वाग्योनि में प्राणरूप रेतः का सिञ्चन करता है। इसे कौन बतायेगा या 'कः शंसिष्यति' प्रश्न के कारण उसे कः प्रजापति नाम से पुकारा जाता है। जब इसका विकास चतुर्थ सप्तक के आपोरूप में होने लगता है तो इसे फिर 'कम्' प्रजापति कहते हैं और सोम रूप आपः के बदले 'शम्' प्रजापति भी कहते हैं। (ऐ० ब्रा० ३-२१; श० प० ब्रा० २-४-३-१ से ५ तक)। उक्त कः और कम् प्रजापतियों के बारे में ऐ० ब्रा० ६-४-२१ में कद्वती ऋचा (ऋ० वे७-३२-१४, साम २८०, १६८२)

"कस्तमिन्द्र त्वा वसुं कं नव्यो अतसीनां कदू न्वस्या कृतम्"

द्वारा दोनों के भेद को बताया है और इस गाथा का नाम कद्वन्त प्रगाथा और कम् प्रजापति को आरम्भणीय प्रजापति कहा है। आदि ब्रह्म या पूर्वार्द्धीय कः प्रजापति या ब्रह्म का नाम अनारम्भण या अग्रभण या अधिष्ठान नाम से पुकारा है जैसे

"अनारम्भणे यदवीरयेथा मनास्थाने अग्रभणे (ऋ० वे० १-११६-५)

तथा

"किं स्विदासी दधिष्ठानमनारम्भणे कतमत्स्वित्कथासीद्"
(ऋ० वे० १०-८१-२)

उत्तरार्द्ध में भौतिक सृष्टि का आरम्भ होते ही पूर्वार्द्धीय ब्रह्म आरम्भणीय या कम् प्रजापति कहलाता है। जब इस उत्तरार्द्ध में भौतिक सृष्टि का नवोदय होता है तब उसे कम् या शम् प्रजापति कहते हैं। यही कः प्रजापति हमारा हिरण्यगर्भ है इसी बात को श० प० ब्रा० ६-२-१-५,१२ ने 'प्रजापति वै हिरण्यगर्भः संवत्सरः प्रजापतिरग्निः कद्वत्यो याज्यनुवाक्या को हि प्रजापतिः' लिख कर ऐतरेय ब्राह्मण की सब बातों को प्रमाणिकता दे दी है। उक्त तीनों उद्धरणों को 'अष्टौ पुरुषा महर्षयः' आदि शीर्षक पृ० १५४,१६५ में दे दिया गया है, वहीं देख लिया जाय। वास्तव में जिसका नाम सर्वदेवता अग्नि या पुरुष या प्रजापतिः या महासुपर्ण संवत्सर ब्रह्म या अक्षरब्रह्म है उसी का एक नाम हिरण्यगर्भ या कः है, उसी की प्रार्थना इस सूक्त में अक्षरशः दी गई है। इस हिरण्यगर्भ का वर्णन विश्वेदेवता या कः कम् शम् आदि तत्त्व के रूप में की गई है। कम् प्रजापति का 'सम्प्रश्न' नाम पूर्ण प्रश्नि या 'विश्वारूपाणि प्रति मुञ्चते' का भाव रखता है, प्रश्नि माने ऐ० ब्रा० ५-३-२१ में 'प्रश्निः सर्वाणि रूपाणि, लिखा है। 'कः' शब्द का निरुक्ति पूर्वक अर्थ कायमान या कामयमान या काम ब्रह्म होता है जो निम्न मन्त्रों (ऋ० वे० ३-९-२) से स्पष्ट है। जैसे

"कामयमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः।
तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद्दूरे सन्निहाभव ॥" (३-९-२)

ऋ० वे० १०-१०-५ में 'गर्भे नु नौस्ति जनिता दम्पति कर्देवस्त्वष्टा' इत्यादि में 'कः' को देवता तथा जनिता देवता कहा है। वह इसी का सूचक है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल के सूक्त ८४ ने स्पष्ट शब्दों में 'कः' नामक प्रजापति को इस अखिल ब्रह्माण्ड का रचयिता बतलाया है। यहाँ पर 'कः' नामक देवता को सर्वनामी प्रश्नवाचक शब्द के अर्थ या सन्दर्भ में लिया ही नहीं जा सकता। प्रस्तुत हिरण्यगर्भीय दशममण्डलीय १२१ वां सूक्त उक्त प्रथममण्डलीय निम्न तीन ऋचाओं का विस्तृत स्वरूप मात्र है उन्हें यहां पर आज-कल के व्याख्याता विद्वानों की आखें खोलने के लिए दे दिया जाता है। ध्यान देकर देखने का कष्ट करें। वे तीन मन्त्र में हैं,

१— "कोऽद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधात्स जीवात् ॥"

२— "क ईषते तुज्यते को निभाय को मंस्यते सन्तमिन्द्रं को अन्ति ।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वेको जनाय ॥"

३— "को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः ।
कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः ॥"
(ऋ० वे० १-८४-१६, १७, १८)

ऋ० वे० ३-५४-५ में कः देवता को विश्वेदेवताओं में सम्मिलित किया है

"को अद्धा वेद क इह प्र वोचचद्देवो अच्छा पथ्या का समेति ।
ददृश्र एषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥"

अन्य मन्त्र—ऋ० वे० ४-२५-१, २, ३ में कः को सब देवताओं का विकासक कहा है '-को अद्य नर्योदेव कामः' 'को वा महे ऽवसे पार्याय', 'को नानाम वचसा सोम्याय' मनायु र्वा भवति वस्त उस्राः ॥ क इन्द्रस्य सख्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥ "को देवानामवो अद्या वृणीते क आदित्याँ अदितिं ज्योति रीट्टे । कस्याश्विना विन्द्रोऽग्निः सुतस्यांशोः पिबन्ति मनसा विवेनम् ॥"

४— "कोऽदात्कस्मा अदात्कामो दाता कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते ॥" (यजु० ७-४८)

५— "को द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्" (यजु० २३-५९)

६— को नामासि (यजु० २७-२९)

'कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि' (२७-२९; २०-४)

"को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥"
(ऋ० वे० १०-१०-६)

७— "काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा" (शु० यजु० २२-२०)

"कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत् ।
कः स्वित्तदद्य वो ब्रूयादनुदेयी यथा भवत् ॥
यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत ।
पुरस्तात् बुध्न आतत पश्चानिरयणं कृतम् ॥"
(ऋ० वे० १०-१३५-५, ६)

८— "को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥"

९— "इयं सृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥"
(ऋ० वे० १०-१२९-६, ७)

अर्थ—(१) कः नामक (आत्मा) तत्त्व सृष्टि चक्र चलाने के लिए धुरी में 'गा' प्रश्निः गौ) को नियुक्त करता है जिसमें ऋतवान् (कर्मवान्) भानुमान् दुरा-

धर्ष, सुखकारक इषु रूप प्राणों को हृदय में स्थापित करता है जो इस प्रकार के ज्ञान को धारण करता है वह चिरंजीवि रहता है ।

(२) क नामक तत्त्व ही चलता है, वही देता है, वही डरता है (ब्रह्म से) वही मानता है (ब्रह्म को) वही अपने विकास के लिए सद् रूप इन्द्र को अपत्य के लिए, महान् कार्यों के लिए और रमणीय स्वरूप तथा धन और कर्म के लिए प्रार्थना करता है ।

(३) कः नामक तत्त्व ही आत्मा को हवियों से घृत (प्राणों) से पूरित या जीवित रखता है वही स्रुचा और ऋतुओं से—स्त्री और कामना से उसका विकास या यज्ञ करता है, उसी कः देवता के लिए यज्ञ होम आदि काम करने वाला भी कः स्वयं ही है, वही इन्हें मानने वाला वीतहोत्र और कल्याण यज्ञ भी होता है ।

(४) कः ही देने वाला है, कः के लिए ही दिया जाता है, कः की कामना ही दाता होता है, कः की कामना के लिए ही दिया जाता है, कामना दाता है, कामना गृहीता है, सब काम कामना या क के लिए ही है । कः वही तत्त्व है जिसमें कामना है 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' इस कामना वाला तत्त्व काम या कः है ।

(५) कः नाम द्यावा पृथिवी और अन्तरिक्ष का है ।

(६) वह तत्त्व कः नाम का है वह कः है । श० प० ब्रा० (४-४-७-४) ने इस कः का अर्थ 'प्रजापतिर्वै कः' लिखा है । और कः नाम प्रजापति का बतलाया है जैसे 'प्रजापतिर्वै को नाम, (वहीं)

(७) क प्रजापति के लिए कस्मै प्रजापति के लिए और श्रेष्ठ नाम स्वा है ।

(८) इस मन्त्र के अर्थ में लोगों को कः माने प्रश्न का भ्रम है पर बात यह नहीं है । यहां दो कः शब्द है, दो 'कुतः' शब्द हैः दो 'कुतः' शब्दों के प्रश्न के उत्तर में क्रम से 'कुत आजाता विसृष्टि' का उत्तर 'को अद्धा वेद' है कि यह सृष्टि कहाँ से प्रारम्भ हुई ? इसे कः तत्त्व जानता है, 'कुतः इयं विसृष्टिः' कि किस लिए यह सृष्टि है—के उत्तर में 'क इह प्र वोचत्' या कः तत्त्व ने इस बारे में स्पष्ट कहा है (एको हं बहुस्यां प्रजायेय इत्यादि) । 'यत आबभूव' के माने जैसे विकास को प्राप्त हुई—वह भी क्रम से देवताओं की अधोऽधो सृष्टि द्वारा—उसे भी कः तत्त्व ही जानता है ।

(९) इस सृष्टि का वास्तविक चालक तत्त्व तो कः नामक तत्त्व ही है, पर ब्रह्म रूप आदि तत्त्व तो सुषुप्तावस्था में रहता है, सृष्ट्यारम्भ उसी से होता है पर सुषुप्त में सब सोये तत्त्व हैं, उसमें जाग्रत तत्त्व थे या नहीं, उसे इस सृष्टि का ज्ञान हुआ या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता । उसका ज्ञान स्वप्न का सा ज्ञान हो सकता है जैसा स्वप्न होता है वैसा प्रयोग में नहीं होता, सोचा (स्वप्न) कुछ जाता (होता) है सामने कुछ और ही आता है, अतः ऐसी संदिग्ध भाषा स्वभावतः सत्य है । इसीलिए "न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण

प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥" (ऋ० वे० १०-८२-७) मन्त्र कहता है कि जिसने यह सृष्टि रची है आप उसे नहीं पा या जान सकते। आपके विचार और परिस्थितियाँ (वातावरण) कुछ और ही हैं जिनके कुहरे से आपके मस्तिष्क बुरी तरह घिरे हैं, आप हिकलाती वाणी में बोलते हैं सांसारिक भोगों में फँसे हैं उनके कारण दवी जवान से हिकलाते से तर्क प्रपञ्च में बोलते हैं और वेदों के मन्त्रों का केवल पाठ मात्र करने के आदी हैं उनके रहस्य जानने के नहीं। वे रहस्य इस भोग्य संसार के भोगों के कुहरे में छिपे हैं; जो उस प्राण रूप ब्रह्म के अमृत को पीने के लिए तृषाकुल हैं वे उसकी खोजें करते हुए जगत्प्राणात्मा सूर्य देवता की उपासना या उद्दीप्ति करते हैं।

हिरण्य शब्द पर श्रुतियों के आधार पर हिरण्य शब्द का अर्थ

हिरण्यगर्भ माने प्राण रूप गर्भ या प्राण या ब्रह्म रूप अण्डा होता है। यह अण्डा 'हंसः शुचिषत्' नामक प्रलयात्मीय अन्तिम स्थिति रूप ब्रह्म का है। इसकी व्याख्या गायत्री ब्रह्म शीर्षक में अजपा गायत्री के वर्णनावसर में दे दी गई है। यह अण्डा अ से क् तक(अ+क्='कः')२६ तत्त्वों का पूर्वार्द्धीय 'कः' तत्त्व है। यह अमृताक्षर ब्रह्म है। हिरण्य माने प्राण ही होता है जैसा कि (श० प० ब्रा० ७-४-२-७ ने लिखा है "प्राणा वै हिरण्यः"। अथर्व (३-२८-६) के अनुसार त्रेधाजात या त्रिपात् का नाम हिरण्य है। श० प० ब्रा० (२-२-३-१८) ने पुनः लिखा है कि अग्नि (प्रलयी ब्रह्म) के रेतः का नाम हिरण्य है और १३-१-१-३ में लिखा है कि आलब्ध (उद्दीप्त) अश्व (प्राण) का रेतः (ज्योति) हिरण्य है। श० प० ब्रा० (६-१-३-५) ने एक बार और लिखा है कि अयस (भौतिकात्मा) से हिरण्य (ब्रह्म ज्योति) बनाया (या उद्दीप्त की गई)। आयु (सोम ज्योति) का नाम भी हिरण्य है (श० प० ब्रा० ४-३-४-२४)। अमृत या त्रिपादामृत का नाम हिरण्य है (तै० ब्रा० १-७-६-३)। चन्द्रमा का नाम हिरण्य है (तै० १-७-६-३)। सोम का नाम हिरण्य है (श० प० ब्रा० ३-३-३-६)। शुक्र का नाम हिरण्य है (ऐ० ब्रा० ७-१२)। ज्योति का नाम हिरण्य है (श० प० ब्रा० ४-३-१-२१)। यशः का नाम हिरण्य है (ऐ० ब्रा० ७-१८)। सत्य का नाम हिरण्य है (गो० उ० ३-१७)। देवताओं का नाम हिरण्य है (श० प० ब्रा० १२-८-१-१५)। पवित्र (किरण) का नाम हिरण्य है (तै० १-७-२-६) रुक्म नाम भी हिरण्य शब्दार्थक है, सुवर्ण भी इसी का अर्थ रखता है, इनका विवेचन 'सु श्वा अश्व' आदि प्राण शीर्षक में दिया जा चुका है पुनः देख लें (पृ० १११)। इनकी व्युत्पत्ति ऐसी है रोचते प्रकाशते इति रुक्मः 'सुभिः प्राणैर्वृणोतीति सुवर्णः'। इसीलिए प्राण वायु को 'रुक्म वक्षाः' कहते हैं जैसे "अग्निर्न भ्राजसो रुक्म वक्षसो वातासः" (ऋ० वे० १०-७८-१)।

ब्रह्म का यह नाम केवल ऋग्वेद के ऋषियों में 'रुक्म' नाम से कहा जाता रहा, सुवर्ण नाम सामवेदियों का गढ़ा है वे इस नाम से ब्रह्म को पुकारते रहे। (इस विषय की विस्तृत् व्याख्या 'ब्रह्मविषयक वैदिक रहस्य की संकेतावली' नामक

शीर्षक में सोद्धरण दी जा चुकी है, वहीं अवश्य देखें)। अतः तैतिरीय संहिता लिखती है कि हिरण्यगर्भ नाम प्रजापति का है जैसे

"प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वायेति" (५-५-१-२)

यही बात श० प० ब्रा० ६-२-१-५ लिखता है। उक्त हिरण्य रुक्म या सुवर्ण नामक शब्द ब्रह्म को गर्भ में धारण करने वाला जातवेदा अग्नि है जिससे चतुर्थ सप्तक में जल या आपः की उत्पत्ति होती है। इस जातवेदा अग्नि की अन्तिम रेखा का नाम उषा है, उषा का ही नाम उल्वं या गर्भ है ('उल्वं वै उषा' श० प० ब्रा० ७-२-३-११ तथा ऐ० ब्रा० तत्त्व निर्णय देखें)। इसी बात को निम्न ऋचा स्पष्ट शब्दों में कह रही है

"गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भः स्थातां गर्भश्चराथाम्।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः॥"
(ऋ० वे० १-७०-२)

वैसे गर्भ की व्युत्पत्ति 'गृह्णातीति गृणातीति गिरतीति गिलतीति वा गरणाद्गर्भः' है। यह गर्भ, भौतिकात्मा का उषा रूप खोल है जिसे जीव या प्राणी या सचेत या चेतन कहते हैं। हिरण्य को जब तक यह गर्भ रूप खोल नहीं मिलता तब तक वह अपने त्रिपादामृत रूप में रहता है। गर्भ भी अमृत है पर उसके कण-कण जीव रूप को पाने लगते हैं तो वे प्रत्येक मर्त्य रूप में परिणत होकर संसार में सरण करते हैं। लहर आगे को बढ़ती जाती है पीछे की लहर नष्ट होती रहती है यही मर्त्यपना भौतिकता है। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र अखण्ड मर्त्य है। इस भौतिक खोल को या गर्भ को 'आपः' (चतुर्थ सप्तक के आपः) बनाते हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख तो इसी सूक्त की सातवीं ऋचा इस प्रकार कर रही है जैसे

"आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्ती रग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासु रेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

यहाँ का गर्भ और असु तथा अग्नि उक्त जीव सचेत ससंज्ञ गतिमान् सोम या भौतिक खोल के नाना रूपों की ही विवेचना देता है। इस प्रकार पूर्ण 'हिरण्यगर्भः' शब्द आदि ब्रह्म से लेकर चतुर्थ सप्तक के भौतिक आपो रूप तत्त्वों के क्रमिक निर्माण का एक नाम है। और आपोरूप गर्भ आत्मारूप में हिरण्य रूप आदि ब्रह्म के साथ आपो ब्रह्म के रूप में भी रहता ही है, पर उस अवस्था में यह गर्भ केवल आत्मा (दैविक या आध्यात्मिक या अमृत) स्वरूप में विद्यमान रहता है। चतुर्थ सप्तक का आपो रूप गर्भ तत्त्व तो भौतिकात्मा हैं जिसके मर्त्य और अमृत दो रूप हैं। मर्त्य रूप आसुरी है, अमृत रूप दैवी या सोम या चन्द्रमा। ये दोनों प्रकार के गर्भ, हिरण्य रूप ब्रह्म को दैवी रूप में 'आप्नोतीति आपः' या अपने में आप्त या व्याप्त कर लेते हैं, और आसुरी रूप में 'अवृणोदिति वाः बारि वा' अपने स्वरूप को बाहर भीतर ब्रह्म से आवृत कर लेते हैं (आपो ब्रह्म देखें)।

अध्याय १३४

हिरण्यगर्भ–सूक्त (ऋ० वे० १०-१२१)

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

सृष्टि आरम्भ होने के समय (अग्रे) केवल कः या हिरण्य गर्भः नामक तत्त्व मात्र था। इस आदि हिरण्यगर्भ का 'गर्भः' आपोब्रह्म रूप दैवी शक्ति या त्रिपादामृत की मूल जननी थी जिसे 'स मातुर्योना अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' या 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' ऋचायें ठीक इसी स्वरूप से वर्णित करती हैं तथा गीता भी 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिगर्भं दधाम्यहम्' और 'तासां ब्रह्म महद्योनि रहं बीजप्रदः पिता' (१४-३,४) ठीक इसी आशय का विवेचन दे रही है। जो गर्भ है वही योनि भी है, बीजदाता ब्रह्म ही है, केवल कैवल्य वाला ब्रह्म है, शुद्ध-बुद्ध ज्योतिर्मय, ज्ञानमय, अग्निमय ब्रह्म है। वेदों में भूत शब्द पूर्वार्द्ध के त्रिपादामृतों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसको पुरुष सूक्त तथा यजुर्वेद ने निम्न मन्त्रों में इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' (या भाव्यम्) 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।' यहाँ पर भूत माने भुवन या त्रिपादामृत या पूर्वार्द्ध है, भव्यं भाव्यं या भविष्यत्, इस पूर्वार्द्ध से उत्पन्न होने वाला भौतिकात्मा रूप भौतिक तत्त्व है, दोनों को मिलाकर द्यावापृथिवी कहते हैं, पूर्वार्द्ध दैवी तत्त्व है उत्तरार्द्ध भौतिक या आसुरी। वह इन दोनों का सम्मिलित एक अर्द्ध नारीश्वर रूप सा था, आदि में वह उत्पन्न होकर (जातः), भूतस्य या दैवी तत्त्वों या पूर्वार्द्धीय २४ तत्त्वों का बीज रूप में (पति या) संरक्षक था और या केवल 'एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म' ही। 'भूतस्य' शब्द दैवी तत्त्वों या आध्यात्मिक तत्त्वों के लिए आया है। वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड की आत्मायें हैं। अतः भूतः माने लोक में प्रायः प्राणी होता है, भूत प्रेत का मूल भाव भी इन्हीं आत्माओं से सम्बन्ध रखता है। महाभूत दूसरी वस्तु है। ये केवल भौतिक हैं शुद्ध या पूर्ण भौतिक हैं। उक्त भूत तत्त्वों से अनन्त संख्या में स्थूल हैं, अतः महाभूत कहलाते हैं, क्योंकि इनका विकास भी उक्त भूतों से ही होता है, इसलिए भी ये महाभूत माने जाते हैं। इस ऋचा में पति माने स्वामी या ईश्वर नहीं है वरन् पालक या संरक्षक है, 'अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' का प्रतियोगी भाव रखता है। अतः सायणादि के भूत शब्द के विकारजातस्य और पति शब्द के ईश्वर अर्थ नितान्त असम्भव है। आत्माओं में विकार का प्रश्न ही नहीं उठता, विकार इन्हीं भौतिक तत्त्वों में आता है। ईश्वर अर्थ का यहाँ कोई भाव जमता नहीं। हाँ पूषा रूप ईश ईशान अवश्य माना जा सकता है। वैदिक ब्रह्म सूत्र १-४ देखें।

इस (स) हिरण्यगर्भ नामक कः प्रजापति ने पहले क्रम से, तीन विक्रमों से (तीन पादों से) द्याम् या पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्वों का स्वरूप धारण किया (दाधार) तदनन्तर उत्तरार्ध के २४ तत्त्वों के स्वरूप को 'पृथिवी' या भौतिकता के रूप में धारण किया, ऐसे कः प्रजापति की, हम अपनी आत्मा रूप सोम की हवियों को अर्पित करते हैं या सृष्टि यज्ञ को सोम की आहुति से सेवित करते हैं, क्योंकि 'हविर्वै देवानां सोमः' वाक्य में हविः नाम वास्तव में सोम का है यह श० प० ब्रा० ३-४-३-२ में स्पष्ट लिखा है 'हविर्धाने' और 'यज्ञ' शीर्षक अवश्य देखें। इस आशय की पुष्टि और समर्थन (ऋ० वे० ६-१२-४) 'उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः' ऋचा करती है तथाऽअग्नि का नाम भी हवि है 'हविरस्मि नाम' (ऋ० वे० ३-२६-७), जो वैश्वानराग्नि आत्मा है, ऋ० वे० १०-८१-५ के 'विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिमीमुत द्याम् से भी स्वयं हो जाती है। इसीलिए यहाँ पर हविषा शब्द का उचित प्रयोग किया है। लोगों ने द्यावा पृथिवी के माने केवल अन्तरिक्ष और भूमि लगाया है। ये दोनों अर्थ शत प्रतिशत अशुद्ध हैं। क्या अन्य ग्रहों में पृथिवी या भूमि नहीं है ? तब उनकी रचना करने वाला क्या दूसरा ही है ? द्यावा शब्द दिव अर्थ का है तो ये दिव किस किस स्तर के वाचक हैं। खगोल में अनन्त स्तर और असंख्य मंडल हैं। क्या वैदिक ऋषि की दृष्टि इतनी संकुचित थी जो केवल दृश्यमान अन्तरिक्ष और पृथिवी को लेकर ऐसी उधेड़बुन करती ? यह मार्ग ही जटिल है, दृश्यमान द्यावापृथिवी लौकिक आधार अवश्य हैं, पर दर्शन के क्षेत्र में ये दो मुख्य भागों का काम करते हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, जिनके कई और अन्य नाम भी हैं ('द्यावापृथिवी' का शीर्षक देखें)। पूर्वार्द्ध में आध्यात्मिक सृष्टि का विकास एक रूपता और अखण्डरूपता में होता है तो उत्तरार्द्ध में भौतिक सृष्टि का खण्ड-खण्डशः व्यक्ति व्यक्तिशः। पूर्वार्द्ध की एकता या ऋतता उत्तरार्द्ध में अनेकता या नाना रूपता या अनृतता में परिणत हो जाती है। इसीलिए गीता कहती है "अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्।" सबका अन्तर्जगत् एक सा है सबमें बाह्य जगत् या भौतिक रूप या स्थिति भाषा आदि अन्तर का है। पूर्वार्द्ध अन्तर्जगत् है, उत्तरार्द्ध बाह्य जगत्। विधेम = परिचराम। 'विधतिः परिचरण कर्मा' (निरुक्त २-१०), सायण ने भी यही अर्थ दिया है।

कस्मै देवाय हविषा विधेय—का अर्थ ताण्ड्य महाब्राह्मण (९-९-१२) में स्पष्ट दिया हुआ है।

"तस्मै हिरण्यगर्भाय हे इन्द्रः सोम ! ते तब सम्बधिना हविषा विधेम परिचरेम" (सायण)

"तस्मै ते इन्द्रो हविषा विधेम स्वाहेति सैव तस्य प्रायश्चित्तिः" (ब्राह्मण)

जिसका यह अर्थ हुआ कि हें हिरण्यगर्भ रूप प्रजापति या सोम हम तुम्हारी ही हवियों से (सोमो वै देवानां हविः) तुम्हारी परिचर्या करते हैं। हम सोम की पूजा सोम शरीर दिव्य अन्तरात्मा से करते हैं यह भाव है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

यह कः प्रजापति या हिरण्यगर्भ सबको आत्माएँ देने वाला है। यह प्रजापति मूलबीज 'मनोवाग्प्राण' तीन का त्रिवृत् है विवृत् है, प्रवृत् है 'त्रिवृदषि त्रिवृते त्वा' इत्यादि। प्राणों का परिणाम आत्मा में होता है, अतः द्वितीय सप्तक के वातों को आत्मा नाम से पुकारा गया है वही गर्भ भी कहा गया है जैसे

'आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः'
(ऋ० वे० १०-१६८-४)

अतः यह आत्मा भी हिरण्यगर्भ का ही विकास है यह इस ऋचा से स्वयं स्पष्ट है। इन्हीं वातों का नाम 'ऊर्ज' या बल भी है अतः वह बलदा या ऊर्जस्वान् आत्मा का देने वाला भी है

'दधिक्राव्ण इषऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्'
(ऋ० वे० ४-३९-४)

यह ऊर्जस्वानात्मा अग्निस्वरूपी है। इसकी आत्मा या प्रशासन का पालन सब विश्वेदेवता करते हैं। आज्ञा या प्रशासन का कार्य बुद्धि या मन करता है उसका संचालन 'वाक्' या शब्दब्रह्म करता है। अतः यहाँ पर हिरण्यगर्भ के बारे में कहा जा रहा है कि उसकी बुद्धि या मनः सम्पदा के आह्वान के इङ्गित पर सब विश्वेदेवता अपना अपना कार्य करते हैं। मनः का विकास, शासन का कार्य तृतीय सप्तक राजा इन्द्र के उदय से होता है जिसे प्रथम मनस्वान् कहा गया है

'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० वे० २-१२-१)

इन्द्र रूप में इसके शासन को सब मानते हैं सब उसकी उपासना करते हैं या वे सबके पास पास हैं, सब उससे मिले जुले हैं एक हैं।

इसी हिरण्यगर्भ रूप कः प्रजापति के विकास स्वरूप सब देवता या तत्त्व हैं। इनमें से पूर्वार्द्ध के तत्त्व अमृत या देवता हैं, उत्तरार्द्ध के तत्त्व उसकी छाया के समान हैं, जितनी समानता छाया की उसके वास्तविक तत्त्व से होती है उतनी ही समानता इनमें है। फिर भी यह छाया जिसे उत्तरार्द्ध का स्रोत कहते हैं, वह अमृत है, अमर है, मधु का उत्स है, सुधा हैं। और उसका आसुरी रूप मृत्यु नाम से पुकारा गया है, उसका उद्भव भी इस हिरण्यगर्भ से होता है (मृत्यु के बार में 'मृत्यु नामक शीर्षक पढ़ें)। मृत्यु नाम भौतिकता प्रधान आसुरी सृष्टि का है उसका आरम्भ उत्तरार्द्ध के प्रथम तत्त्व आदि से २५ वें तत्त्व में होता है। अतः हम उस कः प्रजापति के लिए सोम मूर्ति चाहते है कि दिव्यात्मा से अर्चना करते हैं या यज्ञ हवियों के अर्पण द्वारा अर्चना करते हैं। मृत्यु नाम संवत्सर रूप काल प्रजापति का भी है, कः ही काल प्रजापति भी है। यह मृत्यु उसके वश में है, वह भौतिक शरीरहीन होने से मृत्यु रूप का भी है।

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इन्द्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

जितना सरल और उज्वल अर्थ इस ऋचा का है उतना ही अधिक कठिन और अन्धकारमय इसे बना दिया गया है। ध्यान रहे पूर्वार्द्ध की सृष्टि केवल प्राण रूप में या आत्मा रूप में विकास पाती है; उन विकासों को त्रिपादामृत (ब्रह्मात्मा जीवात्मा तैजसात्मा) कहते हैं। और उत्तरार्द्ध की सृष्टि का आरम्भ चक्षुरूप सूर्य २५ वें तत्त्व के निमिषोन्मीलन से होता है जहाँ से भौतिक सृष्टि या जगत् या विश्व सृष्टि अपना प्रथम सूत्र पात करती है। वैदिक ऋषि उक्त वातावरण और स्थिति या सन्दर्भ को दृष्टिपथ में रखते हुए हिरण्यगर्भ नामक कः प्रजापति के बारे में कहते हैं कि जो अपनी सर्व शक्तिमत्ता द्वारा (पूर्वार्द्ध में) प्राण रूप सृष्टि का विकास करते हुए, (उत्तरार्द्ध में चक्षु नामक) सूर्य तत्त्व का निमिषोन्मीलन करके, इस अखिल भौतिक (जगतः) ब्रह्मांड का केवल एक राजा 'एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म' स्वरूपी तत्त्व बनता है, तथा जो पहिले (पूर्वार्द्ध में) उस द्विपदीय (जीवात्मा, और उसके साथ त्रिपदीय तैजसात्मा) का विकास करता है जो फिर उसीसे (चतुर्थ सप्तक में) चतुष्पाद् ब्रह्म का विकास करने में समर्थ (ईशे) हुआ, उस कः प्रजापति के लिए सोम मूर्ति चाहते हैं या हवियों द्वार अर्चना करते हैं या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

लोगों ने 'प्राणतः निमिषतः' का अर्थ 'साँस लेने और सोने वाला जगत्' या 'चेतन जड़ जगत्' कहा है यह अर्थ तभी बैठ सकता है जब हम पूर्वार्द्ध को प्राणमय और उत्तरार्द्ध को सुषुप्त या मृत्युमय मानें।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

इस ऋचा में हिमवन्त, समुद्रं, रसया, प्रदिश और बाहू शब्द पारिभाषिक हैं जिसका अभिधा का अर्थ लौकिक है वैदिक या वैदिक दर्शन का नहीं। इनका या इस सूक्त में आये ऐसे अन्य पारिभाषिक शब्दों का जो लौकिक अर्थ सामने आता है वह अजागलस्तनवत् कर्मकांड के पात्रों के लिए ग्राह्य हो सकता है, इनसे वैदिक दर्शन का आभास तक नहीं होगा। पर वैदिकों के, इन शब्दों के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य, हिरण्यगर्भ नामक कः प्रजापति की व्याख्या है जो केवल पारिभाषिक अर्थों ही के द्वारा अभिव्यक्त हो सकती है अन्यथा कदापि नहीं।

यहाँ पर पञ्चपर्वाविद्या का भी संकेत है जिसमें पर्वत समुद्र और पृथिवी विद्यायें मुख्य हैं (पर्वविद्या देखें)। हिमवन्तः हेमाद्रिकूट हैं, जिससे अक्षर ब्रह्म को कूटस्थ कहते हैं 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'। हिमवन्त और हेमाद्रि का अर्थ हिरण्याद्रि या हिरण्यपर्व है। हिमवन्तः पूर्वार्द्ध के पर्व या २४ तत्त्व हैं या पर्वत हैं, यहाँ का 'समुद्र' शब्द चतुर्थ सप्तक का समुद्र है जिसमें सरस्वती या रसमय शब्द ब्रह्म या रसरूप भौतिकात्मा सोम सम्मिलित है। चतुर्थ सप्तक उत्तरार्द्ध का है। बाहू शब्द द्वितीय सप्तक

का है जहाँ जीवात्मा का अभ्युदय होता है। प्रदिश में सातों सप्तक आ जाते हैं। 'पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्' वाक्य से भूमि या भौतिक तत्त्व के साथ साथ दिशाओं का निर्माण श्रोत्र से होता है पर वर्तुल आसन्दी में द्वितीय सप्तक आदि को भी दिशा दी जाती है। दिशाओं विदिशाओं तथा पञ्चात्माओं का जनक वही है।

जिसके विकास (पूर्वार्द्ध में) हिमवान् पर्वत या हेमाद्रि पर्वत या हिरण्य पर्व कहलाते हैं (वही उत्तरार्द्ध में आपोमय समुद्र पाकर गर्भ रूप भौतिकात्मा से आवृत् होकर हिरण्यगर्भ कहलाता है अतः) जिसकी महिमा से (उत्तरार्द्ध में चतुर्थ सप्तकीय आपोमय) समुद्र, रसमय (सोम या पृथिवी) के (गर्भ के) साथ साथ (हिरण्यगर्भ) कहलाते हैं, जिसकी ये विदिशायें और बाहू (द्वितीय सप्तकीय जीवात्मा) हैं उस कः नामक हिरण्यगर्भ प्रजापति के लिए सोम मूर्ति चाहते हैं या यज्ञ की हवियों द्वारा अर्चना करते है या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृल्हा येन स्वःस्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

यद्यपि द्यावापृथिवी को धारण करने या विकसित करने के बारे में सबसे प्रथम मन्त्र में 'यो दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां' वाक्य द्वारा कहा जा चुका है पर इसमें द्यावापृथिवी के आवान्तर भेदों का जिनकी प्रसिद्धि इनसे कम नहीं है वर्णन दिया जा रहा है। वे आवान्तर भेद स्वः, नाकः रजः और अन्तरिक्ष हैं। स्वः नाम तृतीय सप्तक का है जिसे दिव् भी कहते हैं, नाकः नाम सूर्य का है तथा यहाँ पर अन्तरिक्ष नाम दर्शन के मध्यस्थानीय चतुर्थ सप्तकीय समुद्र या जल का है अन्यथा अन्तरिक्ष नाम प्रथम सप्तक का है। रजः नाम देदीप्यमान भौतिक तत्त्व का है प्रथम भौतिक तत्त्व का या अणु का है। यह अणु आपोरूप है। आपः विद्युत् हैं।

जिस कः प्रजापति नामक हिरण्यगर्भ ने द्यौ और उग्र या आसुरी प्रवृति बहुल वाक् और पृथिवी या भौतिक सृष्टि का संयमन किया, जिसने स्वः नामक सप्तक को अविचल बना दिया, जिसने सूर्य नामक तत्त्व को अपने निश्चित स्थान में आरोपित कर दिया, जिसने दर्शन के तत्त्वों के मध्यबिन्दु के स्थल से रजोरूप भौतिकाणु की सृष्टि का निर्माण आपोरूप में सम्पादित किया, उसके लिए सोम मूर्ति देखना चाहते हैं या उसकी यज्ञ हवियों द्वारा अर्चना करते हैं अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

यङ्क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

इस मन्त्र में क्रन्दसी, मनसा और सूर तीन शब्द पारिभाषिक हैं। क्रन्दसी नाम रोदसी का या द्यावापृथिवी का है जिसके बारे में तै० ब्रा० २-२-९-४ में लिखा है 'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्, कि वे रोने लगे अतः वे रोदसी या क्रन्दसी कहलाने लगे। मनसा शब्द २४ वें तत्त्व का है और सूर २५ वें का।

"प्रलयकाल में द्यावापृथिवी अपना ह्रास देखकर रोने से लगीं। अतः सृष्ट्यारम्भ के प्रथम तत्त्व कः प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ ने उनकी रक्षा के निमित्त उनका विस्तार या विकास कर दिया। (जब उनका विकास हो चुका तब) उन्होंने मन ही मन में (२४ वें तत्त्व के रूप में) देखा कि वहाँ (भौतिक सृष्टि के प्रथमोदय के सूचक) सूर्य (२५ वाँ तत्त्व) उदित होकर शोभायमान हो रहा है। ऐसे कः प्रजापति के लिए सोममूर्ति चाहते हैं या उसकी यज्ञ हवियों द्वारा अर्चना करते हैं या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

आपो ह यद्बृहती विश्व मायन्गर्भं दधाना जनयन्ती रग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥

प्रस्तुत मन्त्र में आपः बृहतीः विश्वम्, गर्भं अग्नि और असु शब्द पारिभाषिक हैं। आपः शब्द आपोब्रह्म वाची है, पर ये आपः तत्त्व चतुर्थ सप्तक में उत्पन्न होकर पञ्चम में बृहती या भौतिक वाणी का स्वरूप धारण करके बृहस्पतिः (बृहतां बृहतीनां वा पतिः) कहलाता है। विश्व शब्द वेदों में सर्वत्र भौतिकता के लिए आया है (विश्वेदेवा शीर्षक देखें)। गर्भ नाम उक्त आपों या जलों से ही निर्मित होता है, वह आध्यात्मिक और भौतिक दो प्रकार का है यह पहिले बतलाया जा चुका है। (हिरण्यगर्भ व्याख्या देखें)। अग्नि नाम यहाँ पर वैश्वानराग्नि का है भौतिकगर्भ तथा यह अग्नि चतुर्थ सप्तक में भी विकसित होता है। असु नाम तो प्राणों का है पर यहाँ पर चतुर्थ सप्तकीय असु के माने भौतिकता में ससंज्ञता सचेतनता है जिसका द्वार मित्रावरुण (२४ वें) तत्त्व खोलते हैं (मित्रावरुण देखें)। यही भाव 'असुं य ईयु रवृका ऋतज्ञा' मन्त्र के असु शब्द का भी है। वास्तव में सु और असु दोनों शब्दों का अर्थ प्राण है, पर दैवी प्राण या देव प्राण को 'सु' नाम से पुकारा जाता है और इसीलिए देवताओं को, दैवी प्रकृतियों को 'सुर' नाम से पुकारते हैं, असु नाम उन प्राणों का है जिनका सम्बन्ध भौतिकता से है, इन भौतिक प्राणों या असुओं से भौतिकता या असुरों की उत्पत्ति मानी जाती है। सम्पूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड आसुरी सृष्टि कहलाती है यह 'वृत्र' नामक शीर्षक में स्पष्टकर दिया जा चुका है। चतुर्थ सप्तक में भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है। अतः यह ऋचा ठीक कह रही है। तब पूर्वार्द्ध के देवताओं के विकास स्वरूप उत्तरार्द्ध के चतुर्थ सप्तक में असु नामक 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' प्रस्तुत हुआ। यह वृत्र का सप्तक है। उसकी हार से तम का नाश अग्नि का (वैश्वानर का) उदय हुआ और आपो बृहती सर्वत्र फैल गई (ऋ० वे० १-३२-१०, ११)। इस सन्दर्भ से इस ऋचा का अर्थ भी जल के समान स्पष्ट हो चुका होगा।

"जब आपोब्रह्म के जल बृहती वाणी (भौतिकी वाणी छान्दस सरस्वती) का रूप धारण करके इस अखिल ब्रह्माण्ड के मूल रूप (विश्व) को प्राप्त होते हुए, अपने में (हिरण्य का) गर्भ धारण करके, वैश्वानराग्नि को उत्पन्न करती रही तब पूर्वार्द्धीय देवताओं का (विकास स्वरूप) एक (भौतिक) प्राण (असु) भी प्रस्तुत हुआ, उस प्राण का स्वरूप एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ही था पर था पूर्वार्द्धीय आध्यात्मिकता युक्त पूर्ण भौतिक। ऐसे कः प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ के लिए सोममूर्ति चाहते हैं या बनाते

हैं या सोम की हविओं द्वारा अर्चना करते हैं या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥

आलोच्य मन्त्र में दक्ष और यज्ञ दो नये शब्द पारिभाषिक हैं 'आपः' भी तथा अधिदेव शब्द भी पारिभाषिक ही हैं। दक्ष नाम २४ वें तत्त्व और पूर्वार्द्ध का है और यज्ञ या क्रतु नाम २४ वें और उत्तरार्द्ध का, पूरे २४ वें को 'दक्षक्रतू' कहते हैं, इसी को मित्रावरुणौ भी कहते हैं (दक्षक्रतू या मित्रावरुणौ देखें)। दक्ष नाम प्रजापति का है। यहाँ से भौतिकक्रम कलाक्रम चलता है, अतः इससे क्रतु कहते हैं। इसके पहिले वह यज्ञ मात्र है क्रतु नहीं है और यज्ञ नाम विकास का है जैसे

'विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्'
(विश्वकर्मा सूक्त १०-८१-६)

इसीलिए यज्ञ नाम केवल 'क्रतु' नामक तत्त्व का ही नहीं वरन् प्रत्येक तत्त्व का है। ऐसा यज्ञ, पुरुष या यज्ञपुरुष कहलाता है। इसका स्पष्टीकरण यज्ञ नामक शीर्षक में दिया जा चुका है जिसका समर्थन श० प० ब्रा० ३-४-३-१ भी करता है। यही बात ऋ० वे० ६-१२-८ 'उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः' ऋचा कहती है कि यज्ञ रूप विकासों द्वारा मूल स्रोत रूप पिता से उत्पन्न हुए। यही अर्थ विश्वकर्मा सूक्त के 'यजस्व' पद का है।

जिस हिरण्यगर्भ नामक कः प्रजापति ने अपनी (सर्वज्ञता की) महिमा से (भौतिक सृष्टि रचना करने से पूर्व ही) आपो देवियों और दक्ष को धारण करते और यज्ञ या क्रतु को जन्म लेते देख लिया था, अतः जो पूर्वार्द्ध के समस्त तत्त्वरूप देवताओं का अधिष्ठाता देवता और एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म स्वरूप था उसके लिए हम सोमरूप की मूर्ति या स्वरूप चाहते हैं या बनाते हैं, (हम चाहते हैं कि देवसृष्टि भौतिक सृष्टि में परिणत हो) और हम उसके लिए सोम से अर्चना करते हैं या अपनी दिव्यात्मा से उसकी अर्चना करते हैं।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥९॥

इस मन्त्र में पृथिवी, दिवं, अपः चन्द्रा और बृहती शब्द पारिभाषिक हैं। इनके आधार पर इस ऋचा का अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता हैं। "हम कः प्रजापति स्वरूप हिरण्यगर्भ के लिए सोम स्वरूप चाहते हैं या सोम से (दिव्य शरीर से) अर्चना करते हैं कि वह हमें सदा सुरक्षित रखे, हमारी हिंसा न करे, क्योंकि वह अटल और सार्वजनीन नियमों वाला है जिनसे उसने सर्वप्रथम दिव् नामक सप्तक का विकास किया, फिर पृथिवी नामक चतुर्थ सप्तक का (ये दोनों पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के मुख्य सप्तक और प्रतीक हैं)। उसी ने पूर्वार्द्ध के आदि में आपो देवियों की सृष्टि की और उत्तरार्द्ध के आदि में बृहती या भौतिकी वाणी की। उस भौतिकी वाणी

को चन्द्रा या सौम्यभागीय या दैवी वाणी कहते हैं, जिसका प्रतिपक्षीय भाग आसुरी बृहती या आसुरी वाणी कहलाती है जो दोनों यहाँ पर भौतिकी या उत्तरार्द्धीय हैं उनकी सृष्टि की, ऐसे हिरण्यगर्भ नामक कः ब्रह्म के लिए इस आत्मा से आह्वान करते हैं। इस ऋचा के अर्थ में अन्य अनुवाद टीका भाष्यकारों ने अपः, चन्द्रमा और बृहती शब्दों की एक ऐसी निराली खीचड़ी बना डाली है कि ऋचा का भाव ही छिप गया है। सत्यधर्मा शब्द की भी यही दशा है। पूर्वार्द्ध सत्यधर्मा है उत्तरार्द्ध अनृत धर्मा। दोनों को सत्यानृत धर्मा कहते हैं। ये धर्म ही माया नाम से पुकारे जाते हैं। सत्य दैवी शक्ति है अनृत आसुरी या भौतिकी। हिरण्यगर्भ सत्यधर्मा है। अतः वह चन्द्रा बृहती या दैवी वाणी का विकासक (उत्तरार्द्ध में भी) बतलाया गया है। उत्तरार्द्ध भौतिकताबहुल तो है ही पर उसमें पूर्वार्द्ध की पूरी दैवी शक्ति का संयोग रहता है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥

हे कः प्रजापते ! हे हिरण्यगर्भ !! (ता) पूर्वोक्त ऋचाओं में वर्णित निखिल तत्त्व और इस दृश्यमान भौतिक ब्रह्मांड के सम्पूर्ण पदार्थ (विश्वाजातानि) तुमको छोड़ कर और किसी अन्य से उत्पन्न नहीं हुए हैं। अतः हम जिस जिस कामना से तुम्हारा आह्वान करें या करते जाँय वे सब के सब पूरे होते रहें, और हम सदा सोम रूप आयु के धन से धनवान् बने रहें। सोम स्वयं भौतिक अमृत है, उसमें त्रिपादामृत भी सम्मिलित है, यही वैदिकों का पवित्र धन है।

यह मन्त्र कर्मकांड में अत्यन्त प्रसिद्ध है, प्रजापतियों को इसी मन्त्र से हवि दी जाती है, पूजनादि भी इसी से होता है। इसका पदपाठ और मन्त्रपाठ एकसा है। अतः पाश्चात्यों की यह धारणा है कि यह मन्त्र बाद में जोड़ा गया है, पदपाठ क्रम पूर्ति युग के बाद जोड़ा गया है। पर यह सब भ्रम है। यह मन्त्र प्रथम नौ मन्त्रों का पूर्ण उपसंहार है। जिनको वैदिक पारिभाषिक शब्दों का ही ज्ञान नहीं है वे इसके उपसंहार के महत्त्व को कैसे समझ सकते हैं, यदि यह बाद में जोड़ा गया मन्त्र होता तो इसको कर्मकांड में इस सूक्त के अन्य मन्त्रों से इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया जाता ? संहितापाठ और पदपाठ का एक सा होना आपाततः है ऐसी सात अन्य ऋचायें भी हैं। यह तो छन्द में पदों और शब्दों की स्थिति से निर्धारित होता है। यहाँ अन्तर लाने वाली स्थिति है ही नहीं तो जबरदस्ती अन्तर नहीं बनाया गया तो स्वाभाविक तो है। दूसरी बात यह है कि यह मन्त्र यजुर्वेदादि सब वेदों और सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है जिससे इसकी प्राचीनता में कहीं आँच नहीं आ सकती।

पुरुष तत्त्व और पुरुष सूक्त की व्याख्या मेरे 'वैदिक योग सूत्र' में देखें।

इति वैदिक विश्वदर्शने द्वितीयोभागः
